राजनीतिक विचारधाराएँ

समाजवाद से सर्वोदय तक

धर्म नारायण मिश्र
एम. ए., पी-एच. डी.
राजनीतिशास्त्र विभाग
गवर्नमेण्ट कॉलेज, अजमेर

स्वतंत्र प्रकाशन, अजमेर
1974-75

प्रकाशक
स. मिश्र
स्वनन प्रकाशन
कोठारी भवन, श्रीनगर रोड
अजमेर

द्वितीय संस्करण :
संशोधित एवं परिवर्द्धित
1974-75

मूल्य : 17.50

मुद्रक :
अर्चना प्रकाशन,
मेहरा हाउस
अजमेर

समर्पित

गुरु और गोविन्द

दोनों को

ही

प्रवेश

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन उसकी मूल प्रवृत्ति है। यही गुण तो मनुष्य और पशु में भेद स्थापित करता है, किन्तु मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति का अन्त नहीं हुआ है। यह पशु-पक्ष किसी न किसी रूप में अपने आप विचार या व्यवहार में प्रकट होता रहता है। यही कारण है कि चिन्तन के इतिहास में हमें अच्छी-बुरी, प्रगतिशील और विध्वंसक सभी प्रकार की विचारधाराएं मिलती हैं।

'आइडियोलॉजी' (Ideology–विचारधारा) शब्द का निर्माण सर्वप्रथम फ्रान्सीसी दार्शनिक डेस्टट द ट्रेसी (Destutt de Tracy) ने लगभग अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में किया था। विचारधारा से उसका तात्पर्य असंदिग्ध सत्य से था।[1] इसके बाद यह शब्द अधिक लोकप्रिय होता चला गया। नेपोलियन, कार्ल मार्क्स आदि ने अपने विचारों को विचारधारा का आवरण पहनाने का प्रयत्न किया।

विचारधारा की प्रकृति के विषय में कई दृष्टि-कोण हैं। इसे एक आधुनिक विकास माना जाता है, जो सम्भवत सही नहीं है। इसे धर्म-निरपेक्ष स्वभाव का कहा जाता है। इसे एक वैज्ञानिक विवेचन भी स्वीकार किया जाता है। विचारधारा के विषय में इतने विचार उपलब्ध हैं, जिनमें इतना परस्पर-विरोध है कि इसके सही अर्थ और महत्व को पूर्णत. और स्पष्टत· समझना असम्भव सा हो गया है।

1 Preston King, An Ideological Fallacy in Politics and Experience, edited by Preston King and B C Parekh, Cambridge, 1968, p 341

'विचारधारा' शब्द की व्यापक व्याख्या हुई है। स्ट्रॉज-ह्यूप एवं पॉसनी ने 'विचारधारा' को सिद्धान्तों और प्रतीकों का समूह बतलाया है। इसमें विश्व की सामाजिक समीक्षा के साथ साथ भविष्य के आदर्श समाज या राज्य व्यवस्था का विवरण रहता है, जिसके अनुरूप समाज की व्यवस्था की जाय।[2] डेनियल बेल के मतानुसार विचारधारा का अर्थ विचारों को समाज में प्रभाव उत्पन्न करने वाले साधनों में परिवर्तित करना है। एक विचारक के लिए सत्य उसके कार्य में निहित रहता है।[3] विभिन्न विश्वासों की भाँति विचारधाराएँ विश्व में 'कारण और परिणाम' के व्यावहारिक सिद्धान्त तथा मानव स्वभाव की व्याख्या है।[4]

विभिन्न विद्वानों द्वारा विचारधारा का अर्थ पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया है। उनके शब्दों में विचारधारा की दार्शनिक जटिलता और भी बढ़ जाती है। विचारधारा विचारों का विज्ञान है। जिसके अन्तर्गत मानव-स्वभाव और सामाजिक परिवर्तनों की व्याख्या के साथ-साथ भविष्य में आदर्श समाज की व्यवस्था तथा उस व्यवस्था की प्राप्ति के लिये साधन-पद्धति का समावेश रहता है। इस सन्दर्भ में बहुत कम ऐसी विचारधाराएँ हैं जो पूर्ण विचारधाराओं की श्रेणी में सम्मिलित की जा सकें।

आधुनिक युग में विचारधाराओं का अत्यधिक महत्व है। राष्ट्रीय शक्ति के साधनों का किस प्रकार प्रयोग किया जाय, उन्हें शक्ति के रूप में किस प्रकार परिवर्तित किया जाय इनका मार्ग दर्शन विचारधाराएँ ही करती हैं। किसी भी देश की राजनीतिक व्यवस्था तथा आर्थिक विकास उस विचारधारा पर आधारित रहता है जिसका कि वह देश पालन करता है। विचारधारा देश की एकता बनाये रखने में भी सहायक होती है। सोवियत संघ में कई राष्ट्रीयताएँ निवास करती हैं, किन्तु साम्यवादी विचारधारा उन्हें एकता के सूत्र में पिरोये हुए है।

व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय आचरण और व्यवहार का भी विचारधाराओं द्वारा निर्धारण होता है। क्या वाछनीय है, क्या त्याज्य है, यह सब विचारधाराओं के सिद्धान्त सूत्रों को आधार मानकर सोचा एवं समझा जाता है। अन्य शब्दों में अच्छे बुरे का निर्णय करने के लिये विचारधाराएँ नैतिक माप-दण्ड प्रदान करती हैं। फासीवाद, नात्सीवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराएँ कहाँ तक अच्छी या बुरी हैं, हम लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर ही कह सकते हैं, क्योंकि लोकतान्त्रिक विचार सूत्र ही हमारे चिन्तन का आधार हैं। इसी प्रकार दूसरी विचारधाराएँ भी लोकतान्त्रिक विचारधाराओं की समीक्षा करती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास में विचारधाराओं का विशेष योगदान रहा है। विश्व में जो भी प्रगति एवं विप्लव हुए हैं, उनके पीछे कोई न कोई विचारधारा रही है। मध्य युग में धार्मिक युद्ध, फ्रान्स की क्रान्ति, रूस की क्रान्ति आदि विचार-

---

2 Strausz, Hupe and Possony, International Relations, pp 417 18

3 Daniel Bell, The End of Ideology, pp, 370-71

4 Political Ideology, Lane, Robert E, p 15

धाराम्रो से हो प्रेरित थी। म्राज की विचारधाराएं किसी एक राष्ट्र की सीमाम्रो तक ही सीमित नही रहती, वे राष्ट्रीय सीमाम्रो को लांघ कर म्रन्य राज्यो के लोगो को प्रभावित करती हैं। साम्यवाद, पूंजीवादी लोकतन्त्र, लोकतान्त्रिक समाजवाद किसी एक देश की ही धरोहर नही हैं, ये पूर्णत. म्रन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराएँ हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि यदि राज्यो मे राष्ट्रीय हितो का कोई विशेष सघर्ष नही है, तब एक ही विचारधारा के समर्थक राज्यो मे म्रन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्वाभाविक है। इसी प्रकार म्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे परस्पर-विरोधी, स्पर्धा लीन विचारधाराम्रो ने सदैव तनाव एव सघर्ष को प्रोत्साहित किया है। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त शीत युद्ध के प्रादुर्भाव एव विकास मे पूंजीवाद म्रौर साम्यवाद के परस्पर-विरोध की प्रमुख भूमिका रही है। म्राक्रामक विचारधाराएं जैसे फासीवाद, नात्सीवाद, साम्यवाद विस्तारवाद पर जीवित रही हैं, जिन्होने म्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कई सकट उत्पन्न किये हैं।

विदेश नीति के सन्दर्भ मे प्रोफेसर हेन्स मॉरगेन्थो (Hans J. Morgenthau)[5] ने विचारधाराम्रो के दो प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया है। प्रथम, विचारधारायें राष्ट्रीय हैं म्रौर इस प्रकार म्रावश्यक हितो की श्रेणी मे म्राती हैं। ये राष्ट्रो की सास्कृतिक धरोहर होती हैं, जिनकी सुरक्षा एव सरक्षण के लिये देश युद्ध करने के लिए भी तत्पर रहते हैं। 1962 मे भारत–चीन युद्ध, 1965 म्रौर 1971 मे भारत–पाक युद्धो के समय हमारे नेतृत्व ने समय-समय पर इसी विचार की पुनरावृत्ति की कि हम पर ये युद्ध थोपे गए थे तथा हम म्रपने उद्देश्य, सस्कृति, जीवन पद्धति की रक्षा के लिए युद्ध करने को तत्पर है। वास्तव म यह सत्य भी है। भारत ने ये युद्ध किन्ही म्रादर्शों को रक्षा के लिए, विस्तारवाद म्रौर सैनिकवाद के विरुद्ध लडे।

एक दूसरे तत्व की म्रोर ध्यान म्राकर्षित करते हुए प्रोफेसर मॉरगेन्थो का कहना है कि म्राजकल की विश्व राजनीति मे राज्य विचारधारा का प्रयोग म्रावरण के रूप मे म्रपने गलत विचारो म्रौर कार्यों को छुपाने के लिए करते हैं। इसलिय म्राज की म्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कथनी म्रौर करनी म व्यापक म्रन्तर दृष्टिगोचर होता है। इगलैण्ड ने प्रथम एव द्वितीय विश्व युद्धो को शान्ति एव विश्व मे म्रात्म–निर्णय तथा लोकतान्त्रिक शक्तियो को सुदृढ करने की बात कही थी। लेकिन यह भुलावा था। यह सभी जानते थे कि इगलैण्ड साम्राज्यवादी देश था तथा म्रपने उपनिवेशो मे लोकतन्त्र के सिद्धान्ता का ही गला घोट रहा था। लेकिन फिर भी म्रपनी नीच नीतियो पर म्रावरण डालने के लिए विचारधाराम्रो का प्रयोग किया गया। शान्ति के लिए भयानक विश्व-सहारक म्रस्त्र–शस्त्रो के निर्माण की बात कहना, लोकतन्त्र की रक्षा के लिए वियतनाम मे निरन्तर म्रमरीकी बम्ब बरसते रहना, म्रन्तर्राष्ट्रीय

5 Morgenthau, Hans J, Politics Among Nations, Chapter 7, The Ideological Element in International Policies

सहयोग के लिये पूर्वी यूरोप के राज्यों में रूस के समय-समय पर हिंसात्मक हस्तक्षेप इसी श्रेणी में आते हैं। बहुत से राज्य अपने कुकर्मों पर विचारधाराओं से सफेदी करने का प्रयत्न करते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि वास्तविकता को समझने के लिये आज के युग में विचारधाराओं का कितना महत्व है तथा उनका अध्ययन कितना आवश्यक हो गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में केवल आधुनिक विचारधाराओं का ही समावेश किया गया है। ये समस्त आधुनिक विचारधाराएँ या तो समाजवाद के विभिन्न सम्प्रदाय हैं या किसी न किसी रूप से समाजवाद से सम्बन्धित हैं। समाजवाद ही इन सभी विचार-धाराओं में सामान्य सूत्र है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आज के युग को समाजवादी युग कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। आजकल प्रत्येक व्यक्ति तथा राज्य किसी न किसी पक्ष को लेकर समाजवादी हैं।

भारतीय लोकतन्त्र में धर्म पर सबसे प्रबल प्रहार हुआ है। वैसे हम धर्म निरपेक्षता के हामी हैं लेकिन सामान्यतः हमारी धर्म निरपेक्षता गैर-धार्मिक है। शैक्षणिक संस्थाओं में भी धर्म-सिद्धान्तों की शिक्षा को हम धर्म निरपेक्षता पर न्यौछावर कर रहे हैं। हम यह भूल जाते हैं कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सफलता नागरिकों के नैतिक स्तर पर निर्भर करती है तथा इस नैतिकता को धर्म-सिद्धान्त ही प्रदान कर सकते हैं। हमारे सामने सबसे बड़ा संकट 'चरित्र संकट' (crisis of character) है जो हमारी राष्ट्रीय प्रगति में बहुत बड़ा रोड़ा माना जाता है। जब तक हम धर्म-सिद्धान्तों की महत्ता को नहीं समझते तब तक यह कहना अतिशयोक्ति युक्त होगा कि गांधीवाद का अध्ययन हमारी शैक्षणिक संस्थाओं में अत्यन्त आवश्यक है। गांधीवाद के अतिरिक्त सम्भवतः ही कोई ऐसा 'वाद' हो जिसमें नागरिकों के नैतिक-स्तर तथा आत्म-बल की अभिवृद्धि करने की क्षमता हो। इसलिए, भारत में ही नहीं, अपितु जहाँ पर भी लोकतान्त्रिक व्यवस्थाएँ हैं, गांधीवाद के अध्ययन की अवहेलना करना चरित्र संकट में वृद्धि करना ही होगा।

हिन्दी भाषी पाठकों के लिए अच्छी पाठ्य पुस्तकों की अति आवश्यकता है। सम्भवतः यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी भाषी लेखकों ने इस उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह नहीं किया है। अंग्रेजी भाषा में कुछ पुस्तकें अवश्य ही उत्तम हैं। एलेग्जेण्डर ग्रे, कोल, लास्की, फ्रान्सिस कोकर; जोड, सेबाइन, गैटिल आदि के ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। अंग्रेजी में लिखे गये ये ग्रन्थ हिन्दी-भाषी पाठकों को अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी स्तर से ऊपर अवश्य ही प्रतीत होंगे। ये ग्रन्थ पढ़े जायें, इसलिए इनमें से बहुतों का हिन्दी में अनुवाद भी हो चुका है, किन्तु हिन्दी अनुवाद सामान्यतः इतने क्लिष्ट हैं कि समस्या को सुलझाने के स्थान पर इन अनूदित पुस्तकों को समझना ही एक समस्या बन गया है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना में यह भी एक

उद्देश्य रहा है कि इन श्रेष्ठ लेखकों के विचारों को सरलतापूर्वक, साधारण किन्तु उपयुक्त भाषा में प्रस्तुत किया जाय।

पुस्तक की रचना में कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की सहायता ली गई है। इन ग्रन्थों का स्थान-स्थान पर 'पृष्ट-पग' (foot notes) में उल्लेख है। प्रत्येक अध्याय से सम्बन्धित विशेष और व्यापक अध्ययन के लिये सभी अध्यायों के अन्त में कुछ पाठ्य-ग्रन्थों की सूची भी दी गई है, जो आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध होगी। किन्तु व्यापक एवं सम्पूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची इस पुस्तक के अन्त में दी गई है। यह सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची सम्भवतः सब दृष्टि से पूर्ण है।

चूंकि, यह पुस्तक उपयोगी अंग्रेजी ग्रन्थों पर आधारित है, इससे उन ग्रन्थों के कहीं-कहीं अनुवाद करने की समस्या भी उपस्थित हुई। अनुवाद करते समय जहाँ अक्षरशः रूपान्तर नहीं हो सकता, वहाँ भाव को ध्यान में रखते हुए अनुवाद किया गया है। जहाँ तक मूल तकनीकी शब्दों का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यही प्रयत्न रहा है कि वे प्रचलित शब्द जैसे समाजवाद, साम्यवाद आदि जिनसे पाठक पूर्व परिचित हैं, उन्हें वैसा ही ग्रहण किया जाय। किन्तु विशेष शब्दों का अनुवाद न कर हिन्दीकरण किया गया है जैसे—Syndicalism के लिए 'सिन्डीकलवाद' (श्रमसंघवाद नहीं), Guild Socialism को गिल्ड समाजवाद (श्रेणी समाजवाद नहीं) का प्रयोग किया है। इसका उद्देश्य यही है कि हिन्दी भाषी पाठक मूल शब्द से अलग न हट जाएँ तथा उनसे अनभिज्ञ न रहें।

मेरे गुरुजन मेरे लिये सदैव ही प्रेरणा के स्रोत रहे हैं इसलिए परमपिता परमेश्वर के साथ-साथ मैंने यह पुष्प प्रथम गुरुजनों को ही श्रद्धाभाव से भेंट किया है।

इस पुस्तक की रचना में मुझे अपने गुरु प्रोफेसर ए. बी माथुर से सर्वाधिक प्रोत्साहन मिला है। विभिन्न विचारधाराओं की जटिलताओं को समझने में उनसे मुझे समय-समय पर मार्ग-दर्शन मिलता रहा, इसके लिए मैं उनके प्रति श्रद्धा और आभार व्यक्त करना कर्तव्य समझता हूँ।

विजयादशमी
अक्टूबर 17, 1972.

धर्मनारायण मिश्र

द्वितीय संस्करण

'समाजवाद से सर्वोदय तक' का यह द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण है। लगभग सभी अध्यायों का पुनरावलोकन कर संशोधन एवं परिवर्द्धन किया गया है। सबसे अधिक परिवर्द्धन लेनिनवाद, स्टालिनवाद तथा माओवाद में हुआ है। साथ ही साथ ट्रॉटस्की द्वारा साम्यवादी विचारधारा में योगदान को पृथक् से सम्मिलित किया गया है। पुनश्च के इस संस्करण में प्रस्तुत सभी विचारधाराओं में आज तक के विकास का समावेश है। आशा है इस रूप में पुस्तक और अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

मंगलवार

अगस्त 27, 1974. धर्म नारायण मिश्र

अनुक्रम एवं व्यवस्था

प्रवेश I—V

1. समाजवाद . प्रारम्भिक एवं सामान्य विवेचन

समाजवाद की व्याख्या, परिभाषाएँ, समाजवाद के सैद्धान्तिक आधार; समाजवाद का विकास-प्रारम्भ से लेकर वर्तमान तक, आधुनिक समाजवाद; विवेचन 1—21

2 यूटोपियायी समाजवाद

यूटोपियायी शब्द का अर्थ, यूटोपियायी समाजवाद, यूटोपियायी समाजवादी विचारक . सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरिये, रॉबर्ट ओवन, कैबे, सिसमोन्दी, लुई ब्लाँ, प्रधो आदि, उनके यूटोपियायी विचार एव योजनाएँ, यूटोपियायी समाजवाद के विचार-सूत्र, यूटोपियायी समाजवाद का मूल्यांकन—आलोचना एवं योगदान, इनके समाजवादी होने का औचित्य 22—48

3 मार्क्सवाद . वैज्ञानिक समाजवाद

मार्क्स एव ऐन्जिल्स; मार्क्सवाद का अर्थ, मार्क्सवाद तथा वैज्ञानिक समाजवाद; मार्क्स पर प्रभाव तथा उनका वैज्ञानिक विवेचन, मार्क्सवाद के सिद्धान्त: द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद-विशेषताएँ, हीगेल तथा मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त में अन्तर, मूल्यांकन, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या-सिद्धान्त का विवेचन, सामाजिक विकास की महत्वपूर्ण अवस्थाएँ, मूल्यांकन, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त—विवेचन, मूल्यांकन, वर्ग-सघर्ष, सिद्धान्त-विवेचन, मूल्यांकन; सर्वहारा अधिनायकत्व, साम्यवादी व्यवस्था-विशेषताएँ तथा मूल्यांकन, मार्क्सवाद का सामान्य मूल्यांकन 49—84

4. अराजकतावाद

अर्थ, विकास एवं परम्परा, विलियम गॉडविन, टॉमस हाजस्किन, मैक्स स्टर्नर, जोसेफ प्रधो, माइकल बाकुनिन, पीटर क्रॉपाटकिन, वारेन, थोरो, बेन्जमिन टकर, शून्यवादी, अराजकतावाद के सिद्धान्त-सूत्र, अराजकतावाद और मार्क्सवाद-साम्यवाद-संघर्ष का इतिहास, समानता एवं असमानता, अराजकतावाद का मूल्यांकन, योगदान 85—113

सिन्डीकलवाद (श्रम-संघवाद)

प्रस्तावना, विकास, अर्थ, विचारसूत्र, मूल्यांकन, प्रभाव एव योगदान 114-134

6. फेबियनवाद
अर्थ, फेबियन सोसाइटी की स्थापना एवं उद्देश्य, फेबियनवाद के प्रमुख प्रवर्तक, फेबियन समाजवाद के सिद्धान्त, मूल्यांकन एव योगदान 135—147

7. गिल्ड समाजवाद
अर्थ, विकास, प्रभाव एव कारण, पेन्टी, ओरिज, हॉब्सन, कोल आदि, गिल्ड समाजवाद के विचार-सूत्र, गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत राज्य की स्थिति—हॉब्सन तथा कोल के विचार, गिल्ड समाजवादी साधन, मूल्यांकन एव योगदान 148—172

8. साम्यवाद
अर्थ, साम्यवाद का मार्क्सवादी आधार, लेनिनवाद मार्क्सवाद और लेनिन, 'साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था', 'एक देश मे समाजवाद', क्रान्ति के लिए उपयुक्त अवस्था, साम्यवादी दल, राज्य का लोप, लेनिन, ट्रॉट्स्की और स्टालिन, स्थायी क्रान्ति का सिद्धान्त, श्रम सैन्यीकरण विश्व-क्रान्ति, मूल्यांकन, स्टालिनवाद— स्टालिन-ट्रॉट्स्की मतभेद, कृषि का सामुदायीकरण, 'एक देश मे समाजवाद', क्षेत्रीय स्वायत्तता का सिद्धान्त, राज्य का लोप, व्यक्तिगत तानाशाही, मूल्यांकन, साम्यवादी विचारधारा मे स्टालिन का योगदान, अनेक सिद्धान्त, माओवाद-पृष्ठभूमि एवं प्रादुर्भाव, माओ त्से-तुंग मार्क्सवादी दार्शनिक के रूप मे, पिछड़े देश में साम्यवादी क्रान्ति का सिद्धान्त, क्रान्ति नीति एव सामरिक चालें, युद्ध एवं शक्ति; लोकतान्त्रिक तानाशाही, 'सैकड़ो फूलों का सिद्धान्त,' राष्ट्रीय संस्कृति, सांस्कृतिक क्रान्ति तथा नवीन अभियान, कम्यून व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद; माओवाद का मूल्यांकन
साम्यवाद के अन्य प्रमुख पक्ष: साम्यवादी दल व्यक्ति-पूजा, साम्यवाद एव राज्य, साम्यवाद तथा जनतन्त्र, साम्यवाद एवं विस्तारवाद, राष्ट्रीय मुक्ति-युद्ध, साम्यवाद एवं राष्ट्रीय हित, रूस चीन मतभेद तथा इसका साम्यवादी विचारधारा पर प्रभाव; साम्यवाद का व्यापक मूल्यांकन 173—231

9. फासीवाद एव नात्सीवाद
इटली मे फासीवाद का प्रादुर्भाव; जर्मनी मे नात्सीवाद का अभ्युदय; फासीवाद की प्रेरणा एव पृष्ठभूमि; फासीवादी प्रादुर्भाव की मार्क्सवादी व्याख्या; फासीवादी राज्य, फासिस्ट दल, नेतृत्व, कॉरपोरेट राज्य; फासीवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद, फासीवादी साधन; फासीवाद एवं साम्यवाद-एक तुलनात्मक अध्ययन, मूल्यांकन 232-264

लोकतान्त्रिक समाजवाद
प्रारम्भिक व्याख्या, अर्थ, लोकतन्त्र एवं समाजवाद का विकास : यूटोपियायी

समाजवाद, जेरमी बेन्थम एव उपयोगितावाद, मिल, ग्रीन, सशोधनवाद, इग्लैंड के मजदूर दल का समाजवाद, स्कैनेडेवियन राज्यों में लोकतान्त्रिक समाजवाद, इजराइल की समाजवादी व्यवस्था, भारतीय समाजवाद, लोकतान्त्रिक समाजवाद के विचार-सूत्र, लोकतान्त्रिक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था, लोकतान्त्रिक समाजवाद और साधन, लोकतान्त्रिक समाजवाद के विषय में सतर्कता, मूल्यांकन एव योगदान 265—289

11. धर्म-निरपेक्षवाद

शब्दावली, वाद सम्बन्धी विवाद, धर्म-निरपेक्ष का प्रचलन-जार्ज होलीयोक, धर्म-निरपेक्ष का अर्थ, धर्म-निरपेक्ष राज्य की व्याख्या, धर्म-निरपेक्ष राज्य के विभिन्न पक्ष एव विचार, धर्म-निरपेक्ष राज्य का विकास-मध्य युग में धर्म-निरपेक्षवाद, पुनर्जागृति एव धर्म-सुधार तथा धर्म-निरपेक्षवाद, सयुक्त राज्य अमेरिका और धर्म-निरपेक्षता, टर्की और धर्म-निरपेक्षता, भारत और धर्म-निरपेक्षता· विकास-मुस्लिम युग, अंग्रेजी शासनकाल, स्वाधीनता आन्दोलन और धर्म-निरपेक्षता; भारतीय सविधान मे धर्म-निरपेक्ष प्रावधान; भारतीय धर्म-निरपेक्षता का वास्तविक स्वरूप, मूल्यांकन 290—320

12. गांधीवाद

गाधीवाद का स्वरूप, प्रभाव एव पूर्ववर्ती दर्शन, सत्याग्रह सिद्धान्त-सत्याग्रह के विभिन्न रूप सत्याग्रही अनुशासन, अहिंसा का दर्शन, साध्य एव साधन, अहिंसात्मक राज्य की कल्पना, अधिकार एव कर्त्तव्य, अपराध एव दण्ड, राष्ट्रवाद एव अन्तर्राष्ट्रीयवाद, महात्मा गाधी के आर्थिक विचार, ट्रस्टीशिप सिद्धात; स्वदेशी सिद्धान्त; महात्मा गाधी के सामाजिक विचार; गाधीवाद तथा मार्क्सवाद, गाधीवाद का मूल्यांकन एव योगदान 321—367

13. सर्वोदय

विकास-रस्किन तथा 'अन टू दिस लास्ट,' गाधीवाद का रचनात्मक पक्ष, सर्वोदय का अर्थ एव विवेचन, सर्वोदय दर्शन, राज्य विलयन, दल विहीन व्यवस्था, लोकनीति; विकेन्द्री व्यवस्था, जन शक्ति, जय हिन्द से जय जगत की ओर, शान्ति सेना, भूदान आन्दोलन-दर्शन, कार्यक्रम एव उपलब्धियाँ, सम्पत्ति दान, ग्राम दान एव ग्राम राज, जीवनदान, सर्वोदय समीक्षा; सर्वोदय का भविष्य, बिहार एव सर्वोदय आन्दोलन 368—388

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची 389—394

1

समाजवाद

प्रारम्भिक एवं सामान्य विवेचन

समाजवाद उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बहुचर्चित तथा बीसवीं शताब्दी के चिन्तन मे प्रमुख स्थान रखने वाली विचारधारा है। यह आधुनिक युग का दर्शन है, नव-चिन्तकों के लिए प्रमुख आकर्षण है। समाजवादी विचारधारा इतनी लोकप्रिय है कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को समाजवादी सम्बोधित किये जाने मे गौरवान्वित तथा प्रगतिशील समझता है। प्रतिक्रियावादी एवं समाजवाद के शत्रु हिटलर ने भी अपने दल का नाम 'राष्ट्रीय समाजवादी दल' (National Socialist Party) रखा था।

लगभग सभी लोग इस बात मे विश्वास करने लगे हैं कि आज के युग मे राज्य को कल्याणकारी बनाने के लिये समाजवाद के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नही है। रेमाण्ड ऐरॉन (M. Raymond Aron) ने लिखा है कि पश्चिम में समाजवाद का एक भ्रान्ति (myth) के रूप में अन्त हो गया है एवं यह वास्तविकता का अंग है।[1] पंडित जवाहरलाल नेहरू जब एक बार अमेरिकी यात्रा पर थे, कल्याणकारी गतिविधियों के सन्दर्भ में यह कह कर कि अमेरिका कई समाजवादी राज्यों से अधिक समाजवादी है श्रोताओं को आश्चर्य मे डाल दिया। निश्चय ही आज प्रत्येक व्यक्ति तथा राज्य किसी न किसी दृष्टि से समाजवादी है। यह बात आज ही सही नही है किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे ही सर विलियम हरकोर्ट (Sir William Harcourt) ने यह घोषणा की थी कि "अब हम सब समाजवादी हैं।"[2]

समाजवाद की व्याख्या : एक समस्या

समाजवाद क्या है? समाजवाद के कौन-कौन से तत्व हैं? इन प्रश्नो का कोई सामान्य या सन्तोषजनक उत्तर नही दिया जा सकता। समाजवाद एक सिद्धान्त प्रणाली के रूप मे जितना लोकप्रिय है उतना ही अनिश्चित है। समाजवाद का अर्थ और विशेषताओं की व्याख्या अनेक चिन्तकों और विद्वानों ने की है लेकिन वे इस पर एकमत नही है। यदि उनमे सहमति है तो सिर्फ इस बात पर कि समाजवाद की

---

1 Aron, M R, The Century of Total War, Verschoyle, 1954, p 355

2 Crosland, C A R, The Future of Socialism, p. 101

अन्तिम या निश्चित व्याख्या नहीं हो सकती। वे समाजवाद को परिभाषित करने की जोखिम नहीं ले सकते। समाजवाद की व्याख्या एक समस्या बन गई है।

समाजवाद की व्याख्या स्पष्ट या सही ढंग से नहीं हो सकी या नहीं हो सकती इसके निम्नलिखित कारण दिये जाते हैं[3] :—

प्रथम, समाजवाद शब्द का एक विचारधारा और राजनीतिक आन्दोलन दोनों ही रूप में प्रयोग किया जाता है।

द्वितीय, समाजवाद सिर्फ एक विचारधारा मात्र नहीं है। यह एक आदर्श एक दर्शन, एक विश्वास, एक जीवन प्रणाली आदि सभी रूपों में प्रयुक्त होता है। जोड (**C. E. M. Joad**) के अनुसार समाजवादी दर्शन को पूर्णतः या मुख्यतः राजनीतिक समझ लेना त्रुटि होगी। इसका राजनीतिक एवं आर्थिक पक्ष एक दूसरे से घनिष्टतापूर्वक सम्बन्धित है। "इसके केवल राजनीतिक पक्ष का विवरण देना न केवल अव्यावहारिक है अपितु अवांछनीय भी।"[4] वास्तव में आज यह प्रश्न नहीं है कि समाजवाद क्या है किन्तु यह कहना चाहिए कि समाजवाद क्या नहीं है

तृतीय, समाजवादी बहुत से परस्पर विरोधी सम्प्रदायों में विभक्त हैं। ये सम्प्रदाय अपने लक्ष्यों और पद्धतियों में एक दूसरे से सर्वदा भिन्न हैं। इन विचारधाराओं के अलग-अलग स्पष्ट नाम हैं जैसे सिन्डीकलवाद (Syndicalism) गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism), अराजकतावाद (Anardeism), साम्यवाद (Communism) आदि। इन सम्प्रदायों के कई प्रवक्ता हैं और प्रत्येक प्रवक्ता के हाथों में समाजवाद भिन्न सिद्धान्त प्रतीत होता है। इस प्रकार हमारे सामने समाजवाद के अनेक भिन्न भिन्न रूप चित्रित होते हैं। इन समस्त समाजवादी सम्प्रदायों के कार्यक्रमों साधनों आदि की दृष्टि से यदि समाजवाद के वास्तविक अर्थ तथा रूपों का अध्ययन किया जाय तो यह कह सकना प्रायः असम्भव हो जायेगा कि वास्तव में समाजवाद क्या है तथा किस विचारधारा, आन्दोलन या नीति को समाजवाद कहा जाय। सभी अपने-अपने समाजवाद के वास्तविक होने का दावा करते हैं।

चतुर्थ, समाजवाद के समर्थकों की संख्या लगभग असीमित है। इनके द्वारा इस विचारधारा की इतनी व्यापक और वृहद् सामग्री प्रस्तुत की गई है कि विशुद्ध समाजवाद क्या है, यह बतलाना अत्यन्त कठिन है। संक्षेप में समाजवाद

3 इस सम्बन्ध में देखिये—
जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 33-34,
Crosland, C A R, The Future of Socialism, p 100,
Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 1-2

4. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 33.

ऐसी टोपी बन गया है जिसकी आकृति बहुत अधिक पहने जाने के कारण बिगड़ चुकी है।"[5]

समाजवाद का सम्बन्ध किसी एक राज्य या महाद्वीप से नहीं है। प्रारम्भ में अवश्य ही यूरोप में इसका प्रादुर्भाव हुआ लेकिन अब यह विश्वव्यापी विचारधारा बन गया है। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त एशिया और अफ्रीका के देश जैसे-जैसे स्वाधीन हुए, लगभग सभी ने अपनी औपनिवेशिक अर्थ व्यवस्था में सुधार करने हेतु समाजवाद का आश्रय लिया। फलस्वरूप एशियाई समाजवाद, अफ्रीकी समाजवाद, चीनी समाजवाद, भारतीय समाजवाद, अरब समाजवाद आदि कई स्थानीय या क्षेत्रीय समाजवादी स्वरूप हमारे सामने आये। इनमें कुछ तो प्रजातांत्रिक राज्य हैं, बहुत से राज्यों में सैनिक तानाशाही है, लेकिन सभी स्वयं को समाजवादी कहते हैं। इस परिस्थिति ने समाजवाद के प्रति भ्रम में और भी वृद्धि की है।

भारतीय समाजवाद का विवेचन भी आसान नहीं है। भारत का कौनसा व्यक्ति या राजनीतिक दल समाजवादी है तथा किस प्रकार का समाजवादी है, यह बताना असम्भव है। भारत के कई राजनीतिक दलों ने समाजवाद को अपने कार्य-क्रम का मुख्य आधार माना है। यहाँ तक कि भारतीय जनसंघ ने भी एक प्रकार से समाजवादी कार्यक्रम स्वीकार किया है। किन्तु इन सभी दलों के सदस्य कुछ बड़े-बड़े पूँजीपति भी हैं। बड़े-बड़े उद्योगपति जो आर्थिक विषमता शोषण चोरबाजारी आदि में थोड़ा बहुत योगदान देते हैं व भी स्वयं को समाजवादी कहते हैं। यहाँ का भूतपूर्व नरेश वर्ग भी स्वयं को प्रगतिशील प्रदर्शित करने के लिए समाजवादी आवरण पहनने में कोई संकोच नहीं करता। इन परिस्थितियों के संदर्भ में भारत में समाजवाद व्यावहारिक कार्यक्रम न होकर एक नारा या राजनीतिक फैशन बन गया है। एक साधारण नागरिक यह समझने में असमर्थ है कि देश में कौन प्रगतिशील है, कौन समाजवादी है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि समाजवाद का अर्थ सुनिश्चित नहीं है। सम्भवतः क्रॉसलैंड (C. A. R. Crosland) के विचार सही प्रतीत होते हैं कि "समाजवाद का न तो कोई निश्चित अर्थ हुआ है और न होगा भी।"[6] किन्तु फिर भी यह सर्वग्राह्य विचारधारा है।

परिभाषा—

उपरोक्त परिस्थितियों एवं कारणों से यह तो स्पष्ट है कि समाजवाद की कोई निश्चित या सर्व-सम्मत व्याख्या की जा सकती जो सम्पूर्ण समाजवादी चिन्तन का प्रतिनिधित्व कर सके। लेकिन इसके साथ यह बात भी है कि समाजवाद के

5. उपरोक्त, पृ॰ 34.
6 Crosland, C. A R, The Future of Socialism, p 100

कुछ ऐसे तत्त्व एवं लक्ष्य हैं, जिन्हें अधिकांश समाजवादी वांछनीय मानते हैं। इन आधारों पर कुछ विद्वानों ने इसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया है जिसमें यदि आंशिक रूप में भी समाजवाद का अर्थ समझा जा सके तो विवेचन की समस्या थोडी बहुत हल हो सकती है।

समाजवाद की कई परिभाषाएँ हमारे सामने आती हैं। पेरिस के एक पत्र-Le Figaro-ने 1892 में जब समाजवाद की परिभाषाओं को एकत्र करने का प्रयास किया तो लगभग 600 परिभाषाओं का अस्तित्व पाया गया। डॉन ग्रिफिथ (Don Grifiths) ने अपनी पुस्तक-What is Socialism : A Symposium (1924)-में समाजवाद की लगभग 261 परिभाषाएँ दी हैं। आजकल जिन पुस्तकों में समाजवाद की समीक्षा मिलती है उनमें यही कुछ परम्परागत परिभाषाएँ प्रायः देखने में आती हैं। प्रो० एली के मतानुसार "समाजवादी व्यक्ति वह है जो राज्य के अन्तर्गत संगठित समाज को इस दृष्टि से देखता है कि वह आर्थिक वस्तुओं का न्याय संगत वितरण करने तथा मानवता को ऊँचा उठाने में सहायक हो" इसी प्रकार अंग्रेज दार्शनिक बर्ट्रेन्ड रसल (Bertrand Russell) के विचारों को उद्धृत किया जाता है जिन्होंने "समाजवाद को भूमि तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व का समर्थक बताया है।" एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britannica) की बहुचर्चित परिभाषा के अनुसार –

> "समाजवाद उस नीति या सिद्धान्त को कहते है जिसका उद्देश्य एक केन्द्रीय लोकतन्त्रीय सत्ता द्वारा प्रचलित व्यवस्था की अपेक्षा धन का उत्तम वितरण एवं उसके अधीन रहते हुए धन का उत्तम उत्पादन उपलब्ध करना है।"[7]

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित प्रसिद्ध समाजवादी तथा विद्वानों के विचारों को देना अधिक उपयुक्त होगा—

इंगलैण्ड के प्रसिद्ध समाजवादी राजनीतिज्ञ रेमजे मैक्डोनेल्ड (J. Ramsay MacDonald)-"सामान्य रूप से समाजवाद की इससे अच्छी परिभाषा नहीं हो सकती कि समाजवाद का उद्देश्य समाज के आर्थिक तथा भौतिक शक्तियों का मानवीय शक्तियों द्वारा संगठन एवं नियन्त्रण करना है।" 8

7 "Socialism is that policy or theory which aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution and in due subordination thereto a better production of wealth than now prevails".

8 "No better definition of socialism can be given in general terms than it aims at the organisation of the material economic forces of society and their control by the human forces"
Ramsay MacDonald J, Socialism : Critical and Constructive, p 60

डगलस जे. (Douglas Jay)—"समाजवाद का अर्थ है कि प्रत्येक मानव प्राणी को सुख तथा अन्य बातें जो जीवन को मूल्य प्रदान करते हैं का समान अधिकार है, और इस अधिकार से युक्त विश्व-समाज या उसके निकट पहुँचना सामूहिक, सामाजिक, न कि सिर्फ व्यक्तिवादी तरीकों से अच्छी तरह उपलब्ध हो सकता है।"[9]

एलेक्जेण्डर ग्रे (Alexander Gray)—'बिना किसी परिभाषा का सुझाव देते हुए, समाजवाद के अन्तर्गत हम वह सब स्वीकार करते हैं जो न्याय या समानता की भावना से प्रेरित, वर्तमान विश्व की बुराइयों से भावातुर होकर उत्तम विश्व की प्राप्ति, सुधारों से नहीं किन्तु विध्वंसात्मक (विध्वंस का शाब्दिक एवं तटस्थ रूप में प्रयोग) साधनों द्वारा—या यदि प्राथमिकता दी जाय तो समाज के स्वरूप एवं ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन करे।" [10]

कोल (G D H Cole)—'समाजवाद से मेरा तात्पर्य उस सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें मनुष्य या विरोधी आर्थिक वर्गों में विभाजन नहीं होता, किन्तु लगभग सामाजिक और आर्थिक समानता की दशाओं अन्तर्गत साथ-साथ रहते हैं तथा सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि के लिए उपलब्ध साधनों का सामान्य प्रयोग करते हैं।'[11]

समाजवाद की उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजवाद की कोई सुनिश्चित, स्पष्ट तथा सन्तोषप्रद परिभाषा नहीं हो सकती। इससे समाजवाद की सर्वांगीणता या व्यापकता का अनुमान लगाना असम्भव है। पर सिडनी वेब (Sidney

---

9 "Socialism means the belief that every human being has an equal right to happiness and whatever else gives value to life, and that a world society enshrining this right can best be achieved, or approached, by collective, social, and not just individualist, methods" Jay, Douglas, Socialism in the New Society, p 2

10 "For the present, therefore, without suggesting that it even remotely foreshadows a definition, we shall accept all who, urged by a passion for justice or equality, or by a sensitiveness to the evils of this present world, seek a better world, not by way of reform, but by way of subversion (using the word in its literal and neutral sense) or if it be preferred, by a fundamental change in the nature and structure of society" Gray, Alexander, The Socialist Tradition p 2

11. "By socialism I mean a form of society in which men and women are not divided into opposing economic classes, but live together under conditions of approximate social and economic equality, using in common the means that lie to their hands of promoting social welfare" Cole, G D H, The Simple Case for Socialism, p 7

Webb) ने कहा कि "समाजवाद जनतान्त्रिक आदर्श का आर्थिक पहलू है,"[12] इसके अन्तर्गत सब कुछ सम्मिलित किया जा सकता है। कुछ परिभाषाएँ व्यापक होते हुए भी समाजवाद के सम्पूर्ण पक्षों का समावेश नहीं कर पायी हैं। ये साम्यवादी समाजवाद को सामान्यतः अपने क्षेत्र में सम्मिलित नहीं करती। सम्भवतः साम्यवाद को क्रान्तिकारी और अधिनायकवादी व्यवस्था मानकर इसे अलग ही रखा गया है। साम्यवाद का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो उसे समाजवाद के अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता। ऐलेक्जेन्डर ग्रे के विचार में समाजवाद की सभी परिभाषाएँ बड़ी धूमिल आशा प्रस्तुत करती हैं। इनमें मूर्खता, उथलापन सकीर्णता, विरोधाभास सब कुछ है। कुछ परिभाषाएँ अवश्य ही आंशिक प्रशंसनीय हैं।[13]

समाजवाद के सैद्धान्तिक आधार

जब परिभाषाओं में समाजवाद की पूर्ण एवं सही अभिव्यक्ति नहीं हो सकती तो समाजवाद को कैसे समझा जा सकता है? इसके दो ही मार्ग हो सकते हैं। प्रथम, समाजवाद के विभिन्न तत्वों को स्पष्ट करना। दूसरे, समाजवाद के विकास तथा उसकी विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करना।

जो कठिनाईयाँ समाजवाद को परिभाषित करने में हैं उन्हीं ने समाजवाद के प्रमुख तत्वों को स्पष्ट करने में भी उलझनें प्रस्तुत की हैं। जब समाजवाद के प्रमुख विषय पर कोई एक मत नहीं है तो किस समाजवाद की विशेषताओं का उल्लेख किया जाय? कई बातों में समाजवादी सम्प्रदायों में सहमति नहीं है, कुछ बातों में व परस्पर विरोधी भी हैं। फिर भी इतना सब होते हुए 'समाजवादी आधार' को किसी सीमा तक समझा जा सकता है क्योंकि इन सभी में कुछ ऐसे सामान्य तत्व हैं जो एक धागे की तरह सभी समाजवादी मणियों को पिरोये हुए हैं। क्रॉसलैंड के शब्दों में—

> "सभी प्रकार के विविध एवं विचित्र समाजवादी सिद्धान्तों में जो समान स्थिर तत्व है वह यह है कि समाजवाद में कुछ नैतिक मूल्य एवं आकांक्षाएं निहित हैं। व्यक्ति स्वयं को समाजवादी इसलिये कहते हैं क्योंकि वे इन आकांक्षाओं में स्वयं को भागीदार समझते हैं, यही अलग अलग समाजवादी विचारधाराओं में कड़ी के समान है।"[14]

---

12 "Socialism is the economic side of democratic ideal" Sidney webb, quoted by Crosland in The Future of Socialism, p 101

13 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp 1 2

14 Crosland, C A R ,The Future of Socialism, p 101

सभी समाजवादी चाहे वे किसी भी शाखा से सम्बन्धित क्यों न हों, निम्नलिखित सिद्धान्तों को अवश्य स्वीकार करते है:—

समाज की प्राथमिकता—समाजवाद व्यक्तियों की अपेक्षा समाज पर अधिक बल देता है। सामाजिक हितों की तुलना में व्यक्तिगत हितों की महत्ता कम होती है। है। व्यक्तिवादिता के स्थान पर सामाजिकता को प्राथमिकता दी जाती है। समाज के महत्व का यही पक्ष समाजवाद को समाजवाद का नाम देता है।

चूंकि समाजवाद का प्रादुर्भाव व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था इसलिये *समाजवादी व्यक्तिवादी समाज की लगभग सभी मान्यताओं* पर प्रहार करते हैं। वे व्यक्ति को समाज की आत्मनिर्भर एवं पूर्ण इकाई नहीं मानते। वे समाज को अवयवी एकता (organic unity) *के रूप में स्वीकार करते* हैं जहां सामूहिक प्रयासों द्वारा व्यक्ति एवं समाज की प्रगति हो।

पूंजीवाद का विरोध—समाजवाद पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना चाहता है क्योंकि यह व्यवस्था—

(i) सामाजिकता, सामाजीकरण आदि का विरोध करती है;

(ii) *श्रमिक तथा अन्य दलित वर्गों के शोषण में सहायक होती है;*

(iii) व्यक्तिगत लाभ का समर्थन करती है, तथा

(iv) एकाधिकार की भावना को प्रोत्साहित करती है जिससे राष्ट्रीय-सम्पत्ति कुछ ही व्यक्तियों या परिवारों में संचित एवं सीमित हो जाती है, आदि।

स्पर्द्धा की भावना का विरोध—समाजवादी स्पर्द्धा को व्यक्तिवादी एवं पूंजीवादी *व्यवस्थाओं का दुर्गुण समझते हैं। जब पूंजीवादी, समाजवादियों का कहना* है स्पर्द्धा का समर्थन करते है इसका आशय स्वयं को आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था का निरन्तर स्वामी बनाये रखना है। पूर्ण स्पर्द्धा पूर्ण व्यक्तित्व या समाज के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक नहीं है। स्पर्द्धा में धनिक अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन होता जाता है। समाजवादी स्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग मूलक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते है जिसके अन्तर्गत समाज के सभी वर्गों का समुचित विकास हो सके।

निजी सम्पत्ति का विरोध—सभी समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property) को असमानता और शोषण का मूल कारण मानते हैं। यही पूंजीवादी व्यवस्था और निजी सम्पत्ति संस्था समाज की अपेक्षा व्यक्ति को महत्ता प्रदान करती है। इसलिए *समाजवादी निजी सम्पत्ति में एकाधिकार तथा असीमित संचय का* विरोध करते हैं। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के दुर्गुणों को दूर करने के लिये उसके *नियन्त्रित, मर्यादित और सामाजीकरण* के पक्ष में हैं।

समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए इस विचारधारा के समर्थकों का विचार है कि—

(i) उत्पादन और वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत नियंत्रण को हटाकर राज्य का नियंत्रण तथा उत्पादन के सभी खण्डों का राष्ट्रीयकरण व सामाजीकरण, चाहते हैं।

(ii) उत्पादन सामाजिक आवश्यकता के आधार पर होना चाहिए।

(iii) व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सामाजिक सेवा का सिद्धान्त स्वीकार किया जाना चाहिए।

समानता में विश्वास—समानता समाजवाद का मूल मंत्र है। समाजवाद वास्तव में समता की ही माँग का दूसरा नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि सबको अपनी प्रगति के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। यह विषमता की उन अवस्थाओं को दूर करना चाहता है जिसमें कुछ व्यक्ति बिना परिश्रम किये ही ऐश-आराम का जीवन व्यतीत करते हैं तथा समाज के अधिक व्यक्ति परिश्रम करके जीवन की आवश्यकता के साधन भी नहीं जुटा पाते।

डगलस जे (Douglas Jay) के अनुसार राजनीतिक समानता तो जनतांत्रिक व्यवस्था का अंग होती ही है। समाजवाद में आर्थिक समानता अधिक महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक समानता का तात्पर्य सामाजिक न्याय तथा समाज में कम से कम असमानता है।[15]

समाजवाद की विशेषताओं के सन्दर्भ में यह समझ लेना आवश्यक है कि जिन तत्त्वों का ऊपर उल्लेख किया गया है उन पर समस्त समाजवादी सम्प्रदाय सहमति व्यक्त करते हैं लेकिन वे किस पक्ष का कहाँ तक पालन करते हैं, उनको किस अंश तक महत्त्व आदि देते हैं, इनमें बहुत कुछ अन्तर है। पूँजीवाद, निजी सम्पत्ति तथा स्पर्द्धा का जितना प्रखर विरोध मार्क्सवादी-समाजवादी, अराजकतावादी करते हैं उतना फेबियनवादी, गिल्ड समाजवादी, राज्य समाजवादी आदि नहीं करते। इसी प्रकार मार्क्सवादी-साम्यवादी उत्पादन व वितरण के समस्त साधनों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण स्थापित करना चाहते हैं किन्तु जनतान्त्रिक समाजवादी एक प्रकार की मिश्रित व्यवस्था स्वीकार करते हैं। ऐसा अन्तर समाजवादी शाखाओं के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है।

राज्य की भूमिका—राज्य के प्रति विभिन्न समाजवादी सम्प्रदायों के दृष्टिकोण में मतभेद है। मार्क्सवादी एवं अराजकतावादी अन्तिम रूप में राज्य के उन्मूलन को

---

15 Jay, Douglas, Socialism in the New Society, pp 7 10

स्वीकार करते हैं। सिण्डीकलवादी एवं गिल्ड समाजवादी भी राज्य को लगभग समाप्त करने के पक्ष में हैं। दूसरी ओर फेबियनवादी आदि राज्य के महत्व को स्वीकार करते हैं। किन्तु राज्य के प्रति यह विवाद केवल सैद्धान्तिक स्तर तक ही सीमित है। विश्व के जिस भाग में किसी भी समाजवादी ध्वज के अन्तर्गत जिस समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की गई है सभी ने राज्य के औचित्य को स्वीकार किया है। समाजवादी समर्थक व्यक्तिवादी एवं यद्भाव्यम् (laissez-faire) नीति के विरुद्ध हैं। वे पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों को दूर कर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय की स्थापना करना चाहते हैं। इसके लिए आर्थिक विकास आवश्यक है। आर्थिक विकास सुनियोजित ढंग से होना चाहिए। सामाजिक हित में या कल्याणकारी व्यवस्था के लिए समाजवादी इन सभी कार्यों का उत्तरदायित्व राज्य पर छोड़ते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से राज्य का व्यापक कार्य क्षेत्र समाजवाद का प्रमुख तत्व बन गया है। समाजवादी व्यवस्था का केन्द्र राज्य है। यहाँ तक कि राज्य के महत्व को देखते हुए समाजवाद को तथाकथित 'राज्य समाजवाद' भी कहा जाने लगा है। सूक्ष्म में समाजवाद के अन्तर्गत—

(i) राज्य एक सकारात्मक संस्था है, व्यक्तिवादियों की भाँति निषेधात्मक नहीं,

(ii) राज्य के कार्य क्षेत्र का व्यापक विस्तार होता है;

(iii) राज्य को उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर नियंत्रण करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है;

(iv) राज्य द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों में आर्थिक विषमता को दूर कर न्यायपूर्ण वितरण की व्यवस्था की जाती है;

(v) राज्य एक कल्याणकारी राज्य की भूमिका का निर्वाह करता है।

साध्य एवं साधन – समस्त समाजवादी शाखाओं में मुख्यत: सैद्धान्तिक अन्तर साध्य एवं साधनों के विषय में है। मार्क्सवादी-समाजवादियों तथा अराजकतावादियों का उद्देश्य शोषणरहित वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना है जिसमें राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। यद्यपि साम्यवादियों एवं अराजकतावादियों में राज्य के महत्व के विषय में गम्भीर मतभेद हैं किन्तु अन्य समाजवादी सम्प्रदाय राज्य के महत्व को स्वीकार करते हैं। वे राज्य की समाप्ति की बात नहीं करते।

समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये साधनों को लेकर भी इनमें गम्भीर मतभेद है। साम्यवादी वर्ग-संघर्ष एवं क्रान्ति में विश्वास करते हैं। अराजकतावादी और सिन्डीकल समाजवादी भी इस सम्बन्ध में साम्यवादियों के ही निकट हैं किन्तु जितने भी विकासवादी जनतान्त्रिक समाजवादी हैं वे रक्त क्रान्ति में विश्वास नहीं करते। वे समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण जनतान्त्रिक साधनों से ही करना चाहते हैं।

समाजवाद का विकास

मानव इतिहास के प्रारम्भ से अब तक समाज में असमानता, आर्थिक विषमता तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण किसी न किसी रूप में रहा है। यह स्थिति राजनीतिक चिन्तकों द्वारा आलोचना का प्रमुख विषय रही है। उन्होंने निर्धन वर्ग के शोषण एवं सामाजिक और आर्थिक विषमता के कारणों का उन्मूलन कर उनकी दशा सुधारने के लिए समय-समय पर सुझाव दिये हैं। अन्यायपूर्ण परिस्थितियों में सुधार के लिये विचार या कार्यक्षेत्र में जो कुछ भी किया गया है वहीं से समाजवाद का प्रारम्भ होता है।[16] इस आधार पर समाजवादी सिद्धान्तों के पूर्ण इतिहास का क्षेत्र बड़ा व्यापक होगा। इसमें प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक भिन्न-भिन्न समय के अनेक लेखों और अनेक विचारधाराओं का कुछ न कुछ समावेश करना पड़ेगा।

एलेग्जेंडर ग्रे (Alexander Gray) ने अपनी पुस्तक[17] में समाजवादी परम्परा का उद्भव प्राचीन काल से मानवर विचारकों की एक लम्बी शृंखला का उल्लेख किया है। ग्रे के अनुसार प्राचीन यहूदी परम्परा में भी समाजवादी लक्षण देखने को मिलते हैं। यहूदियों के धर्म ग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेन्ट (Old Testament) में उनके सामुदायिक नियम, व्यवहार, रहन सहन आदि एक विभिन्न समाजवादी व्यवस्था प्रस्तुत करते थे। समानता, भ्रातृत्व, सामूहिक सम्पत्ति एवं खान-पान उस समय यहूदी जीवन की विशेषताएं थी।

मूसा ने अपने प्रवचन (Mosaic Law) में यहूदियों के एक ही छत्रछाया में रहकर समान स्रोत से भोजन उपलब्ध करने आदि बातों का उल्लेख किया है।[18] यहूदियों की एसेनेस (Essenes) साम्प्रदायिक व्यवस्था भी सामाजीकरण पर आधारित थी। इस सम्प्रदाय के सदस्य अपना सर्वस्व समाज के लिए त्याग देते थे एसेनेस के सदस्यों की कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती थी। वे दिन में जो कुछ धन उपार्जित करते थे वह सम्प्रदाय के समस्त लोगों के काम आता था।[19]

सम्भवतः प्लेटो से पूर्व ग्रीस में अरिस्टोफेंस (Aristophanes, 444-380 B C) ने तत्कालीन सामाजिक स्थिति और उसमें सुधार करने हेतु जो विचार व्यक्त किये वे किसी सीमा तक समाजवादी ही थे। अरिस्टोफेन्स ने लिखा है—

"वह शासन जिसके निर्माण की मैं घोषणा करता हूँ, कि सब समान एवं संयुक्त भागीदार होंगे, समस्त सम्पत्ति और आनन्द में अब यह नहीं

16 Cole, G D H, The Simple Case for Socialism, p 15

17. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, Moses to Lenin, 1948

18 Gray, A, The Socialist Tradition, pp 32-35

19 Ibid pp 35-38,
Vergilus Ferm (Ed), Encyclopaedia of Religion, p 256

चलेगा कि एक धनी हो और दूसरा निर्धन, कि एक के पास एकड़ों भूमि-दूर तक विस्तारपूर्वक फैली हुई हो, और दूसरे के पास इतना भी न हो कि जिसमें कब्र भी बन सके, कि बुलाने पर एक के सैकड़ों नौकर प्रस्तुत हों, दूसरे के पास कुछ भी नहीं, इन सब में मैं सुधार और संशोधन करना चाहता हूँ, अब सब सुविधाओं में सब स्वतन्त्र भागीदार होंगे, जहाँ एक प्रकार का जीवन और एक ही व्यवस्था सभी के लिए होगी।"[20]

प्लेटो (Plato 427-347 B C) के साम्यवादी विचार भी अधिक उग्रवादी माने जाते हैं। अपनी पुस्तक रिपब्लिक (Republic) में प्लेटो के निम्नलिखित विचार समाजवाद की ओर संकेत करते हैं —

> "एकता वहाँ है जहाँ सुख और दुःख सामूहिक हो, (अथवा पूरे समुदाय का हो), जहाँ सुख और दुःख के अवसरों पर सभी नागरिक सामान्यत प्रसन्न या दुःखी हों। *वह अव्यवस्थित राज्य है जहाँ एक ही घटना पर,* आधे नागरिक उन्नसित हों आधे शोक में डूबे हों। निश्चय ही यह अन्तर वहाँ प्रारम्भ होता है जहाँ यह मतभेद हो कि यह 'मेरा है" और मेरा नहीं, उसका है' उसका नहीं।"[21]

प्लेटो के ग्रन्थों में से इस प्रकार के अनेक विचार उद्धृत किए जा सकते हैं।

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि पश्चिम के देश जिनके जन-जीवन पर ईसाई धर्म का गहरा प्रभाव रहा है, इस धर्म की शिक्षाओं में समाजवादी तत्वों को खोजने का प्रयत्न करते हैं। वे बाइबिल के नवीन भाग न्यू टेस्टामेन्ट (New Testament) में ईसा मसीह, अन्य धर्म गुरु तथा पादरियों के कथनों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ये मनुष्य की व्यापक स्वतन्त्रता, समानता, दलित-वर्ग का उत्थान आदि का समर्थन करते थे। वे चर्च-व्यवस्था को समाजवादी व्यवस्था कहते हैं।[22] इस सम्बन्ध में क्लीमेंट एलेक्जेन्ड्रिया (Clement of Alexandria), सन्त एम्ब्रोस (Saint Ambrose), सन्त टॉमस एक्वना (Saint Thomas Acquinas) आदि के नामों का उल्लेख किया जाता है।[23] संत एक्वना ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन तो किया लेकिन वे इसका प्रयोग जनहित में एक 'ट्रस्ट' (Trust) के रूप में करने के पक्ष में थे। इस सन्दर्भ में सिर्फ यही कहा जा सकता है कि यहूदियों की व्यवस्था को छोड़कर अन्य धार्मिक व्यवस्थाओं या सिद्धान्तों को समाजवादी कहना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। फिर तो भारत में बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म से सम्बन्धित व्यवस्थाएं

20. Gray, A , (quoted), The Socialist Tradition pp 25–26
21. Ibid , p 17.
22 Ibid , pp. 38–45.
23. Ibid , pp 45–60

भी समाजवादी थी। प्रत्येक धर्म की शिक्षाए मानवतावाद पर आधारित हैं किन्तु उसे समाजवादी, जैसा कि हम आज समझते हैं, नहीं कहा जा सकता। उन्होने धर्म की समाजवादी नहीं किन्तु आध्यात्मिक व्याख्या की है।[24]

सोलहवी शताब्दी मे टॉमस मोर (Thomas More, 1478-1535) ने अपने समय के समाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। मोर ने निर्धन वर्ग की दुर्दशा का चित्रण करते हुए यह स्वीकार किया है कि इस का उत्तरदायित्व उच्च धनिक वर्ग पर था। मोर के अनुसार धनिक वर्ग ने सम्पत्ति का सचय भ्रष्टाचार, जालसाजी और षड्यत्रो द्वारा किया। इस स्थिति मे सुधार करने के लिए मोर ने यूटोपिया (Utopia,, 1516) मे एक नवीन समाज की कल्पना की है जो स्वतन्त्रता और समता पर आधारित होगी। मोर के विचारो म समाजवाद की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।[25]

इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानो और चिन्तको आदि का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होने किसी न किसी पक्ष को लेकर समाजवाद के समर्थन मे कुछ न कुछ लिखा है हालाकि उन्होने न तो समाजवाद शब्द का प्रयोग किया और न स्वय को समाजवादी ही कहा। उनके समाजवादी विचार आज के समाजवाद से स्वरूप और क्षेत्र (nature and scope) दोनो मे ही भिन्न थे।[26]

आधुनिक समाजवाद

आधुनिक समाजवाद का विकास अट्ठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी मे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के सदर्भ हुआ। अट्ठारहवी शताब्दी के यूरोप मे निरकुशवाद और सामन्तवाद अपनी चरम सीमा पार कर चुके थे। मुट्ठी भर व्यक्तियो के हाथो मे राज-सत्ता और अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित थी। भोग विलास, क्रूरता, दमन, शोषण इस व्यवस्था की विशेषताए थी। उच्च वर्ग के थोडे से व्यक्तियों द्वारा असीमित बहुमत का शोषण करना, उनके अधिकारो का गला घोटना यूरोप मे एक सामान्य और साधारण बात थी।

इस अन्यायपूर्ण स्थिति के विरुद्ध सर्वप्रथम विचार बगावत प्रारम्भ हुई। फ्रास की क्रान्ति (French Revolution, 1789--1815) के पूर्व तथा उसके समकालीन

24 ईसाई धर्म सिद्धान्तो के आधार पर उन्नीसवी शताब्दी मे ईसाई समाजवाद (Christian Socialism) का प्रचलन चला। धार्मिक परम्पराओ पर खड़ा यह समाजवाद मनुष्य के विवेक को प्रभावित नहीं कर सका।
Hallewelf, J. H , Main Currents in Modern Political Thought p 375

25 Catlin, George, A History of the Political Philosophers, p 544,

26 Ibid p 369

कुछ ऐसे दार्शनिक एवं लेखक हुए जिनके विचारों में आधुनिक समाजवादी तत्वों का पूर्ण आभास मिलता है। इस दृष्टि से रूसो (Jean Jacques Rousseau, 1712-1778) का ग्रन्थ Discourse On Inequality 1755-महत्त्वपूर्ण है। समाजवादी परम्परा में रूसो द्वारा योगदान के प्रमुख तीन पक्ष हैं। प्रथम, रूसो सम्पत्ति को समस्त दुर्गुणों का स्रोत एवं आधार मानता है। द्वितीय, समाज में प्रचलित कानून व्यवस्था निम्न वर्ग (have nots) के विरुद्ध उच्च एवं सम्पन्न वर्ग की रक्षा करती है। इस प्रकार कानून समाज में असमानता और विषमता में वृद्धि करने का एक साधन है। तृतीय, रूसो के अनुसार निर्धन तथा अमीर, निर्बल तथा सबल, स्वामी तथा दास के मध्य विरोध के परिणामस्वरूप वर्ग-संघर्ष का प्रादुर्भाव होता है। रूसो द्वारा समानता का समर्थन, निजी सम्पत्ति के प्रति घृणा और किसी रूप में उसके वर्ग संघर्ष के स्वप्न ने आधुनिक समाजवाद के विकास को प्रभावित किया। साथ ही साथ उसने आने वाली पीढ़ियों के लिये समाजवादी वातावरण का निर्माण करने में योगदान दिया।[27]

फ्रांस की क्रान्ति के समय बेबूफ (Francis Noel Babeuf, 1764-1797) सम्भवतः प्रथम समाजवादी थे जिन्होंने चिन्तन के क्षेत्र में ही नहीं वरन् क्रान्ति में सक्रिय भाग लेकर एक समाजवादी कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया। बेबूफ के विचारों का केन्द्र समानता है। प्रकृति ने अधिकार एवं आवश्यकताओं की दृष्टि से सभी व्यक्तियों को समान बनाया है। समाज का उद्देश्य, बेबूफ के अनुसार, समस्त व्यक्तियों को सन्तुष्ट करना है। यह सन्तुष्टि समानता द्वारा ही सम्भव है। समानता की उपलब्धि के लिये प्रत्येक व्यक्ति को काम मिलना चाहिये, कानून द्वारा कार्य अवधि निश्चित हो, जन प्रतिनिधियों की एक समिति द्वारा उत्पादन का निर्देशन हो तथा आवश्यकता के अनुसार सभी में वस्तुओं का वितरण हो। बेबूफ ने शनैः शनैः सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया ताकि पचास वर्षों में लगभग समस्त सम्पत्ति राज्य के नियन्त्रण में आ जाय।[28]

इस स्थिति और ऐसे विचारों के समन्वय से विस्फोट अवश्यम्भावी था। फ्रांस की क्रान्ति वास्तव में इन्हीं की अभिव्यक्ति थी। इस क्रान्ति ने विशेष हितों पर आधारित तत्कालीन व्यवस्था और संस्थाओं को चुनौती दी थी। इससे निर्धन वर्ग को अपनी स्थिति सुधारने की आशा थी। क्रान्तिकारी परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन व्यवस्था की स्थापना चाहते थे। फ्रांस की क्रान्ति असफल तो हुई किन्तु उसने समकालीन और आगे आने वाली पीढ़ियों के विचार-चिन्तन को झकझोर दिया। उच्च वर्ग के विशेषाधिकारों के विरुद्ध जो आवाज उठी वह वर्षों तक

27 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp. 3,85.
28 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 379

गूँजती रही। सैद्धान्तिक रूप में आधुनिक समाजवाद अठ्ठारहवीं शताब्दी में फ्रांस के दार्शनिकों के विचारों का विस्तार है तथा समाजवादी आन्दोलन फ्रांस की क्रान्ति का ही परिणाम है।[29]

उन्नीसवीं शताब्दी को औद्योगिक क्रान्ति का भी युग माना जाता है। औद्योगिक क्रांति की प्रगति से यूरोप की आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हुए। वैज्ञानिक आविष्कारों ने उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि की। बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ और उद्योग अस्तित्व में आये। किन्तु इस क्रान्ति का लाभ मुख्यतः उच्च और धनिक वर्ग को ही मिला। बड़े-बड़े उद्योगों पर राज परिवार के सदस्यों तथा सामन्तों का आधिपत्य था। बड़े बैंक मालिकों ने भी इन उद्योगों में धन लगाया। परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था पर शासकों, सामन्तों, बैंक मालिकों का नियंत्रण हो गया। इनका शासन व्यवस्था पर भी प्रभाव था। रैमजे मेकडॉनल्ड (J.Ramsay MacDonald) ने इस व्यवस्था को 'आर्थिक राज्य' (Economic State) कह समस्त बुराइयों की जड़ बतलाया।[30]

दूसरी ओर औद्योगिक क्रांति में श्रमिक वर्ग का भी जन्म हुआ। जो दयनीय दशा कृषि श्रमिक छोटे-छोटे कारीगरों की थी वही हालत औद्योगिक श्रमिकों की भी हो गई। औद्योगिक क्रांति से अनेक व्यक्ति बेकार हुए। श्रमिकों को फैक्ट्रियों और खानों में अमानवीय दशाओं में कार्य करना पड़ता था। उन्हें 18-20 घण्टे काम करना पड़ता तथा विश्राम का प्रश्न ही नहीं उठता था। मेहनत करने के बाद उन्हें जो धन मिलता था वह उनके लिये उस दिन की जीविका के लिए भी पर्याप्त नहीं होता था। एक ओर श्रमिक वर्ग बेकारी, भूख और बीमारी का शिकार था, दूसरी ओर रिआयती वर्ग (privileged class) धन और विलास में डूबा जा रहा था। इस परिस्थिति में उच्च वर्ग के प्रति दलित वर्ग में वैमनस्य की भावना फैलने लगी।

इस अन्यायपूर्ण स्थिति का समर्थन उस समय प्रचलित एक महत्वपूर्ण विचारधारा ने भी किया। व्यक्तिवाद (Individualism) उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक एक सम्मानित विचारधारा और उपासना का विषय थी। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने तत्कालीन चिन्तन को बहुत प्रभावित किया। इसके अन्तर्गत समाज एवं राज्य के स्थान पर व्यक्ति को प्रधानता दी जाती थी। यद्यपि यह विचारधारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता की प्रबल समर्थक थी, व्यावहारिक रूप में इसने पूँजी वर्ग की सहायता की। समय बीतने के साथ-साथ व्यक्तिवाद निजी उद्योग और पूँजीवाद के साथ

29 Kilzer and Ross, Western Social Thought p 237;
Engels, Frederick, Socialism Utopian and Scientific p 1

30 Ramsay Mac Conald J, Socialism Critical and Constructive, p 53

जुड़ता गया।[31] आर्थिक क्षेत्र में यह विचारधारा मुक्त प्रतियोगिता, शासन का न्यूनतम नियन्त्रण तथा लाभ सिद्धांतों पर आधारित थी।

प्रमुख व्यक्तिवादी अर्थशास्त्री माल्थस (T. R. Malthus, 1766-1834) का विचार था कि श्रमिक वर्ग की दयनीय दशा अवश्यम्भावी और स्थाई थी। रिकार्डो (David Ricardo, 1772-1823) ने अर्थ व्यवस्था में बड़े-बड़े जमींदारों और पूँजीपतियों के महत्वपूर्ण योगदान का समर्थन किया। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer, 1820-19 3) के 'सबल का अस्तित्व सिद्धान्त' (survival of the fittest) को यदि तार्किक रूप से आगे बढ़ाया जाय तो इसका यही तात्पर्य था कि धनी व्यक्ति ही समाज में जीवित रह सुखी जीवन व्यतीत कर सकता था। इससे पूँजी वर्ग की शक्ति और श्रमिक वर्ग के शोषण में वृद्धि की। समाजवाद का प्रादुर्भाव तत्कालीन पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध स्वरूप ही नहीं हुआ, साथ ही साथ यह व्यक्तिवाद और इससे सम्बन्धित सभी सिद्धान्तों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया एवं प्रतिरोध था।[32]

वियना कांग्रेस (Vienna Congress, 1815) में प्रतिपादित यूरोपीय राज्य व्यवस्था प्रतिक्रियावादी थी जिसने निरंकुशवाद और पूंजीवाद के हाथ और भी मजबूत किये। इस व्यवस्था में दलित वर्ग को अपने भाग्य के सुधार की कोई आशा नहीं थी। शोषण के विरुद्ध सामूहिक प्रयत्न प्रारम्भ करने का विचार सामने आने लगा।[33] फ्रांस की क्रान्ति ने आन्दोलनों का मार्ग पहले ही प्रशस्त कर दिया था। अब यूरोप में आन्दोलन और क्रान्तियों की एक शृंखला सी लग गई। 1830 में कई छोटी-मोटी क्रान्तियां हुईं जिनमें फ्रांस, बेलजियम इटली, पोलैण्ड, रूस, स्पेन पुर्तगाल, इटली तथा जर्मनी के राज्य प्रभावित हुए। इंगलैण्ड भी अछूता नहीं रह सका। वहां चार्टिस्ट आन्दोलन (Chartist Movement) ने जोर पकड़ा। इस चार्टर (विनय पत्र) में राजनीतिक और आर्थिक सुधारों की मांग की गई थी। आन्दोलनकारी सिर्फ प्रदर्शन आदि से ही सन्तुष्ट नहीं थे। 1839-40 में उन्होंने कई जगह सरकार से लोहा भी ले लिया। चार्टिस्ट आन्दोलन का दमन तो हो गया किन्तु इसने समाजवाद और श्रमिक आन्दोलन को एक नवीन प्रेरणा प्रदान की।[34]

31. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 607.

32 Dunning, W A , A History of Political Theories, from Rousseau to Spencer, p 342

33 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 236.

34 Beer, M A , History of British Socialism, Vol II, pp 93—105; Dunning, W. A , A History of Political Theories, from Rousseau to Spencer, p 343

यूरोपीय महाद्वीप मे चल रहे आन्दोलनो और क्रान्तियों की विभिन्न सीढ़ियों मे जैसे जैसे प्रगति हुई लगभग उसी अनुपात मे समाजवाद का विकास होता गया।

आधुनिक समाजवाद को एक व्यवस्थित विचारधारा के रूप मे प्रारम्भ करने का श्रेय यूटोपियायी समाजवादियों को है। अठ्ठारहवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे तथा उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे कुछ चिन्तक हुए जिनमे सेन्ट साइमन (Saint Saimon, 1770-1825), चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier, 1772-1837) और रॉबर्ट ओवन (Robert Owen, 1771-1858) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होने तत्कालीन पूंजीवादी व्यवस्था, स्पर्द्धा, निजी सम्पत्ति आदि की कटु आलोचना की। ये मूलत मानवतावादी थे। उस समय श्रमिको की जो दुर्दशा थी उससे इनका हृदय द्रवित हो उठा। वे पूंजीपतियों और श्रमिकों के सहयोग से एक ऐसी व्यवस्था चाहते थे जिसमे श्रमिको का उत्थान और प्रगति हो। इस सम्बन्ध मे इन्होने कुछ सुझाव दिये तथा कुछ प्रयोग भी किये। सेन्ट साइमन की सेवेन्ट्स (Savants), फोरियर की फेलेन्क्स (Phalanx) तथा ओवन की न्यू लेनार्क (New Lanark) योजनाएँ समाजवादी व्यवस्था के लिये ही थी।

सेन्ट साइमन, फोरियर, ओवन आदि के विचारो के सदर्भ मे ही सर्वप्रथम समाजवाद शब्द का प्रयोग किया गया था। समाजवाद का सबसे पहले प्रयोग 1827 म ओवन तथा उनके अनुयायियो द्वारा प्रकाशित (Co-operative Magazine) मे हुआ। फ्रास मे इस शब्द का प्रचलन 1832 मे हुआ।

साइमन, फोरियर, ओवन आदि के समाजवादी विचारो को यूटोपियायी (आदर्शवादी या स्वप्नवादी) कहा जाता है क्योकि इनके सुझाव एव योजनाएं केवल आदर्श मात्र थे जिन्हे व्यापक ढग से व्यावहारिक रूप नही दिया जा सकता था। इसके अतिरिक्त इनका समाजवाद किसी आन्दोलन के लिये प्रेरक नही था। वे पूंजीपतियो के हृदय-परिवर्तन और उदारवादिता के आधार पर अपनी समाजवादी योजनाओ की सफलता की कामना करते थे। इसलिये कार्ल मार्क्स ने इन समाजवादियो को अपमानित करने के लिये घृणात्मक शब्दो मे 'यूटोपियायी' की सज्ञा दी थी।[35] तभी से इन्हे यूटोपियायी समाजवादी कहा जाने लगा।

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे मार्क्सवाद (कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐन्जिल्स के विचार) ने समाजवाद को एक नया मार्ग दर्शन कराया। समाजवाद को वास्तव मे व्यवस्थित, वैज्ञानिक, आन्दोलनकारी एव क्रान्तिकारी रूप देने मे मार्क्सवाद का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। मार्क्सवाद को सर्वप्रथम वैज्ञानिक समाजवाद कहा

35 Manifesto of the Communist Party, p 89,
Engels, Frederick; Socialism Utopian and Scientific, p 12

जाता है क्योंकि उस समय यूरोप में चल रहे आन्दोलन एवं क्रान्तियों का विवेचन कर कार्ल मार्क्स ने उन्हें सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया। इनके विचार इतिहास का नया विवेचन तथा मानव स्वभाव पर आधारित हैं जिन्हें तर्क-संगत बनाने का कार्ल मार्क्स ने भरसक प्रयत्न किया। वैज्ञानिक समाजवाद की अभिव्यक्ति मार्क्सवाद के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग संघर्ष का सिद्धांत, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत आदि में पूर्णतः होती है।

मार्क्सवाद के ही समानान्तर एक और समाजवादी विचारधारा का प्रचलन हुआ जिसे अराजकतावाद (Anarchism) कहते हैं। काल एवं विकास की दृष्टि से मार्क्सवाद या अराजकतावाद में किसे प्राथमिकता दी जाय इस सम्बन्ध में एक मत नहीं हो सकता। अराजकतावाद के प्रमुख समर्थक विलियम गॉडविन (William Godwin, 1756-1836), हाजस्किन (Thomas Hodgskin, 1787-1869), प्रधों (P. J Proudhon, 1809-1865), बाकुनिन (Michael Bakunin, 1814-1876), पीटर क्रोपाटकिन (Peter Kropotkin, 1842-1921), थे। अराजकतावादी भी पूंजीवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति, राज्य, धर्म के पूर्ण विरोधी थे। वे वर्ग-विहीन, राज्यविहीन और शोषण विहीन समाज की रचना के समर्थक थे।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International) सिद्धान्त संघर्ष—इस समय तक यूरोप का श्रमिक आन्दोलन काफी शक्तिशाली हो चुका था। श्रमिक आन्दोलनों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संस्था की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। कार्ल मार्क्स की प्रेरणा से 1864 में एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन की स्थापना हुई जिसे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International, 1864-1876) कहते हैं। इस संस्था में दो विचारधाराओं का संघर्ष रहा। एक विचारधारा का नेतृत्व कार्ल मार्क्स और एन्जिल्स कर रहे थे। दूसरी ओर अराजकतावादी थे जिसके प्रबल समर्थक माइकल बाकुनिन थे। बाकुनिन ने मार्क्स के अधिनायकवादी केन्द्रीकरण करने वाले कार्यक्रम का विरोध तथा राजनीतिक परित्याग पर जोर दिया। मार्क्स के समर्थकों का कम से कम उस समय विश्वास था कि समाजवादी क्रान्ति के पश्चात् भी राज्य संस्था को किसी न किसी रूप में रखना पड़ेगा। किन्तु अराजकतावादी जिन्हें इटली और फ्रांस के समाजवादियों का समर्थन प्राप्त था, राज्य का पूर्ण उन्मूलन चाहते थे। किसी भी प्रकार की शासन व्यवस्था पर उनकी किंचित मात्र आस्था नहीं थी।[36] इन दोनों समाजवादी विचारधाराओं के सैद्धान्तिक मतभेदों ने खुले संघर्ष का रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप 1872 में अराजकतावादियों ने 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' से अलग होकर फेडरल यूनियन (Federal Union) की स्थापना की। चार वर्ष बाद ही 1876 में 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' संस्था टूट गई।

36. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 70-71.

मार्क्सवाद और अराजकतावाद के सिद्धान्त संघर्ष के परिणामस्वरूप फ्रांस में एक नये समाजवादी पथ का जन्म हुआ जिसे सिन्डीकलवाद (Syndicalism) कहते हैं। इसके प्रमुख प्रवक्ता जार्ज सोरेल (George Sorel, 1847–1922) थे। 1884 में फ्रांस में कानून द्वारा श्रमिक संघ स्थापित करने तथा हड़ताल आदि करने का पुन अधिकार दिया गया। 1886 में मजदूर सभाओं के राष्ट्रीय संघ (National Federation), 1887 में कई लेबर एक्सचेन्ज (Labour Exchange) जो श्रमिकों के कार्य एवं समस्याओं के सुलझाने के केन्द्र थे तथा 1895 में जनरल फेडरेशन आफ लेबर (Confederation Generale du Travail) की स्थापना से फ्रांस में सिन्डीकलवाद के प्रचलन में वृद्धि हुई।

सिन्डीकलवाद में मार्क्सवाद और अराजकतावाद के अनेक तत्व सम्मिलित थे। मार्क्सवाद से इसने वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त एवं लगभग क्रान्तिकारी जैसे साधन तथा अराजकतावाद से राज्य के प्रति गहरी घृणा एवं शत्रुता की भावना ग्रहण की। किन्तु यह इन दोनों विचारधाराओं का मिश्रण मात्र ही नहीं था। इसकी अपनी स्वयं की विशिष्टता थी जिसके कारण इसे एक अलग समाजवादी शाखा के रूप में स्वीकार किया जाता है।[37] सिण्डीकल समाजवाद की लोकप्रियता मुख्यत· फ्रांस तथा इटली में रही। लेकिन यह वाद अधिक दिनों तक नहीं टिक सका तथा इसका पतन होता चला गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सिन्डीकलवाद की एक अन्तिम झलक एवं ध्वनि फासीवाद (Fascism) में दृष्टिगोचर हुई। आज एक समाजवादी सम्प्रदाय के रूप में सिन्डीकलवाद समाप्त सा हो गया है।

मार्क्सवाद कभी भी ऐसी विचारधारा के रूप में व्यवस्थित नहीं हो पाया जिसे सभी समाजवादी सर्वसम्मति से स्वीकार करले।[38] कार्ल मार्क्स के जीवन के अन्तिम वर्षों में तथा मृत्योपरान्त इनमें मतभेद प्रारम्भ हो चुके थे। 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' में मार्क्सवादियों और अराजकतावादियों के मतभेद थे ही। अब उनमें इस बात पर असहमति थी कि विभिन्न राज्यों और परिस्थितियों के अनुसार साम्यवादी क्रान्ति के लिये क्या नीति अपनाई जाये। कुछ ने मार्क्सवाद में संशोधन का सुझाव दिया। कुछ अनुयायियों ने इसे क्रान्ति के स्थान पर शान्तिपूर्ण विकासवादी विचारधारा के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया।[39] 1889 में समाजवादी दलों ने जब एक नये अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Second International) की स्थापना की तो इसमें भी सैद्धान्तिक मतभेदों तथा मार्क्सवाद में विमोचन का क्रम चलता रहा।

मतभेदों के परिणामस्वरूप जिन-जिन समाजवादी सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव एवं प्रचलन चला उन्हें मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम,

37 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 288, 258.

38 Sabine, H B, A History of Political Theory, p 665

39 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, P 447

वे सिद्धान्तकार जो सामान्यतः मार्क्सवादी सिद्धान्तों को स्वीकार करते थे। ये क्रान्ति तथा हिंसा के द्वारा नये समाज की रचना का समर्थन करते थे। 1871 में पेरिस कम्यून (Paris Commune) जैसी व्यवस्था को ये बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। इन्हें लोकतान्त्रिक प्रणाली के अन्तर्गत समाजवादी व्यवस्था की स्थापना में विश्वास नहीं था। कार्ल मार्क्स के बाद फ्रेड्रिक एन्जिल्स तथा एन्जिल्स के बाद ट्रॉटस्की (Leon Trotsky 1879-1940) और लेनिन इस विचार-मार्ग के प्रमुख प्रवक्ता थे। लेनिन ने इन्हीं सैद्धान्तिक आधारों को रूस में कार्यान्वित किया और 1917 में रूस की क्रान्ति हुई। आधुनिक साम्यवाद इसी विचार और व्यवहार की उपज है। द्वितीय, समाजवाद के वे सम्प्रदाय जो न तो मार्क्सवाद की विवेचना को पूर्णतः स्वीकार करते थे और न ही हिंसा या क्रान्ति द्वारा समाजवादी परिवर्तन करना चाहते थे। ये शान्तिपूर्ण और लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन करते थे। संशोधनवाद (Revisionism) फेबियनवाद (Fabianism) गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism) आदि इस श्रेणी में आते हैं।

लोकतान्त्रिक, विकासवादी, शान्तिवादी समाजवादी सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण विकास माना जाता है। मार्क्सवादी समाजवाद से इस ओर जो झुकाव हुआ उसके कई कारण थे। कार्ल मार्क्स की भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध होती जा रही थीं। मार्क्स ने कहा था कि वर्ग-संघर्ष में वृद्धि होगी तथा श्रमिक-वर्ग निरन्तर निर्धन होता चला जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। श्रमिक सुधार कानूनों से *श्रमिकों की स्थिति में वह कटुता नहीं आई जैसा कि मार्क्स समझता था।*

समाजवादी आन्दोलन अब श्रमिकों तक ही सीमित नहीं रहा। इसे अब मध्य वर्ग का भी समर्थन मिलने लगा। बुद्धिजीवी भी इसकी ओर आकर्षित हुए। परिणामस्वरूप मार्क्सवाद के वर्ग-संघर्ष और क्रान्तिकारी तत्वों में शिथिलता बढ़ने लगी।

'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' एवं 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय' संघों के अधिवेशनों के अवसरों पर जो स्वतन्त्र विचार विनिमय होता था उससे यूरोपीय देशों में समाजवादी दलों के निर्माण में प्रेरणा एवं सहायता मिली। कई राज्यों, विशेषतः जर्मनी, में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Social Democratic Party) की स्थापना हुई। अब विभिन्न देशों के समाजवादी अपने देश की उदीयमान पार्टी के राजनीतिक कार्यों में अधिक रुचि लेने लगे। क्रान्तिकारी विचारधारा की ओर उनका आकर्षण कम हो चला था।

फ्रान्स तथा दूसरे राज्यों की सरकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद् के कार्यों पर बड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया था क्योंकि 1871 में पेरिस कम्यून से उनका सम्बन्ध बतलाया जाता था। इन प्रतिबन्धों से इनके सदस्यों ने क्रान्ति के स्थान पर शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये।

इग्लैण्ड की भूमि कभी भी क्रान्तिवादी विचारधाराओ के उपयुक्त नही रही है। वे परम्परागत विकासवादी हैं। वे तर्कसंगत बात को ही मान्यता देते हैं इसलिए मार्क्सवाद की धर्मान्धता वे स्वीकार नही कर सकते थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश श्रमिक 1867 तथा बाद मे सुधारो द्वारा अधिकार प्राप्त कर तथा जीवन की अवस्थाओ मे सुधार हो जाने के कारण विकासवादी-शान्तिपूर्ण साधनो का और भी उग्र समर्थन करने लगे। इग्लैण्ड मे समाजवादी प्रयोगो ने यूरोप की समाजवादी प्रगति को प्रभावित किया। अब यह स्वीकार किया जाने लगा कि क्रान्ति के अतिरिक्त प्रगति एव श्रमिक सुधारो के और भी विकल्प हो सकते हैं। यदि 1917 मे रूस मे साम्यवादी क्रान्ति द्वारा मार्क्सवाद को बल न मिलता तो पता नहीं इस समय मार्क्सवाद का क्या भविष्य होता। सम्भवतः मरणावस्था मे होता।

फेबियनवाद गिल्ड समाजवाद आदि जन साधारण को प्रभावित नही कर सके। कुछ तो इनमे सैद्धान्तिक त्रुटिया और अव्यावहारिकता थी तथा इनके सदस्यो ने इन समाजवादी सम्प्रदायो को स्वतन्त्र विचारधारा बनाने का प्रयत्न नही किया। इनके बहुत से सदस्यो ने अन्य श्रमिक एव समाजवादी दलो की सदस्यता स्वीकार कर ली। धीरे-धीरे इन विचारधाराओ का अस्तित्व समाप्त होने लगा। अन्त मे इस प्रकार की सभी समाजवादी धाराओ का एक स्थान पर सगम हुआ जिसे हम राज्य एवं लोकतान्त्रिक और विकासवादी समाजवाद कहते हैं। राज्य-समाजवाद की कोई एक निश्चित विचारधारा एव व्यवस्था नही है। कुछ समान मूल आधारो को छोड़कर अलग-अलग राज्यो मे समाजवादी व्यवस्था मे भिन्नता है। किन्तु इस समय लोकतात्रिक राज्य समाजवाद ही सर्वाधिक लोकप्रिय एव प्रचलित है।

1917 मे रूस मे साम्यवादी क्रान्ति से विश्व मे मार्क्सवाद-साम्यवाद की महत्ता मे वृद्धि हुई। देश-देश मे साम्यवादी दलो की स्थापना हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् पूर्वी यूरोपीय राज्य और चीन साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आ गये। 1959 मे क्यूबा तथा 1970 में चिली ने भी साम्यवादी व्यवस्था स्वीकार कर ली।

दोनों विश्व युद्धो के मध्य इटली में फासीवाद (Fascism) तथा जर्मनी मे नात्सीवाद (Nazism) का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हें समाजवादी सम्प्रदायो मे स्वीकार किया जाना सदिग्ध है। यद्यपि इन्हें अधिनायकवादी समाजवाद और राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) कहा जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध मे इटली तथा जर्मनी की पराजय ने इन राज्यो से इन विचारधाराओ की समाप्ति कर दी है किन्तु ये पूर्णत. नष्ट नही हुई हैं। इनके अवशेष इन राज्यो तथा लेटिन अमरीकी राज्यो मे अभी भी मौजूद हैं।

वास्तव में प्राजकल मुख्यतः दो ही प्रकार का समाजवाद है—साम्यवादी समाजवाद और लोकतान्त्रिक समाजवाद। इस समय इन दोनों में ही स्पर्द्धा है तथा ये एक दूसरे का विकल्प बनने का प्रयत्न कर रहे हैं।

पाठ्य ग्रन्थ

1 कोकर — प्राधुनिक राजनीतिक चिन्तन
अध्याय 3, समाजवादी प्रान्दोलन तथा मार्क्स के कट्टर अनुयायी, प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व

2 Crosland, C. A R, — The Future of Socialism
Part II, The Aims of Socialism.

3 Dunning W. A., — A History of Political Theories . From Rousseau to Spencer
Chapter IX, Societarian Political Theory.

4. Hallowell, J. H. — Main Currents in Modern Political Thought
Chapter XI, The Origins of Modern Socialism.

5 Jay, Douglas, — Socialism in the New Society Part I, What Socialism means.

6. जोड, सी. ई. एम., — प्राधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका
अध्याय 3, समाजवाद विशिष्टतः समष्टिवाद के संबंधित

7. Ramsay MacDonald, J., — Socialism : Critical and Constructive
Chapter III, Socialism : Its Organisation and Idea.

8. Wanlass, Lawrence,, — Gettell's History of Political Thought
Chapter XXII, Rise of Democratic Socialism.

2

यूटोपियायी समाजवाद[1]

UTOPIAN SOCIALISM

यूटोपियायी (Utopian) शब्द का अर्थ

समाज में प्रचलित दोषों से मुक्ति पाने का प्रयास प्रत्येक युग में राजनीतिक चिन्तकों के चिन्तन का विषय रहा है। यूटोपियावियों का विषय प्रस्तुत समाज के दोषों को ध्यान में रखना तथा न्याय एवं नैतिक भावनाओं की जागृति कर उन्हें दूर करना होता है। वे एक ऐसे आदर्श लोक की कल्पना करते हैं जिसमें उनके अभीष्ट मूल्यों का साम्राज्य रहता है। उनका इतिहास में न तो कोई ठोस आधार होता है और न ही उन्हें व्यवहारिक रूप प्रदान किया जा सकता है। ऐसे विचार स्वप्न मात्र होते हैं किन्तु ये विश्व के समक्ष कभी-कभी अत्यन्त उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करते हैं जो आगे चल कर अन्य विचारों के अग्रणीय बन जाते हैं।

यूटोपियायी चिन्तन के इतिहास की खोज प्राचीन काल से ही की जा सकती है। लगभग सभी ग्रीक विचारक स्वप्नवादी थे। उस समय दुर्गुणों से ग्रसित सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की मुक्ति के लिये उन्होंने बड़े-बड़े स्वप्नदर्शी सुझाव दिये। सुकरात (Socrates, 470-399 B C) का ज्ञान शासन (Rule of Knowledge) प्लेटो (Plato, 427-347 B. C.) का दार्शनिक शासक (Philosopher King) तथा अरस्तु (Aristotle, 384-322 B. C.) व्यावहारिक चिन्तक होते हुए भी मूलतः स्वप्नवादी ही था।

प्लेटो की प्रसिद्ध पुस्तक रिपब्लिक (Republic) के पश्चात् यूटोपियायी लेखों में सबसे प्रसिद्ध टॉमस मोर (Thomas More, 1478–1535) की पुस्तक यूटोपिया (Utopia, 1615 में रचित) मानी जाती है। मोर के विचार तीव्र राजनीतिक व्यंग थे न कि व्यावहारिक कार्यक्रम।[2] केम्पनेला (Campanella, 1568–1639) का

1. "Utopian Socialism" का कोई विशेष, स्पष्ट और निश्चित हिन्दी रूपान्तर नहीं है। हिन्दी भाषी लेखकों ने इसके लिए आदर्श समाजवाद, कल्पनावादी समाजवाद, स्वप्नलोकीय समाजवाद आदि शब्दों का प्रयोग किया है। प्रस्तुत पुस्तक में सिर्फ इसका हिन्दीकरण 'यूटोपियायी समाजवाद' का ही प्रयोग किया गया है। वैसे कहीं-कहीं कल्पनावादी या स्वप्नलोकीय शब्दों को भी उल्लखित किया है।

2. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p 374

ग्रन्थ-The City of the Sun, 1623-तथा फेनलॉन (Fanelon, 1651-1765) आदि के विचार भी यूटोपियायी श्रेणी में आते हैं जिन्होंने समाज में प्रचलित बुराइयों को दूर करने के लिये विचारों के हवाई महलों का निर्माण किया। इन सभी में सुधारों के प्रति जो लगन थी उसके महत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती लेकिन इन्हें समाजवादी चिन्तकों के किसी भी सम्प्रदाय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। इन यूटोपियायी चिन्तकों के विचार यदा-कदा ही समाजवाद के कुछ मूल आधारों से मेल खाते हैं।

यूटोपियायी समाजवादी विचारक

यूटोपियायी समाजवाद क्या है, यूटोपियायी समाजवाद के अन्तर्गत कौन-कौन विचारक आते हैं, तथा इनके समाजवादी विचारों को यूटोपियायी क्यों कहा गया ? समाजवादी चिन्तन के इतिहास में 'यूटोपियायी समाजवादी' शब्द का प्रयोग सिर्फ एक मुठ्ठी भर लेखकों के समूह के विचारों के लिये किया जाता है। अट्ठारहवीं शताब्दी का फ्रान्स यूटोपियायी विचारकों का घर था। फ्रान्स के सुप्रसिद्ध समाजवादी विचारक सेन्ट साइमन (Saint Simon, 1760-1825) तथा चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier 1772-1837), और इनके अंग्रेज समकालीन रॉबर्ट ओवन (Robert Owen, 1771-1858) तो सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वास्तव में 'समाजवाद' शब्द की उत्पत्ति सर्वप्रथम इन विचारकों के सन्दर्भ में ही हुई थी।[3] इनके अतिरिक्त फ्रान्स के ही कुछ अन्य विचारक जैसे कैबे (Etienne Cabet, 1788-1856.), सिसमोन्डी (Jean de Sismondi, 1773-1842), लुई ब्लॉं (Louis Blanc 1813-1882), प्रुधों (Pierre Joseph Proudhon 1809-1865) को भी हम यूटोपियायी समाजवादियों की श्रेणी में सम्मिलित करते हैं। इन्होंने उस समय के सामाजिक दोषों को दूर करने, पूंजीवादी व्यवस्था से सम्बन्धित शोषण तथा अन्य व्यवस्थाओं- जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति, स्पर्धा आदि का विरोध कर श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये कुछ समाजवादी योजनाएं सुझाई। कार्ल मार्क्स ने इनके विचारों को घृणात्मक तथा कटाक्ष ढंग से यूटोपियायी कह कर निन्दा की।[4] तभी से इन विचारकों को सामान्यतः यूटोपियायी समाजवादी कहा जाता है। इस सम्बन्ध में एलेक्जेन्डर ग्रे ने लिखा है कि—

> "वे स्वप्नवादी थे, क्योंकि मुख्यतः इस प्रारम्भिक चरण में समाजवाद एक साधारण विश्वास था (जैसाकि मार्क्स को प्रतीत हुआ) कि अच्छे विश्व का निर्माण सद्भावपूर्ण व्यक्तियों द्वारा कुछ करने, ऊपर से की हुई कार्यवाही, जैसे संसदीय विधेयक, राजकीय घोषणाएं तथा पूंजीवादियों की मानव कल्याण की भावना के द्वारा हो सकता था।"[5]

3 Dunning, W A, A History of Political Theories, From Rousseau, to Spencer, p 348

4 Manifesto of the Communist Party, p 89

5 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp. 4-5

कार्ल मार्क्स ने अपने पूर्व तथा समवर्ती विचारकों को यूटोपियायी माना है। वह सिर्फ अपने ही विचारों को वैज्ञानिक, तर्क-संगत तथा तथ्यों पर आधारित मानता था। मार्क्स एवं ऐन्जिल्स तथा अन्य आलोचकों ने इन्हें यूटोपियायी या स्वप्नलोकीय समाजवादी होने की संज्ञा क्यों दी इसके पहिले इन समाजवादी विचारकों तथा उनकी योजनाओं के विषय में जानना आवश्यक है।

सेन्ट साइमन

(Count Henri-Claude De Rouvroy De Saint-Simon, 1760 1825)

सेन्ट साइमन का जन्म फ्रांस के एक प्राचीन परिवार में हुआ था। सम्मान सहित इनका पूरा नाम काउन्ट हेनरी क्लॉड द रूराय द सेन्ट साइमन था। नवीन योजनाओं में इनका मस्तिष्क खूब लगता था, फ्रांस की क्रान्ति का भी इन्होंने कुछ जायका लिया। परिणामस्वरूप एक वर्ष जेल में भी रहे। इसी समय इन्होंने अपनी उपाधियों को त्याग दिया।

सेन्ट साइमन ने लगभग 42 वर्ष की उम्र में सर्वप्रथम अपने विचारों की अभिव्यक्ति एक ग्रन्थ लिख कर की। इसका नाम था—

Letters from an Inhabitant of Geneva to his Contem--porary, 1802.

इसके पश्चात् उन्होंने और भी ग्रन्थ लिखे जिनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

The Reorganisation of European Society, 1821
(यूरोपीय समाज का पुनर्गठन)

The Industrial System, 1821 (औद्योगिक प्रणाली अथवा व्यवस्था)

The New Christianity, १825 (नवीन ईसाई धर्म)

सेन्ट साइमन ने जिस युग को अपने विचारों से प्रभावित किया वह एक प्रकार से संक्रमणयुग था। यह सामन्तवाद का अन्तिम चरण तथा औद्योगिक युग का प्रारम्भ था। सेन्ट साइमन का अनुमान था कि औद्योगिक क्रान्ति से एक नये युग का प्रादुर्भाव हो रहा है जिससे एक नवीन समाज की पुनर्रचना होगी। साइमन के विचारों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उन्होंने स्वयं ही अपने विचारों द्वारा आने वाले नये युग के पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। वे एक ऐसी नवीन लौकिक एवं आध्यात्मिक शक्ति खोजने को उत्सुक थे जो भविष्य में मानव जाति के उच्चतर विकास के लिए मार्ग-दर्शन कर सके तथा नवीन समाज रचना में सहायक हो सके। साइमन के ही शब्दों में—

"मानव जाति का स्वर्ण-युग भूतकाल में नहीं भविष्य में है, यह सामाजिक व्यवस्था की पूर्णता में निहित है। हमारे पूर्वजों ने इसे कभी

नहीं देखा; हमारी सन्तानें एक दिन वहां पहुंचेंगी, हमें उनके लिए मार्ग स्पष्ट करना है।"[6]

सेन्ट साइमन का विश्वास था कि समाज की प्रगति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि व्यक्तिगत सम्पत्ति संस्था में आधारभूत परिवर्तन न किये जायें। उन्होंने इस प्रकार की सम्पत्ति के प्रति घृणा की जो निश्चित है जिसे रखने का कोई भी नैतिक औचित्य नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति से सम्बन्धित उन स्पर्द्धा के भी वे विरुद्ध थे जिस पर कोई सामाजिक नियन्त्रण न हो।'[7]

लेकिन सेन्ट साइमन वैयक्तिक सम्पत्ति प्रथा को उन्मूलन करने के पक्ष में नहीं थे। वे मूलतः भूमि के स्वामित्व में परिवर्तन करना चाहते थे। उनके विचार में स्वामित्व के कानूनी स्वरूप में परिवर्तन होना चाहिए।[8] उन्होंने सम्पत्ति की सार्वजनिक उपयोगिता तथा सम्पत्ति के सामाजीकरण का अनुमोदन किया।

सेन्ट साइमन ने एक ऐसे नूतन समाज की कल्पना की जिसमें गरीबी, विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग तथा सीमित व्यक्तियों द्वारा विलासपूर्ण जीवन का अन्त हो। इसके लिए यह आवश्यक था कि समाज का संगठन और निर्देशन बुद्धिपूर्वक हो। किन्तु यह असम्भव सा प्रतीत हो रहा था क्योंकि साइमन ने यह स्वीकार किया कि मनुष्य में धर्म का अभाव पड़ता जा रहा था। धार्मिक सिद्धान्तों से विमुख होने पर नैतिकता का अभाव स्वाभाविक ही था। उनकी धारणा थी कि नैतिक सिद्धान्त का ईसा की धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओं के प्रकाश में अभिनवीकरण किया जाय। इस नवीन नैतिक आधार को उन्होंने सकारात्मक अथवा रचनात्मक नैतिकता (Positive morality) की संज्ञा दी।[9]

मानव प्रगति के लिए साइमन ने रचनात्मक नैतिकता के साथ-साथ विज्ञान की सहायता को अत्यन्त आवश्यक माना था। उनके अनुसार दरिद्रों की उन्नति तथा उनका जीवन स्तर उठाने के लिए वैज्ञानिक प्रगति और ईसाई धर्म की शिक्षा का समन्वय होना चाहिए। अपनी योजनाओं में साइमन ने वैज्ञानिक आधार को अत्यधिक महत्व दिया।

नई सामाजिक व्यवस्था की योजना—सेन्ट साइमन ने जो नवीन सामाजिक योजना सुझाई उसका सिद्धान्त आधार था कि धन के उत्पादन में जिनका भी योगदान होता है उन सबका अपने परिश्रम के अनुसार धन में भाग होना चाहिए।

---

6 Markham, F M H (Ed), Henry Comte de-Saint Simon, 1760-1825 : Selected Writings, Basil Blackwell, Oxford, 1952, p 68.

7 Catlin, George, A History of the Political Philosophers, Allen and Unwin, London, 1950, p. 533.

8 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 155.

9 Ramsay MacDonald J, Socialism : Critical and Constructive, p 56; Kilzer and Ross, Western Social Thought, pp 239-40

साइमन की सर्वसाधारण या जन-नेताओं के प्रति कोई विशेष श्रद्धा नहीं थी। वे समाज का नेतृत्व औद्योगिक वर्ग, वैज्ञानिकों तथा तकनीशियनों के हाथों में देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि औद्योगिक नेताओं में सामाजिक प्रगति और संगठन की अधिक क्षमता होती है। यदि समाज की शक्ति समुचित विवेकशील उद्योगपतियों के हाथों में आ जाय तो उनमें उत्तरदायित्व की भावना जागृत होगी। वे स्वयं को दरिद्रों का ट्रस्टी (trustee) समझेंगे तथा उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाकर सर्वसाधारण के कल्याण के लिए कार्य करेंगे।[10]

इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए सेन्ट साइमन समाज के तीन वर्गों के सहयोग (Fraternite) को अति आवश्यक मानते थे। ये वर्ग थे—उद्योग वर्ग (industrialists), कलाकार एवं कारीगर वर्ग (artists), और वैज्ञानिक वर्ग (savants)। इन तीनों वर्गों के समन्वय के लिए साइमन ने एक संसद का सुझाव दिया था। इस संसद के निम्नलिखित तीन सदन होंगे—

प्रथम, आविष्कार सदन (chambre d'invention), जिसमें 200 इन्जीनियर, 50 कवि तथा 50 विभिन्न कलाओं के दस व्यक्ति होंगे। यह सदन कानूनों को प्रस्तावित करेगा।

द्वितीय, परीक्षा सदन (chambre d'examen), जिसमें 100 जीव विज्ञान शास्त्री, 100 भौतिक विज्ञान शास्त्री तथा 100 गणितज्ञ होंगे। इस सदन का कार्य कानूनों को पारित करना होगा।

तृतीय, कार्यकारी सदन (chambre d'execution), जिसमें सभी औद्योगिक शाखाओं के नेता होंगे। इनका कार्य कानूनों को नियन्त्रित करना होगा।[11]

इस संसदीय आधार पर सेन्ट साइमन एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जो फैक्ट्री के नमूने पर बना हो, जिसमें सम्पूर्ण समाज उत्पादक समुदाय का रूप ले तथा किसी भी प्रकार का वर्ग भेद न हो। अन्य शब्दों में, सेन्ट साइमन एक औद्योगिक राज्य (Industrial State) की स्थापना की धारणा लेकर चल रहे थे जो चर्च की सत्ता का स्थान ग्रहण करे।[12] इस सम्बन्ध में उनकी नीयत एवं उद्देश्य तो ठीक थे पर योजना अवश्य ही ऊटपटांग प्रतीत होती है। वे वैज्ञानिकों को मध्य-युगीय पोप तथा पादरियों जैसा शक्तिशाली बनाना चाहते थे जिनके द्वारा समाज का समस्त श्रम व्यवस्थित एवं नियन्त्रित हो।[13]

10 Kilzer and Ross, Western Social Thought, pp 239-40
11 Gide C and Rist C A, History of Economic Doctrine, George Harrap and Co, London, 1943, p 214
12 Hallowell, J H., Main Currents in Modern Political Thought, p 380
13 Ramsay MacDonald J, Socialism : Critical and Constructive, p 56

चार्ल्स फोरिये

Charles Fourier, 1772--1837

चार्ल्स फोरिए फ्रांस के एक प्रमुख समाजवादी विचारक हुए हैं। समाज-वादियों में ये यूटोपियायी विचारकों की श्रेणी में आते हैं। इनके विचारों का प्रारम्भ अनियन्त्रित व्यक्तिवाद तथा पूंजीवाद के दोषों की प्रतिक्रिया और आलोचना के रूप में हुआ। बचपन से ही फोरिए ने इन समस्त दोषों को अपनी आंखों से देखा एवं एक बार इन्होंने अपने पिता के व्यापार के विषय में किसी को कुछ बतला दिया। इससे इनके पिता बहुत नाराज हुए। फोरिए उस समय यह नहीं समझ पाये कि बचपन में उन्हें सच बोलने को कहा जाता है लेकिन व्यापार में झूठ। इसी प्रकार एक दिन मार्सलीज (Morseilles) बन्दरगाह में फोरिए ने देखा कि चावल को समुद्र में फेंका जा रहा था ताकि मूल्य में गिरावट न आ जाये। अधिक लाभ के लिये मालिकों ने चावल समुद्र में फेंकना उचित समझा। इस घटना ने फोरिए को यह सोचने के लिये बाध्य कर दिया कि इस आर्थिक व्यवस्था में क्या आधारभूत दोष है जिसमें भोजन को सड़ने दिया जाता है जबकि समाज को उसकी घोर आवश्यकता होती है।

फोरिए ने इस व्यवस्था को समझने का प्रयत्न किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आर्थिक अव्यवस्था और अपव्यय के कारण प्रचलित आर्थिक प्रणाली में ही निहित थे जो *व्यक्तिगत लाभ तथा पूर्ण स्पर्द्धा पर आधारित थी।*[14] इसलिये फोरिए स्पर्द्धा के आधार पर क्रय-विक्रय की जटिल प्रणाली को निन्दनीय मानते थे तथा समस्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दुर्गुणों के लिये औद्योगिक एवं व्यवसायी वर्ग को उत्तरदायी समझते थे।[15]

नवीन समाज की कल्पना: फेलेन्क्स योजना (Phalanx Project)[16]

जनसाधारण को सुविधा प्रदान करने, श्रमिकों की दशा सुधारने तथा आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिये फोरिए ने दो महत्वपूर्ण (जिन्हें वे महत्वपूर्ण समझते थे) सुझाव दिये। प्रथम, नवीन समाज की योजना तथा द्वितीय, न्यूटन के सिद्धान्त पर आधारित श्रमिकों के लिये आकर्षण नियम (Law of Attraction) को लागू करना।

फोरिए *सामाजिक विकास क्रम को ऐतिहासिक ढंग से समझाते हुए* बतलाता है कि प्रत्येक अवस्था में प्रतिवाद के रूप में स्वयं के विकास लक्षण होते हैं। यदि

---

14 Selections from the Works of Fourier, tranalrted by J Franklin, London, 1901, PP. 17-18

15. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, P. 179

16 Gray, A, The Socialist Tradition PP 184-86;
Hallowell, Main Currents in Modern Political Thought, PP 384-87.

सामाजिक बुराइयों को दूर न किया जाय तो वे समाज और मानवता को नष्ट कर देती हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए फोरिए ने एक योजना प्रस्तुत की।

फोरिए की सामाजिक योजना की सबसे पहली और छोटी काई एक व्यावसायिक समूह (Group) है। प्रत्येक समूह में एक ही स्वभाव व धन्धे के कम से कम सात व्यक्ति होंगे।

पाच या अधिक व्यावसायिक समूह मिलकर एक अन्य सगठन का निर्माण करेंगे जो सिरीज (Series) कहलायेंगे।

पच्चीस से अट्ठाईस सीरीज मिलकर फेलेन्क्स (Phalanx) का निर्माण करेंगे। फेलेन्क्स सामाजिक सगठन की सबसे बड़ी इकाई होगी। कई फेलेन्क्स एक सयोजक शासक के अधीन एक ढीले सघात्मक सगठन के अन्तर्गत आ जायेंगे।

एक फेलेन्क्स में लगभग 1600 व्यक्ति होंगे जिनमें श्रमजीवी, कारीगर तथा पूजीपति सम्मिलित होंगे। इनमें जो भी उत्पादन होगा वह सब व्यक्तियों के सहयोग से होगा। प्रत्येक फेलेन्क्स के पास लगभग 500 एकड भूमि होगी जहा वे सब मिलकर रहेंगे। प्रत्येक फेलेन्क्स में भोजनालय, स्कूल, लाइब्रेरी, पूजाघर आदि होंगे। या, यह कहना चाहिये कि प्रत्येक दृष्टि से फेलेन्क्स आत्म निर्भर होंगे। ये उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही होंगे। फेलेन्क्स प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक परिवार को निश्चित न्यूनतम वेतन मिलेगा तथा बची हुई शेष आय को श्रमजीवी, पूंजीपति, तथा कुशल श्रमिकों में 5 . 4 : 3 के अनुपात से विभाजित किया जायेगा। कार्य का वितरण के विषय में फोरिए यह सिद्धान्त स्वीकार करता है कि "प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करे और प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार लाभ मिले।[17]

फेलेन्क्स व्यवस्था की स्थापना से फोरिए का विचार था कि समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में सहयोग होगा तथा पूंजी और श्रम के बीच समुचित सम्बन्ध स्थापित करने से उत्पादन में वृद्धि होगी साथ ही साथ प्रतिस्पर्धा के दुष्परिणाम भी दूर हो जायेंगे।

फोरिए का विश्वास था कि फेलेन्क्स व्यवस्था की स्थापना आन्दोलन या हिंसा के आधार पर नहीं होगी बल्कि जनता उन्हें स्वेच्छा से स्वीकार करेगी।

आकर्षण नियम (Law of Attraction)

फोरिए स्वय को न्यूटन (Sir Isacc Newton, 1642-7727) से कम नहीं समझता था। उद्योग म आकर्षण-नियम को सम्पादित कर फोरिए का दावा था कि उसने अन्वेषण के क्षेत्र म एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। फोरिए का उद्योग के

---

[17] फोरिये के अतिरिक्त यूटोपियायी समाजवादियों में लुई ब्लाँ के भी लगभग ऐसे ही विचार थे।

Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 255

क्षेत्र में श्रमिकों के लिये यह आकर्षण नियम (या सिद्धान्त) श्रम-विभाजन और फेलेन्स व्यवस्था का मुख्य आधार था।

फोरिए के आकर्षण नियम के अनुसार मनुष्य को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य मिलना चाहिए। मनुष्य वह कार्य अधिक योग्यता, कुशलता और लगन से करता है जो उसे आकर्षित करता है। मनुष्य को जब अपनी इच्छानुसार काम नहीं मिलता तो ऐसे कार्य करने में वह अपने श्रम का अपव्यय करता है।

कार्य किस प्रकार आकर्षक हो सकता है इसके लिये फोरिए सात आवश्यक दशाओं (conditions) का उल्लेख करता है जो निम्नलिखित हैं -[18]

1. प्रत्येक श्रमिक अपने कार्य में भागीदार हो।
2. श्रमिक को वेतन के स्थान पर अपने कार्य का हिस्सा मिलना चाहिये।
3. कार्य करने का समय अधिक से अधिक दो घण्टे का होना चाहिये।
4. अलग-अलग कार्य भिन्न भिन्न मण्डलियों द्वारा मिलकर करना चाहिये।
5. प्रत्येक कार्य में पारस्परिक उपयोगी स्पर्द्धा होनी चाहिय।
6. अधिक से अधिक श्रम विभाजन हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति को कार्य के अधिक अवसर उपलब्ध हो।
7. मनुष्य जो कार्य करे उससे इसे इतना धन प्राप्त हो सके कि वह जीवन की आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त रहे।

जब इस प्रकार की दशाएँ उपलब्ध होंगी तब फेलेन्स योजनाएँ अधिक सफलतापूर्वक कार्यान्वित की जा सकती हैं। मनुष्य स्वयं उत्पादक और उपभोक्ता होगा, वह गीत गाते हुए आनन्दपूर्वक अपना कार्य करेगा। इस स्थिति को फोरिए हारमनी (Harmony) कहता है। यही उसकी योजनाओं का उद्देश्य है।[19]

फोरिए को अपने जीवनकाल में न तो इतना धन उपलब्ध हो सका और न कोई अवसर ही हाथ लगा कि वह अपनी योजनाओं को कार्यरूप प्रदान करता। वह प्रतीक्षा करते करते मर गया कि कोई उदार पूँजीपति उसके पास आयेगा और उसकी नवीन समाज योजना की स्थापना में सहायक होगा। किन्तु फोरिए की मृत्यु के बाद उसके विचारों को अमेरिका में कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया गया। न्यू जेरसी (New Jersey) में—The North American Phalanx, मेसेचुसेट्स (Massachusetts में— Brook Farm—आदि की स्थापना की गई। अमेरिका में लगभग तीस योजनाओं को हाथ में लिया गया लेकिन कोई भी पाँच या छः साल से अधिक नहीं चल सकी।[20]

---

18 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp. 185-86

19 Ibid, pp. 184 86

20. Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 387.

रॉबर्ट ओवन

Robert Owen, 1771—1858

रॉबर्ट ओवन को इंग्लैण्ड में समाजवाद और सहकारी आन्दोलन का जनक समझा जाता है। इनका जीवन बड़ा भव्य एवं सप्तरंगी था। बाल्यकाल में ही इन्हें जीवन अनुभवों से गुजरना पड़ा। नौ वर्ष की उम्र से ही ओवन ने एक दुकान पर नौकरी प्रारम्भ की। आगे चलकर वह लन्दन तथा अन्यत्र भी इसी प्रकार का कार्य करते रहे। उन्नीस वर्ष की अवस्था में ओवन मेनचेस्टर में तीन सौ पौण्ड वार्षिक वेतन पर एक रूई मिल के मैनेजर नियुक्त किये गये। यहाँ पर पूर्ण अनुभव प्राप्त करने के उपरान्त ओवन ने 1797 में, कुछ अन्य साझीदारों के सहयोग से, स्कॉटलैंड में एक औद्योगिक ग्राम-न्यू लेनार्क (New Lanark) डेल (Dale) परिवार से खरीदा। इसके साथ-साथ ओवन ने इस परिवार की पुत्री से विवाह भी कर लिया। न्यू लेनार्क में ही, 1800 में, ओवन ने अपने उदारवादी और समाजवादी प्रयोग प्रारम्भ किये।[21] ओवन के जीवन के विषय में कोल (G.D H. Cole) ने लिखा है कि कोई भी व्यक्ति एक ही साथ इतना व्यावहारिक और स्वप्नद्रष्टा, इतना प्रेमपात्र तथा अपने साथ काम करने में इतना असम्भव, इतना उपहासकेन्द्र किन्तु प्रभावशाली नहीं हुआ जितना कि ओवन थे।

ओवन के विचार कई छोटी-छोटी पुस्तकों, निबन्धों और प्रतिवेदनों में मिलते हैं। उनके प्रारम्भिक ग्रन्थों में सबसे महत्वपूर्ण एक निबन्ध संग्रह है जिसका नाम –A New View of Society or Essays on the Formation of Human Character है। इसका प्रकाशन 1893 में हुआ।

रॉबर्ट ओवन द्वारा तात्कालीन युग के विवेचन से स्पष्ट है कि उस समय औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे थे। पूंजीपतियों और श्रमिकों के मध्य क्रान्ति विषमता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण अपनी चरम सीमा पर था। ओवन के मतानुसार आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रान्ति से धन में जो वृद्धि हुई वह कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में आई। तमाम व्यक्तियों के परिश्रम से उत्पन्न यह सम्पत्ति मुट्ठी भर व्यक्तियों ने हड़प ली।[23] डगलस जे ने लिखा है —

> "ओवन का पूर्ण विश्वास था कि औद्योगिक क्रान्ति से जो अधिक सम्पत्ति सम्भव हुई है उसका दुरुपयोग किया जा रहा है क्योंकि इसका सचालन, स्पर्द्धा और बाजार की अन्धी शक्तियों (blind market forces) द्वारा हो रहा है न कि सामाजिक उद्देश्यों से।"[24]

21 Gray, A, The Socialist Tradition, pp 199-200

23 Report to the County of Lanark, Everyman, London p 258,

24 Jay Douglas, Socialism, in the New Society p 3

ओवन का विचार था कि मनुष्य अपने सामाजिक तथा आर्थिक पर्यावरण की सृष्टि है। औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन में तो वृद्धि की किन्तु व्यक्ति का पतन हुआ। इस पतन का कारण वे दरिद्रता और असमानता को मानते थे। लेकिन इन सबके पीछे पूंजीवादी व्यवस्था ही सबका मूल कारण थी।

ओवन पूंजीवाद से सम्बन्धित दोषों का निदान चाहते थे। किन्तु वे पूंजीपतियों और श्रमिकों में प्रतिस्पर्द्धा या संघर्ष के समर्थक नहीं थे। उनके विचार में इन दोनों का सम्बन्ध सहयोग के आधार पर होना चाहिये।

श्रमिक वर्ग का कल्याण ओवन का मुख्य उद्देश्य था। उन्होंने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि—

(i) एक मालिक द्वारा श्रमिकों को अपने लाभ का साधन समझना भूल है;
(ii) श्रमिकों को उचित मजदूरी मिलनी चाहिये;
(iii) श्रमिकों के कार्य-अवधि में कमी हो, तथा
(iv) श्रमिकों के लिये स्वच्छ वातावरण और उनके बच्चों की शिक्षा आदि का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये।

सामाजिक प्रगति के लिये ओवन शिक्षा तथा कानूनी व्यवस्था में सुधार चाहते थे। ओवन के अनुसार उस समय कानून का आधार यह सिद्धान्त था कि मनुष्य जो कुछ भी करता है उसका उत्तरदायित्व स्वयं उसका ही है। यह भ्रमात्मक विचार था। मनुष्य जो कुछ भी करता है उसका उत्तरदायित्व वातावरण पर भी है। कानून निर्माण करते समय इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिये।

न्यू लेनार्क प्रोजेक्ट (New Lanark Project)

ओवन ने जब न्यू लेनार्क खरीदा उस समय वह एक भ्रष्ट और शोषित ग्राम था। इस ग्राम का प्रारम्भिक अवलोकन करने के बाद ओवन ने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य के चरित्र का निर्माण उसके वातावरण पर निर्भर है। मनुष्य के वातावरण में सुधार करने से मनुष्य के चरित्र में भी सुधार हो सकता है।[25]

मनुष्य के चरित्र निर्माण में ओवन शिक्षा को सबसे अधिक महत्त्व देता है। न्यू लेनार्क में उसने बच्चों के लिये उत्तम शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना की। चरित्र निर्माण को ओवन ने इतना महत्त्व दिया कि एक जनवरी 1816 को उसने एक चरित्र निर्माण संस्था की स्थापना की। धीरे-धीरे न्यू लेनार्क एक आकर्षक प्रगतिशील स्थल बन गया। न्यू लेनार्क प्रयोग अवलोकन करने के लिये देश-विदेश से सभी वर्ग के लोग आया करते थे।

ओवन का विचार था कि न्यू लेनार्क जैसे प्रयोग पूरे विश्व में किये जा सकते हैं और इसलिये उसने अमेरिका में भी कुछ सहयोगी ग्रामों, जिन्हें ओवन समानान्तर

25 Owen. R, A New View of Society, p. 20

चतुर्भुज (*Parallelograms*) कहा करता था, की स्थापना की। इन सहयोगी ग्राम में इन्डियाना (Indiana) में न्यू हारमनी (New Harmony) हैम्पशायर तथ स्कामगो के निकट और भी अन्य ग्रामों की स्थापना की लेकिन यहा उसके साम्यवादं या सामुदायिक प्रयोग सफल नहीं हो सके। न्यू लैनार्क में भी उसके साझीदार उसका विरोध कर रहे थे। अन्त में उसने उद्योग में हटकर दो प्रमुख संस्थाएँ ग्रान्ड नेशनल कन्सोलीडेटेड ट्रेड्स यूनियन' और 'नेशनल इक्वीटेबल लेबर एक्सचेन्ज' की स्थापना की।

कैबे (Etienne Cabet, 1788-1856)

कैबे की गणना भी यूटोपियायी विचारकों में की जाती है। हालांकि वह उतना प्रभावशाली एवं ख्याति प्राप्त नहीं था जितने कि अन्य यूटोपियायी चिन्तक थे। वह *फ्रास की राजनीति में सक्रिय था इसलिये उसका प्रमुख उद्देश्य 'व्यावहारिक यूटोपिया'* का निर्माण करना था जिसे विचार कल्पना की सीमा को लाँघकर कार्यान्वित किया जा सके।

कैबे अपने निजी फोरियर का शिष्य कहता था किन्तु वह ओवन के विचारों से अधिक प्रभावित था। 1846 में उसने एक उपन्यास लिखा जिसका शीर्षक-*Voyage en Icarie (or, Voyage to Icaria) था। इस पुस्तक में कैबे* कल्पना करता है कि एक नई भूमि पर किस प्रकार शासन श्रम, वाणिज्य, शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था की जा सकती है। कैबे के यूटोपियायी विचार स्पष्टतः समाजवादी थे।[26]

अपने विचारों को कार्यरूप देने के लिए कैबे ने 1848 में अपने अनुयायियों *के साथ अमेरिका प्रस्थान किया जहाँ उसने बड़ी मुश्किल से कुछ भूमि* प्राप्त कर साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर व्यवस्था करना प्रारम्भ किया।[27] परिवार को छोड़कर समस्त बातों पर सामुदायिक नियन्त्रण स्थापित किया गया। कैबे स्वयं ही इस योजना का अध्यक्ष था किन्तु उसकी तानाशाही प्रवृत्ति से उसकी योजनाएँ अधिक दिनों सफलतापूर्वक नहीं चल सकीं।

लुई ब्लां (Louis Blanc, 1813-1882)

लुई ब्लां फ्रांस के प्रमुख समाजवादी थे। वे एक सफल चिन्तक, इतिहासकार, पत्रकार और सक्रिय राजनीतिज्ञ थे। इनके विचारों को यूटोपियायी और मार्क्सवाद *के बीच की कड़ी कहते हैं। इन्होंने पूंजीवादी व्यवस्था तथा आर्थिक* स्पर्द्धा का विरोध किया। किन्तु मार्क्स की तरह उसे क्रान्ति या हिंसा द्वारा समाप्त नहीं

26 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 253

27 Ibid, p. 253

करना चाहते थे। वे इस सम्बन्ध में उदार थे। वे यूटोपियाइयों की भांति उच्च वर्ग से उदारता और सहयोग की अपेक्षा करते थे।[28]

लुई ब्लां राज्य को श्रमिक-शोषण का साधन नहीं मानते। उनका विचार था कि राज्य एक शक्तिशाली और कल्याणकारी संस्था के रूप में श्रमिकों के उत्थान और संरक्षण का एक प्रमुख साधन बने किन्तु जैसे ही श्रमिक वर्ग शक्तिशाली और सबल हो जायेगा राज्य की महत्ता कम हो जायेगी। मार्क्सवाद की तरह वे राज्य समाप्ति के समर्थक नहीं थे।[29]

लुई ब्लां श्रमिक वर्ग के प्रबल सहायक थे। वास्तव में उन्हें फ्रांस में 1848 की क्रान्ति का जनक कहा जाता है लेकिन उन्होंने वर्ग-संघर्ष का समर्थन नहीं किया। यूटोपियाइयों की तरह ब्लां ने एक नई व्यवस्था का प्रतिपादन किया। यह व्यवस्था राज्य द्वारा संचालित श्रमिक सामाजिक वर्कशॉप (Social Workshop) थी जिसमें समस्त श्रमिकों को रोजगार मिलने की व्यवस्था थी। ये प्रोजेक्ट 1848 में क्रान्ति के समय बड़े प्रभावशाली सिद्ध हुए।[30]

1848 की क्रान्ति के समय फ्रांस में जो अस्थाई सरकार बनी, लुई ब्लां उसके सदस्य थे। इस अवसर का लाभ उठाकर ब्लां अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करना चाहते थे किन्तु राजनीतिक संघर्ष के कारण वे सफल नहीं हो सके। यही नहीं उन्हें फ्रांस छोड़ने के लिए मजबूर भी किया गया।[31] तत्पश्चात उन्होंने इंग्लैण्ड में शरण ली जहां वे लगभग 22 वर्ष रहे। 1871 में नेपोलियन तृतीय के पतन के बाद ब्लां फिर फ्रांस वापस आये। किन्तु उस समय तक इनके समाजवादी विचारों में काफी शिथिलता आ चुकी थी।[32]

लुई ब्लां यूटोपियायी विचारकों की श्रेणी में आते हैं किन्तु इनके विचार यूटोपियायी और कार्ल मार्क्स के विचारों से भिन्न और मिले जुले दोनों ही थे। वास्तव में ब्लां ने यूटोपियायी समाजवाद से सर्वहारा समाजवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया। वे यूटोपियायी समाजवाद तथा मार्क्सवाद के मध्य एक कड़ी थे।[33]

जोसेफ प्रधों (Pierre Joseph Proudhon, 1809–1865)

प्रधों को किसी एक विचारधारा के अन्तर्गत बाधना अत्यन्त ही दुर्लभ कार्य है। कहीं वे साम्यवादी हैं, कहीं यूटोपियायी तो कहीं अराजकतावादी। आगे चलकर कार्ल मार्क्स से विचार-द्वन्द्व में उन्होंने मार्क्सवादी-साम्यवाद में अपने लिए प्रथक

28. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 228
29 Ibid, p 220.
30 Ibid, p 225
31 Dunning, W. A, A History of Political Theories, from Rousseau to Spencer, p 344.
32 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 256.
33 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 219

कर लिया। इन्हें अन्तिम यूटोपियायी विचारक तथा अराजकतावाद के एक जनक के रूप में स्वीकार किया जाता है।[34]

प्रधों का जन्म फ्रांस के श्रमिक परिवार में हुआ। बाल्यकाल में ही इन्हें जीविका कमाने के लिये संघर्ष करना पड़ा। बचपन में इन्हें अध्ययन का शौक था तथा अपने जीवन काल में कई प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की। इनकी निम्नलिखित प्रसिद्ध पुस्तकें थी :—

1. What is Property ? An Enquiry into the Principle of Rights and of Government, 1840
2. Warning to Property Owners, 1842.
3. System of Economic Contradictions or the philosophy of Poverty, 1846
4. War and Peace, I and II vols., 1861 etc.

वैसे प्रधों के विचारों की काफी व्याख्या है किन्तु यहाँ उनके यूटोपियायी *योगदान तक ही सीमित रहना है। उन्होंने सम्पत्ति संस्था पर करारा प्रहार किया* तथा श्रमिकों की दशा सुधारने, मजदूरी सिद्धान्त में परिवर्तन करने आदि के सुझाव दिये हैं। यूटोपियायी विचारक के रूप में 1848 में, उन्होंने एक जनता बैंक (Bank of the People) तथा 'पारस्परिक संगठनों' (Mutualist Organisation) की योजनायें प्रस्तुत कीं। इन योजनाओं में उन्होंने उस अर्थ व्यवस्था की कल्पना की जिसमें श्रमिकों को कार्य करने के लिये मुफ्त ऋण मिलेगा जहाँ व्यक्तियों को सेवा के बदले सेवा, मूल्य के बदले मूल्य तथा जनता बैंक द्वारा मुफ्त ऋण नोट' (Free Credit Notes) का प्रचलन किया जायेगा। प्रधों द्वारा कल्पित समाज में न कोई अधिनायकवाद होगा और न कोई राज्य हस्तक्षेप। व्यक्तियों द्वारा निर्मित संघों के आधार पर विकेन्द्रित व्यवस्था होगी।[35]

प्रधों के ये विचार यूटोपियायी सिद्ध हुए। उनको कोई विशेष व्यावहारिक रूप नहीं दिया गया। चूंकि प्रधों को अन्तिम यूटोपियायी माना जाता है, इनका विशेष योगदान अराजकतावाद के क्षेत्र में है।

यूटोपियायी समाजवाद के विचार-सूत्र

व्यक्तिवाद एवं यद्‌भाव्यम् का विरोध—जिस समय यूटोपियायी समाजवादियों ने अपने विचार व्यक्त किये उस समय औद्योगिक क्रान्ति प्रगति की ओर अग्रसर होती जा रही थी। औद्योगिक क्रान्ति जन-जीवन के समस्त पहलुओं को पूर्णतः प्रभावित करती जा रही थी। इस क्रान्ति में व्यक्तिवादी तथा यद्‌भाव्यम् (laisses faire)

34 Kilzer and Ross, Western Social Thought, pp 259—60.
35 Ibid, pp 258-259

विचारधारा को भारी प्रोत्साहन मिला। इससे पूंजीवाद का भी प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्तिवादी और पूंजीवादी व्यवस्था से सम्बन्धित व्यक्तिगत सम्पत्ति, लाभ, स्पर्द्धा आदि का भी जन्म हुआ। इन सभी ने उत्पादन में तो वृद्धि की लेकिन तमाम सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक कुरीतियां, त्रुटियों और बुराइयों को समाज में छोड़ दिया। यूटोपियायी समाजवादियों ने इस प्रकार की सभी व्यवस्थाओं को निन्दनीय बतलाया है। उन्हें व्यक्तिवाद और पूंजीवाद के दुखद परिणामों को देख कर ग्लानि हुई।[36] व्यक्तिवादी विचारधारा का खण्डन करते हुए रॉबर्ट ओवन ने एक स्थान पर लिखा है—

'आजकल प्रचलित यह विचार कि एकता और पारस्परिक सहयोग के स्थान पर व्यक्तिगत हित अधिक लाभप्रद सिद्धान्त है जिस पर सर्व कल्याण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है, यह धारणा सत्य के बिल्कुल ही विपरीत है।'[37]

ओवन नहीं मानते थे कि जन-कल्याण की अधिकाधिक प्राप्ति 'लेसे फेयर' (यद्भाव्यम्) नीति द्वारा हो सकती है। व्यक्तिवाद में व्यक्ति के अधिकारों पर जोर दिया जाता है किन्तु यूटोपियायी समाजवादी सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण चाहते थे। उन्होंने मानवी सम्बन्धों के सामाजिक स्तर पर बल दिया।

पूंजीवाद की आलोचना—यूटोपियायी समाजवादियों ने पूंजीवादी अर्थतन्त्र पर भी आक्रमण किया है। यद्यपि यह प्रहार अधिक कठोर नहीं है किन्तु पूंजीपतियों को अपनी कटु आलोचना से अछूता नहीं छोड़ता। वे पूंजीवादी व्यवस्था को अन्याय-पूर्ण मानते थे क्योंकि यह व्यवस्था शोषण पर आधारित है। इससे न केवल सामाजिक तथा आर्थिक असमानता उत्पन्न होती है बल्कि नैतिक चरित्र का पतन भी होता है। इस सम्बन्ध में यूटोपियायी समाजवादियों के विचार व्यक्त करते हुए हैलोवेल लिखते हैं–

'जैसा यूटोपियायी कहते हैं, पूंजीवाद द्वारा मानवीय पतन तथा निर्धनता की ओर ले जाना अवश्यम्भावी है। यह शोषण का अवतार या मूर्तरूप है। यह श्रमिकों का इतना पतन कर देता है कि उनका अन्य वस्तुओं की तरह क्रय-विक्रय किया जा सकता है तथा उन्हें मानवीय महत्ता से वंचित रखता है। इसके परिणामस्वरूप धन का वितरण न कि सिर्फ असमान किन्तु अन्यायपूर्ण भी होता है।"[38]

---

36 Dunicg, W A, A History of Political Theories, from Rousseau to Spercer, pp 349—59

37 Owen, Robert, To the County of Lanark, Everyman, p 269

38 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, pp 396-97.

यद्यपि यूटोपियायी समाजवादी पूँजीवाद के कटु आलोचक हैं, किसी ने भी इसके उन्मूलन के लिये नहीं कहा है। वे केवल इससे सम्बन्धित दोषों का निवारण चाहते थे।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध—पूँजीवाद से सम्बन्धित अन्य सस्थाएँ जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति, लाभ, स्पर्द्धा आदि की भी यूटोपियायी समाजवादियों ने कटु आलोचना की है। व्यक्तिगत सम्पत्ति पर प्रहार करते हुए ओवन ने कहा—

> मानव कानूनों से उत्पन्न व्यक्तिगत सम्पत्ति चरित्रहीनता और घृणा उत्पन्न करने वाली शक्तियों मे एक है तथा अनेक अपराधो और घोर अन्याय का कारण है। सम्पत्ति के ही कारण मनुष्य अपने साथियो को शत्रु की भाति देखता है, यह आगन्तुको और पडोसियो के कार्यों के प्रति शंका उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के दुर्गुण सर्वत्र प्रभाव डालते हैं।"[39]

पूँजीवाद को तरह यूटोपियायी समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के तीव्र आलोचक होते हुए भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति के पक्ष मे नही हैं। वे *स्वामित्व, सम्पत्ति* से सम्बन्धित लाभ तथा अन्य विशेषाधिकारो को न्यूनतम करना चाहते हैं। श्रम की ससद मे, 1819 मे, सेन्ट साइमन के अनुयायियों ने इस सम्बन्ध मे अपनी विचारधारा व्यक्त करते हुए कहा कि वे सम्पत्ति को सामुदायिक बनाने के पक्ष मे नही हैं। व समस्त विशेषाधिकार, वश-परम्परागत स्वामित्व के अधिकार, बहुमत के शोषण का अन्त चाहते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति आलस्य की आदत डालती है तथा दूसरे के श्रम पर जीवनयापन करने के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करती है। इन कारणों से यूटोपियायी समाजवादियो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की कठोर निन्दा की है।[40]

लाभ—लाभ का पूँजीवादी व्यवस्था और व्यक्तिगत सम्पत्ति से घनिष्ट सम्बन्ध है। यूटोपियायी समाजवाद लाभ को इसलिए निन्दनीय मानते हैं क्योंकि इसका वितरण उन सब व्यक्तियो मे नही होता जिनके श्रम या अन्य कार्य से लाभ प्राप्त होता है। यह कुछ ही व्यक्तियों की मुठ्ठियो को गरमाता है। यह अन्याय है। प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यतानुसार कार्य करे और जो कुछ श्रम वह किसी कार्य मे लगाता है उसका लाभ उसके श्रम के अनुसार मिलना चाहिए। फोरिए तो लाभ को बिलकुल ही मान्यता नही देता। वह सभी व्यक्तियो को, जो किसी कार्य मे लगे हैं, अनुपातत, समान भागीदार मान लाभ का उसी प्रकार वितरण चाहता है। लाभ को असामाजिक एव अन्यायपूर्ण मानते हुये यूटोपियायी समाजवादियो का दृष्टिकोण है कि—

> "लाभ प्रणाली शक्ति और धोखाधडी पर एक महान आवरण है जिसके द्वारा श्रमिक को अपने श्रम के वास्तविक मूल्य से ठग लिया जाता है। इस प्रथा के स्थान पर उनका सुझाव है कि प्रत्येक अपनी योग्यतानुसार

39 Quoted by Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 211

40 Gide C and Rist C, A History of Economic Doctrine, George G Harrap and Co, London, 9143, p 214

> कार्य करें तथा उनके श्रम (या जैसा कुछ कहते हैं आवश्यकतानुसार) के अनुसार ही उन्हें प्रतिफल मिलना चाहिए।"[41]

प्रतिस्पर्द्धा—स्पर्द्धा पर आधारित क्रय-विक्रय प्रणाली पूँजीवादतन्त्र का एक अभिन्न अङ्ग है। अनियन्त्रित प्रतिस्पर्द्धा अहस्तक्षेप (laisses faire) नीति का मूलमन्त्र है। वास्तव में स्पर्द्धा पर आधारित अर्थ व्यवस्था बड़े-बड़े पूँजीपतियों के लिये ही अधिक हितकर है। यूटोपियायी समाजवादी स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के विरोधी थे। उनका विचार था कि जब तक सामाजिक व्यवस्था स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित है तब तक किसी भी सुधार की आशा नहीं की जा सकती।

दरिद्र-वर्ग का समर्थन—यूटोपियायी समाजवाद का प्रादुर्भाव औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि में हुआ था। औद्योगीकरण के फलस्वरूप जो भी कुरीतियां तथा बुरे प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहे थे उनसे निर्धन-वर्ग ही सबसे अधिक प्रभावित हुआ। एक ओर तो मिल मालिक और पूँजीपतियों द्वारा वैभव और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत किया जा रहा था। दूसरी ओर गरीब वर्ग बेकारी में वृद्धि तथा दरिद्रता की जञ्जीर से निरन्तर जकड़ा हुआ चला जा रहा था। श्रमिकों को बड़ी ही दूषित और कष्टप्रद परिस्थितियों में रहना और कार्य करना पड़ता था। असन्तोषप्रद वातावरण में दिन-रात काम करने से श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं चरित्र पर बड़ा कुप्रभाव पड़ा। यह निम्न-वर्ग के शोषण की सीधी-सादी कहानी थी। यूटोपियायी समाजवादियों ने इस असहाय वर्ग की दशा सुधारने का पूर्णतः अनुमोदन किया। इस प्रकार उनके विचार यूरोप में हो रही औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणामों के विरुद्ध प्रतिक्रिया थे।

वर्ग-सामञ्जस्य एवं सम्पूर्ण समाज कल्याण—यूटोपियायी समाजवादियों ने व्यक्तिवाद तथा पूँजीवाद व्यवस्था की कटु आलोचना की है। दूसरी ओर उन्होंने निर्धन वर्ग के उत्थान और प्रगति का समर्थन किया है। किन्तु पूँजीवाद के दोषों को दूर करने तथा गरीबों की भलाई के लिए उन्होंने किसी भी दशा में इन दोनों वर्गों में संघर्ष की बात स्वीकार नहीं की। वर्ग संघर्ष उनकी विचारधारा का अंग नहीं था। उनका उद्देश्य एक वर्ग का समर्थन कर दूसरे वर्ग को समाप्त करना नहीं था। वास्तव में वे सम्पूर्ण समाज का समन्वय और कल्याण चाहते थे।[42]

सम्पूर्ण समाज कल्याण के लिए यूटोपियायी समाजवादियों का विचार था कि उच्च वर्ग और श्रमिक वर्ग के सम्बन्ध सहयोग एवं सद्भावना पर आधारित हों। उत्पादन में सभी सम्बन्धित कारकों का योगदान हो तथा लाभ में सभी का अनुपातिक हिस्सा हो। फोरियर की (Fraternite) का यही आशय था। यूटोपियायी

41 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 397
42. Cole, G D H, The Simple Case for Socialism, p 194.

समाजवाद वर्ग-भेद या वर्ग वैमनस्य पर नहीं किन्तु वर्ग सामञ्जस्य, वर्ग शांति तथा समस्त वर्गों के हितों का रक्षक था।

यूटोपियावादी योजनाएँ (Utopian Projects)—तत्कालीन समाज में औद्योगिक क्रान्ति पूँजीवाद आदि से प्रचलित दुर्गुणों को दूर करने, पूँजीपतियों और श्रमिकों से न्याय प्राप्त करने, निम्न वर्ग की प्रगति एवं महत्ता में वृद्धि करने हेतु इन यूटोपियायी समाजवादियों ने कुछ न कुछ योजनाएँ प्रस्तुत की। हैलोवेल के शब्दों में

> सामान्यतः वे समाजवादी विश्वास करते थे कि समाजवादी आधार पर कुछ आदर्श समुदायों की स्थापना सम्भव थी जो पूँजीवाद के विकल्प के रूप में उदाहरण प्रस्तुत करेंगी। व्यापक रूप में इन योजनाओं को ग्रहण करने से राष्ट्र और विश्व में समाजवाद की विजय (या स्थापना) होगी।"[43]

सेन्ट साइमन की संसद जिसमें वैज्ञानिक-वर्ग एवं उद्योग-वर्ग (Savants) का प्रमुख योगदान हो, फोरियर की फैलेन्क्स (Phalanx) योजना तथा रॉबर्ट ओवन का न्यू लैनार्क (New Lanark) प्रोजेक्ट कुछ इस प्रकार की योजनाएँ सुझाई गई जिनके माध्यम से यूटोपियायी समाजवादी अपने आदर्शों की प्राप्ति करना चाहते थे। इन योजनाओं को इन्होंने कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया तथा रॉबर्ट ओवन ने न्यू लैनार्क में कुछ सफलता भी प्राप्त की।

समुदायवादी (Associationists)—यूटोपियायी विचारक अपनी समाजवादी योजनाओं को छोटे ग्राम या समूहों पर प्रयोग करना चाहते थे क्योंकि इन ग्रामों या समूहों में समाजवादी जीवन-पद्धति अपना कर रहे। धीरे-धीरे इन समूहों का ज्ञान सारे विश्व में फैल जाय। मूलतः इनकी योजनाओं का आधार छोटे-छोटे नगर या समुदाय ही थे, इसलिए इन्हें समुदायवादी भी कहा जाता है[44]

साधन (Means)—अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यूटोपियायी समाजवादी न तो वर्ग-संघर्ष और न क्रान्ति या हिंसात्मक परिवर्तन में विश्वास करते थे।[45] वे समझते थे कि स्वेच्छानुसार समाजवाद की स्थापना की जा सकती थी। वे अपने विचारों में जितना आर्थिक पक्ष का समर्थन करते थे उतना ही नैतिकता, शिक्षा और सद्भावना को महत्त्व देते थे।[46] उनका विश्वास था कि यदि एक बार लोगों ने सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिए समाजवादी सन्दर्भों को समझ लिया तो वे स्वतः ही समाजवाद को ग्रहण कर लेंगे। श्रमिकों को अपनी समृद्धि के लिए धनिकों के अधिकारों का उल्लंघन करने की आवश्यकता नहीं होगी। कोल (G D H Cole) के अनुसार—

43 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 396

44 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp 3-4

45 बार्कर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 19.

46 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 396

"यूटोपियायी समाजवादी यह माना करते थे कि मनुष्य की अपनी भावनाओं को उभार कर, ज्ञान प्रसार करने तथा अमीर और निर्धन दोनों को ही समझाने से समाज का पुनरुत्थान होगा तथा वे ऐसे वर्ग-विहीन समाज में जहां आर्थिक दृष्टि से सब समान हों, वास्तव में सुखी होंगे।"[47]

यूटोपियायी अपने प्रयोगों की सफलता के लिए श्रमिकों का सहयोग तो अपेक्षित समझते ही थे लेकिन वे धनिक-वर्ग या पूंजीवर्ग की उदारता पर अधिक निर्भर करते थे। वे यह मानते थे कि धनी व्यक्ति श्रमिक कल्याण के लिये उनके प्रयोगों को सफल बनाने में अवश्य ही सहयोग देंगे। 19 मार्च 1819 को श्रमिकों के समक्ष बोलते हुए रॉबर्ट ओवन ने स्पष्ट करते हुए कहा कि धनिक-वर्ग भी उनकी दशा सुधारने के लिये अत्यन्त इच्छुक है।[48]

इस सम्बन्ध में गेटल के विचार भी उल्लेखनीय हैं। यूटोपियायी समाजवादियों के विचार, योजनाओं तथा सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या करते हुए गेटल लिखते हैं –

'यूटोपियायी समाजवादी मनुष्य की उत्तमता (या परिपूर्णता) सम्बन्धी उस समय प्रचलित आशावादी विचारों से प्रभावित हुए। वे मनुष्य जाति को शैक्षणिक प्रयोगों द्वारा नव-जीवन देने की अपेक्षा करते थे। आदर्शवादी विचारों के आधार पर वे एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की आशा रखते थे। वे क्रान्ति और वर्ग-संघर्ष के विरोधी थे, वे व्यापक रूप से अपने दृष्टिकोण में मानवतावादी थे तथा उन्होंने उच्च वर्ग से अपील की कि वे निर्धनों की सहायता करें।"[49]

इनके विचारसूत्रों के विषय में फ्रान्सिस कोकर ने भी लगभग यही लिखा है। कोकर के शब्दों में, –

"इन सुधारकों ने उन मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक मान्यताओं को चुनौती दी जिन पर व्यक्तिगत सम्पत्ति का आधुनिक प्रचलित अनुमोदन आधारित है, तथा अनियन्त्रित प्रतियोगिता के अस्वाभाविक तथा अमानवीय परिणामों पर भी प्रकाश डाला। वे न्याय तथा परोपकार की भावना से

47 Cole, G, D H, The Simple Case for Socialism, p 194

48 An address to the Working Class, March 19, 1819, Everyman Series (Ed by G. D H Cole) pp 150-51

49 The Utopians "were influenced by the prevalent optimistic ideas of human perfectability, and they expected to regenerate mankind by educational experimentation They reasoned from ideal speculation and hoped to establish an ideal social order. They opposed revolution and class conflict, were broadly humanitarian in their outlook and appealed to the dominant classes to aid the poor from above" Wanlass, L. C., Gettell's History of Political Thought, p. 337.

प्रेरित मनुष्यों के शान्तिमय प्रयासों द्वारा इन दूषणों का प्रतिकार चाहते थे।"[50]

यूटोपियायी समाजवाद का मूल्यांकन

यूटोपियायी समाजवादियों की व्यक्ति और विचारों को लेकर कटु आलोचना हुई है। एलेग्ज़ेण्डर ग्रे ने सेन्ट साइमन को एक 'महान सनकी' की संज्ञा दी है तथा उनके लेखों को 'अव्यवस्थित जंगल' बतलाया। यही बात फोरिए के विषय में है, उसे भी बचकाना तथा पागल कहा है।[52] रॉबर्ट ओवन को भी ग्रे ने एक रहस्यवादी, भ्रम में डालने वाला तथा उस पीढ़ी का सबसे बड़ा नीरस और बोरियत करने वाला कहा है।[53] इनके विषय में हैलोवेल तथा अन्य लेखकों ने भी लगभग ऐसे ही व्यंग्यात्मक एवं निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग किया है।[54]

विचार-भिन्नता—इस समाजवादी सम्प्रदाय में कई यूटोपियायी विचारक आते हैं। लेकिन इनमें काफी विचार भिन्नता है। उस समय प्रचलित बुराइयों और सामाजिक दोषों से मुक्ति दिलाने के लिये इन्होंने अलग-अलग योजनाएँ प्रस्तुत की जो एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इनमें ऐसे बहुत कम विचारसूत्र थे जिनके आधार पर इन्हें एक विचार मंच पर खड़ा किया जा सकता था।

काल्पनिक एवं अव्यावहारिक—यूटोपियायी समाजवादियों के विरुद्ध सबसे प्रमुख आलोचना उनके विचारों का अव्यावहारिक होना है। यूटोपियायी चिन्तकों ने अपने समय की बुराइयों को दूर करने के लिये आदर्श प्रस्तुत किये। सेन्ट साइमन की वर्गहीन समाज की कल्पना, फोरिए की फेलेन्क्स योजना, ओवन की न्यू लेनार्क योजना, लुई ब्लां का सामाजिक वर्कशॉप (Social Workshop) सिर्फ आदर्श ही थे। उन्होंने इस बात की चिन्ता नहीं की कि जो कल्पनाएँ वे कर रहे थे वे व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव थी या नहीं तथा समाज में इनका व्यापक प्रयोग हो सकता था या नहीं। उन्होंने जो भी योजनाएँ प्रतिपादित की वे सिर्फ कल्पनाओं की छायाएँ थीं इसलिये इनके विचारों को यूटोपियायी या कल्पनावादी कहा गया।

---

50 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 18.

51 Gray, Alexander., The Socialist Tradition, pp 136, 138

52 "Such was Fourier, a strange mixture of a child and of one hovering perilously near the thin line which divides sanity from insanity, with all the directness of a child and the strange intution of madman He is a figure never far removed from absurdity Yet when we finished smiling, it is strangely pathetic, wishful lonely figure that our unheroic hero presents " Ibid, p 195

53 Ibid, pp 202-203

54 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 383, Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 249

इनके विचारों का अव्यावहारिक होने का एक कारण यह भी था कि यूटोपियावादी विचारकों में, विशेषतः सेंट साइमन तथा फोरियर का सम्पूर्ण जीवन असफलताओं, निराशाओं से परिपूर्ण, अशान्त और अस्त-व्यस्त रहा।[55] इनके जीवन का अध्ययन करने पर कभी कभी डॉन क्विक्जोट (Don Quixote) का स्मरण हो आता है। ऐसे व्यक्तियों से विवेकपूर्ण व्यावहारिक विचारों की अपेक्षा करना व्यर्थ था।

मानव-स्वभाव की त्रुटिपूर्ण व्याख्या - यूटोपियावादियों की मूल भूल मनुष्य स्वभाव का सही मूल्यांकन नहीं करना था। वे मनुष्य को मूलतः अच्छा मानते थे तथा उनका विचार था कि सामाजिक बुराइयों का अन्त मनुष्य-स्वभाव को जागृत कर, हृदय परिवर्तन एवं सहयोग द्वारा हो सकता था। मनुष्य-स्वभाव की उनकी यह विवेचना एकपक्षीय थी। इस कारण उनके विचार आदर्शों के घेरे से बाहर नहीं निकल सके।

सभी यूटोपियावादी विद्वान अपने विचारों की उड़ान में डूबे रहे। उस समय अनेक देशों में राजनीतिक, आर्थिक सुधारों की मांग प्रतिदिन जोर पकड़ती जा रही थी। समय की पुकार थी कि राजनीतिक तथा आर्थिक कोई सुधार कार्य-क्रम जनता एवं सरकार के समक्ष रखते किन्तु किसी भी यूटोपियावादी विचारक ने गम्भीरतापूर्वक उस समय अपेक्षित व्यावहारिक सुधारों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। यद्यपि इन विचारकों ने गरीबों के प्रति सहानुभूति प्रकट की किन्तु उन्होंने उन को श्रमिक-वर्ग के ध्येय से सम्बन्धित नहीं बताया जैसा कि बाद में कार्ल मार्क्स ने किया। ये दरिद्र वर्ग के लिये शुभचिन्तक मात्र ही सिद्ध हुए।

साध्य-साधन विषमता—यूटोपियावादी समाजवादियों के उद्देश्य एवं उनको प्राप्त करने के साधनों में भारी विषमता थी। वे जिस सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे उसके साधन तथा माध्यम के सम्बन्ध में उनके विचार नहीं के ही बराबर थे। साध्यों की प्राप्ति के लिये साधनों की स्पष्ट व्याख्या न करके इन्होंने अपने विचारों को स्वप्नमात्र तक ही सीमित रखा दिया। वे किसी भी प्रकार का मार्ग-दर्शन नहीं कर सके।

यूटोपियावादी समाजवादी वैधानिक सुधारों में ही विश्वास करते थे। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये कोई ठोस आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया। वे सुधारात्मक थे, आन्दोलन के लिये प्रेरित नहीं करते।

अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में यूटोपियावादी विचारकों का धनिक वर्ग से उदारता और सद्भावना की अपेक्षा करना भूल एवं भ्रम था। आजकल इन साधनों में कोई विश्वास नहीं करता।[56] उस समय की आर्थिक व्यवस्था निजी-हित, एकाधिकार तथा स्वार्थ पर आधारित थी। ये धनी-वर्ग उदारता का प्रदर्शन को

---

55. कोकर, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-समीक्षा, पृ. 32-36.

56. Crosland, J. A. R., The Future of Socialism, pp 101-102.

कर सकने थे लेकिन यूटोपियायी योजनाओं को कार्यरूप देने के लिये कोई भी आगे नही आया। फिर भी यूटोपियायियों का उन पर विश्वास था। चार्ल्स फोरिए की धारणा थी कि उसकी फेलेन्स्म व्यवस्था को विश्व-व्यापी बनाने के लिये कोई पूंजीपति उसके पास धन लेकर अवश्य ही आयेगा। इस विश्वास से उसने प्रतिदिन अपने घर पर एक निश्चित समय पर रहना प्रारम्भ कर दिया था ताकि कोई धनी पूंजी लेकर आये और फोरिए के न मिलने पर वापस न चला जाय। बेचारे फोरिए ने वर्षों तक इस प्रकार प्रतीक्षा की और मर गया लेकिन कोई धनिक व्यक्ति उसके प्रयोगों के लिये धन लेकर नही आया।[57]

पूंजीपतियों तथा धनिक व्यक्तियों द्वारा इनके प्रयोगों को पूंजी देना तो अलग रहा बल्कि उन्होंने इन योजनाओं का विरोध भी किया। यूटोपियायी समाजवादियों ने उन लोगों की विरोध शक्ति का ठीक अनुमान नही लगाया जो उस समय प्रचलित आर्थिक व्यवस्था से लाभ उठा रहे थे। वे यथा-स्थिति में कोई परिवर्तन नही चाहते थे। ओवन की 'ग्रेन्ड ट्रेड यूनियन' के टूटने का कारण पूंजीवादियों का कटु विरोध था। न्यू लेनार्क में भी उसे अपने साझीदारों से विरोध का सामना करना पड़ा। उन्हे ओवन के परोपकारी कार्यों से कोई लगाव नही था। इस विरोध के होते हुए भी ओवन ने जब अपने विचारों को कार्यरूप देने का प्रयत्न किया तथा अपनी समुदायवादी विचारधारा का गम्भीरता-पूर्वक प्रसार करना प्रारम्भ किया तो धनिक एवं सरकारी वर्ग उससे क्षुब्ध हो गया और अन्त में उसे असफलता का मुंह देखना पड़ा।[58]

यूटोपियायियों के विरुद्ध एक आलोचना, जो सन्दिग्ध प्रतीत होती है, यह थी कि इस समाजवादी सम्प्रदाय के अधिकांश विचारक उच्च-वर्ग के धनी व्यक्ति थे। उनका शिक्षा द्वारा सुधार सद्भावना एवं संवैधानिक साधनों के प्रति निष्ठा इसलिए थी कि ये धनिक-वर्ग के समर्थक थे। उन्होंने श्रमिकों के हित में जो विचार प्रस्तुत किये उससे वे श्रमिक वर्ग को भुलावे में रखकर अपने हित-साधन में लगे रहे। ओवन के विषय में यह सही हो सकता है। तभी तो इन्होंने मनुष्य के विवेक पर जोर देकर आन्दोलन को प्राथमिकता नही दी। सम्भवतः उन्होंने अपने विचारों से आगे होने वाले इस प्रकार के श्रमिक आन्दोलनों को कुंठित करने या उन्हे नई शान्तिपूर्ण दिशा देने का प्रयत्न किया हो।

यूटोपियायी समाजवादियों के विरुद्ध मार्क्सवादी आलोचना—यूटोपियायी समाजवादियों के सबसे कटु आलोचक कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंजल्स थे। इन्होंने इन समाजवादियों के विचारों के किसी भी सूत्र को आलोचना से अछूता नहीं छोड़ा। यूटोपियायियों के विरुद्ध मार्क्सवादी आलोचना 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' (Manifesto

57 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp 195-96
58 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 212

of the Communist Party, 1848) के तृतीय भाग और ऐन्जिल्स द्वारा लिखित पुस्तक Socialism Utopian and Scientific—में मिलती है।

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स का इन समाजवादियों के विरुद्ध सबसे तीव्र प्रहार यह था कि वे यूटोपियायी हैं। इन विचारकों ने सामाजिक विकास तथा सामाजिक बुराइयों के कारणों की खोज के लिये किसी वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण नहीं किया। उनकी योजनाओं का आधार न तो ऐतिहासिक विवेचना थी और न ही उनकी तथ्यों द्वारा ही पुष्टि होती है। इस समुदाय ने कोई ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जिसके आधार पर एक सुनिश्चित तर्कसंगत सामूहिक कार्यक्रम खड़ा किया जा सकता था। मार्क्स ने इस समाजवादी विचारधारा को 'तर्क के आधार पर स्वयं पराजित' (dialectically self-defeating) कहा है।[59]

ऐन्जिल्स के अनुसार कोई भी समाजवाद यदि विज्ञान बनना चाहे तो उसे तथ्यों पर खड़ा होना होगा।[60] *यूटोपियायी समाजवाद तर्क एवं तथ्यों से तनिक भी* सम्बन्धित नहीं था।

'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' के तृतीय भाग में इन प्रारम्भिक समाजवादियों की पूर्ण भर्त्सना की गई है। साम्यवादी घोषणा पत्र में मार्क्स तथा एन्जिल्स ने निम्नलिखित आधारों पर यूटोपियायी समाजवादियों की आलोचना की है.—

(i) यूटोपियायी समाजवादियों ने अपने विचार उस समय व्यक्त किये जब सर्वहारा तथा पूंजी वर्ग का संघर्ष अविकसित अवस्था में था। इस प्रकार वर्ग संघर्ष *और क्रान्ति का इनके विचारों में कोई स्थान नहीं है।*

(ii) यूटोपियायी समाजवादियों ने सीमित रूप में इन वर्गों में द्वेष एवं संघर्ष के कुछ तत्व और तत्कालीन समाज में भ्रष्ट एवं पतित तत्वों को स्वीकार किया है। चूंकि सर्वहारा वर्ग उस समय शैशव अवस्था में तथा उच्च वर्ग पर आश्रित था इसलिये यूटोपियायी समाजवादी स्वतन्त्र राजनीतिक आन्दोलन का समर्थन नहीं कर सके।

(iii) इनमें सर्वहारा-वर्ग के हित का प्रतिनिधित्व कोई भी नहीं कर सकता था। क्योंकि ये उच्च-वर्ग के होने के कारण *निम्न-वर्ग की समस्याओं से* सर्वदा अनभिज्ञ थे।

(iv) औद्योगिक विकास के साथ-साथ वर्ग-वैमनस्य में भी वृद्धि होती है। लेकिन ये समाजवादी सर्वहारा-वर्ग की मुक्ति के लिए कोई साधन प्रस्तुत नहीं करते।

(v) अविकसित वर्ग-संघर्ष तथा इन विचारकों के रहन-सहन का वातावरण इस प्रकार का था कि वे अपने लिये वर्ग-संघर्ष के ऊपर समझते थे। वे समाज

59 Sabine, H S., A History of Political Theory, p 661.
60. Engels, F., Socialism Utopian and Scientific, p 27

के उच्च वर्ग गठित सभी शक्तियों की दशाओं में सुधार करना चाहते थे। उच्चवर्ग के लोग वर्ग-वैमनस्य को समझने तथा किसी प्रकार की प्रगतिशील व्यवस्था ला सकने में असमर्थ थे।

(vi) यूटोपियायी समाजवादी राजनीतिक और क्रान्तिकारी कार्यों का समर्थन नहीं करते। वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति शांतिपूर्ण साधनों, छोटे छोटे अनुभवों एवं प्रयोगों के द्वारा करना चाहते थे। इनका असफल होना अवश्यम्भावी था।

अन्त में, यूटोपियायी समाजवादियों की आलोचना के विषय में ऐन्जिल्स के विचार लिखना अधिक उपयुक्त होगा। इन समाजवादियों के यूटोपियायी होने के कारणों की आलोचना करते हुए ऐन्जिल्स ने लिखा है.—

"सामाजिक समस्याओं का समाधान अविकसित आर्थिक दशाओं में छुपा हुआ है। यूटोपियाइयों ने इनका हल मस्तिष्क से विकसित करने का प्रयत्न किया।"[61]

इनकी समाजवादी योजनाओं के विषय में ऐन्जिल्स ने कहा—

"इन नई सामाजिक व्यवस्थाओं का स्वप्नवादी होना अवश्यम्भावी था, इन्हें जितना विस्तार से कार्यरूप देने का प्रयत्न किया गया उतनी ही ये कल्पनालोक की ओर बढ़ती गईं।"[62]

"हम इन्हें तुच्छ साहित्य तथा कल्पना की उड़ान के रूप में छोड़ सकते हैं जिन पर आज हंसी आ जाती है, जो अपने रिक्त विवेक की श्रेष्ठता पर चिल्लाते हैं, जिसकी पागलपन से तुलना की जा सकती है।"[63]

इनके समाजवादी होने का औचित्य

यूटोपियायी समाजवादियों की आलोचना का अध्ययन करने के उपरान्त एक शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार उनके विचारों पर, विशेषत: मार्क्स

61 "The solution of the social problems, which as yet lay hidden in undeveloped economic conditions, the Utopians attempted to evolve out of the human brain."
Engels, F, Socialism Utopian and Scientific, p 12-12

62 "These new social systems were foredoomed as utopian, the more completely they were worked out in detail, the more they could not avoid drifting off into pure phantasies" Ibid, p 12

63 We can leave it to the literary small fry to solemnly quibble over these phantasies, which to-day only make us smile, and to crow over the superiority of their own bald reasoning, as compared which such insanity" Ibid, 12

तथा ऐन्जिल्स द्वारा, तीव्र प्रहार हुए हैं उससे मस्तिष्क में यह बात उठती है कि क्या ये विचारक वास्तव में समाजवादी थे भी या नहीं। क्या इन्हें समाजवादी कहना उपयुक्त होगा? इस विषय में कई विद्वानों ने अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं। मार्क्सवादियों को छोड़ कर जोड (C. E. M. Joad) ने इन्हें कई जगह 'तथाकथित समाजवादी' कह कर सम्बोधित किया है।[64] एलेक्जेण्डर ग्रे तो इनके विचारक और समाजवादी दोनों ही होने के दावे को बहुत उथला बताते हैं। ग्रे के ही शब्दों में,—

> "इस सम्प्रदाय के समाजवादी प्रतिनिधि एक विचित्र और मनोरंजक विवरण प्रस्तुत करते हैं जिसे अधिक नहीं तो उच्च श्रेणी की गल्प कहा जा सकता है तथा कुछ मामलों में तो उन्हें समाजवादी मानना भी संदिग्ध है।"[65]

एलेक्जेण्डर ग्रे के विचारों में कुछ अतिशयोक्ति की मात्रा अवश्य है। यूटोपियायी समाजवादियों के जीवन लेखों, योजनाओं आदि के विषय में कई मत हो सकते हैं किन्तु उन्हें समाजवादियों की श्रेणी से अलग नहीं किया जा सकता। उनके कटु आलोचक फ्रेड्रिक ऐन्जिल्स ने भी यह स्वीकार किया है कि ये लोग कम से कम समाजवादी तो थे।[66] उनके विचारों में समाजवादी तत्व अवश्य ही विद्यमान थे।

यूटोपियायी विचारकों के समाजवादी होने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं:—

> प्रथम, इन सभी यूटोपियायी विचारकों ने उस समय प्रचलित व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, विशेषाधिकार, व्यक्तिगत सम्पत्ति, लाभ, स्पर्द्धा आदि की कटु आलोचना की है। ये सभी विचार समाजवादी परम्परा के पूर्ण अनुरूप हैं। उन्होंने तत्कालीन समाज के सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया। इस योगदान को 'साम्यवाद घोषणा पत्र' में भी स्वीकार किया गया है।[67]
>
> द्वितीय, इन्होंने श्रम की महत्ता को स्वीकार किया है। बिना श्रम किये हुए विलासितापूर्वक जीवन की इन्होंने भर्त्सना की। सब व्यक्तियों को रोजगार मिलने का इन्होंने समर्थन किया।
>
> तृतीय, यूटोपियायियों ने श्रमिक वर्ग की दशा सुधारने, उन्हें कार्य में साझेदार बनाने, तथा विभिन्न वर्गों में व्याप्त खाई को कम कर समानता सिद्धान्त के आधार को मान्यता प्रदान की। इस सम्बन्ध में फोरिए की फैलेन्स्टर व्यवस्था विशेषतः उल्लेखनीय है।

---

64 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 35-36.

65 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 4.

66 Engels, F., Socialism : Utopian and Scientific, pp 6, 15

67 Manifesto of the Communist Party, p. 91.

ओवन ने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि—

(i) एक मालिक का मजदूरों को अपने लाभ का साधन समझना गलत है,

(ii) श्रमिकों को उचित मजदूरी दी जाये;

(iii) मजदूरों के काम करने के घन्टों में कमी होनी चाहिये,

(iv) उनके लिये स्वच्छ वातावरण तथा उनके बच्चों की शिक्षा एवं स्वास्थ्य का समुचित प्रबन्ध करना सामाजिक तथा उद्योगपतियों का उत्तर-है। दायित्व

चतुर्थ, सभी यूटोपियायियों ने सम्पत्ति के सामाजिक हित में प्रयोग करने का समर्थन किया है।

अन्त में, इन्होंने राजनीति में आर्थिक पहलू के महत्व को स्वीकार किया है। 1816 में सेन्ट साइमन ने घोषणा की थी कि राजनीति उत्पादन का विज्ञान है। उन्होंने राजनीति का अर्थशास्त्र में विलय कर देने की बात कही।[68]

यूटोपियार्थी विचारकों के समाजवादी होने के दावे को स्वीकार करने के साथ साथ इन्हें समाजवाद का जनक अग्रसर तथा सन्देशवाहक भी माना जाता है। यह पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि सर्वप्रथम समाजवाद शब्द का प्रयोग इन्हीं विचारकों के सन्दर्भ में किया गया।[69] राबर्ट ओवन ने 1800 में ही न्यू लेनार्क (New Lanark) में समाजवादी प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। 1820 से 1844 तक (कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो के प्रकाशन के चार वर्ष पूर्व) ओवन ने समाजवादी सहकारी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। इसलिये समाजवाद के प्रवर्तक होने का श्रेय इन्हीं यूटोपियायियों को ही मिल सकता है।[70]

यही नहीं, कुछ विद्वानों ने यूटोपियायी समाजवादियों के विचारों को वैज्ञानिक होने का श्रेय दिया है। किल्जर एवं रॉस (Kilzer and Ross) के अनुसार सेन्ट साइमन ने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन पर जोर दिया। उन्होंने अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान को प्रभावित किया।[71] हेलोवेल (J. H Hallowell) का कहना है कि सेन्ट साइमन ने समाजवाद को एक व्यवस्थित विचारधारा के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया। उनकी तत्कालीन समाज की आलोचना नैतिकता के साथ साथ साथ आर्थिक तथ्यों एवं तर्कों पर आधारित थी।[72]

68 Engels, F , Socialism Utopian and Scientific, p 15

69 Ebenstein, W , Political Thought in Perspective, p 448 , देखिये प्रथम अध्याय, पृ० 16

70 Jay, Douglas , Socialism in the New Society, pp 1-4

71 Kilzer and Ross , Western Social Thought, p 239

72 Hallowell, J H , Main Currents in Modern Political Thought, p 380

राबर्ट ओवन ने जिस प्रकार समाज के विभिन्न दोषों की विवेचना की तथा उन दोषों को दूर करने के लिए जिस प्रकार रचनात्मक विचार प्रस्तुत किये रेमजे मेकडॉनेल्ड के अनुसार समाजवाद के विकास में यह सवप्रथम वैज्ञानिक विवेचन का प्रयास था।[73]

सूक्ष्म में, यूटोपियायी समाजवादियों का निम्नलिखित योगदान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है—

(i) उन्होंने अपने युग को समाजवादी विचारों से प्रभावित किये रखा तथा विचारों को नई दिशा दी।[74]

(ii) उन्होंने उस समय की प्रचलित राजनीति तथा यथा-स्थिति रखने वाली व्यवस्था को मानवतावादी बनाने का प्रयत्न किया।[75]

(iii) इन्होंने विकासवादी राजनीति को प्रोत्साहित किया। ये पूँजीवाद और समाजवाद के बीच की कड़ी थे।[76]

(iv) ये प्रगतिशील सिद्धान्तों में विश्वास करते थे तथा मार्क्सवादी के विचारों को आधार प्रदान करते थे।[77]

यूटोपियन समाजवाद में व्यावहारिकता की कमी तथा स्वप्नवाद अधिक था। उनके विचारों की आलोचना भी खूब हुई। बाद में जब कार्ल मार्क्स तथा फ्रेड्रिक ऐन्जिल्स ने क्रान्तिकारी वैज्ञानिक समाजवाद का प्रचार किया उसने यूरोप के लगभग सभी बुद्धिजीवियों और श्रमिकों को सोचने या आन्दोलन करने के लिए प्रेरित किया। मार्क्सवाद इतनी शीघ्रतापूर्वक लोकप्रिय हुआ कि यूटोपियायी समाजवाद पहले तो पृष्ठभूमि में हुआ तथा धीरे धीरे इसका प्रभाव क्षीण होता चला गया।

यद्यपि कल्पनावादी समाजवाद का अब कोई अस्तित्व नहीं रह गया है और न साइमन, फोरियर और ओवन द्वारा सामाजिक पुनर्रचनाओं की योजनाओं में किसी की दिलचस्पी ही शेष है आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में इन समाजवादी सदेशवाहकों की पूर्णतः अवहेलना नहीं की जा सकती। इनके विचारों में किसी न किसी रूप में समाजवाद का पूर्वाभास मिलता है। इन्होंने समाजवादी चिन्तन हेतु मार्ग प्रशस्त किया। वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तन हेतु इन लोगों ने पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की। इन्हें समाजवाद का अग्रसर कहना उपयुक्त ही होगा।

73 Ramsay MacDonald, J., Socialism: Critical and Constructive, p. 60

74 Engels, F., Socialism Utopian and Scientific, p. 26

75 Ramsay MacDonald, J., Socialism: Critical and Constructive, p. 55

76 Ebenstein, William, Political Thought in Perspective, p. 448

77 Vereker, Charles., The Development of Political Theory, p. 162.

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Cole, G D H.,	A History of Socialist Thought The Forerunners, 1789-1850
2 Cole, G D H.,	The Simple Case for Socialism, Chapter XI, Marxism and Utopians
3 Engels, Fredrick ,	Socialism : Utopian and Scientific Part I deals with the Utopian Character of Socilism.
4 Gray, Alexander ,	The Socialist Tradition, Chapter VI, Saint-Simon and the Saint-Simonians. *Chapter VII, Charles Fourier.* Chapter VIII, Robert Owen.
5. Hallowell, J H.,	Main Currents in Modern Political Thought, Chapter II, The Origins of Modern Socialism
6. Kilzer and Ross ,	Western Social Thought, Chapter 14, Saint-Simon and Early Socialism.
7 Ramsay Mac-Donald J.,	Socialism, Critical and Constructive, Chapter III, Socialism· Its Orgai isatio and Idea
8. Wanlass, S. C.,	Gettell's History of Political Thought, Chapter XXII, Rise of Democratic Socialism.



3

मार्क्सवाद : वैज्ञानिक समाजवाद

MARXISM THE SCIENTIFIC SOCIALISM

Karl Marx (1818–1883), Frederick Engels (1820–1895)

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 को ट्रीव्ज (Treves) में, जर्मनी के एक सम्पन्न धनी परिवार में हुआ। मार्क्स के माता-पिता यहूदी थे किन्तु जिस समय मार्क्स की आयु 6 वर्ष की थी, इनके माता-पिता ने प्रोटेस्टेन्ट (ईसाई धर्म की शाखा) धर्म अंगीकार कर लिया। 17 वर्ष की आयु में मार्क्स ने बोन (Bonn) विश्व विद्यालय में कानून तथा बाद में दर्शन शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। बर्लिन (Berlin) तथा जेना (Jena) विश्वविद्यालयों में भी मार्क्स ने अध्ययन किया। विद्यार्थी जीवन में ही ये हीगल के विचारों से बड़े प्रभावित हुए। 1841 में मार्क्स ने जेना विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट (Doctorate) प्राप्त की। मार्क्स के शोधप्रबन्ध का विषय — The Difference Between the Natural Philosophy o Democritus and of Epicurus था। दो वर्ष के उपरान्त 1843 में, मार्क्स का विवाह प्रशा (Prussia) के एक उच्च घराने की लड़की जेनी (Jenny Vo Westphalen) के साथ हुआ। मार्क्स के साहित्यिक तथा क्रान्तिकारी जीवन का सब अधिक विपरीत प्रभाव उनकी पत्नी जेनी पर पड़ा जिसने जीवन भर एक महा व्यक्ति की तरह समस्त व्यथाओं को सहन किया। लगभग इसी समय मार्क्स उग्रवाद विचारक तथा क्रान्तिकारी बनता जा रहा था। उसके इस प्रकार के विचारों से उ विश्वविद्यालय में कार्य नहीं मिल सका। यदि मार्क्स को उस समय विश्वविद्याल में शिक्षक का कार्य मिल जाता तो सम्भवत इस समय इतिहास कुछ और ही होता। तदुपरान्त मार्क्स उग्रवादी पत्रकारिता के क्षेत्र में उतर पड़ा। परिणामस्वरूप उ प्रशा (Prussia) से निर्वासित किया गया। इसके बाद मार्क्स ने 1848 तक क्रान्ति कारी जीवन व्यतीत किया तथा उसे यूरोप में निरन्तर इधर से उधर भागना पड़ा 1848 से अपनी मृत्यु तक मार्क्स इंग्लैण्ड में लगभग निर्वासित होकर रहा।

कार्ल मार्क्स मार्क्सवाद का एक प्रमुख आधा भाग है। मार्क्सवादी अंग व दूसरा भाग फ्रेड्रिक ऐन्जिल्स है। ऐन्जिल्स का जन्म बार्मन (Barmen) जर्मनी में 1820 में एक धनी परिवार में हुआ। ऐन्जिल्स इंग्लैंड में अपने पिता के व्यवसा

की देख-रेख करता था। मार्क्स और ऐन्जिल्स का मिलन एक पत्र के माध्यम से हुआ। पेरिस से प्रकाशित एक पत्र Deutch Franzosische Fahrbucher-के प्रथम अंक में मार्क्स और ऐन्जिल्स दोनों के ही लेख प्रकाशित हुए। दोनों ही एक दूसरे के लेखों से बड़े प्रभावित हुए तथा 1842 से वे ऐसे घनिष्ठ मित्र हुए कि साहित्यिक जगत में इस प्रकार की युगलबन्दी का उदाहरण मिलना सम्भव नहीं है।

मार्क्सवाद को इन दोनों व्यक्तियों के योगदान का अलग अलग मूल्यांकन सम्भव नहीं। ये दो व्यक्ति किन्तु एक साहित्यिक आत्मा थे। 1847 में मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने लन्दन में कम्युनिस्ट लीग (Communist League) की स्थापना की। इस लीग के उद्देश्य एवं कार्यक्रम के रूप में मार्क्स तथा ऐन्जिल्स द्वारा 1848 में कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (The Manifesto of the Communist party) की रचना हुई। यहीं से वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का युग प्रारम्भ होता है।[1] ऐन्जिल्स ने कई ग्रन्थ मार्क्स के साथ लिखे तथा कुछ का सम्पादन किया। मार्क्स की 'केपिटल' (Capital) के द्वितीय तथा तृतीय खण्डों का सम्पादन ऐन्जिल्स ने ही किया था। ऐन्जिल्स ने मार्क्स की साहित्यिक क्षेत्र में ही सहायता नहीं की किन्तु उसके परिवार के भरण पोषण में भी धन राशि की मदद देता रहा। 1860 के पश्चात् तो वह मार्क्स के परिवार को 350 पौन्ड वार्षिक नियमित रूप से देने लगा। इतना सब होते हुए भी ऐन्जिल्स को मार्क्स का चिड़चिड़ा स्वभाव सहन करना पड़ता था। ऐन्जिल्स मार्क्स को सदैव ही आगे रख स्वयं पृष्ठभूमि में रहा। ऐन्जिल्स के विषय में ऐलेक्जेन्डर ग्रे ने लिखा है —

> "इतिहास में इस प्रकार के कई दृष्टान्त हैं जहाँ मनुष्य ने औरत के लिये तथा औरत ने मनुष्य के लिये सब कुछ न्यौछावर कर दिया है। लेकिन ऐन्जिल्स जैसा उदाहरण इतिहास में मिलना मुश्किल है। बिना किसी रक्त-सम्बन्ध के एक सामान्य उद्देश्य के लिये उसने मार्क्स के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण कर दिया। ऐन्जिल्स ने स्वतन्त्र रूप से महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु उसने मार्क्स के अनुचर के रूप में ही रहना उचित समझा।"[2]

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने यूरोप के क्रान्तिकारी आन्दोलन को संगठित करने का काफी प्रयत्न किया तथा 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' की स्थापना की। 1883 में मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् ऐन्जिल्स अपनी मृत्यु तक मार्क्सवाद का प्रमुख उग्रणी प्रवक्ता रहा। इतिहास में मार्क्स को ही अधिक सम्मान दिया है किन्तु मार्क्स को ऐन्जिल्स के बिना नहीं समझा जा सकता।

1 Kilzer and Ross, *Western Social Thought*, p 263
2 Gray, Alexander, *The Socialist Tradition*, p 298

मार्क्स तथा ऐंजिल्स के निम्नलिखित प्रमुख ग्रन्थों में मार्क्सवाद की पूर्ण व्याख्या मिलती है:—

Engels, F., Condition of the Working Classes in England, 1844.
Marx and Engels, The Holy Family, 1844
Karl Marx The Poverty of Philosophy, 1847
Marx and Engels, The Manifesto of the Communist Party, 1848.

साम्यवादी घोषणा पत्र छोटी किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना है। वास्तव में इसकी बाद की रचनाएँ इसी घोषणा पत्र की व्यापक टीकाएँ हैं।[3]

Karl Marx, The Critique of Political Economy, 1859
Karl Marx, Value, Price, Profit, 1865.
Engels, F., Anti Duhring.
Karl Marx, Das Kapital (Capital) Vol I., 1867.
Engels, F., Socialism, Utopian and Scientific, 1880.
Karl Marx Das Kapital, Vol II edited by Engels, 1885.
Karl Marx, Das Kapital, Vol III, edited by Engels, 1895.

वैज्ञानिक समाजवाद

मार्क्स अपने सहयोगी ऐंजिल्स के साथ श्रमिक-वर्ग आन्दोलन के लिए वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है। मार्क्सवाद को प्रायः सर्वहारा समाजवाद (Proletarian Socialism), क्रान्तिकारी समाजवाद (Revolutionary Socialism) तथा वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) भी कहा जाता है। कार्ल मार्क्स का दावा था कि जिस समाजवाद का वह प्रतिपादन कर रहे थे वह वैज्ञानिक था। इसके लिए उसने उस समय के यूटोपियायी विचारों की आलोचना ही नहीं की, उसने न तो उनके कोई काल्पनिक आदर्श ही अपनाये तथा न उनसे अपना कोई विचार सम्बन्ध रखा। मार्क्स के अनुसार यूटोपियायी समाजवादी सर्वहारा वर्ग के विषय में अनभिज्ञ थे, समाजवाद लाने के लिए उन्होंने समस्त समाज, विशेषतः उच्च वर्ग से अपील की, उन्होंने भविष्य के बड़े आदर्शवादी—कल्पनावादी स्वप्न देखे, वे नैतिकता तथा मनुष्य की अच्छाई को स्वीकार कर समाजवाद लाना चाहते थे। मार्क्स के अनुसार कल्पनाओं और सद्भावनाओं के आधार पर आदर्श समाज के स्वप्न को पृथ्वी पर साकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उनका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए यूटोपियायी वैज्ञानिक समाजवादी नहीं हो सकते थे। मार्क्स तथा प्रधों के विचार संघर्ष के परिणामस्वरूप मार्क्स के विचारों में बड़ी प्रगति हुई। प्रधों की पुस्तक-Philosophy of Poverty- के प्रत्युत्तर में मार्क्स ने

3 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 263.

1947 में – Poverty of Philosophy – लिखी। यह ग्रन्थ ही मार्क्स ऐन्जिल्स द्वारा लिखित साम्यवादी घोषणा पत्र की भूमिका तैयार करता है।[4] इसी घोषणा पत्र में सर्वप्रथम वैज्ञानिक समाजवाद का विवेचन किया गया है। साम्यवादी घोषणा पत्र में मार्क्स-ऐन्जिल्स ने लिखा है:—

> "साम्यवाद अपने शाब्दिक अर्थ में अवश्य ही एक विधि या सिद्धान्त है। यह उन नियमों को स्थापित करता है जिनके द्वारा पूंजीवाद को समाजवाद में बदला जा सकता है।"[5]

ऐलेग्जेन्डर ग्रे ने वैज्ञानिक समाजवाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है:—

> "जैसा कि मार्क्स ने प्रस्तुत किया है शास्त्रीय अर्थ में वैज्ञानिक समाजवाद कम से कम इतिहास का दर्शन है, वर्ग-संघर्ष का मूर्तरूप, आर्थिक तर्कों पर आधारित शोषण का सिद्धान्त तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का स्वप्न है।"[6]

ऐसी अवस्था में मार्क्स ही पहला समाजवादी लेखक है जिसके कार्यों को वैज्ञानिक माना जा सकता है। "उसने न केवल उस समाज का चित्र अंकित किया जिसे वह वांछनीय समझता था, अपितु उसने विस्तारपूर्वक उन दशाओं का वर्णन किया जिनमें होकर उस आदर्श समाज को विकसित होना चाहिए।"[7] मार्क्स ने अपने समाजवाद को वैज्ञानिक बतलाते हुए कहा है कि यह इतिहास के विकास का परिणाम है न कि मस्तिष्क की कल्पना, यह उस विधि विधान पर आधारित है जिसके द्वारा मानव इतिहास प्रगति करता है। लेन लंकास्टर (Lane Lancaster) के अनुसार मार्क्सवाद के वैज्ञानिक समाजवाद होने के दो प्रमुख आधार थे। प्रथम, यह वास्तविकता (realism) पर आधारित है न कि कल्पना पर। द्वितीय, यह पूर्व तथा प्राचीन व्यवस्था को ही वैज्ञानिक तरीके से नहीं समझाता किन्तु नई व्यवस्था प्राप्त करने के लिए भी वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है।[8] वास्तव में मार्क्स के समाजवाद का वैज्ञानिक होना तत्कालीन युग की भी देन तथा उनका स्वयं का दृष्टिकोण था। इस सम्बन्ध में मिलोवन जिलास (Milovan Djilas) लिखते हैं—

4 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 253
5 Preface to the Communist Manifesto
6 " .In its classic form as presented by Marx (1818-1883), scientific socialism comprises at least a philosophy of history, embodying the class struggle, a theory of exploitation, based on presumed economic reasoning and a vision of the dictatorship of the proletariat"
Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 5
7 जोड़ आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, पृ. 36.
8 Lancaster, L W, Masters of Political Thought, vol III, p 163

"मार्क्स के विचार उस समय के वैज्ञानिक वातावरण से प्रभावित हुए विज्ञान के प्रति उनका स्वयं का अध्ययन तथा अपनी क्रान्तिकारी आकांक्षाओं से वे श्रमिक-वर्ग आन्दोलन को वैज्ञानिक आधार देना चाहते थे।"[9]

हेरॉल्ड लास्की (Herold Laski) का मत है कि मार्क्स ने समाजवाद को एक कार्यक्रम एवं एक दर्शन दिया जो वास्तविक तथ्यों पर आधारित था। इससे पहले ऐसा कोई विकल्प नहीं था।[10] प्रसिद्ध इतिहासकार टेलर (A J P Taylor) का मत है कि मार्क्सवाद में सामाजिक परिवर्तन करने वाली शक्तियों की जो व्याख्या है वह उसे वैज्ञानिकता प्रदान करती है। इसके अलावा इन परिवर्तन करने वाली शक्तियों का विवेचन मानव मनोविज्ञान (Human Phychology) पर आधारित है।[11]

मार्क्स के ग्रन्थों में ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि का परिचय तो प्राप्त होता ही है, उसने जो कुछ भी लिखा है तथा जो वह सिद्ध करना चाहता था वह तथ्यों पर आधारित है। उसके विचारों में कल्पना की उड़ान नहीं है। उसके ग्रन्थ तथ्य सम्बन्धी ज्ञान के अपूर्व भण्डार हैं। उसने उस समय प्रचलित ऐतिहासिक लेखन प्रवृत्ति का ही अनुसरण किया है। मार्क्स जब अपने सिद्धान्तों की विवेचना करता है तो वह आदम युग से प्रारम्भ करता है तथा यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य किन किन युगों से निकल चुका है। मनुष्य जब एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाता है इसका कारण समाज की अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन होना है। यह ऐतिहासिक विवेचन भी वैज्ञानिक पद्धति का एक प्रमुख अंग है। मार्क्सवाद के कई सिद्धान्त इसी ऐतिहासिक विवेचन के परिणाम हैं। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, पूंजीवाद से सम्बन्धित अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स के प्रमुख अन्वेषण हैं। ऐन्जिल्स के शब्दों में –

"इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या तथा अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त द्वारा पूँजीवादी उत्पादन का रहस्योद्घाटन करना, इन दो महान अन्वेषणों के लिए हम मार्क्स के ऋणी हैं। इन दो खोजों से समाजवाद विज्ञान बन गया। इसके बाद तो सिर्फ इसके सम्बन्ध और विस्तार का ही कार्य रह गया।"[12]

---

9 "Marx's ideas were influenced by the scientific atmosphere of his time, by his own leanings towards science and by his revolutionary aspiration to give to the working class movement a more or less scientific basis." Milovan Djilas, The New Class, p 5.

10 Laski, H J, Marxism after Fifty Years, Current History, March, 1933

11 Taylor, A J P, Manifesto of the Communist Party, Introduction by A J P. Taylor, Penguin Book Co, Middlesex, 1970, pp 10-11

12 "These two great discoveries, the materialistic conception of history and the revelation of the secret of capitalist production through surplus value, we owe to Marx With these discoveries socialism became a science The next thing was to work out all its details and relations." Engels, F., Socialism : Utopian and Scientific, p 44

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, मार्क्स के पूर्व समाजवादियों ने कोई ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जिसके आधार पर एक सुनिश्चित तर्क-संगत सामूहिक कार्यक्रम खड़ा किया जा सकता। मार्क्स ने अपने ग्रन्थों, पुस्तकों, लेखों आदि में इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के सम्बन्ध में जो भी विचार प्रकट किये हैं वे मुख्यतः परस्पर अनुरूप तथा विरोध रहित थे। दूसरे, मार्क्स ने अर्थशास्त्र में सम्बन्धित आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism), मूल्य के निर्धारण में श्रम का महत्व समाज का विकास आदि का अध्ययन, क्रमबद्धता या क्रमिक विकास (logical development) पर आधारित उसकी विवेचना में कारण और परिणाम (causes and effects) प्रत्येक जगह विद्यमान है।[13] मार्क्स अपने निष्कर्षों को निश्चित समझता था, उदाहरणार्थ—

(i) सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारण होते हैं।

(ii) पूंजीवादी व्यवस्था परिपक्वता को प्राप्त करने ही पतन की ओर अग्रसर होती है।

(iii) पूँजीवादी अवस्था में पूँजीपतियों और श्रमिकों का संघर्ष अनिवार्य है।

(iv) केवल श्रमिक वर्ग ही क्रांतिकारी होता है क्योंकि उसके पास अपने श्रम को छोड़कर कुछ नहीं है और न ही उसे विद्यमान सामाजिक व्यवस्था से मोह है।

(v) पूँजीवादी व्यवस्था के बाद समाजवाद का आना अवश्यम्भावी है, तथा

(vi) श्रम, मूल्य का निर्धारक तत्व है।

इसके अतिरिक्त वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को 'अकाट्य विज्ञान' मानता था। उसके अनुसार इतिहास के जो नियम उसने ढूँढ निकाले थे वे वैज्ञानिक सिद्धान्त की तरह निश्चित और निर्मम थे। मार्क्सवाद को वैज्ञानिकता प्रदान करने वाले सभी तत्वों के सार का हरमन जड (Heromon Judd) ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

> 'मार्क्स का दावा था कि उसका समाजवाद यूटोपियायी या ईसाई समाजवाद नहीं किन्तु वैज्ञानिक था। उसे विश्वास था कि किसी भी कार्य-क्रम को स्थाई रूप से सफलता के लिये वैज्ञानिक सत्य सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिये। उसके अनुसार सहयोग सिद्धान्त तथा पूँजी वर्ग से उदार स्वभाव की अपील करना व्यर्थ था। क्योंकि किन्हीं कारणों से वे उस व्यवस्था में परिवर्तन नहीं लायेंगे जिससे उन्हें लाभ होता है। मार्क्स का विश्वास था कि उस समय की दशा के कारणों को जानने के लिए दूरगामी सुधार करने पड़ेंगे तथा उन शक्तियों की खोजना पड़ेगा जो इतिहास को गतिशील बनाती हैं। इसे केवल वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा

13 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 398.

ही समझना सम्भव हो सकता है कि क्या गुजर चुका है तथा भविष्य में क्या होगा। कोई अन्य पद्धति उसे चाहे कैसे भी अच्छे विचारों द्वारा अपनाया जाय, व्यर्थ है।"[14]

मार्क्स पर प्रभाव तथा उनका वैज्ञानिक विवेचन

कार्ल मार्क्स के विचारों में मौलिकता (originality) के अभाव की बात सभी विद्वान करते हैं। यह सत्य अवश्य है। समाज विकास का सिद्धान्त, पूँजीवाद के विकास और सामाजिक परिणाम, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (theory of surplus value), श्रम सिद्धान्त, सर्वहारा-वर्ग (prolatariate) के प्रति हित कामना, श्रमिकों के लिए संगठित रूप में राजनीतिक कार्य एवं आन्दोलन करने के लिए आह्वान आदि की पूर्व-ध्वनि मार्क्स के पहले ही गूँज रही थी।

हीगलवाद (Hegalism) उस समय का विचार फैशन (जैसा कि आजकल भारत में समाजवाद है) था। हीगल से कार्ल मार्क्स ने ग्रहण किया कि विकास सिद्धान्त विरोधी तत्वों के संघर्ष में निहित रहता है। फ्यूरबाख (Feurbach) से मार्क्स ने भौतिकवादी (materialism) विचार प्राप्त किये। सम्भवत: वर्ग संघर्ष (class war) की प्रेरणा उसे फ्रांस के समाजवादियों से मिली हो क्योंकि कुछ समय जब मार्क्स फ्रांस में था वहाँ के समाजवादियों से सम्पर्क में रहा।[15] उसके अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचार अट्ठारहवीं शताब्दी के मरकेन्टाइलिस्ट अर्थशास्त्रियों, विशेषत: रिकार्डो (David Ricardo) फिजियोक्रेट विद्वानों (Physiocrats) तथा अन्य लेखकों के ग्रन्थों में मिलते हैं।[16]

यह नि:सदेह सत्य है कि मार्क्सवाद के विभिन्न तत्व कई स्त्रोतों में ढूढे जा सकते हैं। उसने ईंट-पत्थरों की भांति सब स्थलों से विचारों को एकत्रित किया। किन्तु जिस विचार-भवन का निर्माण किया वह स्वयं उसकी ही इच्छानुसार था।[17]

14 "Marx claimed that his was a scientific rather than a utopian or Christian socialism He was convinced that any programme which was to be permanently successful would have to be based upon scientifically valid principles It was, he thought, totally useless to preach the doctrine of co-operation and to appeal to the benevolent nature of a capitalist class which, *for reasons ... was unable consciously to alter the system from which it* benefited. Reformers, Marx believed, would need to delve more deeply into the causes of the existing situation to investigate the forces that move history itself Only through such a scientific investigation is possible to understand what has happened, what is happening, and what will happen Any other approach, no matter how altruistically motivated, is useless" Judd Hermon M, Political Thought from Plato to the Present, McGrow Hill, New York, 1964, p 392

15 Gray, Alexander., The Socialist Tradition, p. 300

16 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 44-47.

17. उपरोक्त पृ० 299.

मार्क्स ने इन सभी विद्वानों के विचारों के तथ्यों की व्यवस्था, उनकी विवेचना आदि स्वयं ही की थी। मार्क्स ने अपने मत की पुष्टि के लिए इन चिन्तकों एवं विद्वानों के विचारों का सार ग्रहण किया तथा अपने विचारों को तार्किक दृष्टि से सिद्ध करने के लिए उनका प्रयोग किया। उदाहरणार्थ, हीगल के दर्शन में विचार (idea) और राष्ट्र (nation) की प्रमुखता थी। मार्क्स के अनुसार हीगल का दर्शन ठीक सिर के बल उल्टा खड़ा हुआ था। मार्क्स ने इसे नया रूप देकर पैरों पर खड़ा किया।[18] हीगल के विचार और राष्ट्र के तत्त्वों को मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया,[19] तथा इस नियम को एक राष्ट्र तक ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में लागू होने वाला बतलाया।[20]

मार्क्स का यही विवेचन समाजवाद और क्रान्ति का प्रमुख आधार है जो उसके विचारों को वैज्ञानिकता प्रदान करता है। प्रो. लास्की (Harold Laski) के अनुसार उस समय समाजवाद एक अस्त-व्यस्त स्थिति में था किन्तु मार्क्स ने उसे एक आन्दोलन बना दिया। यही नहीं उसे तर्क संगत बनाकर एक नया दर्शन और एक नई दिशा प्रदान की। कई विद्वान मार्क्स के विचारों से सहमत नहीं हैं किन्तु वे भी उसके अध्ययन, विश्लेषण और सूक्ष्मता को स्वीकार करते हैं।

मार्क्सवाद की वैज्ञानिक संदिग्धता

उपरोक्त अध्ययन से यह लगभग स्पष्ट है कि मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद है। क्योंकि मार्क्सवाद विचार तथ्यों पर आधारित है; इसमें ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया गया है, यह विवेचनात्मक अध्ययन है तथा इसे तर्कसंगत बनाकर, 'कारण और परिणाम' के सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। मार्क्सवाद के अन्तर्गत नये सिद्धान्त तथा नये निष्कर्षों को स्थापित किया गया है। इतना सब कुछ होते हुए भी मार्क्सवाद के पूर्णरूप से वैज्ञानिक होने में सदेह व्यक्त किया जाता है। टेलर (A J. P. Taylor) ने मार्क्सवाद को सही वैज्ञानिक अध्ययन नहीं माना है।[21] मिलोवन जिलास (Milovan Djilas), जो यूगोस्लेविया (Yugoslavia) के एक विद्रोही साम्यवादी चिन्तक हैं, का मत है कि मार्क्सवाद का विज्ञान के रूप में कभी भी महत्त्व नहीं रहा है। मार्क्स ने हीगल के विज्ञान को ही आगे बढ़ाया। इसमें उसका मूल योगदान कुछ भी नहीं था।[22] कोल (G D H Cole) का विचार है कि मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद कम तथा सिद्धान्त शास्त्र या अध्यात्म-शास्त्र (Metaphysics) अधिक है। यह उसके

18 Engels, F, Socialism Utopian and Scientific, p 37
19 Sabine, H S, A History of Political Theory, p 628
20 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 261.
21 Taylor, A J, P, The Manifesto of the Communist Party, pp 10-11.
22 Djilas, Milovan, The New Class, p 6

प्रतिरिक्त-मूल्य सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) में स्पष्ट हो जाता है।[23]

मार्क्सवाद के वैज्ञानिक समाजवाद के रूप में सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि मार्क्स का अध्ययन निष्पक्ष नहीं था। उसने जो भी तथ्य एकत्रित किये, उनका जो विवेचन किया, उसका मुख्य उद्देश्य क्रान्ति द्वारा सर्वहारा-वर्ग की सत्ता की स्थापना करना था। इसके समर्थन में उसे जो तथ्य मिले उनका उसने प्रयोग किया तथा जो तथ्य उसके निष्कर्ष के विपरीत जाते थे उनकी अवहेलना की। इस प्रकार एक पक्षीय अध्ययन को पूर्ण विज्ञान कहना उपयुक्त नहीं होगा। आगे के पृष्ठों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अध्ययन में यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है।

कार्ल मार्क्स तथा ऐन्जिल्स वैज्ञानिक समाजवाद के प्रमुख प्रवक्ता हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी समाजवादी हैं जो मार्क्स-ऐन्जिल्स के विचारों के कुछ तत्वों को स्वीकार करते हैं तथा कुछ को अस्वीकार। किन्तु उन्हें भी वैज्ञानिक समाजवाद का समर्थक माना जाता है। इनमें कार्ल रॉडबर्टस (Karl Rodbertus, 1805–1875) तथा फर्डीनेंड लासेल (Ferdinand Lassale, 1825–1864) के नाम प्रमुख हैं। मार्क्स ऐन्जिल्स तथा इनमें मतभेद इस बात पर है कि समाजवाद लाने के लिये तुरन्त क्या कार्यक्रम हो तथा राज्य के विषय में वास्तव में क्या दृष्टिकोण होना चाहिये। वैज्ञानिक समाजवाद के विषय में इन्होंने मार्क्स-ऐन्जिल्स की मान्यताओं का लगभग समर्थन किया है हालांकि उनके कारण एवं परिणाम कुछ भिन्न ही हैं।[24]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

Dialectical Materialism

कार्ल मार्क्स की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। द्वन्द्व का अर्थ तर्कसम्मत विचार-विमर्श है। किसी भी तथ्य की वास्तविकता के ज्ञान की प्राप्ति तर्क-सम्मत विचार-विमर्श से ही सम्भव होती है। सामाजिक विकास-क्रम का ज्ञान करने के लिये सर्वप्रथम द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को हीगल ने ग्रहण किया था। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि ऐतिहासिक घटना-क्रम कुछ निश्चित नियमों के अनुसार चलता है। इन्हीं नियमों के आधार पर सामाजिक परिवर्तनों को समझा जा सकता है।

हीगल ने समाज को गतिमय तथा परिवर्तनशील बतलाते हुए विश्व-आत्मा (World Spirit) को उसका नियामक कारण माना है। हीगल ने द्वन्द्वात्मकता

23 Cole, G D H, A History of Socialist Thought, Vol II, pp 288 89,
Jay, Douglas, Socialism in the New Society, pp 57—58,
इस सम्बन्ध में देखिये—
Mayo, Henry B, Introduction to Marxist Theory, pp 211-18

24. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp 332, 334, 343—44

के अन्तर्गत होने वाले बौद्धिक क्रम का 'अस्तित्व में होना' (being), 'अस्तित्व में न होना' (non-being) और 'अस्तित्व में आना' (becoming) के रूप में देखा। हीगल ने इन तीनों क्रमों को 'वाद' (thesis), 'प्रतिवाद' (anti-thesis) और 'सम्वाद' (synthesis) से सम्बोधित किया है। कोई भी 'अमूर्त' (abstract) 'विचार' (idea) से प्रारम्भ होता है। विचार में 'विरोध' (contradiction) उत्पन्न होता है जिसे प्रतिवाद कहा जाता है। वाद और प्रतिवाद में द्वन्द्व के परिणामस्वरूप एक नये विचार का प्रादुर्भाव होता है जिसे हीगल सम्वाद कहता है। यही सम्वाद आगे चलकर वाद फिर प्रतिवाद और सम्वाद के द्वारा पुन. नये विचार के रूप में उत्पन्न होता है। यह क्रम-चक्र निरन्तर चलता रहता है।

हीगल परिवार को वाद के रूप में, समाज को परिवार के प्रतिवाद के रूप में, तथा राज्य को सम्वाद के रूप में एक विचार मानता था। इस प्रकार हीगल का द्वन्द्ववाद आदर्शात्मक था। हीगल के द्वन्द्ववाद के सार को कोल (G. D. H. Cole) ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है —

> "हीगल ने विश्व को दैविक न्याय की एक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जो निरन्तर विरोध और संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा अपने को प्रसारित करता है। सम्पूर्ण मानव इतिहास–और केवल उसी से हमारा यहा सम्बन्ध है—उसके समस्त विचारात्मक संघर्ष की एक लम्बी प्रक्रिया के रूप में फैल गया जिसका निश्चित परिणाम विश्व–भावना की पूर्ण सहानुभूति में विरोध का अन्तिम रूप से विनाश होगा। भौतिक स्तर पर समाज का विकास उसके लिये इस विचारात्मक प्रक्रिया की एक निषेधात्मक अभिव्यक्ति मात्र थी। मानव इतिहास में जो घटित हो रहा है वह यह नहीं है जिसकी प्राप्ति होती है बल्कि हर निरपेक्ष विचार में निहित वास्तविकता का क्रमिक तथा प्रगतिशील यथार्थीकरण है। प्रत्येक वस्तु विकास की सम्पूर्ण लौकिक प्रक्रिया में बीज रूप में विद्यमान थी परन्तु बीज यथार्थ का रूप विचार के लम्बे संघर्ष द्वारा ही धारण कर सकता था। यह संघर्ष, जैसा कि इतिहास में दिखाई पड़ता है अपूर्ण विचारों के संघर्ष में होकर स्वानुभूति की ओर अग्रसर होता है।"[25]

हीगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को मार्क्स ने सामाजिक विकास के सम्बन्ध में लागू किया। किन्तु मार्क्स भौतिकवादी था। भौतिकवादी सिद्धान्त का तात्पर्य है कि विश्व में परम तत्व पदार्थ (matter) है जिसके मूल में कोई ईश्वरीय अथवा सार्वभौम चेतना नहीं होती। पदार्थ ही प्रथम व प्रधान है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद का आधार पदार्थ है, हीगल की भांति विचार (idea) नहीं, भौतिक पदार्थ ही इस जगत का आधार है। मार्क्स के भौतिक द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को

25 Cole, G D H , Meaning of Marxism, p 207.

निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है—

(i) सावयविक एकता.—विश्व एक भौतिक जगत है जिसमें वस्तुएँ तथा घटनाएँ एक दूसरे से पृथक न होकर पूर्णतया सम्बद्ध रहती है। अर्थात् प्रकृति के सभी पदार्थों में सावयविक एकता रहती है।

(ii) गतिशीलता.—विश्व अथवा उसकी कोई भी वस्तु स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील नहीं है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ – रेत के छोटे दाने से लेकर सूर्य पिण्ड तक - गतिशील है।

(iii) परिवर्तनशीलता:—भौतिकवादी होने के कारण मार्क्स आर्थिक नियतिवाद (economic determinism) का समर्थक है। वह सामाजिक विकास की प्रेरक शक्तियों के रूप में आर्थिक परिस्थितियों को ही महत्व देता है। चूँकि भौतिक जगत में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है इसलिये सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन होता रहता है। द्वन्द्ववाद विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया है।

(iv) मात्रात्मक-गुणात्मक परिवर्तन —परिवर्तन मात्रात्मक (quantitative) तथा गुणात्मक (qualitatitive) दोनों प्रकार के होते हैं। गेहूँ के एक अंकुर का कई दानों में परिणित हो जाना मात्रात्मक परिवर्तन है। पानी का हिम या भाप में परिवर्तन गुणात्मक कहलाता है।

परिवर्तन-क्रम में एक अवस्था ऐसी आती है जब परिमाणगत से गुणात्मक परिवर्तन एकाएक हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब पानी सामान्य गर्म होता है उसमें कोई परिवर्तन मालूम नहीं होता। लेकिन जैसे ही उसका तापमान 100° सेन्टीग्रेड पर पहुंचता है वह उबलने लगता है तथा एकाएक उसके गुण में परिवर्तन हो भाप बनने लगता है। पानी का भाप में परिवर्तन ही गुणात्मक परिवर्तन है। इसी प्रकार सामाजिक विकास क्रम पहिले धीरे-धीरे चलता है लेकिन एक स्थिति ऐसी आती है कि उसमें एक दम गुणगत परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन में आर्थिक तत्व प्रधान है न कि हीगल की तरह विचार तत्व।

(v) क्रांतिकारी प्रक्रिया:—वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नहीं बल्कि सहसा और झटके के द्वारा होता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक जाने की यह प्रक्रिया क्रान्तिकारी होती है।

(vi) सकारात्मक-नकारात्मक संघर्ष:—प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं—सकारात्मक (positive) और नकारात्मक (negative)। इनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। संघर्ष के परिणामस्वरूप पुराना तत्व मिट जाता है तथा नवीन तत्व उत्पन्न होता है। यह निरन्तर संघर्ष विकास-क्रम निर्धारण करता है।

मार्क्स के इस विचार को कोल (G. D. H. Cole) ने व्यक्त करते हुए लिखा है कि इतिहास के प्रत्येक युग में उत्पादन शक्तियों से मनुष्यों में आर्थिक सम्बन्ध पैदा

होते है। मानव इतिहास मे इन सम्बन्धो के फलस्वरूप मनुष्य आर्थिक वर्गों मे विभाजित रहे हैं। प्राचीन ग्रीस मे स्वतन्त्र नागरिक व दास, रोम मे पेट्रोशियन व प्लेबियन, मध्य युग मे भूमिपति और दास-किसान, तथा वर्तमान युग मे पूँजीपति व मजदूर-वर्ग के मध्य हुए सघर्ष से समाज आगे बढता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सिद्धान्त से मार्क्स ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना कैसे होगी। मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद मे जिस तीव्र गति से परिवर्तन की ओर सकेत किया उसमे उसने क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध किया है। पूँजीवाद मे शोषित वर्ग उन्नति नही किन्तु क्रान्ति द्वारा परिवर्तन करेगा। इस प्रकार मार्क्स द्वन्द्ववादी व्याख्या द्वारा वर्ग सघर्ष को अवश्यम्भावी बना देता है। मार्क्स के द्वन्द्ववादी भौतिकवाद का वाद, प्रतिवाद और सम्वाद आर्थिक वर्ग है। इनमे सघर्ष के परिणामस्वरूप एक ऐसे समाज की स्थापना होगी जिसमे शोषण एव वर्ग-भेद सदैव के लिए समाप्त हो जायेगा। वर्गरहित समाज की स्थापना अन्तिम सम्वाद होगा जिसके बाद प्रतिवाद का जन्म नही होगा। यही पर वर्ग-सघर्ष की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया रुक जायेगी।

हीगल तथा मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त मे अन्तर

हीगल तथा मार्क्स ने द्वन्द्ववाद सिद्धान्त की सामाजिक विकास के सदर्भ मे व्याख्या की है किन्तु दोनो विचारको के निष्कर्ष भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम, हीगल के द्वन्द्ववाद का आधार विचार (idea) है। इसके विपरीत मार्क्स पदार्थ (matter) को प्रमुखता देता है। हीगल का द्वन्द्ववाद रहस्यात्मक-आदर्शात्मक है, मार्क्स भौतिकवादी है। द्वितीय, हीगल का विचार था कि यूरोपीय इतिहास की चरम परिणति जर्मन राष्ट्र के विकास मे हुई है तथा जर्मनी यूरोप का आध्यात्मिक नेतृत्व ग्रहण करेगा। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक इतिहास की चरम परिणति सर्वहारा वर्ग के उत्थान के रूप मे स्वीकार की है। तृतीय, हीगल के समाज दर्शन मे प्रेरक शक्ति एकत्व-विकासशील आध्यात्मिक सिद्धान्त है। मार्क्स के दर्शन मे यह प्रेरक तत्त्व स्व-विकासशील उत्पादक शक्तियां हैं जो अपने लिए सामाजिक वर्गों मे व्यक्त करती है। चतुर्थ हीगल के लिए प्रगति राष्ट्रो के सघर्ष मे निहित है। किन्तु मार्क्स के लिए प्रगति सामाजिक वर्गों के विरोधाभाव मे निहित थी।[26]

अनुदार हीगलवादियो ने हीगल के दर्शन का प्रतिक्रियावादी ढग से प्रयोग किया। किन्तु इसी सिद्धान्त को मार्क्स ने क्रान्ति का उपकरण बना दिया। 'सोवियत सघ के साम्यवादी दल के सक्षिप्त इतिहास' मे इस सम्बन्ध मे लिखा है कि द्वन्द्ववाद की सहायता से साम्यवादी दल प्रत्येक स्थिति के प्रति सही दृष्टिकोण बना सकता है, सामाजिक घटनाओ के आन्तरिक सम्बन्धो को समझ सकता है

26 Sabine, H S, A History of Political Theory, p 651.

तथा उनकी दिशा को जान सकता है। वह न केवल यह जान सकता है कि वर्तमान में घटनाएँ किस दिशा में चल रही है, किन्तु यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि भविष्य में उनकी दिशा क्या होगी।[27]

मूल्यांकन—द्वन्द्ववादी भौतिकवाद मार्क्सवाद का मूल आधार है किन्तु इस विचार को मार्क्स ने पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं किया है। जगह जगह पर मार्क्स ने द्वन्द्ववादी भौतिकवाद की विवेचना की हैं, वे अपनी रचनाओं में इसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दर्शाते हैं, सभी स्थानों पर इसे लागू करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन विस्तृत रूप में वे इसका कहीं भी विवेचन नहीं करते।

कार्ल मार्क्स सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियों को समझने के लिये एक मात्र भौतिक तत्त्व को प्रधानता देता है। वह पदार्थ को चेतना की अपेक्षा प्रमुखता देता है। यह समझ में आना असम्भव है कि किसी चेतन-सत्ता के बिना यह विश्व उत्पन्न और सचालित कैसे हो सकता है। यह मानना सही नहीं है कि सामाजिक जीवन में चेतना का योगदान नहीं है तथा भौतिक तत्त्वों द्वारा ही समस्त सामाजिक गतिविधियों का नियमन होता है। भौतिक तत्त्व को एकमात्र निर्णायक तत्त्व मानना भूल है।

यद्यपि द्वन्द्ववादी हमें मानव विकास के इतिहास में मूल्यवान क्रान्तियों का दिग्दर्शन कराता है किन्तु मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य का अनुसंधान करने के लिए यही एकमात्र वैज्ञानिक पद्धति है। सामाजिक घटनाओं को द्वन्द्व की सहायता के बिना भी भली भांति समझा जा सकता है।

द्वन्द्ववाद के अध्ययन से यह बात समझ में आना कठिन है कि पदार्थ जो स्वभाव से चेतनाहीन है, एक स्वयं विकसित होने वाला सिद्धान्त बन सकता है। इसमें आतरिक शक्तियों को यथार्थ करने की शक्ति नहीं होती और न उसमें विकास की सामर्थ्य होती है। जो भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं वे बाह्य शक्ति द्वारा किये जाते हैं। सामाजिक जीवन इतना जटिल होता है कि उसमें होने वाले परिवर्तनों में से वाद, प्रतिवाद तथा सवाद किसे कहा जाय यह बताना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है। केरयू हन्ट (Carew Hunt) ने द्वन्द्ववादी भौतिकवाद की आलोचना निम्नलिखित शब्दों में की है—

"मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद के विरुद्ध एक गम्भीर आपत्ति उठायी जा सकती है। द्वन्द्ववाद को विरोधी तत्त्वों के बीच सघर्ष के द्वारा विचारों के विकास पर लागू करना उचित है, और हीगल उस विकास की एक बुद्धि सगत व्याख्या देता है। यद्यपि द्वन्द्ववादी भौतिकवाद के भौतिक जगत में कुछ विरोधों के दृष्टान्त केवल एकदम मनमाने हैं परन्तु यदि वे ऐसे न भी होते तो फिर भी यह तो एक रहस्य ही बना रहता है कि भौतिक जगत में

27 Hunt, Carew, (quoted) Theory and Practice of Communism, p 28.

वे दिखाई क्यों पड़ने चाहिये । द्वन्द्ववादी भौतिकवाद वास्तव में यह कहता है कि पदार्थ पदार्थ है किन्तु इसका विकास विचारों की भाँति होता है जब कि हम यह तो देख सकते हैं कि विचार उस प्रकार विकसित क्यों होते हैं जिस प्रकार कि वे होते हैं, जैसा कि, उदाहरण के लिये, वाद-विवाद मे, हम किसी ऐसे कारण की कल्पना नही कर सकते कि भौतिक वस्तुओं को भी उसी ढग से विकसित क्यों होना चाहिये ।''[28]

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या या ऐतिहासिक भौतिकवाद
Materialistic Interpretation of History

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को समझने से पहिले कुछ सम्बन्धित बातों का उल्लेख आवश्यक है । प्रथम, मार्क्स तथा ऐन्जिल्स के इस सिद्धान्त का नाम ही भ्रममूलक है । जिसे वे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कहते हैं वास्तव में वह भौतिकवादी न होकर आर्थिक व्याख्या है । इस सिद्धान्त को भौतिकवाद नही कहा जा सकता क्योंकि 'भौतिक' शब्द का अर्थ चेतनाहीन पदार्थ से होता है । उन्होंने सार्वजनिक परिवर्तनों की बात करते हुए कहा है कि यह परिवर्तन आर्थिक कारणों से होता है । अतः इस सिद्धान्त का नाम 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' होना चाहिए था ।[29] कोल (G. D H Cole) ने भी इस सम्बन्ध मे लिखते हुए कहा है कि इस सिद्धान्त मे मार्क्स ने व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाया था इसलिए इसका नाम 'इतिहास का व्यवहारवादी सिद्धान्त' (Realist Conception of History) होना चाहिए था ।[30] द्वितीय, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मार्क्सवाद का एक प्रमुख तथा मूल सिद्धान्त है लेकिन उनके किसी भी ग्रन्थ में कही भी इस सिद्धान्त का पूर्ण तथा व्यवस्थित वर्णन नहीं मिलता । यह उनके ग्रन्थो, लेखों मे इधर उधर बिखरा हुआ है । तृतीय, इस सिद्धान्त के विषय में मार्क्स की अपेक्षा ऐन्जिल्स का योगदान अधिक एवं महत्वपूर्ण है । मार्क्स की पुस्तक—Critique of Political Economy—की प्रस्तावना मे इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई है, इसके बाद ऐन्जिल्स ने ही इसकी समय समय पर विवेचना की है ।

सिद्धान्त की व्याख्या

द्वन्द्ववादी भौतिकवाद के आधार पर मार्क्स ने मानव इतिहास की विवेचना की है । तदनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त केवल प्राकृतिक जगत मे ही लागू नही होते, मानव समाज का विकास भी इन्ही नियमों के अनुसार होता है । ऐतिहासिक

---

28 Hunt, Carew , Theory and Practice of Communism, p 33
29 Lancaster, Lane W , Masters of Political Thought, Vol III, Hegal to Dewey, 1959, p 167
30 Gray, A , The Socialist Tradition, p 301

भौतिकवाद का अर्थ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों को समाज के विकास के लिए लागू करना है।

मानव समाज निरंतर बदलता रहता है। जो समाज आज से एक हजार या एक सौ वर्ष पहले था वैसा आज नहीं है। उसमें कई ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिन्होंने समाज की काया पलट दी है। लेकिन प्रमुख प्रश्न यह है कि इस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन क्यों होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के विषय में मार्क्स और ऐन्जिल्स की दो प्रमुख धारणाएँ हैं। प्रथम प्रकृति के नियम की तरह सामाजिक विकास के नियम भी निश्चित हैं। सामाजिक परिवर्तन न तो आकस्मिक होते हैं और न ही कुछ मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर करते हैं। ये विकास नियम वस्तुगत हैं तथा उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। द्वितीय, सामाजिक विकास में भौतिक परिस्थितियां ही प्रधान हैं, मन, विचार, भावनाएँ आदि गौण हैं। समाज की जिस प्रकार की भौतिक परिस्थितियां होती हैं उन्हीं के अनुरूप सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन, धर्म, नैतिकता मूल्य और मान्यताएँ होती हैं। अन्य शब्दों में, भौतिक परिस्थितियां ही सामाजिक जीवन का आधार हैं। उनमें परिवर्तन होने का तात्पर्य सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में परिवर्तन होना है। बोसांके ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त किया है—

> "सूक्ष्म में इस दृष्टिकोण का यह तात्पर्य है कि सभ्यता का मूल ढांचा, उदाहरण के लिए परिवार का स्वरूप, समाज में वर्ग विकास और उनके सम्बन्धों का निर्धारण मानव अस्तित्व की आवश्यकताओं, जलवायु और भोजन दशायें जिनके अन्तर्गत इन आवश्यकताओं की प्राप्ति होती है, से होता है। केवल आर्थिक तथ्य ही वास्तविक या आकस्मिक है, अन्य वस्तुएँ तो इनका बाहरी रूप या प्रभावमात्र हैं।"[31]

भौतिक परिस्थितियों से क्या अभिप्राय है? मार्क्स और ऐन्जिल्स के अनुसार 'उत्पादन के उपादान' ही भौतिक परिस्थितियां हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि व्यक्ति को जीवित रहने के लिए भोजन, वस्त्र, ईंधन, मकान आदि प्राप्त करने पड़ते हैं इनके बिना जीवन सम्भव नहीं हो सकता। इन सब की उपलब्धि उत्पादन के द्वारा होती है। अतः समस्त मानवीय क्रिया-कलापों की आधारशिला

31. In sum, the point of view amounts to this-that the fundamental structure of civilisation, the type of the family, for example, and the order relations and development of classes in society, have been and must be determined by the primary necessities of human existence and the conditions of climate and nutrition under which these necessities are met. Economic facts alone, it is Suggested, are real and casual; every thing else is an appearance and an effect "Bosanquet, B; The Philosophical Theory of State, Macmillan & Co Ltd London, 1958, p. 26

उत्पादन प्रणाली है। वस्तुओं का उत्पादन प्राकृतिक साधन, मशीन, यंत्र, उत्पादन कला, मनुष्य के मानसिक और नैतिक गुणों पर आधारित होता है। इस प्रकार उत्पादन के साधन और उत्पादन के तरीके 'उपादान के उत्पादन' के अन्तर्गत आते हैं। इन समस्त परिवर्तनशील उत्पादन शक्तियों का सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक युग की सभ्यता, संस्कृति, राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था दर्शन, कानून और मनुष्यों का समाज के विभिन्न वर्गों में स्थान का निर्धारण उत्पादन और वितरण की प्रणाली के द्वारा होता है। आर्थिक व्यवस्था या उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन आते ही उन्हीं के अनुरूप सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आते हैं।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कार्ल मार्क्स ने निम्नलिखित शब्दों में की है—

"सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों से घनिष्टतः सम्बन्धित हैं। नवीन उत्पादन शक्तियों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य अपने उत्पादन तरीकों में परिवर्तन करते हैं, और अपने उत्पादन तरीकों में तथा जीवन उपार्जन के ढंग में परिवर्तन करने से वे अपने समस्त सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन करते हैं। हस्तचालित मशीन से सामन्तवाद तथा चालित यन्त्रों से औद्योगिक पूँजीवादी समाज की स्थापना हुई।" (The Poverty of Philosophy, p 12)

फ्रेडरिक ऐन्जिल्स ने पृथक रूप से इस सिद्धान्त की व्याख्या की है। ऐन्जिल्स के शब्दों में—

"इतिहास का भौतिकवादी विचार इस सिद्धांत से प्रारम्भ होता है कि उत्पादन तथा उत्पादन के साथ वस्तुओं के विनिमय, प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का आधार है, प्रत्येक समाज जिसका इतिहास में अभ्युदय हुआ है वस्तुओं के वितरण तथा इसके साथ समाज का वर्ग-विभाजन का निर्धारण इस बात से होता है कि क्या और किस प्रकार उत्पादन तथा वस्तुओं का विनिमय किया जाता है। इस विचार के अनुसार सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रान्तियों के अन्तिम कारणों को, मनुष्यों के मस्तिष्क सत्य और न्याय आदि में नहीं किन्तु उत्पादन और विनिमय के तरीकों में देखा जा सकता है, वे दर्शन (Philosophy) में नहीं किन्तु उस युग से सम्बन्धित अर्थशास्त्र में दृष्टिगोचर होते है।"32

ऐन्जिल्स ने सामान्यत. इस प्रकार के ही विचार अन्यत्र व्यक्त किये हैं। इस विषय में लेनिन के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। लेनिन ने लिखा है.—

'यह व्यक्त करके कि बिना किसी अपवाद समस्त विचार और सभी प्रवृत्तियों की जड़ उत्पादन की भौतिक शक्ति सम्बन्धी दशाएँ हैं, मार्क्सवाद

32 Anti-Duhring, p 294, quoted by Gray, A, The Socialist Tradition, p 304

ने सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के उत्थान, विकास और पतन प्रक्रिया के सर्व-समावेश तथा व्यापक अध्ययन के मार्ग को दर्शाया है।"[33]

किसी भी समाज की भौतिक परिस्थितियां एक सी नहीं रहतीं, उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य द्वारा उत्पादन में नये-नये तरीके अपनाये जाते हैं तथा नये नये औजारों का आविष्कार होता है। उत्पादन के भौतिक तत्व बदल जाते हैं और उनका स्थान नये तत्व ले लेते हैं किन्तु उत्पादन के सम्बन्ध पुराने ही स्थिर रहते हैं। पुराने उत्पादन के सम्बन्धों के मध्य उत्पादन के नव भौतिक तत्वों का विकास एवं समुचित समन्वय नहीं हो पाता। अन्य शब्दों में, पुराने उत्पादन सम्बन्ध नये तत्वों के विकास में बाधा डालने लगते हैं। अतः दोनों के बीच संघर्ष प्रारम्भ होता है। इस बात की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है कि पुराने उत्पादन साधनों का अंत करके नये सम्बन्ध स्थापित किये जायें जो उत्पादन के नये तत्वों के अनुरूप हों और उनके विकास को आगे बढ़ा सकें। मार्क्स-ऐन्जिल्स के अनुसार यही सामाजिक क्रान्तियों का आधार है तथा इन्हीं कारणों से समाज एक युग से दूसरे युग में पदार्पण करता है।

सामाजिक विकास की महत्वपूर्ण अवस्थाएं

उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के साथ साथ सामाजिक संगठन, वर्ग विभाजन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है। परिणामस्वरूप एक अवस्था से दूसरी अवस्था आती है। मार्क्स ने उत्पादन सम्बन्धी परिवर्तनों के आधार पर इतिहास में युग परिवर्तनों का उल्लेख किया है, प्रत्येक युग के उद्भव एवं पतन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर समझाया है।

आदिम साम्यवादी युग (Age of Primitive Communism)—यह मानव जाति का प्रारम्भिक युग था। इस युग में मनुष्य शिकार और फल-फूल खाकर अपना जीवन निर्वाह करता था। मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थीं। न परिवार संस्थायें और न ही व्यक्तिगत सम्पत्ति संचय करने का प्रश्न था। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पर सबका समान अधिकार था। यह युग सब प्रकार के शोषण से मुक्त था। मार्क्स इसे आदिम साम्यवादी व्यवस्था कहता है।

दासता का युग (Age of Slavery)—कृषि का आविष्कार होने पर प्रथम अवस्था में परिवर्तन आने लगा। इस युग में खेती और पशुपालन का रिवाज प्रारम्भ हुआ। कृषि तथा पशुपालन प्रथा से उत्पादन प्रणाली में नया परिवर्तन आया। अधिक उत्पादन और माल का संचय किया जाने लगा। अधिक कृषि उत्पादन के लिये सहायकों की भी आवश्यकता महसूस हुई। युद्ध में पराजित लोगों को इस कार्य के लिये लगाया गया। इस प्रकार दास प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्तिगत

33. Lenin, The Teachings of Karl Marx, p. 11.

सम्पत्ति विकसित हुई। भूमि के स्वामित्व तथा स्थायी निवास की आवश्यकता प्रतीत हुई। दास का काम उत्पादन करना और स्वामी का काम उसके श्रम से उत्पन्न की हुई वस्तुओं से आनन्द उठाना था। मालिक वर्ग दासों के श्रम के उपभोक्ता बन गये। यहीं से स्वामी और दासों के दो वर्गों की सृष्टि हुई।

सामन्तवादी युग (Age of Feudalism)—कालान्तर में उत्पादन के उपादानों में अधिक प्रगति एवं परिवर्तन हुए। लोहे के हल तथा करघे का प्रचलन हुआ। कृषि के क्षेत्र में वृद्धि हुई। भूमि उत्पादन का मुख्य साधन बन गई। समाज का मुखिया भूमि का मालिक बन गया। वह भूमि का विभाजन सामन्तों के मध्य करता था। ये सामन्त धीरे-धीरे भूमि के मालिक बनने लगे और राजा को कर के रूप में सैनिक सेवा या अन्य सेवाएँ प्रदान करने लगे। ये सामन्त कृषि मण्ड कृषकों तथा कृषक अर्ध दासों को भूमि दिया करते थे। यही सामन्तवादी संगठन था। कृषि उत्पादन का अधिकांश भाग सामन्तों को प्राप्त होता था। अर्ध-दास वर्ग, जो वास्तव में भूमि पर कार्य करता था, का शोषण किया जाने लगा। यही सामन्ती व्यवस्था थी। इस युग में किसान दास की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र था और निजी सम्पत्ति रख सकता था। किन्तु इस युग में सामन्तों ने अपने आश्रितों का भयंकर शोषण किया। इस व्यवस्था में सामन्तों और शोषितों के बीच संघर्ष चलता रहा।

पूँजीवादी युग (Age of Capitalist Society)—अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसने उत्पादन के उपादानों में आमूल परिवर्तन किये। मशीनों का आविष्कार हुआ तथा बड़ी बड़ी मिलों और कारखानों की स्थापना हुई। खेती के तरीकों में भी परिवर्तन हुआ। इस युग में कारखानों के स्वामी तथा श्रमिकों के मध्य नये सम्बन्ध स्थापित हुए। पूँजीपति उत्पादन के साधनों का स्वामी होता था किन्तु श्रमिकों के पास उत्पादन के साधन नहीं होते थे, उन्हें पूँजीपतियों को अपनी श्रम शक्ति बेचनी पड़ती थी। फलस्वरूप श्रमिकों और पूँजीपतियों के मध्य वर्ग संघर्ष भी तीव्र हुआ। पूँजीवादी युग के अन्तर्गत राजनीतिक संस्थाएँ, कानून, नैतिकता, कला, साहित्य,दर्शन आदि सब पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के ही अनुरूप व्यवस्थित हुए। पूँजीपतियों का शासन व्यवस्था पर भी धीरे-धीरे नियन्त्रण बढ़ने लगा। मार्क्स-ऐन्जिल्स के अनुसार यहीं से आधुनिक ढंग से पूँजीपति तथा श्रमिकों में संघर्ष प्रारम्भ होता है। यही संघर्ष पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त कर समाजवाद तथा आगे चलकर साम्यवाद के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा।

मूल्यांकन

मार्क्सवाद की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या एकपक्षीय, अपूर्ण तथा अतिशयोक्तियों से परिपूर्ण है। इतिहास की आर्थिक व्याख्या के साथ साथ और भी अन्य व्याख्याएँ हैं। नीतिशास्त्र सम्बन्धी, राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक आदि सभी ऐतिहासिक व्याख्याएँ हैं। भौतिकवादी व्याख्या महत्वपूर्ण होते हुए भी सब

कुछ नहीं है। न इसे समाज की सम्पूर्ण व्याख्या कहा जा सकता है। विभिन्न युगों में आर्थिक उत्पादन और वितरण प्रणाली से सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धित रहे हैं। किन्तु समस्त इतिहास को आर्थिक तत्त्वों की पृष्ठभूमि के आधार पर नहीं समझा जा सकता। कार्ल मार्क्स के इस कथन में अतिशयोक्ति है कि परिवर्तन केवल आर्थिक तत्त्वों के कारण ही होते हैं।

इतिहास में इस प्रकार के कई उदाहरण हैं कि राजप्रासादों में होने वाले षड्यन्त्र, व्यक्तिगत द्वेष, धार्मिक विरोध आदि ने भी इतिहास के क्रम में बड़े बड़े परिवर्तन किये हैं। मध्ययुगीय योरोप का इतिहास वास्तव में धर्म संघर्ष का इतिहास रहा है। भारत में मुस्लिम काल में कई बादशाहों ने जजिया कर लगाया। इसका कारण आर्थिक कम किन्तु धार्मिक कट्टरता तथा धार्मिक विरोध अधिक था। भारत विभाजन तथा पाकिस्तान का निर्माण आर्थिक कारणों से नहीं, धार्मिक आधार पर हुआ था।

विश्व समाज में कुछ ऐसे महान व्यक्ति भी हुए हैं जैसे बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि जिन्होंने सामाजिक जीवन, सामाजिक मूल्यों एवं धारणाओं में मूलभूत परिवर्तन किए। ऐसा भी कहा जाता है कि मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है। वह केवल भौतिक आवश्यकताओं से ही प्रेरित नहीं होता। गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने, इसके विपरीत, भौतिक सुख को त्याग आध्यात्मिक मार्ग को अपनाया और धार्मिक क्रान्तियों को जन्म दिया। इन सब परिवर्तनों की व्याख्या भौतिकवाद के आधार पर नहीं की जा सकती है।

मार्क्सवाद मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक तथ्यों की उपेक्षा करता है। मनुष्य केवल सम्पत्ति प्राप्ति की भावना से ही नहीं किन्तु अहंकार, प्रतिस्पर्द्धा, लोभ, आनन्द, नारी आदि की भावना से भी काम करते हैं। फ्रायड ने काम वासना को ही मनुष्य जीवन में सब से अधिक प्रेरक-तत्त्व माना है।

हेलोवेल (W. H. Hallowell) के अनुसार महान वैज्ञानिक आविष्कारकों में भी शायद ही कोई आर्थिक कारणों से प्रेरित हुआ हो। "जितनी भी सौन्दर्य सृष्टा-कृतियाँ हैं, वह अर्थशास्त्र से उतनी ही दूर हैं जितना अर्थशास्त्र से विज्ञान दूर है।"[34]

कार्ल मार्क्स ने आर्थिक परिवर्तनों के आधार पर समाज को जिन अवस्थाओं में विभाजित किया है उसकी ऐतिहासिकता संदिग्ध है। आदिम साम्यवादी अवस्था, दास अवस्था आदि के काल के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। मानवशास्त्र (Arthopology) आदिम साम्यवाद के विवरण का समर्थन नहीं करता। मार्क्स यह भी कहता है कि समाज इन तमाम अवस्थाओं से निकल कर समाजवादी एवं साम्यवादी अवस्थाओं में प्रवेश करेगा। समाज विकास का यह विश्लेषण यूरोपीय समाज के सन्दर्भ में सही हो सकता है। अफ्रीका में अभी भी कई ऐसी जातीय सभ्यताएँ

---

34 उद्धृत, आशीर्वादम्., राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 613.

है जो जनजातीय युग के बाहर ही नहीं निकल पाई हैं। जो भी अर्ध-विकसित राष्ट्र अभी तक इस अवस्था में हैं वे पूंजीवादी अवस्था को लांघ कर समाजवादी या अन्य अवस्था की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार समाज विकास प्रक्रिया एवं क्रम भी असत्य होता जा रहा है। मार्क्सवाद के अनुसार साम्यवादी अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था पर आकर विकास क्रम रुक जायेगा। यह विचार व्यक्त कर मार्क्स स्वयं ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आक्रमण करता है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के अनुसार विकास क्रम अवरुद्ध नहीं होता, विकास प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

इस सम्बन्ध में मार्क्सवाद में और भी अन्तर्विरोध दिखाई देता है। एक ओर तो मार्क्स एवं एंजिल्स नियतिवादी हैं और उनके अनुसार जो कुछ भी होता है वह भौतिक परिस्थितियों के कारण होता है। वे मनुष्य को परिस्थितियों का दास बनने देते हैं। दूसरी ओर वे मानव प्रयत्नों को महत्त्व देते हैं। उनके शब्द "अब तक दार्शनिक ने विश्व का विभिन्न प्रकार से निर्वचन किया है, वास्तविक कार्य उसको बदलना है"— कार्यशीलता को प्रोत्साहित करते हैं। इस प्रकार मार्क्सवाद दो विरोधी धारणाओं में उलझा प्रतीत होता है।

यह कहना भी सत्य नहीं है कि किसी भी प्रकार के परिवर्तन में आन्तरिक परिस्थितियों का ही प्रभाव पड़ता है। बाह्य परिस्थितियां भी आन्तरिक परिवर्तनों को प्रभावित करती हैं। भारतीय समाज में जो भी परिवर्तन हुए हैं उनमें कुछ बाहरी आक्रमणों का परिणाम हैं। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के भारत में आने से देश में कई प्रकार के समन्वय दृष्टिगोचर होते हैं।

मार्क्स का कहना था कि जिनके पास आर्थिक शक्ति होती है वे ही राजनीतिक सत्ता का उपभोग करते हैं, उन्हीं का राज्य सत्ता पर नियन्त्रण रहता है। यह विचार सही नहीं है। वर्तमान युग में सैनिक क्रान्तियों द्वारा परिवर्तन भी हुए हैं तथा सैनिक शक्ति के आधार पर राज्य सत्ता पर नियन्त्रण किया गया है। इस प्रकार मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त भ्रान्तियों से पूर्ण किन्तु आंशिक सत्य है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
Theory of Surplus Value

कार्ल मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का विवेचन अपनी पुस्तक 'दास केपिटल' (Das Capital) में किया है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि, प्रथम, मूल्य निर्धारण का आधार क्या है। द्वितीय, इसके द्वारा वह यह भी बतलाना चाहता था कि पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक का शोषण किस प्रकार किया जाता है। उपरोक्त तथा कुछ अन्य आर्थिक कारणों से कार्ल मार्क्स के आर्थिक विचारों में अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मूल्य सिद्धान्त (Theory of Value) पर आधारित है। इसलिये 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' समझने के लिए मूल्य से सम्बन्धित कुछ सह-सिद्धान्तों को समझना आवश्यक है। सर्वप्रथम, मार्क्स उपयोग-मूल्य (Value in Use) तथा विनिमय-मूल्य (Value in Exchange) के अन्तर को स्पष्ट करता है। उपयोग-मूल्य किसी वस्तु की उपयोगिता है जो मानव आवश्यकता की संतुष्टि करती है। विनिमय-मूल्य वस्तुओं का अन्य वस्तुओं से विनिमय का अनुपात है। यह विनिमय का अनुपात वस्तुओं की भिन्न-भिन्न उपयोगिता पर निर्भर करता है। किन्तु विनिमय-मूल्य, उपयोग मूल्य पर निर्भर नहीं करता। उपयोगिता द्वारा मूल्य का निर्धारण नहीं होता। प्रकृति द्वारा दी गई पेड़ की लकड़ी की उपयोगिता तथा उपयोग-मूल्य तो है, विनिमय-मूल्य नहीं। किन्तु पेड़ पर श्रम का प्रयोग होने ही उसका विनिमय-मूल्य प्रारंभ हो जाता है। किसी भी वस्तु के विनिमय मूल्य के लिए श्रम का प्रयोग आवश्यक है। वस्तुओं का विनिमय इसलिये होता है क्योंकि सभी वस्तुओं में श्रम लगा है।

किसी वस्तु के उत्पादन में कितना श्रम कितने समय तक लगाया गया, इस आधार पर ही मार्क्स अपने अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त का विकास करता है। श्रम-समय से मार्क्स का अभिप्राय उस अवधि से है जो समाज की परिस्थितियों में औसतन वस्तु उत्पादन के लिए आवश्यक हो। वस्तु उत्पादन में श्रम-समय की लघुता या अधिकता से ही वस्तु का कम या अधिक मूल्य होता है।

अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित कई ढंग से की जा सकती है —

(i) श्रमिक के पास स्वयं के उत्पादन साधन नहीं होते। वह अपने श्रम और सेवाओं को बेचता है। इस प्रकार श्रम अन्य वस्तुओं की ही तरह खरीदा और बेचा जाता है। श्रम का क्या मूल्य है? कार्ल मार्क्स श्रम का उपयोग-मूल्य (Use-Value) और विनिमय-मूल्य (Exchange-Value) में अन्तर बतलाता है। उपयोग-मूल्य का तात्पर्य श्रम द्वारा निर्मित वस्तु का मूल्य है। श्रम का विनिमय-मूल्य श्रमिक का उतना भोजन, कपड़ा, रहने की जगह है जो सिर्फ उसके जीवन अस्तित्व को बनाये रखने के लिये पर्याप्त हो। मार्क्स ने इसे मजदूरी का कठोर नियम (Iron Law of Wages) कहा है। मार्क्स के अनुसार पूँजीपति श्रमिक को सिर्फ उसका विनिमय-मूल्य ही देता है और स्वयं उपयोग-मूल्य लेता है। श्रम का विनिमय-मूल्य और उपयोग-मूल्य का अन्तर ही अतिरिक्त-मूल्य (Surplus Value) है।[35]

(ii) अन्य शब्दों में, श्रमिक को अपने मामूली जीवन निर्वाह के लिए थोड़ी बहुत जो कुछ भी मजदूरी दी जाती है जब वह उससे अधिक उत्पादन करता है, वही अतिरिक्त मूल्य है। उदाहरणार्थ, एक मजदूर एक दिन 10 घंटे कार्य करता है लेकिन जितनी मजदूरी उसे दी जाती है उतना कार्य

35 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, pp 418 21

वह 4 घण्टों में ही कर लेता है। शेष छः घण्टे के कार्य का मूल्य उसे नहीं मिलता। यह पूँजीपति ले लेता है। यही अतिरिक्त मूल्य है।

(iii) या, एक मजदूर दिन भर में अपनी श्रम शक्ति के विनिमय-मूल्य से कहीं अधिक मूल्य उत्पन्न करता है। इन दोनों का ही अन्तर अतिरिक्त मूल्य है।

(iv) इसी सिद्धान्त को एक अन्य प्रकार से और प्रस्तुत किया जा सकता है। श्रमिक को अपने श्रम और कला का समुचित मूल्य नहीं मिलता। उसे सिर्फ जीवित रहने के लिए थोड़ी सी मजदूरी ही मिलती है। इस श्रम का बहुत बड़ा भाग ब्याज, किराया और लाभ के रूप में पूँजीपति को मिलता है। वास्तव में ये तीनों तत्व—ब्याज, किराया और लाभ ही अतिरिक्त मूल्य है।[36]

डॉ० आशीर्वादम् द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार जितना मूल्य श्रमिकों के निर्वाह के लिए आवश्यक है उसके अतिरिक्त जो मूल्य उन्होंने उत्पादित किया वह अतिरिक्त मूल्य है। पूँजीपति श्रमिकों को केवल निर्वाह के लिए मजदूरी देकर उनसे इतना श्रम करवाते हैं कि इनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का बाजार मूल्य उनकी मजदूरी से अधिक होता है। इस अतिरिक्त मूल्य को पूँजीपति हड़प लेते हैं। संक्षेप में पूँजीपति लाभ, किराया, ब्याज के रूप में अतिरिक्त मूल्य को स्वयं ले लेते हैं और उसका उपयोग उत्पादन बढ़ाने, अधिक श्रमिकों को काम पर लगाकर निरन्तर अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति करने में करते हैं।[37]

मार्क्स के अनुसार पूँजी के द्वारा कोई भी वस्तु निर्मित नहीं की जा सकती। पूँजी स्वयं ही श्रम के द्वारा निर्मित होती है। इसलिए पूँजीपति का अतिरिक्त मूल्य पर कोई अधिकार नहीं होता। पूँजीपतियों द्वारा अतिरिक्त मूल्य को हड़प जाना एक प्रकार की चोरी और श्रमिकों का शोषण है।

अतिरिक्त मूल्य पूँजी या मशीन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह सिर्फ श्रम को लगाकर ही सम्भव होता है। अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने के लिए पूँजीपति कई उपाय काम में लेते हैं जैसे—प्रथम, श्रमिकों के कार्य अवधि में वृद्धि कर, भोजन समय में कमी करना। इस प्रकार एक दिन की मजदूरी देकर उससे अधिक कार्य लेना। द्वितीय, मशीन का प्रयोग करना। मशीन के प्रयोग से श्रमिक अधिक कार्य कर सकता है। इसका तात्पर्य अधिक उत्पादन और अधिक अतिरिक्त मूल्य। तृतीय, श्रमिक परिवार की औरतों और बच्चों को भी काम पर लगाकर तथा उस परिवार के लिए जीवनयापन योग्य मजदूरी देकर अतिरिक्त मूल्य के अनुपात में वृद्धि की जाती है। वास्तव में पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य श्रमिक के

36 Burns, E.M., Ideas in Conflict, Metheun & Co., London, 1963, p. 151.
37 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 610.

शोषण द्वारा ही प्राप्त करता है।[38] जब पूँजीपति अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करते हैं उससे उनकी पूँजी में वृद्धि होती है। यांत्रिक साधनों के प्रयोग से श्रम में बचत तथा श्रमिकों की बेकारी में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप श्रमिकों और पूँजीपतियों में संघर्ष प्रारम्भ होता है।

मूल्यांकन

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में पूर्ण सत्यता नहीं है। मार्क्स ने केवल श्रम को ही मूल निर्धारक तत्व माना है। पूँजीपतियों के लाभ का स्रोत केवल मजदूरों का श्रम ही नहीं है। वह पूँजी लगाता है, जोखिम उठाता है तथा अपनी व्यावसायिक बुद्धि एवं कौशल का प्रयोग करता है। मूल्य निर्धारण में तथा इससे मिलने वाले लाभ में इन सभी का हिस्सा होता है।

मूल्य का निर्धारण एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के द्वारा होता है जिसे 'माँग एवं पूर्ति का सिद्धान्त, (Theory of Demand and Supply) कहते हैं। यह सिद्धान्त इतना सर्वव्यापी है कि मजदूर इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त की एक बड़े ही तार्किक एवं वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की है। वास्तव में यह अतिरिक्त श्रम का सिद्धान्त, न्यूनतम वेतन का सिद्धान्त, शोषण का सिद्धान्त आदि सब कुछ है। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त को आंशिक रूप में ही सत्य मानते हैं।

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त
Theory of Class War.

मार्क्सवादी विचारधारा का एक और प्रमुख आधार वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा अन्य आर्थिक सिद्धान्तों का विस्तार एवं परिणाम है। कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो के प्रथम अध्याय में वर्ग-संघर्ष के कारण, विकास आदि की व्याख्या की गयी है। इस सिद्धान्त के द्वारा मार्क्स-एंजिल्स ने यह दर्शाया है कि सम्पूर्ण मानव जाति का इतिहास वास्तव में वर्ग संघर्ष का ही इतिहास है। इतिहास में युग-परिवर्तन तथा विकास-क्रम में भौतिक तत्वों की प्रधानता के साथ साथ मार्क्स ने प्रत्येक युग में दो परस्पर विरोधी सामाजिक वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। विश्व इतिहास राष्ट्रों के युद्ध, व्यक्तियों, सेनापतियों या राजाओं के कारनामों का लेखा जोखा नहीं है। मार्क्स वर्ग-संघर्ष में मानव इतिहास को समझने की कुंजी पाता है। इतिहास के प्रमुख मोड़ तथा परिवर्तन आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के लिये विरोधी वर्गों में संघर्ष की शृंखला हैं। कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो में इस सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख किया गया है:—

38 Gray, A., The Socialist Tradition, p. 331.

'आज तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग सघर्ष का इतिहास है।

स्वतन्त्र व्यक्ति और दास, कुलीन और *जनसाधारण*, सामन्त और कृषि-दास, सघपति और श्रमिक, सूक्ष्म मे, शोषक और शोषित सदा एक दूसरे के विरोध मे खडे होकर कभी प्रत्यक्ष व कभी परोक्ष रूप से लगातार युद्ध करते रहे हैं।"[39]

उपर्युक्त शब्दो मे मार्क्स एव ऐन्जिल्स वर्ग-सघर्ष के विचारों की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक काल और देश मे समाज दो प्रमुख विरोधी वर्गों में विभक्त हो जाता है। एक तो विशेषाधिकार प्राप्त और उत्पादन के साधनो के स्वामियों का छोटा सा वर्ग, और दूसरी ओर, एक बडा सर्वहारा वर्ग। दास युग मे स्वतन्त्र *व्यक्ति एव दास, रोमन काल मे कुलीन तथा जन-साधारण, मध्य युग मे सामन्त तथा* अर्ध-दास, औद्योगिक युग मे सघपति और श्रमिक तथा पूँजीवादी युग मे पूँजीपति और श्रमिक वर्ग आदि का अस्तित्व एव सघर्ष रहा है। *यह सघर्ष प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष* रूप से चलता ही रहा है। परिणामस्वरूप या तो समाज का क्रान्तिकारी पुन निर्माण हुआ है *अथवा सघर्षरत वर्गों* का विनाश।

वर्ग-संघर्ष के सन्दर्भ मे मार्क्स-ऐन्जिल्स का मुख्य उद्देश्य पूँजीवादी व्यवस्था तथा इसके अन्तर्गत पूँजीवर्ग और श्रमिक वर्ग के संघर्ष का व्यापक विवेचन करना है। पूँजीवर्ग के विषय मे इनका कहना है कि इनके पास पूँजी, कारखाने, उद्योग आदि सब होते है। *पूँजीवर्ग के पास समाज की सम्पूर्ण पूँजी एकत्रित रहती है।* इनका ही उत्पादन के साधनों आदि पर नियन्त्रण रहता है। वह अपने को पूँजी, श्रम, लाभ आदि का स्वामी समझता है और अपनी इच्छानुसार इनका प्रयोग एव समन्वय करता है।

दूसरी ओर श्रमिक वर्ग होता है जो उत्पादन के साधनो से वचित है और एकमात्र अपने श्रम का स्वामी है। वह वस्तुओ का उत्पादन अपने लिये नही बल्कि अपने मालिकों के लिये करता है, जिन्हे बेचकर वह लाभ कमाता है। श्रमिक अपने श्रम को बेच कर आजीविका कमाता है, वह भूमिपति की भूमि पर काम करता है या पूँजीपति के कारखाने मे वस्तु-निर्माण मे सहायता देता है। जीवनयापन के लिये उसके पास अपना श्रम न्यूनतम मूल्य पर पूँजीपति के हाथ बेचने के अलावा कोई विकल्प नही रहता।

पूँजीवादी व्यवस्था मे दोनों वर्ग एक दूसरे के पूरक एव आवश्यक हैं। यदि श्रमिक न हो तो काम कौन करे और यदि पूँजीपति न हो तो काम एव मजदूरी कौन दे। किन्तु दोनों वर्गों को एक दूसरे की चाहे कितनी ही आवश्यकता क्यो न हो उनके हित परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि एक वर्ग का लाभ दूसरे वर्ग को हानि पहुचा कर ही हो

39 Marx and Engels, Manifesto of the Communist Party, pp 40–41

सकता है। पूंजीपति मजदूर को कम से कम मजदूरी देकर अधिक से अधिक काम लेकर लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। इसके विपरीत श्रमिक अपने श्रम का अधिकतम मूल्य प्राप्त करना चाहता है। इस संघर्ष में श्रमिक ही नुकसान में रहता है क्योंकि श्रम नाशवान होता है, श्रम को संग्रह करके नहीं रखा जा सकता, इसलिये या तो उसके श्रम का खरीददार मिलना चाहिये अन्यथा उदर-पोषण की समस्या प्रतिदिन सामने बनी रहती है। लेकिन पूंजीपति के सामने इस प्रकार की कठिनाई नहीं होती। वह पूंजी लगाने के लिये प्रतीक्षा कर सकता है। चूंकि पूंजी नाशवान नहीं होती इसलिये वह श्रमिकों को अपने सामने झुकने के लिये विवश कर सकता है। पूंजीपतियों के हाथों में श्रमिकों का दमन एवं शोषण होता है। इस प्रकार एक वर्ग शोषक और दूसरा शोषित हो जाता है।

कार्ल मार्क्स की यह धारणा थी कि पूंजीवर्ग और सर्वहारावर्ग में वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है तथा अन्त में पूंजीवर्ग का विनाश और सर्वहारावर्ग की विजय निश्चित है। मार्क्स पूंजीवर्ग का विनाश और वर्ग-संघर्ष के दो पक्षों पर प्रकाश डालता है। प्रथम, *पूंजीवादी व्यवस्था इस प्रकार की है कि इसमें स्वयं ही इसके पतन एवं* विघटन के तत्त्व निहित हैं। इसकी आन्तरिक दुर्बलताएं तथा कार्यप्रणाली स्वयं के विनाश की ओर अग्रसर करेगी। द्वितीय, पूंजीवादी प्रणाली किस प्रकार वर्ग-संघर्ष की ओर अग्रसर करती है तथा सर्वहारावर्ग किस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकता है।

पूंजीवादी अर्थतन्त्र के स्वयं-विघटन की व्याख्या करते हुए मार्क्स इसके विनाश कारणों पर प्रकाश डालता है जैसे—

(i) पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से होता है।
(ii) पूंजीवादी व्यवस्था स्पर्द्धा पर आधारित है परिणामस्वरूप छोटे-छोटे पूंजीपतियों का उन्मूलन हो जाता है। ये छोटे-छोटे पूंजीपति बड़े-बड़े पूंजीपतियों के विरोधी और सर्वहारा वर्ग के समर्थक हो जाते हैं।
(iii) यह बड़े-बड़े पूंजीपतियों के एकाधिकार को स्थापित करता है।
(iv) पूंजीपति अपनी पूंजी का देश विदेश में प्रसार कर अधिकाधिक लाभ और पूंजी-संचय का निरन्तर प्रयत्न करते हैं।
(v) पूंजीवादी अर्थतन्त्र में समय-समय पर आर्थिक संकट उत्पन्न होते हैं। मशीनों के प्रयोग तथा अति-उत्पादन संकट से श्रमिकों में बेकारी तथा असन्तोष फैलता है।
(vi) पूंजीपति अधिक अतिरिक्त मूल्य का सृजन कर श्रमिक का शोषण करता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

जब भी श्रमिकों को अपने शोषण का ज्ञान हो जाता है वे इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करेंगे। इस शोषण प्रक्रिया के परिणामस्वरूप श्रमिकों में वर्ग-चेतना

का प्रादुर्भाव होता है। वे अपने अधिकारों और मांगों के प्रति जागरूक होते हैं। जैसे ही उनमे यह चेतना आयेगी वैसे ही मजदूर सगठित रूप से अपनी मागे पूरी करने को प्रवृत्त होगे।

चूंकि पूंजीपति अधिक लाभ कमाने के लिए देश-विदेशों मे अपने उद्योग, कारखाने खोलते है, **पूंजीवादी व्यवस्था एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन जाती है।** इससे व्यापक रूप से श्रमिको का शोषण होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-चेतना और सगठन को प्रोत्साहन मिलता है। श्रमिकों की सख्या मे वृद्धि होती है और शोषण के परिणामस्वरूप वे अधिक सगठित होते हैं। कोकर के शब्दो मे—

> "पूंजीवादी प्रणाली मजदूरो की सख्या बढाती है, उन्हे वह सुसगठित समुदायो मे एकत्र कर देती है, उनमे वर्ग-चेतना का प्रादुर्भाव करती है, उनमे परस्पर सम्पर्क तथा सहयोग स्थापित करने के लिए विश्वव्यापी पैमाने पर साधन प्रदान करती है, उनकी क्रय-शक्ति को कम करती है, और उनका अधिकाधिक शोषण करके उन्हे संगठित प्रतिरोध करने के लिए प्रोत्साहित करती है।"[40]

श्रमिकवर्ग की चेतना और सगठन को पूंजीपति दबाने का प्रयत्न करेंगे, इससे वर्ग-चेतना आन्दोलन का रूप लेगी। श्रमिकों को सगठित होने व क्रांति का आह्वान करते हुए कम्युनिस्ट मेनोफेस्टो के अन्तिम वाक्यो मे मार्क्स एव ऐन्जिल्स ने लिखा है,-

> 'साम्यवादी अपने विचारों व लक्ष्यो को छुपाने से घृणा करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि उनके उद्देश्य तभी प्राप्त हो सकते हैं जब कि वर्तमान सामाजिक दशाओं को शक्तिपूर्वक समाप्त किया जाये। शासक वर्ग को साम्यवादी क्रान्ति के समक्ष कापने दो। सर्वहारा वर्ग को अपनी जञ्जीरो के अलावा और कुछ नही खोना है। उन्हे विश्व पर विजय पाना है। समस्त देशो के मजदूरो एक हो।"[41]

मूल्यांकन

मार्क्स-ऐन्जिल्स प्रत्येक समाज को दो वर्गों पूंजीवर्ग तथा सर्वहारावर्ग-मे विभाजित करते हैं। उनके ये विचार सही नहीं हैं। प्रथम, वर्ग-भेद उतना स्पष्ट नहीं होता जितना कि मार्क्स आदि ने माना है। प्रत्येक समाज मे कई वर्ग होते है जिनका वर्गीकरण करना भी दुष्कर रहता है। वर्गों के निर्माण और पुन निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। दूसरे, यह भी सही नहीं है कि सिर्फ आर्थिक आधार पर पूंजीवर्ग और सर्वहारावर्ग ही हो। आजकल धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक बुद्धिजीवी, कृषि आदि कई वर्ग होते हैं।

40 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 55.

41 Marx and Engels, Manifesto of the Communist Party, p 69

वर्ग-संघर्ष केवल आर्थिक वर्गों तक ही सीमित नहीं रहता है। धर्म, जाति, नस्ल के आधार पर कई संघर्ष हुए हैं। नात्सी और यहूदियों का मूलतः नस्ल सम्बन्धी संघर्ष था। अमेरिका में नीग्रो व्यक्तियों के साथ भेदभाव का कारण मुख्यतः आर्थिक नहीं है। मार्क्स की यह धारणा कि मनुष्य के सारे संघर्षों का स्रोत वर्ग-संघर्ष है, असत्य है।

वर्ग-संघर्ष के अवसर अब कम होते जा रहे हैं। आजकल अनेक समाजवादी देश वैज्ञानिक कदम उठा कर श्रमिक वर्ग की अवस्था को सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा सफल भी हुए हैं। न्यूनतम मजदूरी, श्रमिकों की आवास व्यवस्था, पेन्शन व्यवस्था, शिक्षा तथा स्वास्थ्य सुविधाएं जुटाने से श्रमिकों का शोषण तो दूर रहा उनके मन में वर्ग संघर्ष की भावना ही घर नहीं कर पाती।

आधुनिक युग में एक नवीन शक्तिशाली वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ है। यह है मध्यम वर्ग। इसी वर्ग में प्रबन्धक, कुशल कारीगर, अफसर, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि सम्मिलित हैं। मध्यम वर्ग किसी भी राज्य में बहुमत में रहता है। इसकी मनोवृत्ति भी सामान्यतः मध्यमार्गीय रहती है जो पूंजीवादी और सर्वहारावादी प्रतिवादिता का समन्वय करने का प्रयत्न करती है। इस वर्ग ने दो वर्ग सिद्धान्त को ही गलत कर दिया है तथा पूंजीवर्ग और श्रमिक वर्ग में संघर्ष के अवसर भी लगभग समाप्त कर दिये हैं।

वर्ग-संघर्ष के लिये कार्ल मार्क्स विश्व के श्रमिकों को एक होने का आह्वान करता है ताकि समूचे विश्व से पूंजीवाद को उखाड़ फेंका जाय। इस सम्बन्ध में मार्क्स राष्ट्रीय भावना के महत्त्व को बड़ा ही कम आंकता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्धों सहित कई युद्ध पूंजीवर्ग ने अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए लड़े हैं लेकिन फिर भी विश्व के श्रमिक वर्ग ने एक एवं संगठित होकर काम नहीं किया। यही नहीं मजदूरों ने अपनी-अपनी सरकारों को पूर्ण सहयोग दिया। प्रत्येक देश का व्यक्ति सामान्यतः मातृभूमि और राष्ट्रीय भावना से अधिक प्रभावित होता है न कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिकवाद से। आजकल साम्यवादी राज्यों में भी जितनी राष्ट्रीयता की प्रबल भावना है उतना अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद सहयोग नहीं। चीन, यूगोस्लाविया, उत्तरी वियतनाम के साम्यवादी अपने राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के लिये न्यौछावर नहीं कर सकते। यही नहीं, इस समय साम्यवादी राज्यों में ही संघर्ष चल रहा है। चीन तथा रूस का संघर्ष इस बात का प्रमाण है। ये विचारधारा को नहीं, राष्ट्रीय हितों को ही प्राथमिकता देते हैं।

इसके विपरीत तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में पूंजीवादी राज्य, जैसे अमेरिका तथा उग्र साम्यवादी राज्य, जैसे चीन एक दूसरे के प्रति सहयोग के लिये हाथ बढ़ा रहे हैं। इन परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूंजी-

वादी और साम्यवादी राज्यों का वर्ग-संघर्ष न तो कुछ मतलब ही रखता है और साथ ही साथ असम्भव भी होता जा रहा है।

वर्ग-संघर्ष एक खतरनाक और हानिकारक सिद्धान्त है। यह वर्ग घृणा की शिक्षा देता है। किसी भी देश के अन्दर यह राष्ट्रीय एकता एवं सुरक्षा के लिये स्थाई खतरे के रूप में अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शांति, सहयोग, भाई-चारे के मार्ग में वर्ग-संघर्ष एक बाधा है।

सर्वहारा अधिनायकत्व (Dictatorship of the proletariat)

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था को शान्ति द्वारा नष्ट करने के तुरन्त बाद ही राज्य-विहीन, वर्ग-विहीन, शोषण-रहित साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना होना असम्भव है। इसके उद्देश्य की उपलब्धि में कुछ समय लग जायेगा। **इसलिए पूँजीवाद की समाप्ति के बाद एक नई व्यवस्था की स्थापना होगी जिसे 'सर्वहारा अधिनायकत्व' कहा गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज तथा राज्य की समस्त शक्ति श्रमिकों के हाथों में आ जायेगी।** सर्वहारा वर्ग राज्य के समस्त उपकरणों, अभिकरणों तथा उत्पादन के साधनों आदि को अपने नियंत्रण में करेगा।

सर्वहारा अधिनायकत्व स्थाई नहीं किन्तु एक संक्रमणकालीन (transitional) व्यवस्था होगी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व तब तक बना रहेगा जब तक पूँजीवादी व्यवस्था के समस्त अवशेषों को समाप्त नहीं कर दिया जाता तथा साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का कार्यक्रम पूरा नहीं हो जाता। यह व्यवस्था अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए अग्रगामी होगी।

सर्वहारा अधिनायकत्व में राज्य संस्था का अस्तित्व बना रहेगा। श्रमिक वर्ग द्वारा राज्य के माध्यम से पूंजीवर्ग के अवशेषों का पूर्ण उन्मूलन किया जायेगा ताकि पूँजीवादी व्यवस्था का भविष्य में किसी भी रूप में प्रादुर्भाव न हो सके।

संक्रमणकालीन सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत केवल समाजवाद की (साम्यवाद की नहीं) स्थापना होगी जिसके अन्तर्गत—

प्रथम, उत्पादन तथा वितरण आदि के साधन सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति होंगे। इनका प्रयोग किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के हित में नहीं किन्तु सम्पूर्ण समाज के लिए किया जायेगा।

द्वितीय, उत्पादन नियोजित (planned) ढंग से होगा जिसके अन्तर्गत उत्पादन के साधन तथा मानव श्रम का योजनाबद्ध प्रयोग किया जायेगा।

तृतीय, आर्थिक जीवन प्रतियोगिता की समाप्ति तथा इसमें उत्पन्न अपव्यय का उन्मूलन किया जायेगा।

चतुर्थ, इस व्यवस्था में पूर्ण समानता या वस्तुओं का समान वितरण नहीं होगा। समाजवादी समाज 'प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार काम और प्रत्येक को उसके काम के अनुसार वेतन', सिद्धान्त पर आधारित होगा। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में इस कार्यक्रम की कुछ विस्तृत रूपरेखा दी गई है।

साम्यवादी व्यवस्था (The Communist Order)

सर्वहारा वर्ग अधिनायकत्व और समाजवादी व्यवस्था सिर्फ संक्रान्ति काल के लिए ही रहेगी। यह पूँजीवादी ढांचे के विनाश और अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था के बीच का युग रहेगा। सर्वहारा समाजवाद में अन्तगत उत्पादन शक्तियों का विकास, भौतिक परिस्थितियों तथा वातावरण म परिवर्तन के साथ-साथ समाज, राज्य, परिवार, सम्पत्ति धर्म आदि के विषय में मनुष्य के दृष्टिकोण एवं चरित्र में परिवर्तन होगा। इसके बाद मनुष्य एक नई सामाजिक अवस्था में प्रवेश करेगा। मार्क्स के अनुसार यह साम्यवादी व्यवस्था होगी। साम्यवाद ही मनुष्यों का अन्तिम उद्देश्य और समाज के विकास की अन्तिम अवस्था होगी। मार्क्स और ऐंजिल्स के अनुसार साम्यवादी व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ होंगी—

(i) राज्य का लोप (Withering away of the State)—साम्यवाद के अन्तर्गत राज्य लुप्त हो जायगा। राज्य द्वारा पूंजीवर्ग तथा भू-स्वामी वर्ग अन्य वर्गों का शोषण करते हैं। राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर दबाव डालने तथा शोषण करने का साधन रहा है। यह उच्च वर्ग की सम्पत्ति और विशेषाधिकारों की रक्षा करता रहा है। राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। किन्तु साम्यवाद में वर्ग-भेद तथा शोषण का अन्त हो जायेगा, इसलिए इस स्थिति में राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। राज्य का उन्मूलन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी वह स्वयं ही मर जायेगा।

(ii) यह वर्ग-विहीन व्यवस्था होगी। समाज में सभी वर्गों की समाप्ति हो जाएगी।

(iii) यह शोषण-विहीन व्यवस्था होगी। जब समाज में शोषण करने वाले वर्गों का विनाश होगा तब एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का अन्त स्वतः ही हो जायेगा।

(iv) परिवार, सम्पत्ति तथा धर्म का लोप—वैयक्तिक परिवार और सम्पत्ति का उदय साथ ही साथ हुआ था। साम्यवादी व्यवस्था में इनका लोप हो जायगा। परिवार की समाप्ति के साथ धर्म का भी लोप हो जायेगा। पूंजीवादी एवं मध्य-वर्गीय नैतिकता के स्थान पर सर्वहारा वर्ग की नैतिकता होगी।

(v) राज्य का स्थान एक ऐसा सामाजिक उपकरण लेगा जो उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण और उसकी व्यवस्था कर सके। साम्यवाद में समाज एवं

परिवार की भांति होगा। इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन इतना होगा कि वस्तुओं का वितरण काम के अनुसार नहीं आवश्यकता के आधार पर होगा। मार्क्स ने साम्यवादी अवस्था का चित्रण करते हुए लिखा है—

"साम्यवादी समाज की अन्तिम अवस्था में जब कि श्रमविभाजन की व्यवस्था में उत्पन्न व्यक्ति की दासतापूर्ण पराधीनता नष्ट हो जाएगी, शारीरिक परिश्रम तथा बौद्धिक परिश्रम का पारस्परिक विरोध समाप्त हो जायगा, परिश्रम जीवन का साधन ही नहीं बल्कि जीवन की उच्चतम आवश्यकता बन जायेगा। जब व्यक्ति की सभी शक्तियों के विकास के साथ-साथ उत्पादन की शक्तियों में भी तदनुरूप वृद्धि हो जायेगी और सामाजिक सम्पत्ति के स्रोत पहिले से अधिक प्रचुरता के साथ बहने लगेंगे, तब कहीं पूंजीवादी अधिकारों का सीमित दृष्टिकोण पूर्णतः नष्ट होगा और समाज अपने ध्वज पर इन शब्दों को अंकित कर सकेगा—"प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार काम, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार उपभोग की सामग्री।"[42]

मूल्यांकन—मार्क्स ने प्रारम्भ में यूटोपियायी समाजवादियों की कटु आलोचना की है। किन्तु मार्क्स की यह कोरी कल्पना है कि राज्य स्वयं ही समाप्त हो जायगा। वास्तविकता यह है कि मार्क्स जिसे संक्रमण-काल बतलाता है उसी का अन्त होना असम्भव है। आजकल साम्यवादी राज्यों में, विशेषतः क्रान्ति के आधी सदी के बाद भी रूस में, संक्रमण-युग का अन्त नजर नहीं आता।

समस्त साम्यवादी राज्यों में जिस प्रकार दिन-प्रतिदिन सत्ता का केन्द्रीकरण होता जा रहा है, जिस तरह सत्ता का अधिनायकवादी उद्देश्यों की वृद्धि के लिये उपयोग हो रहा है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में साम्यवादी राज्य निरन्तर अपनी शक्ति में अभिवृद्धि करते जा रहे हैं, इन परिस्थितियों में राज्य के शनैः शनैः लोप होने की बात सोची भी नहीं जा सकती। साम्यवादी राज्य इस मार्क्सवादी सिद्धान्त का अन्धा अनुसरण कर रहे हैं तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वे सच्चे एवं श्रद्धायुक्त प्रतीत नहीं होते। सर्वहारा अधिनायकवाद के तत्वावधान में न तो राज्य की सत्ता और शक्ति में कमी आयेगी और न राज्य की ही समाप्ति होगी। इस प्रकार जिस साम्यवादी समाज की स्थापना की बात मार्क्सवाद में कही जाती है वह स्वयं ही कोरी कल्पना है।

इस सम्बन्ध में मार्क्स मानव स्वभाव की कमजोरियों की अवहेलना करता है। शक्ति का प्राकृतिक स्वभाव है कि जो उसे प्राप्त कर लेता है वह उसे बढ़ाने और अधिक समय तक बनाये रखने का भरसक प्रयत्न करता है। सर्वहारा-वर्ग जब

42 Marx-Engels, Selected Work, vol II, p 23

सत्ता प्राप्त कर लेना है तो उसे फिर सत्ता से वंचित करना असम्भव एवं अव्यावहारिक है।

मार्क्सवाद के अन्तर्गत परिवार उन्मूलन का अनुमोदन किया गया है। परिवार की समाप्ति की बात पूर्णतः अव्यावहारिक तथा मानव स्वभाव की मूल प्रवृत्ति के विपरीत है। स्वयं मार्क्स भी एक पारिवारिक व्यक्ति थे तथा उनके जीवन में उनकी पत्नी के महत्त्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। इनके अतिरिक्त लेनिन जैसे शीर्षस्थ मार्क्सवादी-साम्यवादी व्यक्ति का अपनी पत्नी, परिवार तथा सम्बन्धियों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं श्रद्धा सर्वविदित है।

वैसे आजकल राज्य सत्ता में वृद्धि को खतरनाक भी नहीं माना जाता। राज्य मनुष्य का शत्रु नहीं वह उसका सबसे अच्छा मित्र है। साम्यवादी अगले दरवाजे से राज्य को बाहर निकालता है और पिछले दरवाजे से उसे किसी अन्य रूप में वापस ले आता है।

शक्ति-संघर्ष द्वारा विरोधी वर्गों का उन्मूलन कर जो भी व्यवस्था स्थापित की जाती है उसे शक्ति से ही कायम रखा जा सकता है। ऐसी अवस्था को प्रत्येक क्षेत्र में विरोध का आभास बना रहता है। विरोधियों का उन्मूलन करते करते राज्य का रूप धारण कर लेता है। इस कारण संक्रमण-युग की समाप्ति तथा उसके वर्ग-विहीन, सहयोगपूर्ण साम्यवादी समाज की स्थापना एक भ्रान्ति ही लगती है।

मार्क्सवाद का सामान्य मूल्यांकन

मार्क्सवाद का विश्व भर में बड़ा व्यापक विवेचन हुआ है। आधुनिक युग का कोई भी ऐसा विद्वान् एवं चिन्तक न होगा जिसने मार्क्सवाद के समर्थन या विपक्ष में कुछ टीका टिप्पणी न की हो। पिछले पृष्ठों में जब विभिन्न मार्क्सवादी सिद्धान्तों का विवरण दिया है उन्हीं स्थलों पर उन सिद्धान्तों से सम्बन्धित आलोचना का भी समावेश किया गया है। यहाँ मार्क्सवाद का सामान्य मूल्यांकन प्रस्तुत है।

पुनर्विचारवादियों या संशोधनवादियों (Revisionists) द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में मार्क्सवाद विचार एवं विवाद का प्रमुख केन्द्र बन गया। दिन-प्रतिदिन इसकी आलोचना करने वालों की संख्या में वृद्धि हो रही थी। बहुत से समाजवादियों ने यह स्वीकार किया कि मार्क्सवाद की जो आलोचना हो रही है उनमें कुछ तथ्य भी हैं। इसके अलावा परिस्थितियों में भी परिवर्तन होता जा रहा था। इन बदलती हुई परिस्थितियों के सदर्भ में मार्क्सवाद कुछ पिछड़ी हुई सी विचारधारा प्रतीत होने लगी। इसे परिस्थितियों के अनुकूल या परिस्थिति-संगत बनाना आवश्यक था। इसलिए कुछ समाजवादियों ने मार्क्सवाद पर पुनः विचार करने, उसकी त्रुटियों को दूर करने पर बल दिया। वास्तव में इसने एक छोटे मोटे आन्दोलन का रूप

धारण कर लिया। वे जो मार्क्सवाद में पुनः विचार कर संशोधन करना चाहते थे उन्हें पुनर्विचारवादी या संशोधनवादी (Revisionist) कहते हैं तथा यह आन्दोलन (या इसे विचारधारा कहने की जोखिम ली जाय) पुनर्विचारवाद या संशोधनवाद (Revisionism) कहलाता है। यूरोप के विभिन्न देशों में इस प्रकार के संशोधनवादी थे जिनमें जर्मनी के एडुअर्ड बर्न्सटीन (Eduard Bernstein, 1850-1932) प्रमुख थे। *मार्क्सवादी समर्थकों ने संशोधनवादियों को बड़ी घृणात्मक दृष्टि से देखा।* वे संशोधनवादियों की एक बड़ी सूची प्रस्तुत करते हैं। संशोधनवादियों ने मार्क्सवाद में निम्नलिखित दोषों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बतलाया कि—

(i) पूँजीवाद का अन्त निकट नहीं है। इसलिए अनिश्चित काल तक *क्रान्ति की प्रतीक्षा में बैठे रहना उचित नहीं,*

(ii) वर्ग संघर्ष में वृद्धि नहीं हुई किन्तु पूँजीवाद के विकास के साथ साथ वर्ग संघर्ष में कमी होती जा रही है,

(iii) मार्क्स के इतिहास की एक युग से दूसरे युग पर आकस्मिक छलांग की धारणा विश्वसनीय नहीं है,

(iv) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या संकीर्ण है, इतिहास निर्धारण के अन्य तत्त्व भी होते हैं,

(v) मूल्य-सिद्धान्त में सत्यता नहीं है, केवल श्रम ही मूल्य निर्धारण का तत्त्व नहीं है, तथा

(vi) उन्होंने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का भी खण्डन किया।

संशोधनवादी तत्कालीन सुधारों में विश्वास करते थे। वे मार्क्स की क्रान्ति-साधन के स्थान पर विकासवादी-जनतांत्रिक साधनों में विश्वास करते थे।

डुग्लस जे (Douglas Jay) द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

प्रसिद्ध समाजवाद-शास्त्री डुग्लस जे, जो लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रबल समर्थक हैं, ने अपनी पुस्तक—Socialism in the New Society (1970)- में मार्क्सवाद की कई स्थलों पर कटु आलोचना की है तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। डुग्लस जे के अनुसार मार्क्सवादी सिद्धान्तों में जहाँ जहाँ *त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं उसके कुछ मूल कारण थे जिनके जाल में मार्क्स उलझा* रहा। डुग्लस जे के अनुसार—

(i) मार्क्स ने विज्ञान को अपने अध्ययन का जो आधार बनाया वह उस समय शैशव अवस्था में था तथा उसने कोई प्रगति नहीं कर पाई थी।

(ii) मार्क्स दूरद्रष्टा नहीं था वह अपने युग की आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति से ही प्रभावित हुआ। इन परिस्थितयों में बाद में जैसे-जैसे परिवर्तन हुए मार्क्स के सिद्धान्त भी सत्य से दूर होते चले गये।

(iii) जिस युग में मार्क्स ने अपने विचार व्यक्त किये उस समय आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन में बड़ा असमंजस था। उसके तथ्यों एवं नैतिक अनुमान में बड़ी अस्पष्टता रही है।[43] मार्क्स पर बड़ा ही तीव्र प्रहार करते हुए डुग्लस जे लिखते हैं:—

"मार्क्स ने कई बातों को कई तरह से त्रुटिपूर्वक ग्रहण किया जिन पर इतने लम्बे समय तक विश्वास किया गया। यह कोई विशेष आश्चर्यजनक नहीं है। उनके विचार सत्य और असत्य का मिश्रण थे। यहां यह स्पष्ट करना है कि सभी बड़े धर्मों की तरह मार्क्सवाद के असाधारण अपरूपके सिद्धान्तों पर करोड़ों लोग इतने लम्बे समय तक विश्वास करते रहे।"[44]

मार्क्सवाद के अन्तर्गत धर्म की कटु आलोचना की गई है। वे धर्मविरोधी हैं तथा धार्मिक मान्यताओं पर कटु प्रहार करते हैं। यद्यपि मार्क्सवाद धर्म पर निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है पर वह स्वयं मनुष्य का एक धर्म बन जाता है। हेलोवेल लिखते हैं:—

"मार्क्सवाद सिद्धान्तः धर्म को अस्वीकार करता है पर व्यवहारतः जो तीव्र भावना मार्क्सवाद के पीछे काम करती है, उसकी प्रकृति धार्मिक ही है।"[45]

एक दूसरे स्थान पर हेलोवेल ने लिखा है कि—

"मार्क्सवाद न तो दर्शन, न आर्थिक सिद्धान्त, न आर्थिक कार्यक्रम है किन्तु धर्म के रूप में श्रमिकों को आकर्षित करता है। मार्क्स ईश्वर के बदले ऐतिहासिक आवश्यकता को, धर्म प्रिय लोगों के स्थान पर सर्वहारा वर्ग को, धर्म राज्य के स्थान पर साम्यवादी राज्य को स्थानापन्न करता है।"[46]

डा० आशीर्वादम् इसे आगे बढ़ाते हुए व्यंग लिखते हैं कि "मार्क्सवाद के अपने सिद्धान्त हैं, अपना पुरोहित वर्ग, अपने कर्मकाण्ड तथा अपने पापमोचक अनुष्ठान हैं।"[47] सर्वहारा-वर्ग तथा इसके अन्य समर्थक इसे विवेचनात्मक और तार्किक सत्यता

43. Jay, Douglas, Socialism in the New Society. p 34
44 "Marx got so many things so wrong, and that so much error has been so long believed This is not really strange, if we reflect first that there was much truth. mixed up with the errors which have had to be exposed here; that in all great religions, doctrines of extraordinary crudity have been believed by millions for very long periods"
Jay, Douglas, Socialism in the New Society, p 57
45 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 443.
46 Ibid, p 445
47 आशीर्वादम्., राजनीति शास्त्र, द्वितीय खंड, पृ. 614.

के आधार पर नहीं किन्तु एक धर्मान्ध और विश्वास के रूप में स्वीकार करते हैं। सर्वहारा-वर्ग मार्क्सवादी धर्म का बड़ा ही कट्टर अनुयायी समझा जाता है।

मार्क्सवाद की बहुत-सी धारणाएँ गलत सिद्ध हो चुकी हैं। औद्योगिक प्रगति एवं वर्ग व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए मार्क्स ने कहा था कि साम्यवादी क्रान्ति पहिले अमेरिका तथा इंग्लैंड में होगी। लेकिन इसके विपरीत सर्वप्रथम साम्यवादी क्रान्ति रूस जैसे पिछड़े देश में हुई। मार्क्स का यह कहना कि साम्यवादी क्रान्ति केवल औद्योगिक दृष्टि से विकसित राज्यों में ही सम्भव है सही नहीं रहा। रूस तथा चीन साम्यवादी क्रान्तियों के समय औद्योगिक युग में नहीं आ पाये थे; वे उस समय व्यापक रूप से कृषि युग में ही थे, लेकिन फिर भी वहाँ क्रान्तियाँ सम्भव हो सकीं। यही नहीं, साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना बिना क्रान्तियों के भी हो चुकी है। पूर्वी यूरोप में रूस द्वारा थोपी गयी साम्यवादी व्यवस्था क्रान्तियों का परिणाम नहीं है। भारत में केरल में कई बार साम्यवादी शासन की स्थापना हो चुकी है जो वर्ग-संघर्ष का नहीं मत-संघर्ष का परिणाम है। इसने यह सिद्ध कर दिया है कि साम्यवाद की स्थापना संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत भी सम्भव है। एक और अन्य उदाहरण लेटिन अमरीकी राज्य चिली का दिया जा सकता है जहाँ 1970 में बिना क्रान्ति के साम्यवादी सत्ता ग्रहण कर चुके हैं।

मार्क्स की यह भविष्यवाणी भी सही सिद्ध नहीं हुई कि निर्धन अधिक निर्धन होते जायेंगे। अमेरिका तथा अन्य पूँजीवादी राज्यों में गरीबों की हालत में काफी सुधार हुआ है। उन्हें जीवनयापन के लिये ही नहीं बल्कि सुख सुविधा योग्य वेतन मिलता है।

मार्क्स का पुन: आगमन (The second-coming of Marx)

मार्क्सवाद की जो इतनी आलोचना हुई है तथा मार्क्स के बाद सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में जो व्यापक परिवर्तन हुए हैं, बहुत से लोगों की मान्यता है कि यदि मार्क्स पुन: वापस आये तो उसे अपने सिद्धान्तों तथा निष्कर्षों में बड़े परिवर्तन एवं संशोधन करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। इस प्रकार के विचारों को व्यक्त करने का उद्देश्य केवल मार्क्सवाद की आलोचना को अधिक गम्भीरता प्रदान करना तथा उसमें संशोधन की बात को और अधिक तूल देना है। मार्क्सवाद का जो विवेचन हुआ है इस महान विचारधारा का जो भी औचित्य है वह पहले ही स्पष्ट है।

योगदान—

कार्ल मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने अपनी मार्क्सवादी विचारधारा से संसार को झकझोर दिया। मार्क्स एक विचारक, दार्शनिक तथा इन सबसे अधिक युग-प्रवर्तक थे। उनके विचारों ने राजनीतिक चिन्तन को नया मोड़ दिया। यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि

उनकी विचारधारा कहां तक सही है, किन्तु यह निर्विवाद है कि समाजवाद के सभी सम्प्रदाय मार्क्स से किसी न किसी रूप में प्रेरणा लेते हैं। आज विश्व की आधी से भी अधिक जनसंख्या मार्क्सवादी प्रभाव के अन्तर्गत है। हन्ट (R. N. Carew Hunt) के अनुसार ईसाई धर्म के अभ्युदय के पश्चात् मार्क्सवाद सबसे महान आन्दोलन था।[43]

मार्क्स ने अपने विचार कई स्रोतों से ग्रहण किए लेकिन इन सब को मार्क्स न अपना मावरण पहनाया। मार्क्स का सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान यह था कि दूसरों से उसने जो भी विचार ग्रहण किये उन्हें क्रान्तिकारी रूप प्रदान किया।

मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है। समाजवाद को वैज्ञानिक आधार प्रदान करना मार्क्स-ऐंजिल्स का महत्वपूर्ण योगदान है। मार्क्स के पूर्व समाजवाद का विवेचन करने वाले दार्शनिकों ने कपोल-कल्पित धारणाओं के आधार पर युटोपियायी आदर्श गढ़ लिए। किन्तु मार्क्स का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। उसने ऐतिहासिक तथा आर्थिक अध्ययन के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। उसने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उन्हें क्रमबद्ध ढंग से सम्बद्ध कर कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित कर अपने विचारों को दर्शन का रूप प्रदान किया।

मार्क्सवाद की अन्य प्रमुख देन या जिनने व्यक्तियों को प्रभावित और आकर्षित किया निम्नलिखित हैं—

(i) इस विचारधारा ने पूंजीवाद के दोषों को विश्व के समक्ष रखा।

(ii) उन्होंने समाजवाद को श्रमिक आन्दोलन का रूप दिया।

(iii) मार्क्स-ऐंजिल्स ने निम्न-वर्ग को समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया। मार्क्स के पहले कोई भी ऐसा विचारक नहीं हुआ जिसने समाज के पद-दलित एवं शोषित-वर्ग को इतना महत्व दिया हो। मार्क्स पहिला व्यक्ति था जिसने श्रमिक-वर्ग को समाज का आधार स्वीकार किया।

(iv) मार्क्सवाद ने यह सिद्ध कर दिया कि समाज सुधार उच्च वर्ग की देन नहीं, वे क्रान्ति द्वारा सर्वहारा-वर्ग द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं।

(v) उन्होंने मनुष्य के ईश्वरीय प्रभु होने का खण्डन कर यह बतलाया कि मनुष्य पृथ्वी का है, इस लोक का जीवन ही उसके लिए सब कुछ है।

मार्क्सवाद के अध्ययन को एन्ड्रयू हेकर के शब्दों में समाप्त करना अधिक उपयुक्त लगता है। हेकर ने लिखा है :—

"मार्क्सवादी सिद्धान्त जब तक साम्यवादी विचारधारा को आधार प्रदान करता है मनुष्यों के दिल और दिमागों में भावनाएं उभारता रहेगा। यदि आधा विश्व मार्क्स तथा ऐंजिल्स के विचारों को सीने से लगाए हुए है तथा आधा विश्व इसके

43. Hunt, R. N. Carew : The Theory and Practice of Communism, p. 3.

ग्रस्तित्व मे ही घृणा करता है इसमे दोनो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि कम से कम ये सिद्धान्तकार जो कुछ कहना चाहते हैं उसे समझें।"[49]

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Cole, G.D H., A History of Socialist Thought, Vol. II, Socialist Thought: Marxism and Anarchism. Chapter XI, Marx and Engels.
2. Engels, F., Socialism : Utopian and Scientific.
3. Gray, Alexander., The Socialist Tradition, Chapter XII, Scientific Socialism.
4 Hacker, Andrew., Political Theory., Chapter 13, Karl Marx and Friedrich Engels.
5. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought *Chapter 12, Karl Marx and Rise of* 'Scientific Socialism'.
6. Hunt, R N. Carew, The Theory and Practice of Communism-An Introduction, Part I, The Marxist Basis.
7 Jay, Douglas, Socialism in the New Society, Part I, Ch. 4, Where Marx Went Wrong. *Ch 5, Marxist and the Second Coming.*
8. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका अध्याय 5, साम्यवाद तथा अराजकतावाद
9 Kilzer and Ross., Western Social Thought, *Chapter 15, Marx and 'Scientific. Socialism.*
10. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 2, कार्ल मार्क्स
11. Laski, H. J., Karl Marx : An Essay, London, 1922.
12 Marx and Engels, Manifesto of the Communist Party, Moscow, 1967.
13. Mayo, Henry B., Introduction to Marxist Theory.
14. Sabine, G. H , A History of Political Theory , Chapter 33, Marx and Dialectical Materialism
15. Taylor, A.J P., Introduction to the Manifesto of the Communist Party.

49 Hacker, Andrew , Political Theory, p. 570.

4

अराजकतावाद

ANARCHISM

राज्य-रहित समाजवादी व्यवस्था

आधुनिक अराजकतावाद अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा उन्नीसवीं शताब्दी की विचारधारा है। 'अराजकता' शब्द का उद्भव एक ग्रीक शब्द 'अनारकिया' (Anarchia) से हुआ है जिसका अर्थ 'शासन का अभाव' है। इस प्रकार शाब्दिक आधार पर अराजकतावाद ऐसी विचारधारा की ओर संकेत करता है जो राज्य एवं शासन का उन्मूलन कर उसके स्थान पर राज्य-विहीन एवं वर्ग-विहीन समाज (Stateless and Classless Society) की व्यवस्था करता है, जिसमें सभी प्रकार के शोषण का अन्त और दल प्रणाली का लोप हो।

कोल (G.D.H. Cole) ने अराजकतावाद को परिभाषित करते हुए लिखा है:—

> "एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में अराजकतावाद समाज के संगठन के उन सब रूपों के पूर्ण विरोध से आरम्भ होता है जो बाध्यकारी सत्ता पर आधारित होते हैं। एक आदर्श के रूप में अराजकतावाद का अभिप्राय उस स्वतन्त्र समाज से है जिसमें से बाध्यकारी तत्वों का लोप हो चुका हो।"[1]

फ्रान्सिस कोकर के शब्दों में:—

> "अराजकतावाद का सिद्धान्त यह है कि राजनीतिक सत्ता, किसी भी रूप में, अनावश्यक एवं अवांछनीय है। आधुनिक अराजकतावाद में राज्य के सैद्धान्तिक विरोध के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति की संस्था का विरोध और संगठित धार्मिक संस्था के प्रति शत्रुता का भी समावेश है।"[2]

प्रसिद्ध अराजकतावादी क्रोपाट्किन (Peter kropotkin) ने अराजकतावाद की व्याख्या करते हुए लिखा है.—

---

1 "Anarchism as a philosophic doctrine sets out from a root and-branch opposition to all forms of society which rest on the basis of coercive authority. Anarchism, as an ideal, means a free society from which the coercive elements have disappeared"
Cole, G D. H, Marxism and Anarchism, p 337

2 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 202.

"अराजकतावाद जीवन तथा आचरण का ऐसा सिद्धान्त अथवा नियम है जिसमें शासन-विहीन समाज की कल्पना की जाती है—ऐसे समाज में सामंजस्य न तो विधि के समक्ष आत्म-समर्पण कर और न किसी अन्य शक्ति की आज्ञा पालन कर प्राप्त किया जाता है, अपितु वह उन विभिन्न प्रादेशिक और व्यावसायिक समूहों के मध्य किये गये स्वतन्त्र संविदाओं द्वारा प्राप्त किया जाता है, जिनकी रचना स्वतन्त्र रूप से उत्पादन और उपभोग के लिए, तथा सभ्य जीवन की अनन्त इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जाती है।"[3]

विकास एवं परम्परा

यदि राज्य-विहीन, वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन, शक्ति-विहीन विचारों का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाए तो आधुनिक अराजकतावाद अपने आप में कोई नवीन विचारधारा नहीं है। चीन में लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व एक विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे टाओवाद (Taoism) कहते हैं। इस विचारधारा को नियन्त्रण या प्रतिबन्ध विरोधी तथा स्वतन्त्रता समर्थन की सबसे पुरानी विचारधारा माना जाता है। प्राचीन चीन में कई विचारधाराओं में इस प्रकार के विचार मिलते हैं। लगभग ईसा के छः सौ वर्ष पूर्व लाओत्से (Laotse) और लगभग ईसा के 300 वर्ष पूर्व चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक च्वाग-त्सु (Chuang-tzu) ने कहा था कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य पर शासन करना मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। प्राचीन ग्रीक में स्टाइक विचारधारा (Stoicism) के अग्रणीय जेनो (Zeno) ने भी एक राज्य-विहीन समाज का प्रतिपादन किया था।

पाश्चात्य विद्वानों ने अक्सर यह मत व्यक्त किया है कि पूर्व के देशों में राजनीतिक दर्शन का अभाव रहा है। इसका वास्तविक कारण यह था कि पूर्व की विचारधाराओं में राज्य का कम तथा स्वतन्त्रता का अधिक महत्त्व रहा है। प्राचीन भारत में इस प्रकार की विचारधारा का प्रचलन था। शान्ति पर्व में उल्लेख है कि प्राचीन समाज गुण (virtue) और स्वतन्त्रता (freedom) का आदर्श था। इसी ग्रंथ में एक स्थल पर उद्धृत है कि—

"न तो राज्य था और न राजा ही, न विधि था न विधान निर्माता। व्यक्ति अपनी आन्तरिक चेतना के कर्त्तव्य से एक दूसरे की रक्षा करते थे।[4]

---

3 उद्धृत, जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 103–104.

4 There was neither a state nor a king, neither the penal law (danda) nor the law giver. The people protected one another according to their inner sense of duty (Dharm)"
Shanti Parva, 58 84

मध्य युग में ईसाई सम्प्रदायों में भी अराजकतावाद की अभिव्यक्ति मिलती है। धर्म सुधार (Reformation) युग में पीटर शेलेस्की ने चर्च और राज्य के विरुद्ध में अराजकतावादी सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए राज्य को एक शक्ति पर आधारित संस्था मान कर उसकी निन्दा की है। पुनर्जागरण (Renaissance) युग में मानववादियों (Humanists) में रेबले (Rebelais) ने भी इस आदर्श जीवन का वर्णन किया है जिसमें शक्ति एवं सत्ता का कोई नियन्त्रण या प्रतिबन्ध न हो। अट्ठारहवीं शताब्दी के साहित्य-विश्व में, दीदरो (Diderot) साहित्यकार का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और प्राकृतिक अधिकारों को विशेष महत्त्व दिया है।

कुछ आधुनिक अराजकतावादियों ने अपने विचारों का प्रतिपादन कार्ल मार्क्स से भी पहले किया है। लेकिन इस विचारधारा को आधुनिकता की ओर ले जाने में मार्क्सवादी विचारधारा ने विशेष प्रोत्साहन दिया। अराजकतावाद को भी समाजवाद की एक अलग और विशिष्ट शाखा के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। इस विचारधारा को आधुनिक ढंग से प्रतिपादित, व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध करने का श्रेय कई चिन्तकों को है।

अराजकतावाद के प्रतिपादकों को मोटे रूप से दो शाखाओं में विभाजित किया जाता है। प्रथम, व्यक्तिवादी अराजकतावादी, जो राज्य का ही विरोध नहीं करते, यथा-सम्भव हर प्रकार के सामाजिक संगठन के बिना काम चलाना चाहते हैं। इसके अन्तर्गत जर्मनी के मैक्स स्टर्नर (Max Stirner, 1806–1856) तथा अमेरिका के बेन्जमिन टकर (Benjamin Tucker, 1854-1908) के नाम उल्लेखनीय हैं।

दूसरी श्रेणी में समष्टिवादी अराजकतावादी अथवा अराजकतावादी साम्यवादी आते हैं जो बाध्यकारी सत्ता का विरोध करते हैं किन्तु पारस्परिक सहयोग के आधार पर समाज व्यवस्था में विश्वास करते हैं। बाकुनिन (Bakunin, 1814-76) तथा पीटर क्रोपाटकिन (Petor Kropotkin, 1842-1921), के नाम इनसे सम्बन्धित हैं। लेकिन कुछ अराजकतावादी जैसे गॉडविन (William Godwin, 1756-1836), प्रूधों (Prouthon, 1809-1865) आदि व्यक्तिवादी और समष्टिवादी अराजकतावादियों के मध्य की स्थिति अपनाते हैं।

विलियम गॉडविन (William Godwin, 1756-1836), जो कि एक काल्विन पंथी पादरी के पुत्र और स्वयं पादरी थे को प्रथम आधुनिक अराजकतावादी कहा जाता है। इन्होंने अपनी पुस्तक—An Enquiry Concerning Political Justice and its Influence on General Welfare and Happiness—में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है कि यदि पूँजीवाद और मनुष्य के शोषण का अन्त कर दिया जावे तो मनुष्य आपस में प्रेम से रहेंगे, क्योंकि मनुष्य स्वभाव

में विवेकशील है। उनके अनुसार राजनीतिक शक्ति अथवा सरकार एक आवश्यक बुराई है। यह शक्ति और हिंसा पर आधारित है। गॉडविन ने राज्य, सरकार, कानूनों न्यायालयों, सम्पत्ति और परिवार के उन्मूलन का समर्थन किया है।

गॉडविन ने सम्पत्ति को बहुत सी सामाजिक और नैतिक बुराइयों का मूल माना है, जो समाज में आर्थिक विषमता पैदा करती है। सम्पत्ति धनिकों में मिथ्याभिमान और गरीबों में हीनता की भावना को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार गॉडविन ने कई सामाजिक और राजनीतिक बुराइयों की कटु निन्दा कर उनका उन्मूलन चाहा है। किन्तु इसका उद्देश्य एक ऐसी उच्च सामाजिक रचना था जिसमें विभिन्न समुदाय स्वायत्त हों।[5]

टॉमस हॉजस्किन (Thomas Hodgskin, 1787-1869) को व्यक्तिवादी अराजकतावादी की श्रेणी में सम्मिलित करते हैं। वैसे इनका अराजकतावादी होना सदिग्ध है। ये राज्यसत्ता के तीव्र आलोचक थे। उनके अनुसार कानून निर्माण की समाज में कोई आवश्यकता नहीं है। वे ऐसी व्यवस्था के समर्थक थे जिसमें कोई राजनीतिक शक्ति विद्यमान न हो तथा व्यक्तियों को स्वाभाविक अधिकार प्राप्त हों।

हॉजस्किन का विश्वास था कि "अखिल ब्रह्माण्ड का नियमन स्थाई एवं अपरिवर्तनीय नियमों द्वारा होता है। मानव इस महान व्यवस्था का ही एक अंग मात्र है। अतः प्रति पल, प्रति क्षण उसका आचरण स्थाई तथा अपरिवर्तनीय नियमों द्वारा उसी प्रकार प्रभावित, नियन्त्रित तथा नियमित है जिस प्रकार वनस्पति का बढ़ना अथवा नक्षत्र-मण्डल की गति नियमित और नियन्त्रित है। फलतः किसी प्रकार के नियोजन अथवा व्यवस्थापन की कोई आवश्यकता नहीं। यदि व्यक्ति को बन्धन मुक्त छोड़ दिया जाय तो आत्म-हित का पूर्व प्रतिष्ठित सामञ्जस्य प्राप्त हो जाता है।"[6]

मैक्स स्टर्नर (Max Stirner, 1806-1856) जर्मनी के रहने वाले थे। इनकी न तो ईश्वर में श्रद्धा थी, न राज्य में विश्वास। ये राज्य द्वारा निर्मित नियमों के विरोधी थे। ये एक दार्शनिक की तरह स्वयं की वास्तविकता में विश्वास करते थे।

जोसेफ प्रोधों (Pierre Joseph Proudhon, 1809–1865) सम्भवतः पहला दार्शनिक था जिसने स्वयं को अराजकतावादी कहा। प्रोधों स्वतन्त्रता तथा मुक्ति का प्रबल समर्थक तथा शोषण का विरोधी था। इसके विचार में "मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर शासन प्रत्येक रूप में अत्याचार है। समाज की सर्वोच्च पूर्णता अराजकतावादी एकता एवं व्यवस्था में ही उपलब्ध होती है।"

5. Gray, A., The Socialist Tradition p 130
6 कोकर., आधुनिक राजनीति चिन्तन, पृ० 208.

प्रधों ने जनता बैंक (Bank of the People) के सम्बन्ध में एक योजना प्रस्तुत की, जिसका कार्य 'श्रम नोट' (Labour Notes) जारी करना था। इन नोटों में श्रम की इकाइयों का उल्लेख रहता था जिनकी माप उनकी अवधि अथवा कार्य काल से ज्ञात हो सकती थी।

प्रधों के अराजकतावादी विचारों में भी सम्पत्ति को कोई स्थान नहीं है, वह सम्पत्ति को चोरी कहता था तथा उसे शोषण से उत्पन्न मानता था। सम्पत्तिवान व्यक्ति अन्यायपूर्वक सम्पत्ति का अर्जन करते हैं जिससे श्रमिकों का शोषण होता है। राज्य इन्हीं सम्पत्तिवान व्यक्तियों के हित साधन का यन्त्र है। प्रधों ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहता है जिसमें व्यक्ति सब प्रकार के राजनीतिक तथा आर्थिक बन्धनों से मुक्त होकर सहयोग तथा ऐच्छिक संघों के द्वारा सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का प्रबन्ध करें।

अराजकतावाद को क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन तथा विचारधारा का रूप प्रदान करने का श्रेय बाकुनिन तथा पीटर क्रोपॉट्किन को है।

माइकल बाकुनिन (Michael Bakunin, 1814–76) के जीवनकाल में मार्क्सवादी विचारधारा का काफी प्रचार हो चुका था और वह इस विचारधारा से किसी सीमा तक प्रभावित हुआ। बाकुनिन मानव विकास-क्रम का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है तथा यह बतलाता है कि प्रारम्भ काल से धर्म, सम्पत्ति और राज्य का अभ्युदय किस प्रकार हुआ। उसने धर्म, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा राज्य को मनुष्य के स्वतन्त्र विकास मार्ग में बाधक माना है। धर्म मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना के मार्ग में बाधक है तथा स्वतन्त्रता को नियमित एवं सीमित रखता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति शोषण तथा असमानता पर आधारित है राज्य। शक्ति का प्रतीक और व्यक्तिगत सम्पत्ति का संरक्षक होने के नाते वर्ग संगठन का पोषक है। इन तीनों संस्थाओं का क्रान्ति द्वारा ही अन्त किया जा सकता है। इनकी समाप्ति के पश्चात् ही मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव तथा स्वयं का विकास कर सकता है।

बाकुनिन ने राज्य की समाप्ति के पश्चात् भविष्य में सामाजिक व्यवस्था के विषय में भी विचार व्यक्त किये हैं। उसने अपनी नई समाज व्यवस्था को संघवाद का नाम दिया। संघवाद में सारा कार्य स्वेच्छा पर आधारित होगा तथा व्यक्ति को किसी भी प्रकार से नियन्त्रित नहीं रखा जायगा। कोकर ने बाकुनिन के संघवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

"स्थानीय समाज सामूहिक जीवन की प्रारम्भिक इकाई होगा। (इस प्रकार के समाज को अराजकतावादी भाषा में कम्यून कहते हैं)

अनेक कम्यून मिलकर अपनी आवश्यकतानुसार बड़े बड़े संघ बना लेंगे। ये संघ भी पूर्णत: ऐच्छिक आधार पर ही बनेंगे।" 7

पीटर क्रोपॉट्किन (Peter Alexander Kropotkin, 1842-1921) के विचार बाकुनिन से बहुत मिलते जुलते हैं। वह जीवशास्त्र का विद्वान था। अत: मानव विकास क्रम की जीवशास्त्रीय विधि से विवेचना करता है। उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव एवं समाज में वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जिससे मनुष्य का विकास प्राकृतिक ढंग से हो सकता है। परन्तु राज्य, धर्म तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति इस विकास में बाधक है। ये संस्थाएँ अन्याय, असमानता तथा शोषण की प्रवृत्ति को जन्म देती हैं इनका शांति द्वारा उन्मूलन होना चाहिये।

राज्य की समाप्ति के बाद क्रोपॉट्किन का विश्वास था कि समाज में स्वतंत्र संस्थाएँ बनी रहेगी जो ऐच्छिक समझौतों पर आधारित होंगी। समाज में बुराइयाँ, झगड़े आदि में बिलकुल ही कमी हो जायेगी क्योंकि इनको प्रोत्साहित करने वाली संस्थाएं ही समाप्त हो जायेंगी। मानव विकास में सहचर्य तत्त्व ही प्रमुख होगा न कि दमन, शक्ति और सत्ता।

वारेन (Josiah Warren, 1798-1874) को पहला अमरीकी अराजकतावादी कहा जाता है। अमेरिका में सर्वप्रथम अराजकतावादी पत्र-Peaceful Revolutionist (शान्तिवादी क्रान्तिकारी)—के प्रकाशन का श्रेय वारेन को है। कुछ समय ये ओवन के अनुयायियों की बस्ती न्यू हार्मनी में भी रहे। बाद में इन्होंने प्रधों की तरह जनता बैंक की स्थापना की जहाँ ये श्रम-नोटों को जारी करते थे। ये श्रम नोट वस्तुओं के विनिमय के काम में आते थे।

ये राज्य की आवश्यकता में विश्वास नहीं करते थे। ये राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा दमनकारी प्रवृत्तियों का परिणाम मानते थे। राज्य-विहीन समाज की व्यवस्था के लिए इनका सुझाव था कि एक छोटी विशेषज्ञों की समिति थोड़े समझाने बुझाने के कार्यों के लिए पर्याप्त होगी।

हेनरी डेविड थोरो—(Henry David Thoreau, 1817–1862) एक और अमरीकी अराजकतावादी थे। ये मानते थे कि मनुष्य में अच्छाई की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति स्वतन्त्र तथा विवेक-सम्पन्न इच्छा के निर्देशन में ही पूर्णता प्राप्त कर सकती है। ये अन्तरात्मा को कानून से श्रेष्ठ एवं सर्वोच्च मानते थे।

डेविड थोरो ने दासता के विरुद्ध किये जाने वाले संघर्ष में अमरीकी सरकार के विरुद्ध सक्रिय एवं निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करने का आग्रह किया। इन्होंने भविष्य के लिए एक ऐसे समाज के आदर्श को प्रस्तुत किया जिसमें शासन को कोई स्थान नहीं होगा।

7 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 217.

बेन्जमिन टकर (Benjamin R Tucker, 1854-1939) अमेरिका के प्रसिद्ध अराजकतावादी थे। ये प्रूधों, ग्रीन तथा वारेन आदि से प्रभावित हुए। 1881 में टकर ने एक अर्ध-साप्ताहिक पत्र – Liberty–का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 1907 तक इस पत्र का प्रकाशन चलता रहा तथा दार्शनिक अराजकतावाद के निरूपण के सम्बन्ध में अच्छी ख्याति प्राप्त की।

टकर के विचारों का आधार मनुष्य का विवेकपूर्ण आत्महित है। यह आत्म-हित मनुष्य को ऐसे समाज की ओर अग्रसर करता है जिसमें सब मनुष्य समान रूप से स्वतन्त्र हों। स्वतन्त्रता ही व्यवस्था का प्रभावकारी साधन है और इसी में सुख का मूल तत्व भी है। टकर समाज में राजनीतिक सत्ता के निष्कासन के पक्ष में है, क्योंकि राज्य ने हमेशा ही स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का उल्लंघन किया है। राज्य को स्वीकार करने का तात्पर्य स्वतन्त्रता के हनन को स्वीकार करना है। टकर राज्य के स्थान पर व्यक्तियों के स्वतन्त्र समझौतों द्वारा निर्मित संस्थाओं के पक्ष में थे। इन संस्थाओं की सदस्यता तथा त्याग मनुष्य की स्वेच्छा पर निर्भर होना चाहिए।

बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन के सिद्धान्तों का प्रचार योरोप के मजदूरों में अनेक पत्र पत्रिकाओं द्वारा किया गया तथा अनेकों क्लबों की स्थापनाएँ हुईं। जॉन मोस्ट (Johann Most) ने जर्मनी और संयुक्त राज्य में अराजकतावाद के लिए व्यावहारिक प्रवृत्तियों का संगठन किया लेकिन इनको विशेष सफलता नहीं मिल सकी। विंशताब्दी रूस में अराजकतावाद के व्यावहारिक कार्यक्रम को सबसे अधिक प्रोत्साहन कुछ रूसी शून्यवादियों (Nihilists) से मिला। शून्यवाद अराजकता-वाद से अधिक व्यापक शब्द है, इससे अधिक उग्रवादी निषेधों का बोध होता है। यह समस्त प्रचलित एवं प्रतिष्ठित विचारों, संस्थाओं एवं मानदण्डों को अस्वीकार करता है। शून्यवाद के राजनैतिक पहलू सरगी नेतशेव (Sergei Netschaive 1848–1882) के विचारों में स्पष्ट मिलते हैं। शून्यवाद क्रान्ति हिंसा, भय आदि उत्पन्न करने वाले सभी कार्य-क्रमों का समर्थन करता है।

स्पेन में भी एक नये अराजकतावादी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे अराजकता-सिन्डीकलवाद के नाम से जाना जाता था। यह अराजकतावादी सिद्धान्तों तथा सिन्डीकलवादी साधनों का सम्मिश्रण है।

वैसे अराजकतावादियों की सूची बड़ी लम्बी है। लेकिन इस सम्बन्ध में लियो टॉल्स्टॉय (Count Leo Tolstoi, 1828-1910) तथा महात्मा गांधी (1869-1948) के नाम का उल्लेख और किया जा सकता है। ये सत्ता के विरोधी थे। टॉल्स्टॉय को सामान्यतः अराजकतावादी माना जाता है, किन्तु महात्मा गांधी को पूर्णतः इस वाद के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता। महात्मा गांधी तथा सर्वोदयी व्याख्याता, सत्ता विरोधी, शासन को सीमित करने, विकेन्द्रीकरण तथा स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक हैं।

अराजकतावाद के सिद्धान्त-सूत्र

अराजकतावादी चिन्तकों का अध्ययन करने से इस विचारधारा के बहुत कुछ लक्षण स्वयं ही स्पष्ट हो जाते हैं। फिर भी उन्हें विस्तारपूर्वक एवं क्रमबद्ध व्यवस्थित करने की आवश्यकता है।

मानव स्वभाव

अराजकतावादी मनुष्य को स्वभावतः अच्छा, सहयोग प्रिय मानते हैं। वह एक दूसरे के साथ निःस्वार्थ सहचर जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति रखता है। हेनरी डेविड थोरो ने ट्रान्सेडेन्टलिस्ट (Transcendentalist) वर्ग के लोगों के इन विचारों का अनुकरण किया है कि मनुष्य में अच्छाई की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है और वह अपनी स्वतन्त्र एवं विवेक-सम्पन्न इच्छा के निर्देशन में परिपूर्णता प्राप्त कर सकता है।[8]

अराजकतावादियों के अनुसार सामाजिकता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। क्रोपॉट्किन की पुस्तक--Mutual Aid, a Factor of Evolution—मनुष्य की पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्तियों का ही संकलन है। इसमें उसमें डार्विन तथा हरबर्ट स्पेंसर के विकासवाद का खण्डन किया है। विकास, संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा पर नहीं, बल्कि पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। बाकुनिन ने मानव स्वभाव के विषय में सामाजिक समझौतों के सिद्धान्त की भी आलोचना की है जिसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों में कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं था।

वास्तव में अराजकतावादियों की पूर्ण विचारधारा का आधार मानव स्वभाव पर निर्भर करता है। एक राज्य विहीन, वर्ग विहीन, शोषण विहीन समाज की स्थापना तभी हो सकती है, जब मनुष्य में अच्छाई तथा पारस्परिक सहयोग की भावना हो।

उद्देश्य नवीन सामाजिक व्यवस्था - नकारात्मक एवं सकारात्मक दृष्टिकोण

अराजकतावादी नकारात्मक एवं सकारात्मक आधार पर एक नये समाज की स्थापना करना चाहते हैं। नकारात्मक ढंग से यह व्यवस्था राज्य विहीन तथा वर्ग-विहीन होगी, या समाज में उन सभी तत्वों और संस्थाओं (जैसे धर्म, परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति आदि) का उन्मूलन कर दिया जाये जो नियन्त्रण, शक्ति और शोषण के आधार हैं तथा इनको प्रोत्साहित करते हैं।

किन्तु अराजकतावाद केवल शक्ति का अभाव है, व्यवस्था का नहीं। उनके विचार सकारात्मक भी हैं। अराजकतावादी मनुष्य स्वभाव के अनुकूल समाज रचना करना चाहते हैं। इसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना शासन होगा तथा स्वाभाविक मानवीय

---

8 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 207.

प्रवृत्तियों के आधार पर स्वयं को नियन्त्रित करेगा। मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं अस्थाई (ad hoc) एवं ऐच्छिक समुदायों का निर्माण करेंगे। इन समुदायों पर किसी भी प्रकार का बाह्य नियन्त्रण नहीं होगा तथा सहकारिता के आधार पर अपने कार्यक्रम और नीति निर्धारण करेंगे। डिकिन्सन ने लिखा है कि समुदायों का एक जटिल जाल जिसमें सर्वत्र व्यवस्था रहती है, और कहीं भी बल प्रयोग नहीं होता, अराजकतावादी समाज के निर्माण की सामग्री है क्योंकि अराजकता व्यवस्था का अभाव नहीं अपितु नियन्त्रण का अभाव है।9

सूक्ष्म में, अराजकतावादी समाज निम्नलिखित सिद्धान्तों एवं आधारों पर गठित होगा—

(i) राज्य-विहीनता
(ii) वर्ग-विहीनता
(iii) शक्ति-विहीन या बल प्रयोग रहित
(iv) स्वतन्त्रता
(v) समानता
(vi) सहयोग और सहकारिता के आधार पर ऐच्छिक और अस्थाई समुदायों का निर्माण।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थन में अराजकतावादी व्यक्तिवादियों से भी आगे हैं। इस दृष्टि से अराजकतावाद व्यक्तिवाद का उग्र रूप है। ये स्वतन्त्रता को सर्वोच्च अच्छाई (supreme good) मानते हैं। व्यक्ति का पूर्ण विकास स्वतन्त्रता में निहित है तथा किसी भी प्रकार का नियन्त्रण अवाञ्छनीय है। अपनी पुस्तक—What is Property– में प्रूधो ने लिखा है:—

> 'राजनीति स्वतन्त्रता का विज्ञान है। मनुष्य पर मनुष्य द्वारा शासन (किसी भी नाम अथवा वेश में) अत्याचार है। व्यवस्था एवं अराजकता के समन्वय में समाज अपनी पूर्णता प्राप्त करता है।'' 10

व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार की सत्ता एवं नियन्त्रण से मुक्त करना अराजकतावादियों का प्रमुख उद्देश्य है। विशेषतः वे व्यक्ति को—

(i) नागरिक के रूप में राज्य-बन्धन से मुक्त कराना,
(ii) एक उत्पादक की हैसियत से पूँजीपति के बन्धन से मुक्त कराना;

9. Dickinson, Lowes, Justice and Liberty, pp 122—23

10 "Politics is the science of liberty. The government of man by man (under whatever name it be disguised) is oppresion. Society finds its highest perfection in the union of order with anarchy." p 272

(iii) एक सामान्य मनुष्य के रूप में धर्म-विद्वानों (या आडम्बरवादियों) से मुक्त रखना चाहते हैं।[11]

व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध

व्यक्तिगत सम्पत्ति के विषय में अराजकतावाद एवं साम्यवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ये व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करते हैं क्योंकि—

(i) साम्यवादियों की तरह अराजकतावादी सम्पत्ति को शोषण तथा असमानता का प्रमुख कारण मानते हैं। तभी तो प्रधों ने कहा है कि 'सम्पत्ति चोरी है।' वे व्यक्ति जिनके पास कुछ सम्पत्ति है वे विलासपूर्ण, अकर्मण्य जीवन व्यतीत करने के साथ-साथ उनमें श्रेष्ठता की भावना तथा दूसरे पर अधिकार करने की इच्छा प्रबल होती है। *सम्पत्ति शोषण का साधन एवं उद्देश्य दोनों ही है।* सम्पत्ति का संचय शोषण के माध्यम से ही होता है, वे और अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए दूसरों का शोषण करते हैं।

(ii) व्यक्तिगत सम्पत्ति स्वतन्त्र प्रतियोगिता सिद्धान्त पर आधारित रहती है और सहयोग एवं सद्भाव की उपेक्षा करती है।

(iii) अराजकतावादियों के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था का मूल आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करने के साथ-साथ पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के भी कट्टर विरोधी थे। उनके विचार में उत्पादन किसी एक व्यक्ति के श्रम का परिणाम नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण समाज के श्रम का फल है। अतः सम्पत्ति पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व अन्याय है, परिश्रम का फल सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होना चाहिए। अराजकतावादी उस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करे और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार लाभ मिले।

(iv) सम्पत्ति विषमता इतिहास में बहुत से युद्धों का कारण रही है। गॉडविन ने अपनी पुस्तक—An Enquiry Concerning Political Justice—में यूरोप में हुए युद्धों का विवेचन किया है। उसका निष्कर्ष है कि इन युद्धों का मूल कारण सम्पत्ति में विषमता था। (पृ. 813)

(v) व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर समाज दो भागों में विभाजित हो जाता है। प्रथम, सुख-भोगी वर्ग जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है, अन्याय तथा श्रमिकों का शोषण करके निरन्तर अपनी पूँजी में वृद्धि करते हैं। इनका जीवन सामान्यतः स्वार्थी अनैतिक तथा विलासी होता है। दूसरे वर्ग में श्रमिक आते हैं, जिनका उत्पादन में प्रमुख योगदान रहता है, *लेकिन फिर भी भूखा, वस्त्रहीन तथा*

11 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 105.

भावनाहीन रहता है। इस प्रकार अराजकतावादी सम्पत्ति को आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय का स्रोत मानते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करना इनका मुख्य उद्देश्य है।

धर्म का विरोध

अराजकतावादी धर्म विरोधी हैं। इनके अनुसार धर्म मनुष्य को अकर्मण्य अन्धविश्वासी एवं भाग्यवादी बना देता है। धर्म के आधार पर मनुष्य में कायरता आ जाती है और वह सामाजिक अन्याय को सहन करने लगता है। समय-समय पर शासक वर्ग ने भी धर्म के नाम पर जनता का शोषण किया है। धर्म अन्यायपूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था की पुष्टि करने में शासक वर्ग का सहायक होता है। गॉडविन के अनुसार व्यवस्था और स्वतन्त्रता के दो ही शत्रु हैं, प्रथम राज्य, तथा द्वितीय ईश्वर।[12]

प्रूधों ने चर्च को न्याय का शत्रु कहा है। उसे ईश्वर में नहीं मानवता में विश्वास था। प्रूधों ने अपनी पुस्तक–System of Economic Contradiction–में ईश्वर धर्म और नैतिकता पर एक व्यापक अध्याय लिखा है। इसमें प्रूधों ने लिखा है कि—

"ईश्वर में विश्वास करना बेवकूफी और कायरता है, ईश्वर ढोंग एवं झूठ है, ईश्वर अत्याचार और विपत्ति है, ईश्वर अशुभ है।"[13]

अराजकतावादियों के राज्य सम्बन्धी विचार

राज्य समाज में अन्याय के समस्त कारणों जैसे सम्पत्ति, धर्म, पूंजीवादी व्यवस्था, नियन्त्रण, शक्ति आदि को आश्रय देने वाली प्रमुख संस्था है। अराजकतावादी राज्य विरोधी हैं और राज्य को अवांछित एवं अनावश्यक मानते हैं। राज्य विरोध के अराजकतावादियों ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं:–

(i) राज्य समाज की विषमताओं तथा अन्याय की निरन्तर वृद्धि के लिये उत्तरदायी है।

(ii) वर्तमान राज्य का कुछ व्यक्तियों द्वारा साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। राज्य उन एकाधिकारों का उन्मूलन नहीं कर सकता जिनकी वह रक्षा करता है। इस प्रकार जब तक राज्य का स्थान कोई अन्य व्यवस्था नहीं लेती, इन निहित-शक्तियों का अन्त नहीं हो सकता। बाकुनिन के अनुसार राज्य का प्रथम आवश्यक और अवश्यम्भावी कार्य सम्पत्ति कानूनों का निर्माण करना था, जिससे शोषण करने वालों के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान कर कानूनी रूप देना था।[14]

---

12 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 453

13. "God is stupidity and cowardice; God is hypocrisy and falsehood; God is tyranny and misery; God is evil."
Quoted by Bose, A., A History of Anarchism, p. 149

14 Bose, A., A History of Anarchism, p. 189

(iii) राज्य शक्ति का प्रतीक है।

(iv) ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो राज्य करता है तथा जिसे राज्य के अस्तित्व के बिना न किया जा सके। विदेशी आक्रमणों का सामना करने के लिये सेना की आवश्यकता नहीं है। राज्य की स्थाई सेनाएँ भी आक्रमणकारियों द्वारा परास्त हो जाती हैं। लेकिन जन-सेनाओं ने, जिनका सगठन राज्य द्वारा नहीं किया गया है आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया है। इस प्रकार रक्षा कार्य एक नागरिक सेना सुरक्षा द्वारा प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है।

(v) *आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था के लिये भी राज्य की आवश्यकता नहीं* है। कानून, पुलिस, न्याय, दंड आदि की राज्य जो व्यवस्था करता है उससे अपराधों में वृद्धि है।

(vi) कला, विज्ञान, शैक्षणिक कार्यों के लिये भी राज्य की आवश्यकता नहीं है। समाज में बहुत सा शैक्षणिक कार्य स्वयसेवी संस्थाओं के द्वारा किया जाता है। शिक्षा के लिए राज्य की नहीं किन्तु ऐसी सभाओं एवं विद्वद् परिषदों की आवश्यकता है जो शिक्षा कार्य में सलग्न हों। रॉयल सोसायटी, ब्रिटिश ऐसोसियेशन जैसी सस्थाएँ जो राज्य की भांति शक्ति पर नहीं बल्कि स्वतन्त्र सहयोग पर निर्भर हैं, राज्य द्वारा सचालित सस्थाओं से भी अच्छा कार्य किया है।

शासन का विरोध

राज्य का समस्त कार्य सरकार द्वारा सचालित होता है। सरकार का सगठन उन थोडे से व्यक्तियों के हाथों मे रहता है जो हमेशा राज्य सत्ता को अपने हाथों मे रखना चाहते हैं। अराजकतावादियों के अनुसार किसी भी प्रकार की शासन प्रणाली सामाजिक कुरीतियों को दूर करने मे असफल रही है। शासन सत्ता का प्रतीक होता है। सत्ता व्यक्ति को स्वार्थी, घमण्डी अत्याचारी और भ्रष्ट कर देती है। "राजनीतिज्ञ अपने स्वभाव के कारण नहीं अपितु अपने पद के कारण दुष्ट है, इस कारण नहीं कि वह मनुष्य है परन्तु क्योंकि वह राजनीतिज्ञ है।" इसी बात को क्रोपॉटकिन ने दूसरे शब्दों मे कहा कि 'यह या वह मत्री श्रेष्ठ मनुष्य होता यदि उसे सत्ता न दी गई होती।'[15] इस प्रकार अराजकतावादी सत्ता को मनुष्य के चतुर्मुखी पतन का कारण मानते हैं। डिकिन्सन के अनुसार "सरकार का अर्थ बाध्यता, वर्जनशीलता, *असतोष तथा पृथकता है।" किसी भी रूप मे एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर शासन* करने का अधिकार नहीं होना चाहिये।

राज्य और शासन का अराजकतावादियों द्वारा इतना तीव्र विरोध है कि वे किसी भी प्रकार की शासन व्यवस्था को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। आर्थिक

15 जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 109.

क्षेत्र में किसी प्रकार की शासन प्रणाली प्रत्येक व्यक्ति के अनुपातिक भाग का न्यायोचित निर्धारण करने में सफल नहीं हुई है। इनके अनुसार सभी तरह समस्त शासनों का मुख्य कार्य यही रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का भाग न्यायोचित न हो। इस अन्यायपूर्ण तथ्य को चुनौती देते हुए क्रोपाटकिन ने कहा है—

> "सब कुछ प्रत्येक का है। यदि प्रत्येक व्यक्ति पुरुष तथा स्त्री, आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में भाग लेता है तो उसका यह अधिकार है कि समस्त उत्पादित वस्तुओं में से, जिनका उत्पादन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया गया है, अपना भाग ले।"[16]

प्रतिनिधि शासन का विरोध

अराजकतावादियों ने प्रतिनिधि शासन की सबसे कटु आलोचना की है। वैसे सामान्यतः प्रतिनिधि सरकार ही सबसे उपयुक्त व्यवस्था है लेकिन व्यवहार में यह सत्य नहीं है क्योंकि--

(i) शासन व्यवस्था में सारा का सारा कार्य बहुमत-सिद्धान्त के आधार पर चलाया जाता है। प्रतिनिधि सभाओं में बहुमत या एकमत प्राप्त करना सदैव फर्जी और बनावटी होता है। एक बार किसी बात पर निर्णय ले लिया जाता है तो अल्पमत को उसे कार्यान्वित करने के लिये समर्थन करना पड़ता है। यह बहुमत के अन्याय और अल्पमत की बुद्धिहीनता प्रदर्शित करती है।[17]

(ii) विचार विभिन्नता के कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या समुदाय का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

(iii) सरकार चलाने के लिये प्रतिनिधियों में जितना ज्ञान होना चाहिये उनमें नहीं होता। इसलिये प्रतिनिधि शासन उन व्यक्तियों द्वारा शासन है जो शासन के विषय में केवल इतना ही ज्ञान रखते हैं जिससे उनकी अयोग्यता ही प्रदर्शित होती है।

(iv) यह शासन व्यवस्था उस वर्ग को जन्म देती है जिन्हें हम 'पेशेवर राजनीतिज्ञ' (professional politicians) कहते हैं। ये अपनी अज्ञानता और दुर्बलताओं को वाचालता अथवा आडम्बर से छुपाये रहते हैं।

(v) अराजकतावादी किन्हीं भी परिस्थितियों में जनप्रतिनिधि की आवश्यकता ही स्वीकार नहीं करते। राज्य द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक प्रश्न पर जनता की इच्छाएँ, मान्यताएँ अलग-अलग होती हैं। महत्वपूर्ण

---

16 जोड़., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 105.

17. Godwin., An Enquiry Concerning Political Justice etc., pp 570—71.

विषयों पर जनमत जानने के लिये अपने निर्वाचकों की सभा बुलानी होगी जिसमें वाद-विवाद के पश्चात अपने सकल्प या निर्णय निश्चित करेंगे। लेकिन जब इस प्रकार की सभाओं की आवश्यकता होगी तो फिर जन-प्रतिनिधि की आवश्यकता का सवाल ही नहीं उठता।

सूक्ष्म में, अराजकतावादी प्रतिनिधि शासन को अयोग्य, अज्ञानियों की व्यवस्था मानने के साथ साथ इसे अनावश्यक भी मानते हैं।[18]

विकेन्द्री व्यवस्था

अराजकतावादी विचारधारा विकेन्द्रीकरण सिद्धान्त पर आधारित है। प्रोफेसर जोड का कथन है कि "आधुनिक शब्दावली में अराजकतावाद का प्रथम तथा प्रधान उद्देश्य क्षेत्रीय तथा व्यावसायिक विकेन्द्रीकरण है।"[19] अराजकतावादी समाज का प्रारम्भ स्थानीय छोटे-छोटे समूहों से होगा। स्थानीय समूह बड़े समूहों में सगठित एवं केन्द्रित किये जा सकते हैं, जिनका क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण देश पर हो। यह सामूहीकरण ऊपर से नहीं किन्तु नीचे से ऊपर की ओर होगा। अराजकतावादियों को विश्वास है कि स्वेच्छापूर्ण आधार पर संगठित समाज में झगड़े नहीं होंगे। जो भी मतभेद होंगे वे मित्रता तथा सहकारिता की भावना से सुलझ जायेंगे।

अराजकतावादी उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन

अराजकतावादी स्वेच्छापूर्ण सामाजिक सगठन के लिये वर्ग, राज्य, सम्पत्ति, धर्म आदि का उन्मूलन आवश्यक मानते हैं। लेकिन इन उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन क्या हो ? इस सम्बन्ध में अराजकतावादियों में मतभेद है। व्यापक रूप से साधन के आधार पर उन्हें दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, वे अराजकतावादी जो विकासवादी, शान्तिपूर्ण साधनों तथा हृदय-परिवर्तन द्वारा अपने उद्देश्यों की उपलब्धि करना चाहते हैं। द्वितीय श्रेणी में क्रान्तिवादी, आतंकवादी आदि अराजकतावादी आते हैं।

गॉडविन तथा व्यक्तिवादी अराजकतावादी शान्तिपूर्ण साधनों में विश्वास करते हैं। वारेन, स्टर्नर आदि विकासवादी थे। डेविड थोरो ने शान्तिपूर्ण किन्तु सक्रिय अवज्ञा आन्दोलन जैसे साधनों का सुझाव दिया जिसके द्वारा अमरीकी सरकार को दास प्रथा उन्मूलन के लिये बाध्य किया जा सके। गॉडविन का क्रान्ति में कोई विश्वास नहीं था। फ्रांस की क्रान्ति के सन्दर्भ में अराजकतावादी साधनों की व्याख्या करते हुए गॉडविन ने कहा था:—

18. अराजकतावादियों द्वारा प्रतिनिधि सरकार की आलोचना के लिये देखिये—जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ॰ 107-108.
19. उपर्युक्त, पृ॰ 112.

"मैंने भीड़ शासन, हिंसा तथा वह आवेग जिससे मनुष्य अनेकों में एकत्रित हो जाते हैं, को पल भर के लिये भी निन्दा करना बन्द नहीं किया। मैं इस प्रकार के राजनीतिक परिवर्तन चाहता हूं जो समझदारी तथा हृदय की उदार भावनाओं से विकसित हों।"[20]

इस प्रकार गॉडविन तथा टॉलस्टॉय जैसे अराजकतावादी क्रान्ति-पद्धति के विरुद्ध हैं। उनके मतानुसार अच्छे साध्यों की प्राप्ति अच्छे साधनों के माध्यम से ही होनी चाहिये।

बाकुनिन तथा क्रोपॉटकिन क्रान्तिकारी साधनों के समर्थक हैं। बाकुनिन कार्य में सत्य का प्रतिबिम्ब देखते हैं। विश्व निरन्तर परिवर्तनशील होता रहता है। इसलिये कार्य द्वारा परिवर्तन प्राकृतिक है। इसी प्रकार क्रोपॉटकिन का विचार था कि अराजकतावादी-साम्यवाद की स्थापना सिर्फ क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। वे समझते थे कि राज्य, पूंजीवादी व्यवस्था, व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म आदि संस्थाओं की समाज में इतनी गहरी एवं मजबूत जड़ें हैं कि बिना क्रान्ति के इन्हें समाप्त करना सम्भव नहीं है। क्रोपॉटकिन ने तो रूस की क्रान्ति (1917) का भी समर्थन किया हालांकि उन्हें बाद में इसका पछतावा करना पड़ा। क्रान्ति तथा साम्यवाद के समर्थक होने के कारण उन्हें अराजकतावादी-साम्यवादी कहा जाता है।

इसके अलावा रूस के शून्यवादी, स्पेन के अराजकता-सिन्डीकलवादी तथा अन्य अराजकतावादी तोड़-फोड़, हड़तालें, विरोधियों का वध करना तथा आतंक फैलाना आदि साधनों में भी विश्वास करते थे।

अराजकतावाद और मार्क्सवाद-साम्यवाद

अराजकतावाद और मार्क्सवाद-साम्यवाद का जब हम अध्ययन करते हैं तो इन दोनों में सामान्यतः बहुत कुछ बातें समान प्रतीत होती हैं। ये दोनों विचार-धाराएँ एक दूसरे से प्रतिबिम्बित होते हुए प्रतीत होती हैं। वास्तव में कुछ अराजकतावादी विचारकों ने कार्ल मार्क्स के विचारों को प्रभावित किया और बाद के अराजकतावादी मार्क्सवादी-साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हुए। किल्ज़र एवं रौस ने अराजकतावाद को मार्क्सवादी विचारधारा का ही विस्तार माना है।[21] जोड के भी विचार लगभग ऐसे ही हैं।

20. "I never for a moment ceased to disapprove of mob government and violence, and the impulses which men collected together in mul.itudes produce on each other. I desired such political_changes only as should flow purely from the clear light of the understanding and the erect and generous feeling of the heart,"
Brown, Ford K., Life of William Godwin, London, 1926, p 35.
21. "A further deveolpment of Marxist ideology is anarchism"
Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 276.

अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद एवं साम्यवाद के सम्बन्धो और संघर्ष का इतिहास भी बड़ा रोचक है जो इनकी समानता एवं भिन्नता को व्यक्त करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता कि अराजकतावादियों का विचार संघर्ष मार्क्स से प्रारम्भ होकर लगभग स्टालिन तक चलता रहा।

प्रधो तथा मार्क्स

मार्क्स और प्रधो का मिलन 1844 में पेरिस में हुआ। ये दोनों एक दूसरे के सम्पर्क में आये तथा दोनों एक दूसरे के विचारों से प्रभावित हुए। मार्क्स ने अपनी पुस्तक– Holy Family–जो 1845 में प्रकाशित हुई, में प्रधों के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की सराहना की तथा उन्हें वैज्ञानिक विवेचन और राजनीतिक अर्थ व्यवस्था को सर्वप्रथम क्रान्तिकारी ढग से प्रस्तुत करने वाला बतलाया। मार्क्स ने प्रधो से अपने अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन को सामूहिक रूप से सचालन करने के लिये भी आग्रह किया। किन्तु प्रधो मार्क्स के क्रान्तिवादी विचारों से सहमत नहीं था। इसलिये इन दोनों में मतभेद प्रारम्भ हुए।[22]

1848 में प्रधो की पुस्तक—Philosophy of Poverty—प्रकाशित हुई तथा इसके प्रत्युत्तर में मार्क्स ने–Poverty of philosophy–लिखी। इसने एक विचार सघर्ष का रूप धारण कर लिया। मार्क्स ने प्रधो की तीव्र आलोचना की तथा उसे एक छोटा मोटा पूँजीपति बतलाया जो श्रमिकों को भुलावे में रखना चाहता था। साम्यवादी घोषणा पत्र (The Manifesto of the Communist Party) में भी मार्क्स-ऐन्जिल्स ने प्रधो पर प्रहार किया तथा उसे क्रान्ति से घबराने वाला मध्यवर्गीय, अनुदार समाजवादी (Conservative or Bourgeois Socialist) कहा।[23]

प्रधो ने अपनी आलोचना का सिर्फ यही उत्तर दिया कि "मार्क्स को यही दुख है कि प्रत्येक जगह मेरे और मार्क्स के विचार मेल खाते हैं किन्तु मैंने उन्हें मार्क्स से पहिले व्यक्त कर दिया है। सत्य यह है कि मार्क्स ईर्ष्यालु है।"[24]

मार्क्स तथा प्रधो के इस विचार–सघर्ष के विषय में वास्तविकता यह है कि दोनों ही हीगल के द्वन्द्ववाद से प्रभावित हुए हैं, दोनों ही पूँजीवाद को शक्तिहीन स्वीकार करते हैं। मार्क्स ने प्रधो के उन विचारों को ग्रहण किया है जिनकी उसने आलोचना की है। किन्तु प्रधो क्रान्ति साधन में विश्वास नहीं करता था। यहीं मार्क्स तथा अराजकतावादी विचारों में एकता होते हुए भी विचार भिन्नता है।

---

22 Bose, A., History of Anarchism, p 141-42
23 The Communist Manifesto, pp 87-88
24 'The real sense of Marx is that he regrets everywhere that my thought agrees with his and that I have expressed it before him........ The truth is that Marx is jealous'
Quoted by Bose, A., History of Anarchism, p 144

मार्क्स तथा बाकुनिन

1843 में बाकुनिन ने अपने निर्वासित जीवन के लगभग चार वर्ष फ्रांस में बिताये। यहाँ वह प्रूधों तथा मार्क्स के सम्पर्क में आया और दोनों के विचारों से प्रभावित हुआ। मार्क्स तथा प्रूधों के विचार मतभेदों का उन तक ही अन्त नहीं हो गया। प्रूधों का स्थान बाकुनिन ने लिया। मार्क्स तथा बाकुनिन का विचार संघर्ष लगभग पच्चीस वर्ष तक चला।[25]

प्रारम्भ में बाकुनिन मार्क्स का प्रशंसक था तथा मार्क्स को महान समाजवादी एवं अग्रणीय अर्थशास्त्री बतलाया। यही नहीं बाकुनिन ने साम्यवादी घोषणा पत्र का रूसी अनुवाद भी किया। इन दोनों के विचार प्रारम्भ में मिलते जुलते थे। जैसे दोनों ही:

(i) क्रान्तिकारियों की तरह पूर्ण आशावादी थे;

(ii) हीगल के द्वन्द्ववाद में श्रद्धा रखते थे,

(iii) तत्कालीन सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के आलोचक थे, तथा

(iv) प्रतिनिधि शासन में विश्वास नहीं रखते थे।

किन्तु धीरे-धीरे बाकुनिन का मार्क्स के प्रति दृष्टिकोण घृणात्मक होता चला गया। उनके मतभेद व्यक्तिगत तथा सैद्धान्तिक दोनों रूप में स्पष्ट रूप से उभर आये। बाकुनिन मार्क्स (साथ में ऐंजिल्स को भी) को एक जर्मन, एक यहूदी तथा एक साम्यवादी के रूप में घृणा करने लगा, जबकि मार्क्स ने बाकुनिन को रूस का गुप्तचर कहकर प्रत्युत्तर दिया।

मार्क्स तथा बाकुनिन के सैद्धान्तिक मतभेद बड़े व्यापक थे। ये मतभेद मूलतः निम्नलिखित थे:—

(i) साम्यवादी व्यवस्था स्वतन्त्रता की विरोधी है। बाकुनिन मानव की बिना स्वतन्त्रता के कल्पना ही नहीं कर सकता।

(ii) साम्यवादी जो कुछ भी करते हैं अन्ततः इससे राज्य की शक्ति में ही वृद्धि होती है। बाकुनिन न केवल राज्य किन्तु सत्ता के सभी अवशेषों को समाप्त करना चाहते थे।

(iii) साम्यवादी समाज को ऊपर की ओर से व्यवस्थित करना चाहते हैं जबकि बाकुनिन ऐसे समाज की स्थापना चाहते थे जिसका संगठन स्वतन्त्रतापूर्वक नीचे से ऊपर की ओर हो। इस प्रक्रिया में सत्ता तथा शक्ति का कोई योगदान न हो।

(iv) मार्क्स का सर्वहारा वर्ग में असीम विश्वास था। बाकुनिन ने मार्क्स की आलोचना की कि उसने कृषक वर्ग की पूर्ण अवहेलना की है।

25. opp cit, pp. 206—14

(v) मार्क्सवाद में सर्वहारा अधिनायकत्व को संक्रमण काल के लिए स्वीकार किया जाता है। बाकुनिन इस अधिनायकवाद के विरोधी हैं।[26]

बाकुनिन ने मार्क्सवाद-साम्यवाद से अपने मतभेदों को शान्ति एवं स्वतन्त्रता लीग के अधिवेशन (1868) में व्यक्त किया।

क्रोपाटकिन (Petor Kropotkin) ने मार्क्स तथा बाकुनिन के मतभेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "वह वास्तव से संघात्मक तथा केन्द्रीकरण सिद्धान्तों, स्वतन्त्र कम्यून तथा राज्य का शासन" के मध्य था।[27] कार्ल मार्क्स तथा बाकुनिन के मतभेदों का मूल्यांकन किया जाय तो एक बात बिल्कुल स्पष्ट होती है कि इन दोनों में उतने सैद्धान्तिक मतभेद नहीं थे जितने कि उन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में। बाकुनिन की अपेक्षा मार्क्सवाद व्यवहार में अधिक सत्ताधारी, अधिनायकवादी, स्वतन्त्रता विरोधी तथा राज्य का प्रबल समर्थक सिद्ध होगा।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International)

मार्क्सवाद तथा अराजकतावाद के संघर्ष की चरम सीमा

अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए मार्क्स के प्रयत्नों से 1864 में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद् की स्थापना हुई। यह श्रमिक आन्दोलन एवं विचार विनिमय का प्रमुख फोरम था। बाद में इस परिषद् का नाम 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ, (First International) रख दिया गया।

1868 में बाकुनिन ने अपने एक संगठन 'शान्ति एवं स्वतन्त्रता लीग' (League of Peace and Freedom) को भंग कर दिया तथा इसके स्थान पर 'सामाजिक लोकतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (International Alliance of Social Democracy) की स्थापना की।

अगले वर्ष बाकुनिन मार्क्स के नेतृत्व में गठित 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' में सम्मिलित हुआ। बाकुनिन का उद्देश्य प्रथम 'अन्तर्राष्ट्रीय' को अपने नेतृत्व के अन्तर्गत लेना था। परिणामस्वरूप मार्क्सवादियों तथा अराजकतावादियों के मध्य इस संगठन के नेतृत्व को लेकर संघर्ष प्रारम्भ हुआ। बाकुनिन तथा मार्क्स में सैद्धान्तिक मतभेद तो थे ही। 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' में बाकुनिन ने मार्क्स तथा उसके समर्थकों की कड़ी निन्दा की। बाकुनिन के अनुसार मार्क्स 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' को एक दानव राज्य में परिवर्तित करना चाहते थे, जिसमें एक ही विचारधारा, एक ही सत्ता हो। मार्क्स इस संगठन के माध्यम से एक जर्मन राज्य (Pan-German State) की स्थापना का स्वप्न देख रहे थे।[28]

---

26 Carr, E H, Michael Bakunin, London, 1937, p 341
27 Bose A, A History of Anarchism, p 209
28 Kenafick, Marxism, Freedam and the state, p 45

'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' में मार्क्स के समर्थक अधिक संख्या में थे, वे बाकुनिन तक अराजकतावादियों के विचारों से बिल्कुल सहमत नहीं थे। इसलिए 1872 में 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' के हेग अधिवेशन (Hague Congress) में बाकुनिन तथा उसके अनुयायियों को निकाल दिया गया। यहाँ मार्क्सवादी तथा अराजकतावादियों का पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

पीटर क्रोपॉटकिन (Peter Alexander Kropotkin) ने अराजकतावाद को वर्ग-सगत तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में अराजकतावाद और साम्यवाद में अन्तर कम होता चला गया। कहीं-कहीं तो यह कहना असम्भव हो गया कि क्रोपाटकिन अराजकतावादी है या साम्यवादी। इसीलिए यह अराजकतावादी साम्यवादी कहलाता है। ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britannica) में अराजकतावाद के विषय में दिए गए एक लेख में क्रोपॉटकिन ने लिखा है:—

"आर्थिक रूप में साम्यवाद की स्थापना अधिक सम्भव है विशेषत: जिस प्रकार कम्यून प्रगति कर रहे हैं, स्वतन्त्र या अराजकतावादी साम्यवाद ही वह साम्यवादी व्यवस्था है जिसे सभ्य समाज द्वारा स्वीकार किये जाने की अधिक सम्भावना है; इसलिए साम्यवाद एवं अराजकतावाद विकास के दो पहलू हैं जो एक दूसरे को पूर्ण करते हैं तथा एक दूसरे को सम्भव और स्वीकार योग्य बनाते हैं।"[29]

यहाँ क्रोपॉटकिन के विचारों को व्यक्त करने का यही उद्देश्य है कि अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद एवं साम्यवाद कहाँ तक एक दूसरे से सम्बन्धित हो गये। किन्तु इतना सब होते हुए भी इन दोनों विचारधाराओं का पूर्ण संगम नहीं हो पाया।

जोड (C E M. Joad) के विचार

जोड के अनुसार अराजकतावाद और साम्यवाद में राज्य के कार्यों के प्रश्न पर मतभेद होते हुए भी दोनों विचारधाराएँ एक ही वस्तु के दो पक्षों को प्रस्तुत करती हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी पुस्तक–Introduction to Modern Political Theory–के पांचवें अध्याय में साम्यवाद और अराजकतावाद का साथ-साथ विवेचन किया है। इन दोनों में बहुत कुछ बातें समान हैं तथा इनके प्रमुख सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। साम्यवाद एक ही विचारधारा की 'पद्धति का दर्शन' तथा अराजकतावाद उसके बाद 'आदर्श समाज का उद्देश्य' है। एक साधन तथा दूसरा साध्य के रूप में महत्वपूर्ण है। जोड के ही शब्दों में—

"प्रारम्भिक मतभेदों के होने पर भी आधुनिक घटना-क्रम के विकास ने इन दो विचारधाराओं को घनिष्ट रूप से सम्बन्धित कर दिया है। इसी

29. Quoted by Bose, A, A History of Anarchism, p 262.

बोलशेविकों (Bolsheviks) के प्रभाव के कारण साम्यवाद विशिष्टतः पद्धति का दर्शन बन गया अर्थात्, यह उस कार्यक्रम का सिद्धान्त है जिसके अनुसार पूंजीवाद से समाजवाद की ओर परिवर्तन होगा। अराजकतावाद उन सिद्धान्तों की घोषणा करता है, जो इस परिवर्तन के उपरान्त समाज में लागू होंगे।"[30]

जोड ने आगे लिखा है—

"अराजकतावादियों का सम्बन्ध केवल एक आदर्श समाज जिसको वे स्थापना कराना चाहते हैं और एक जीवन-मार्ग से है। परन्तु साम्यवादियों की मुख्य समस्या यह है कि इस आदर्श समाज की स्थापना किस प्रकार की जाय तथा जीवन का यह आदर्श ढंग किस प्रकार हरेक के लिये सम्भव बना दिया जाय। अर्थात्, साम्यवादी साधनों पर विचार करते हैं तथा अराजकतावादी साध्यों पर। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अब अधिकांश साम्यवादी समाज के अराजकतावादी आदर्श को स्वीकार *करते हैं और अनेक अराजकतावादी यह मानने को तत्पर होंगे कि इस प्रकार* की सामाजिक व्यवस्था केवल साम्यवादी कार्यक्रम द्वारा ही सम्भव है।"[31]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ये दोनों विचारधाराएँ सैद्धान्तिक दृष्टि से *बहुत कुछ समानान्तर चलती हैं फिर भी दोनों में ताल-मेल स्थापित नहीं हो* सका है। ये अभी तक अपना अलग अस्तित्व बनाए हुए हैं। वैसे अराजकतावाद *तो अब मृतप्राय ही है। अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद (तथा साम्यवाद भी)* में जो समानताएँ तथा भिन्नताएँ हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है—

अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद में समानताएँ

(i) दोनों ही उस समय प्रचलित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दोषों की निन्दा करते हैं।

(ii) दोनों ही पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित शोषण का विरोध करते हैं।

(iii) दोनों विचारधाराएं व्यक्तिगत सम्पत्ति की कटु आलोचक हैं।

(iv) अराजकतावाद तथा साम्यवाद-मार्क्सवाद दोनों का एक ही उद्देश्य है—वर्गहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना करना।

अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद-साम्यवाद में अन्तर

इन विचारधाराओं में यह समानता वास्तव में सिर्फ थोड़ा ही है। इनके मध्य निम्नलिखित तात्विक, आन्तरिक तथा सिद्धान्तों को व्यवहार में परिवर्तित करने के परिणामों में इतने मतभेद हैं कि इनके मध्य की खाई को भरना सम्भव नहीं है:—

30 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 60-61.

31 उपर्युक्त, पृ. 91.

मानव स्वभाव—मानव स्वभाव, न्याय तथा नैतिकता के विषय में दोनों विचारधाराओं का विवेचन भिन्न है। साम्यवादियों के अनुसार न्याय और नैतिकता के कोई नियम या सिद्धान्त नहीं होते, वे देश एवं काल के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। मानव स्वभाव में स्थायित्व जैसी कोई बात नहीं होती उसमें वातावरण के अनुसार गुणात्मक परिवर्तन होता रहता है।

इसके विपरीत अराजकतावादी मानव स्वभाव के कुछ स्थाई तत्वों जैसे सहयोग, सहानुभूति तथा न्याय की भावना आदि में पूर्ण आस्था रखते हैं। उनके अनुसार ये तत्व मनुष्य के स्वभाव में निहित हैं तथा समाज के विकास की कुंजी हैं। अराजकतावादियों की विचारधारा मूलतः मनुष्य के उत्तम स्वभाव पर निर्भर है।

समाज एवं व्यक्ति—साम्यवाद का आधार समाज है। वे व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्राथमिकता देते हैं अराजकतावाद का आधार व्यक्ति है। उनकी व्यवस्था में व्यक्ति खो नहीं जाता। वे जो भी सामाजिक व्यवस्था चाहते हैं उसका उद्देश्य व्यवस्था के मात्र व्यक्ति का उत्थान है।

अधिनायकतावाद बनाम स्वतन्त्रता—मार्क्सवाद साम्यवाद अधिनायकवाद में विश्वास करता है। किन्तु अधिनायकवाद, शक्ति तथा सत्ता का विरोध अराजकतावादियों का मूल मन्त्र है। वे व्यक्ति-स्वतन्त्रता को ऊँचा स्थान देते हैं और इस बात पर निर्भर रहते है कि वह सदा और सर्वत्र प्रभावकारी हो सकेगी। उनका विश्वास है कि एक *समाजवादी समाज का उस समय तक प्रगति की ओर कदम नहीं* समझा जा सकता जब तक कि उसके आधार के रूप में बल-प्रयोग के स्थान पर स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित न हो जाय।[32]

मानववाद—*अराजकतावादियों का दृष्टिकोण मानवतावादी है।* वे जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं उसकी अपील मानव मात्र के लिये है। वे सभी को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये आह्वान करते हैं। साम्यवाद सर्वहारा का दर्शन है। साम्यवाद का मानवतावादी दृष्टिकोण सिर्फ सर्वहारा वर्ग तक ही सीमित है।

उद्योग—साम्यवादी आर्थिक प्रगति के लिये विशाल उद्योगों में विश्वास करते हैं। लेनिन के अनुसार साम्यवाद का अर्थ 'लोहा तथा बिजली' था। इस समय साम्यवादी राज्यों की प्रगति भारी उद्योगों पर ही आधारित है। किन्तु अराजकतावादी बड़े उद्योगों के विरोधी हैं। वे लघु उद्योगों का समर्थन करते हैं।

सत्ता—साम्यवादी समस्त सत्ता के केन्द्रीकरण में विश्वास रखते हैं। प्रत्येक कार्य राज्य द्वारा होना चाहिये। इसके विपरीत अराजकतावादी सत्ता के पूर्ण विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हैं।

---

32. कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 234.

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक विवेचना का मूल स्तम्भ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जो उनके भौतिकवादी दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। परन्तु अराजकतावादी इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास नहीं करते, वे इसे तार्किक शीर्षासन की संज्ञा देते हैं।

साधन—मार्क्सवादी-साम्यवादी क्रान्ति में विश्वास करते हैं; वे हिंसा, दमन आदि के प्रयोग के बिना पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन न हो सकने की बात कहते है। शक्ति प्रयोग सत्ता हथियाने के लिए आवश्यक है। हालांकि अराजकतावादियों में अपने साध्यों की प्राप्ति के विषय में मतभेद हैं, लेकिन प्रत्येक अराजकतावादी-व्यक्तिवादी अथवा साम्यवादी दोनों ही-या तो शक्तिपूर्ण साधना में बिल्कुल ही विश्वास नही करते या शक्ति प्रयोग को स्थाई साधन नहीं मानते। अराजकतावादियों के विचार मे "हिंसा केवल रक्षा के लिए, सत्ता के संगठित विरोध के लिए एक उचित हथियार है, वह सहयोग का साधन नहीं है और, न वह एक सच्ची समाजवादी व्यवस्था में कार्य करने का साधन ही है। जब हिंसा को एक संस्था का रूप दिया जाता है, तो वह किसी के लिए भी स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधन नहीं रह जाता।"[33]

प्रारम्भ मे क्रोपॉटकिन तथा अन्य अराजकतावादी 1917 में रूसी क्रान्ति को समर्थन देते हुए प्रतीत होते हैं। उसकी धारणा थी कि इसके बाद राज्य विहीन, वर्ग विहीन समाज की स्थापना सम्भव हो सकेगी। लेकिन क्रान्ति के बाद रूस की दशा देखकर अराजकतावादियों का भ्रम दूर हो गया। लेनिन को लिखे गये एक पत्र में[34] क्रोपॉटकिन ने रूस में हिंसा, दमन-चक्र की कटु निन्दा की। उन्हें रूस में केन्द्रीकरण, दोषान्वेषण और सर्वत्र आतंक ही नजर आया। इस प्रकार क्रान्तिकारी अराजकतावादी भी हिंसात्मक साधनों से विमुख हो गये। उनका विश्वास था कि स्वतन्त्र समाज की स्थापना इस प्रकार नहीं हो सकती। प्रसिद्ध अराजकतावादी एमा गोल्डमैन (Emma Goldman) के अनुसार कोई भी क्रान्ति मुक्ति-साधन के रूप मे उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसकी प्राप्ति के साधन, भावना तथा प्रवृत्ति उन उद्देश्यों के समान न हो जिन्हे प्राप्त करना है।[35]

वर्ग-उन्मूलन—अराजकतावादी तथा मार्क्सवादी जिस प्रकार वर्गों का उन्मूलन करना चाहते हैं इसमें वे एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत है या, जिस प्रकार के वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना चाहते है उस सम्बन्ध मे इन दोनों के विचारो में आकाश पाताल का अन्तर है। कोकर के अनुसार--

> "समाजवादी लोग, विशेष रूप से रूसी साम्यवादी केवल वर्गीय अधिनायकत्व में परिवर्तन चाहते हैं, वे विरोधी वर्गों की स्थिति को इस

33 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 23-35.

34 Quoted by Bose, A, A History of Anarchissm, p 285—96

35 Goldman, Emma, My Further Disillusionment In Russia, 1924, p 175

प्रकार उलट देना चाहते हैं कि वर्ग का सेवक वर्ग मोज या मालिक बन जाय, और उन्हें विश्वास है कि इस प्रकार भविष्य में एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना हो जायगी। दूसरी ओर, अराजकतावादी लोग सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्तों को एकदम उलट देना चाहते हैं, जिससे समाज में दमन के स्थान पर पारस्परिक सहयोग की स्थापना हो सके।"[36]

इस प्रकार साम्यवादी वर्ग-संघर्ष के द्वारा तथा अराजकतावादी सहयोग, सहनशीलता के आधार पर अन्तिम लक्ष्यों की उपलब्धि करना चाहते हैं।

सर्वहारा अधिनायकत्व

अराजकतावादियों तथा रूस के समाजवादियों का लक्ष्य एक ही है अर्थात् वर्ग विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना। किन्तु उनके मार्ग बिल्कुल अलग-अलग हैं। रूसी समाजवादी यह मानते हैं कि क्रान्ति के बाद स्थापित सर्वहारा अधिनायकत्व में लम्बे मार्ग को नहीं त्यागा जा सकता। दूसरी ओर अराजकतावादी कहते हैं कि दमन तथा नियन्त्रण द्वारा स्वतन्त्र और ऐच्छिक सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित समाज की स्थापना नहीं हो सकती। लेनिन के ही शब्दों में—

> "हमारा अराजकतावादियों से अन्तिम लक्ष्य के रूप में राज्य के विनाश के प्रश्न पर मतभेद नहीं किन्तु मार्क्सवाद अराजकतावाद से इस बात में भिन्न है कि वह सामान्यतया क्रान्ति काल में तथा विशेषतः पूंजीवाद से समाजवाद की ओर अग्रसर होने के संक्रमणकाल में राज्य तथा राज्य की शक्ति की आवश्यकता मानता है।"[37]

अराजकतावादी इस बात को स्वीकार नहीं करते कि दीर्घकालीन दमनकारी पूंजीवादी शासन का अन्त सर्वहारा अधिनायकत्व के दीर्घकालीन दमनकारी शासन से हो सकेगा। उनके अनुसार संक्रमण-कालीन समाज व्यवस्था और उसके स्थान पर स्थापित की जाने वाली स्थाई समाज व्यवस्था में साम्य होना चाहिए।

अन्त में, राज्य की समाप्ति के बाद समाज की सारी व्यवस्था क्या होगा इस सम्बन्ध में अराजकतावादी हमारे सामने एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं। किन्तु साम्यवादियों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

अराजकतावाद का मूल्यांकन

पूर्ण अध्ययन का अभाव

अराजकतावाद की यह प्रारम्भिक आलोचना की जाती है कि यह विचारधारा पूर्ण अध्ययन नहीं है। इस विचारधारा का कोई इतिहासकार भी नहीं

36 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 224.

37. Lenin, State and Revolution, 1917, p 63.

है। पौल एल्ट्जबेगर (Paul Eltzbacher) ने अपनी पुस्तक 'डेर एनेरकिसमस' (Der Anarchismus)[38] में प्रमुख अराजकतावादियों का निष्पक्ष विमोचन किया है, किन्तु यह भी अराजकतावाद का एकरूप न होकर बिखरा हुआ सा अध्ययन प्रतीत होता है। अराजकतावाद का यह दुर्भाग्य है कि इसका कोई सम्पूर्ण अध्ययन नहीं हो पाया है। लेकिन इसके विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या और कटु-आलोचना अलग-अलग दृष्टिकोणों से इतनी अधिक हुई है कि इस विचारधारा में केवल बुराइयाँ ही बुराइयाँ नज़र आती हैं।

स्पष्टता एवं विस्तृत विवेचन का अभाव

प्रो. जोड के अनुसार अराजकतावादी विचारधारा आवश्यक रूप से अस्पष्ट है, क्योंकि इसकी रूपरेखा सरल होते हुए भी यह केवल एक रूपरेखा के रूप में ही अपना अस्तित्व रखती है। इस विचारधारा में राज्य, पूंजीवाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म आदि का विभिन्न समर्थकों ने व्यापक विवरण दिया है। लेकिन यह केवल नकारात्मक एवं उन्मूलन व्यवस्था तक ही सीमित है। अराजकतावादियों ने सामाजिक संगठन का रूप, स्वरूप तथा इसकी प्राप्ति के शान्ति साधनों के विषय में या तो कुछ नहीं कहा या कोई विस्तारपूर्वक व्याख्या नहीं की है। इस प्रकार यह विचारधारा स्पष्ट ढंग से व्यक्त नहीं हो पायी है। अराजकतावादी अपनी आकर्षक रूप-रेखा को विस्तृत नहीं करते हैं अथवा ऐसा करने में असमर्थ हैं।[39]

स्वतंत्र एवं मौलिक विचारधारा की संदिग्धता

अराजकतावाद का अध्ययन करने के बाद यह विश्वास नहीं होता कि यह एक स्वतन्त्र और मौलिक विचारधारा भी है या नहीं। सामान्यतः अराजकतावादी विचारधारा साम्यवाद, सिन्डीकलवाद, बहुलवाद और व्यक्तिवाद का सम्मिश्रण सा प्रतीत होता है। अतः इसे एक अलग और स्वतन्त्र विचारधारा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता और यदि इसे विचारधारा के रूप में स्वीकार भी किया जाता है तो साम्यवादी विचारधारा के वैज्ञानिक विवेचन और व्यापक प्रभाव ने इसे महत्त्वहीन कर दिया है। अराजकतावाद, कुछ क्षेत्रों को छोड़कर, साम्यवाद की पुनरावृत्ति सा प्रतीत होता है।

मनुष्य स्वभाव का एकपक्षीय विश्लेषण

अराजकतावादियों ने मनुष्य स्वभाव की जो मनोवैज्ञानिक विवेचना की है वह अधूरी और एकपक्षीय है। वे मानव स्वभाव की नैतिकता, सद्भाव, सहकारिता के प्रति अत्यन्त ही आशावादी हैं। उनके अनुसार मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है।

---

38 Paul Eltzbacher, Der Anarchismus, English translation by S T Byington, New York, 1900, Carter, April, The Political Theory of Anarchism, p 1

39 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 113.

मनुष्य में अपने ऊपर स्वयं ही सीमाएं एवं मर्यादायें निर्धारित करने की क्षमता होती है। मनुष्य स्वभाव के विषय में यही आशावादिता उनके राज्य विरोध, सत्ता विरोध समाज का आधार है। लेकिन यदि मनुष्य में निःस्वार्थ सहयोग की प्रवृत्ति है तो दूसरी ओर वह स्वार्थ भावना से भी प्रेरित होता है। अन्तर सिर्फ यही है कि स्वार्थ प्रवृत्ति किसी व्यक्ति में कम है या किसी में अधिक, लेकिन यह मनोवृत्ति का एक प्रमुख तत्व है। इस प्रकार अराजकतावादियों की सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार न तो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों और न व्यावहारिक दृष्टि से सही कहा जा सकता है।

काल्पनिक सामाजिक व्यवस्था

अराजकतावादी समाज की स्थापना असम्भव एवं अव्यावहारिक दोनों ही है। अराजकतावादी व्यवस्था की स्थापना कैसे होगी यह केवल काल्पनिक है क्योंकि इस दिशा में अभी तक न तो कोई निश्चित कदम उठाया गया है और न ही इतिहास में इसका कोई उदाहरण मिलता है। अराजकतावादी विचारकों ने जिस समाज रचना के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं वे राज्य के स्थान पर व्यावहारिक विकल्प भी सिद्ध नहीं हो सकते। विभिन्न सामाजिक संगठनों की सफलता के विषय में अत्यधिक आशावादी नहीं है।

राज्य और सरकार का विरोध

अराजकतावादी राज्य को एक बुराई मान कर उन्मूलन करना चाहते हैं। उनके ये विचार ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक अधिक है। प्रत्येक युग में राज्य या शासन व्यवस्था किसी न किसी रूप में अवश्य ही विद्यमान रही है। राज्य या सब प्रकार की शासन व्यवस्थाएं न तो शोषण का साधन है और न बल-प्रयोग करने वाली संस्थाएँ हैं। आज के सभी कल्याणकारी राज्य जन-हित की भावना से प्रेरित होते हैं।

सम्पत्ति सम्बन्धी त्रुटिपूर्ण विचार

अराजकतावादियों द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्ण रूप से उन्मूलन किसी भी आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य की मूल स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम एवं फल है। यह व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है। जब मानव है तो परिवार है, जब परिवार है तो सम्पत्ति को उससे अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अराजकतावादियों के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार व्यावहारिक दृष्टिकोण से पूर्णतः सही नहीं है।

हिंसात्मक साधन : सत्ता का सत्ता द्वारा उन्मूलन

कुछ अराजकतावादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये क्रान्ति एवं हिंसात्मक साधनों का समर्थन करते हैं। उनके यह विचार न तो उचित हैं और न तार्किक ही, क्योंकि—

प्रथम, अराजकतावादी अच्छे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये क्रान्ति का समर्थन करते हैं। द्वितीय, ये सत्ता का उन्मूलन शक्ति-सत्ता के द्वारा करना चाहते हैं और यदि सत्ता द्वारा सत्ता का विरोध-क्रम चलता गया तो वह स्थिति कभी नहीं आयेगी जब स्वेच्छापूर्वक सामाजिक समूहों की स्थापना होगी। यह तो निर्विवाद सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये कि क्रान्ति या हिंसा के द्वारा परिवर्तन या तो क्षणिक होते हैं या हिंसा के द्वारा प्राप्त की गई व्यवस्था शक्ति द्वारा ही स्थिर रखी जा सकती है। इस परिस्थिति में मनुष्य की सद्भावना एवं सहयोग प्रभावहीन हो जाता है या उसे पृष्ठभूमि की ओर धकेल दिया जाता है।

सत्ता विरोध का औचित्य

स्वतन्त्रता और सत्ता-विरोध अराजकतावादियों के मूल मंत्र हैं। इन्होंने स्वतन्त्रता और सत्ता को परस्पर विरोधी माना है। आजकल सभी व्यावहारिक प्रजातान्त्रिक विचारधाराएँ स्वतन्त्रता और सत्ता को सीमित करके समुचित समन्वय के पक्ष में हैं। असीमित स्वतन्त्रता जब स्वच्छन्दता में परिवर्तित होती है तो यह असीमित सत्ता से भी अधिक खतरनाक है। स्वतन्त्रता कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित न रह जाय, इसका सब समाज उपयोग करे या स्वतन्त्रता का प्रयोग पूर्ण समाज हित में किया जाये, इसके लिये सत्ता का आंशिक एवं न्यायोचित प्रयोग अत्यन्त ही आवश्यक है। इस प्रकार अराजकतावादियों का पूर्ण सत्ता-विरोध उचित नहीं लगता।

अराजकतावादी विचारधारा में विरोधाभास

अराजकतावादी विचारधारा के बहुत से तत्व परस्पर-विरोधी या तर्कयुक्त नहीं हैं। जेन्कर (E. N. Zenker) के शब्दों में:—

> 'अराजकतावाद अभी तक की गयी मनुष्य-कल्पना की महानतम् भूलों में से एक है क्योंकि जिन विचारों से यह प्रारम्भ होता है तथा जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं वह मनुष्य-स्वभाव और जीवन यथार्थता का पूर्ण विरोधाभास है।"[40]

यह विरोधाभास अराजकतावाद के कई पक्षों में व्यक्त होता है। अराजकतावादियों ने राज्य उन्मूलन के बाद ऐसे समाज की कल्पना की है जो कई स्थानीय समूहों में विभाजित होगा। ये स्थानीय समूह स्वेच्छा पर आधारित होंगे तथा इनका कार्य किसी न किसी प्रकार के जनतान्त्रिक प्रतिनिधि प्रणाली द्वारा ही किया

40 "Anarchism is certainly one of the greatest errors ever imagined by man, for it proceeds from assumptions and leads to conclusions which entirely contradict human nature and the facts of life."
Zenker, E. N., Der Anarchismus, quoted by Bose, A., A History of Anarchism, p 395

जायेगा। इस प्रकार अराजकतावादियों ने जो आलोचना प्रतिनिधि शासन व्यवस्था के विषय में की है वह इन समूहों के विषय में भी लागू हो सकती है। अराजकतावादी एक ओर तो यह कहते हैं कि उनकी सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के सहयोग एवं सद्भावना पर आधारित है लेकिन साम्यवादी-अराजकतावादी उसी व्यक्ति को राज्य एव अन्य संस्थाओं के उन्मूलन के लिये क्रान्ति एव हिंसा के लिये कहते हैं, यह स्पष्टतः विरोधाभास व्यक्त करता है।

आलोचक की यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि जिस समाज में शासन द्वारा किसी भी प्रकार का न्यूनतम नियंत्रण नहीं होगा तथा सामाजिक व्यवस्था को मनुष्य के स्वतन्त्र विचार और सद्भावना पर छोड़ दिया तो मनुष्यों में किसी न किसी प्रकार का संघर्ष होना स्वाभाविक है क्योंकि मनुष्य में प्रकृति से कुछ स्वार्थी तत्व विद्यमान रहते है। इसका तात्पर्य यह होगा कि समाज में सबल जीवित रह सकता है। क्रोपॉटकिन ने अपनी पुस्तक "Mutual Aid A factor of Evoultion" में डारविन के सिद्धान्त 'survival of the fittest' की कटु आलोचना की है और यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि यह सिद्धान्त अराजकतावादी समाज में लागू नहीं होगा। किन्तु यदि अराजकतावादी सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया जाय तो उनके समाज में भी सबल की स्वतन्त्रता ही कायम रह सकती है।

अराजकतावादियों ने धर्म की कटु आलोचना की है। वास्तव में धर्म और मनुष्य की नैतिकता में बड़ा सम्बन्ध है। धर्म उन्मूलन का तात्पर्य नैतिकता के स्रोत का ही विनाश करना है। प्रजातन्त्र व्यवस्था तो नैतिकता पर ही निर्भर करती है। इस समय जो आवश्यकता है वह धर्म-उन्मूलन की नहीं, किन्तु धार्मिक अन्ध-विश्वास की समाप्ति तथा धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन की है।

कुछ अराजकतावादी चिन्तकों के जीवन एवं विचारों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, विलियम गॉडविन ने विवाह को भी एक बन्धन माना है लेकिन उसने स्वयं ही तीन विवाह किये। प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद उसे विवाह एव पारिवारिक महत्व का पता चला। गॉडविन द्वारा इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध कवि शैली के ऊपर भी अपनी पुत्री मेरी (Mary) के साथ विवाह करने के लिये जोर डाला गया जिस विवाह व्यवस्था का गॉडविन ने अपने विचारों में विरोध किया है। यह विवाह तभी सम्भव हो सका जब शैली की पत्नी हैरियट (Harriet) ने आत्महत्या करली।[41]

गॉडविन ने राज्य की हमेशा ही आलोचना की है, लेकिन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में जब वह निर्धन अवस्था में जीवन व्यतीत कर रहा था, उस समय सरकार ने कुछ आर्थिक सहायता का प्रस्ताव रखा जिसे गॉडविन ने सहर्ष स्वीकार

41 Bose, A , A History of Anarchism, pp 106—109

कर लिया। इस प्रकार राज्य अथवा सरकार की कृपा पर ही उसे निर्भर रहना पड़ा। इसी प्रकार बाकुनिन ने यूरोप में सर्वत्र शान्ति का समर्थन ही नहीं किया, किन्तु व्यक्तिगत सहयोग भी दिया। उसने अपने शान्ति स्वतन्त्रता आदि सम्बन्धी विचारों से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यूरोप के क्रान्तिकारियों को प्रभावित किया। लेकिन 1851 में जब रूस में उसे बन्दी बनाया गया तो रूस के सम्राट जार निकोलस प्रथम से उसने बड़े दयनीय स्वरों में क्षमा याचना की।[42]

अराजकतावादी विचारधारा की आलोचना का निष्कर्ष व्यक्त करते हुये एलेग्जेन्डर ग्रे ने लिखा है —

> अराजकतावादी के साथ प्रमुख कठिनाई यह है, कि वह बुद्धिमान है उसमें विवेक नहीं है। इस प्रकार अराजकतावाद की रचनात्मक व्याख्या सम्भवतः असम्भव है। यदि वे यह स्वीकार नहीं करते कि उन्होंने अपना घोंसला आकाश में बनाया है तो कोई भी शब्द उन्हें इस बात के लिए तैयार नहीं कर सकता कि वे अवास्तविक तथा अव्यावहारिक विश्व में रह रहे हैं। अराजकतावादी बहुत ही बुद्धिमान तथा काल्पनिक शिशुओं की नस्ल हैं जो अपनी बचकाना नियमों के बाहर कुछ देख सकें, विश्वास नहीं किया जा सकता।"

अराजकतावादियों के विषय में एलेग्जेण्डर ग्रे के विचार अत्यधिक तीव्र कटाक्ष हैं। वास्तव में अराजकतावादियों के प्रत्येक पक्ष पर प्रत्येक ओर से प्रहार किया गया है। *यहाँ तक कि इसे एक राजनीतिक विचारधारा मानना संदिग्ध है। किन्तु* अराजकतावाद की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि इस विचारधारा के समर्थकों को अराजकतावादी समाज की स्थापना में कभी भी विजय प्राप्त नहीं हुई। यह इस विचारधारा की अवहेलना का प्रमुख कारण है।[44]

योगदान

अराजकतावाद का एक विचारधारा के रूप में आजकल कोई विशेष महत्व नहीं रहा है। ये अपने विचारों में अधिक उग्र हैं। इनकी व्यक्तिवादिता, समाज-

42 Letter of Confession to the Tzar, quoted by Bose, A, A History of Anarchism, pp 109, 181.

43 "The fundamental trouble with the anarchist is that, though he may be highly intelligent, he has no sense It follows that a fruitful discussion of anarchism is almost an impossibility If they do not realise that they have set their nest among the stars, no word of man will persuade them that their thought are moving in a world unreal and unrealisable Anarchists are a race of highly intelligent and imaginative children, who nevertheless can scarcely be trusted to look after themselves out side the nursery pen" Gray, A, The Socialist Tradition p 380

44 Carter, April, The Political Theory of Anarchism, p 1.

वादिता, कल्पनावादिता आदि सभी उपयुक्त हैं। लेकिन यदि इनके सिद्धान्तों में से उग्रता निकाल दें तो उनमें बहुत कुछ बातें महत्वपूर्ण एवं आधुनिक मिलती हैं। उनके विचारों में कम से कम निम्नलिखित बातों को किसी सीमा तक स्वीकार कर सकते हैं—

प्रथम, वे अधिनायकतन्त्र के विरोधी और मानव स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक हैं।

द्वितीय, सभी समाजवादियों की तरह वे व्यक्तिगत सम्पत्ति का सामाजिक हित में प्रयोग करने के लिए इंगित करते हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति विषय में उनकी आलोचना में बहुत सत्यता है।

तृतीय, अराजकतावादियों का यह कथन भी सच है कि अधिक सम्पत्ति संचय या एकाधिकार आर्थिक विषमता तथा शोषण को जन्म देता है। अन्त में, अराजकतावादी धार्मिक अन्ध-विश्वास की कटु निन्दा करते हैं। उनके धर्म सम्बन्धी विचारों को पूर्णतः स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है, किन्तु धर्म को विवेकपूर्ण आधार पर स्वीकार करने की बात तो स्वीकार की जाने योग्य है।

अराजकतावाद, लेन लंकास्टर के मतानुसार, अव्यावहारिक है लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके द्वारा आधुनिक समाज में प्रचलित प्रवृत्तियों की आलोचना का कोई महत्व ही नहीं है। यद्यपि वे कोई व्यावहारिक सामाजिक योजना प्रस्तुत नहीं करते किन्तु शक्ति, एकरूपता और कुशलता पर आधारित आधुनिक समाज के विरुद्ध वे जो कुछ कहते हैं वह महत्वहीन नहीं है।[45]



पाठ्य- ग्रन्थ

1. Bose, Atindranath., A History of Anarchism,
2. Carter, April., The Political Theory of Anarchism.
3. कोकर, फ्रान्सिस, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 7, अराजकतावादी
4. Cole, G. D. H., A History of Socialist Thought Vol. II, Socialist Thought Marxism and Anarchism.
5. Gray, A., The Socialist Tradition., Chapter XIII, The Anarchist Tradition,
6. Hunt, R. N. Carew, Tha Theory and Practice of Communism-An Introduction, Chapter XII, Anarchism,
7. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, अध्याय 5, साम्यवाद तथा अराजकतावाद

45. Lancaster, L. W., Masters of Political Thought, Vol. III, p 263

5

सिन्डीकलवाद

SYNDICALISM

फ्रांस समाजवादी विचारधाराओं का घर रह चुका है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यहां एक और समाजवादी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे सिन्डीकलवाद या श्रम संघवाद (Syndicalism) कहते हैं। वैसे इसे एक विचारधारा की अपेक्षा श्रमिक आन्दोलन कहना अधिक उपयुक्त होगा।

सिन्डीकेलिज्म शब्द फ्रेंच शब्द सिन्डीकेट (Syndicat) से निकला है जिसका अर्थ श्रमिक-संघ (Labour Union) है। इस शब्द को स्पष्ट करते हुए लॉरविन (L. Lorwin) ने लिखा है कि "सिन्डीकेट एक व्यवसाय या एक जैसे ही व्यवसायों के श्रमिकों का समुदाय है, जो समान हित से संगठित रहते हैं।[1] जब उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में फ्रांस के श्रम-संघों के प्रमुख राष्ट्रीय संगठन उग्र-पन्थियों तथा नरम-पन्थियों में विभक्त हो गये तब इन दोनों की विरोधी नीतियों के लिए 'क्रान्तिवादी सिन्डीकेलिज्म' (Revolutionary Syndicalism) तथा 'सुधारवादी सिन्डीकेलिज्म' (Reformist Syndicalism) शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। कालान्तर में श्रमिक संगठनों पर क्रान्तिवादी सिन्डीकेलिस्टों का अधिकार हो गया। तभी से फ्रांस में श्रमिक-संघ की नीति केवल 'सिन्डीकेलिज्म' (Syndicalism) के नाम से प्रसिद्ध हुई। दूसरे देशों में भी छोटे श्रम-संगठनों के ऐसे ही सिद्धान्तों के लिए इसी शब्द का प्रयोग होने लगा।[2]

सिन्डीकलवाद ऐसी समाजवादी विचारधारा है जिसमें सामाजिक क्रान्ति वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप होती है। अन्य क्रान्तिकारी समाजवादी विचारधाराओं की तरह सिन्डीकलवाद भी क्रान्ति के उपरान्त राज्य तथा सरकार की समाप्ति करके उनका सम्पूर्ण दायित्व श्रमिक संघों (Syndicats) को देना अपना लक्ष्य मानता है। उग्र अराजकतावाद तथा साम्यवाद की भांति सिन्डीकलवाद भी हिंसात्मक क्रान्ति के साधनों को अपनाता है।[3]

---

1 Lorwin, L., Syndicalism in France, New York, 1914. p 125

2 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 289.

3 Gray, A., The Socialist Tradition, pp 408-409

विकास इतिहास

सिण्डीकलवाद का प्रादुर्भाव मुख्यतः फ्रांस में हुआ। इसका कारण यह था कि फ्रांस में लघु पैमाने के उद्योग अधिक थे तथा इन उद्योगों के संघ भी छोटे-छोटे रहते थे। सामान्यतः छोटे-छोटे श्रमिक संघ अपने लिये व्यापक संगठनों में संगठित नहीं कर सकते थे क्योंकि ऐसे बड़े श्रमिक संघों को और राज्य को सरकार संदेह की दृष्टि से देखती थी। यही कारण है कि सिण्डीकलवाद में संघ की छोटी-छोटी इकाइयों को अधिक महत्व एवं प्राथमिकता दी गयी है।[4]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की अवधि तक फ्रांस में श्रमिकों के ऊपर अत्यधिक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। उन्हें अपने संघ निर्माण करने की आज्ञा नहीं थी, इसलिये वैधिक रीति तथा सामूहिक रूप से कोई सौदेबाजी भी नहीं कर सकते थे। उन्हें सरकार की ओर से दमनकारी नीति तथा पूंजीपतियों की ओर से शोषण का सदैव सामना करना पड़ता था। अपने अधिकारों के लिए जब कभी श्रमिकों ने कोई आन्दोलन किया उसे राज्य द्वारा पूरी तरह दबाया गया। यही कारण है कि उस समय श्रमिक-वर्ग का राज्य के ऊपर से विश्वास उठ गया। वे उसे पूंजीपतियों के हित-साधन तथा श्रमिक वर्ग का दमन करने वाली संस्था समझने लगे। श्रमिक वर्ग को अपने प्रतिनिधियों पर भी विश्वास नहीं रहा। उनके जो प्रतिनिधि संसद में चुनकर जाते थे वे श्रमिकों के हितों को भुलाकर राज्य की दमन नीति के सहयोगी बन जाते थे। मिलरेण्ड (Millerand), विवियनी (Viviani), ब्रियां (Briand) जैसे जो श्रमिक प्रतिनिधि थे जो अधिक उग्रवादिता छोड़कर शासन के समर्थक बन गये। श्रमिकों का अपने प्रतिनिधियों तथा प्रतिनिधि सभाओं से भी विश्वास उठता गया। इन परिस्थितियों में समाजवाद का भविष्य, सोरेल (George Sorel) के अनुसार, स्वतन्त्र श्रमिक संघों पर ही निर्भर था।

इसी बीच मार्क्सवादी तथा अराजकतावादी विचार भी यूरोप के विभिन्न भागों में फैलते जा रहे थे। फ्रांस के सिण्डीकलवादियों पर इन दोनों विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा। फ्रांस की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इन दोनों विचार-धाराओं में जो भी उपयुक्त प्रतीत हुआ ग्रहण किया। मार्क्स से उन्होंने वर्ग-संघर्ष (class war) तथा पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष ग्रहण किया। अराजकतावादियों, विशेषतः प्रूधों, से उन्होंने संघीय स्वायत्तता (federal autonomy) के विचार लिए। उन्होंने अराजकतावादियों की कार्य प्रणाली भी अपनाई। इसलिये सिण्डीकलवाद को मार्क्सवाद और अराजकतावाद का समन्वय कहा जाता है। हरबर्ट रीड (Herbert Read) के अनुसार सिण्डीकलवादी सिद्धान्त में चाहे न हों व्यवहार में अराजकतावादी हैं।[5]

---

4 Lancaster, L. W., Masters of Political Thought, vol III, p 277.

5 Read, Herbert, Anarchy and Order, Faber and Faber, London, 1954, p 101.

इस समय फ्रांस का मजदूर वर्ग दुविधा में था। एक ओर तो उन्होंने यह अनुभव किया कि मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुए भी वे मार्क्स के बताये गये कार्यक्रम के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकते। दूसरी ओर फ्रान्स में सवैधानिक सुधारों की गति में कई बार रुकावटें आईं। इसलिये उन्हें अपने भाग्य सुधारने में न तो वैधानिक माध्यम कारगर प्रतीत हुए और न उनके प्रतिनिधि ही विश्वास के पात्र थे। इस परिस्थिति में फ्रांस का श्रमिक वर्ग ऐसे साधनों की खोज में था जिनसे उनके उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके। सिण्डीकलवाद इसी का परिणाम था।

फ्रांस में जब समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ता जा रहा था उसी समय श्रमिक वर्ग के कुछ दार्शनिक नेताओं ने भी अपने विचारों से श्रमिकों की चेतना का विकसित करने में योगदान दिया। इनमें फर्नेण्ड पेलोतिये (Fernand Pelloutier, 1867-1901) तथा जार्ज सोरेल (George Sorel, 1847-1922) प्रमुख थे। विशेषतः सोरेल सिण्डीकलवाद का मुख्य व्याख्याता माना जाता है।

पेलोतिये सम्भवतः सबसे प्रथम व्यक्ति था जिसने यह विचार व्यक्त किया कि फ्रांस के श्रमिकों को समस्त फ्रेञ्च राष्ट्र से अलग हो अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। इसे राजनीतिक समाजवादियों में तनिक भी विश्वास नहीं था। लेबर एक्सचेञ्जों (Bourses du Travail)[6] को इन राजनीतिक समाजवादियों के नियन्त्रण से पृथक रखने के लिये पेलोतिये 1894 में राष्ट्रीय फेडरेशन का मन्त्री बना जिस पद पर वह लगभग सात साल तक रहा। पेलोतिये की संगठन शक्ति से लेबर एक्सचेञ्जों ने कुछ प्रगति की। उसने फ्रांस के मजदूर आन्दोलन पर इस विचार का प्रभाव डाला कि मजदूरों को स्थानीय लेबर एक्सचेञ्जों द्वारा कार्य करके अपने ही सहकारी उद्योगों द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये।

सोरेल सबसे पहिली बार एक श्रमिक विचारक के रूप में प्रस्तुत हुआ। वह स्वयं शिक्षित व्यक्ति था। अविवेकवाद (Irrationalism) को राजनीतिक पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सोरेल को है। उसने मनुष्यों को तर्क-युक्त विचारों से नहीं किन्तु उनकी भावनाओं को भड़काने तथा अविवेकपूर्ण बातों को स्वीकार करने के लिये प्रभावित किया जिससे श्रमिक बिना सोचे समझे उसके विचार एवं कार्यक्रम स्वीकार करलें।[7]

श्रमिकों में अपने विचारों का प्रसार करने के लिये सोरेल ने एक मासिक पत्र श्रम-संघ (Trade Unions) का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्र के माध्यम से उसने इस विचार का प्रतिपादन किया कि समाजवाद का सम्पूर्ण भविष्य मजदूरों के सिण्डीकेटों के स्वतन्त्र विकास में है।

6 लेबर एक्सचेञ्ज फ्रांस में छोटे छोटे श्रमिक संगठन थे जहां श्रमिक बैठकर अपने निजी हितों की चर्चा तथा कार्यक्रम पर विचार करते थे।

7 Lancaster, L.W., Masters of Political Thought, Vol III p 276

पैलोतिये तथा सोरेल को सिण्डीकलवाद के मूल विचार व आधार प्रदान करने का श्रेय है। उनका विचार था कि "सर्वहारा वर्ग जिस सामाजिक परिवर्तन को चाहता है, वह आत्म-परिवर्तन होना चाहिये और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का स्थान जो नई व्यवस्था लेगी वह उन संस्थाओं के रूप में होगी जो मजदूरों द्वारा स्वयं अपने ही प्रयत्न से और सरकार के विरोध की उपेक्षा करके बनाई जायेगी।"[8]

यूरोप में समाजवाद की प्रगति का प्रभाव, फ्रांस में उग्र श्रमिकों का अभ्युदय, तथा कुछ विचारकों के विचारों से प्रभावित हो फ्रांस की सरकार को आखिर झुकना पड़ा। सन् 1864 में एक कानून के द्वारा हड़ताल करने के अधिकार को स्वीकार किया गया। इसके चार वर्ष बाद ही फ्रांस की सरकार ने घोषणा की कि उन सभाओं के कार्य में जिनके उद्देश्य शान्तिपूर्ण हैं राज्य किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। इन प्रतिबन्धों के हट जाने तथा शासन की नरमाई से श्रम संघवाद ने पनपना व प्रगति करना आरम्भ किया।

वैसे फ्रांस में श्रमिक संगठनों पर कई प्रतिबन्ध होते हुए भी यात्री सहायता सभाएँ (Travelers' Aid Societies) तथा पारस्परिक सहायता सभाएँ (Mutual Aid Societies) स्थापित की गयी थीं। जब सरकार के कुछ उदारवादी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप 1884 में एक कानून द्वारा मजदूरों को अपने संघ स्थापित करने का अधिकार दिया तो श्रमिकों ने इस कानून का पूरा लाभ उठाया। स्थानीय श्रमिक संघों के कार्यों को संगठित करने के प्रयोजन से 1886 में मजदूर सभाओं का एक राष्ट्रीय संघ (National Federation) स्थापित किया गया। 1887 में सबसे पहला लेबर एक्सचेंज पेरिस में स्थापित हुआ तथा कुछ ही समय में अन्य नगरों में लेबर एक्सचेंजों की स्थापना की गई। इन लेबर एक्सचेंजों का उद्देश्य मजदूरों के लिए रोजगार की खोज, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना, समाचार पत्रों का प्रकाशन करना, बेकार श्रमिकों को आर्थिक सहायता देना था। शीघ्र ही लेबर एक्सचेंज श्रमिक गतिविधियों के मुख्य केन्द्र बन गये।

1893 में इन लेबर एक्सचेंजों का राष्ट्रीय संघ स्थापित किया गया तथा 1895 में मजदूरों की एक नवीन तथा महत्वपूर्ण संस्था को जन्म दिया गया जिसका नाम जनरल कन्फेडरेशन ऑफ लेबर (Confederation Generale du Travail or C.G.T) था। क्रान्तिकारी सिण्डीकलवाद की विचारधारा तथा कार्यक्रम का सृजन इसी संस्था के तत्वावधान में हुआ। इसके ही माध्यम से सिण्डीकलवाद को व्यावहारिक रूप दिया गया।

फ्रांस का लेबर कन्फेडरेशन शक्तिशाली था, जिसके तत्वावधान में काफी हड़तालें तथा तोड़फोड़ की गतिविधियाँ आयोजित की गईं। किन्तु यह एक संगठित

8. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिंतन, पृ० 246-47.

संघ नहीं बन सका। इसमें पहले से ही नरम एवं उग्रवादियों में मतभेद चल रहे थे। 1906 में यह श्रमिकों की कार्य अवधि के प्रश्न पर मतभेद हो जाने के कारण और भी विभाजित हो गया।

सिण्डीकलवाद का फ्रान्स में धीरे धीरे पतन होने लगा। 1906 में सिण्डीकलवादियों ने एक व्यापक देशव्यापी आम हड़ताल के लिए आह्वान किया। यह हड़ताल हुई और यही इसके पतन का प्रारम्भ था। इसके अलावा प्रथम विश्व युद्ध के कारण लोगों का ध्यान युद्ध संचालन की तरफ अधिक था और सिण्डीकल आन्दोलन पृष्ठभूमि में होता चला गया।

सिण्डीकलवाद का प्रभाव फ्रान्स तक ही सीमित नहीं रहा, स्पेन तथा अमेरिका में भी इसके प्रभाव का प्रसार हुआ। स्पेन में प्रूधों के अनुयायी मारगाल (P Margall) ने श्रमिक आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। 1910 में एक श्रमिक-संघ (Federation of Labour) की स्थापना हुई। इसने स्पेन में बहुत कुछ उद्योगों को संचालित किया तथा रचनात्मक कार्यों को अपने हाथों में लिया।

अमेरिका में भी सिण्डीकलवाद ने श्रमिकों को प्रभावित किया तथा एक श्रमिक-संघ (Industrial Workers of the World or I W W.) की स्थापना हुई जिसने 1905 में एक समाजवादी कार्यक्रम स्वीकार किया। अमरीकी सिण्डीकल-वादियों ने, जिनका प्रमुख कार्य स्थान शिकागो था, हड़तालों को आयोजित किया तथा प्रथम विश्व युद्ध के समय सैनिक सेवा के लिये सरकार का विरोध किया। इस कारण उन्हें अमरीकी सरकार तथा रूस के समर्थक समाजवादियों की आलोचना का शिकार होना पड़ा। इनकी गतिविधियों के कारण अगस्त 1918 में इन पर मुकदमा चलाया गया तथा बहुत से प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को लम्बी सजाएं दी गयी। बहुत से सदस्यों ने अमेरिका के साम्यवादी दल की सदस्यता स्वीकार कर ली। तदुपरान्त अमेरिका में सिण्डीकलवाद का पतन होता चला गया।

प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त रूस के साम्यवादी दल ने विश्व के सभी मजदूर संघों को एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित करने के लिये आमन्त्रित किया। बहुत से सिण्डीकलवादियों ने इसका स्वागत किया जिसका सिण्डीकल आन्दोलन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। युद्ध के उपरान्त ही फासीवाद विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। फासीवाद ने बहुत कुछ सिण्डीकलवादियों से ग्रहण किया। यूरोप में जैसे जैसे फासीवाद लोकप्रिय होता गया वैसे वैसे ही सिण्डीकलवादी इसके समर्थक बनने लगे।

इसी समय गिल्ड समाजवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इस समाजवादी सम्प्रदाय ने सिण्डीकलवाद के कुछ तत्वों को ग्रहण किया। इसने सिण्डीकलवाद की त्रुटियों को भी दूर करने का प्रयत्न किया। सिण्डीकलवाद केवल उत्पादकों का ही समर्थन करता था, गिल्ड समाजवाद ने उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के ही हितों

को प्रश्रय दिया। साथ ही साथ गिल्ड समाजवाद शान्तिपूर्ण साधनों की ओर झुका हुआ था। इस प्रकार जो श्रमिक जो हिंसा, तोड़फोड़ तथा अन्य प्रत्यक्ष कार्यवाहियों से परेशान हो चुके थे, गिल्ड समाजवाद के समर्थक बन गये।

उपर्युक्त कारणों से सिण्डीकलवाद के प्रभाव में कमी आयी और पतन की ओर अग्रसर हुआ। किन्तु इसके अवशेष विश्व के कई राज्यों में शेष हैं।

सिण्डीकलवाद का अर्थ

सिण्डीकलवाद की परिभाषा करते हुए कोकर ने लिखा है—

"मोटे तौर से सिण्डीकलिज्म यह मानता है कि श्रमिकों को ही उद्योगों का नियन्त्रण करना चाहिये जिनके अधीन वे कार्य करें और जीवन निर्वाह करें, जिन सामाजिक परिवर्तनों को वे चाहते हैं उन्हें वे केवल अपने ही प्रयत्नों से और अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार साधनों से ही प्राप्त कर सकते हैं।"[9]

जोड के अनुसार—

"श्रमिक-संघवाद (सिण्डीकलवाद) की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि यह वह सामाजिक सिद्धान्त है जो श्रमिक-संघों को नवीन समाज का आधार बनाता और साथ ही साथ यह साधन भी मानता है जिसके द्वारा अभिनव समाज की स्थापना की जायेगी। श्रमिक-संघवाद स्पष्टतः समाजवादी है, क्योंकि यह अन्य समाजवादी मतों की भांति पूंजी को चोरी मानता है तथा वर्ग-युद्ध की धारणा की पुष्टि करता है। यह उत्पत्ति के साधनों के निजी स्वामित्व का अन्त कर उसके स्थान पर सामुदायिक स्वामित्व को प्रतिष्ठापित करना चाहता है।"[10]

लेडलर (H. W. Laidler) ने अपनी पुस्तक-Social Economic Movements, में सिण्डीकलवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह विचारधारा व्यापार और उद्योग दोनों के श्रमिक संघों के मजबूत संगठन के लिये अत्यधिक जोर देती है ताकि नये औद्योगिक ढांचे का व्यवहार हो। वह उपभोक्ता की अपेक्षा उत्पादक को अधिक महत्व देता है; तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिये आम हड़ताल और प्रत्यक्ष कार्यवाही जैसे साधनों को महत्व देता है। इसके अलावा यह राजनीतिक राज्य की उन्मूलन की आवश्यकता तथा श्रमिकों की मुक्ति के लिये राजनीतिक कार्यवाही की प्रभावशून्यता की बात कहते हैं।

---

[9] कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ0 241.

[10]. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ0 62.

हूवर (G. E Hoover) ने स्वयं की पुस्तक—Twentieth Century Political Thought— में सिन्डीकलवाद का अर्थ उन क्रान्तिकारियों के सिद्धान्त और कार्य-क्रम से है जो औद्योगिक संघों की आर्थिक शक्ति का प्रयोग पूंजीवाद को नष्ट करने और समाजवादी समाज का संगठन करने के लिये करते हैं।[11]

सिन्डीकलवाद के विचार-सूत्र

सिन्डीकलवाद निषेधात्मक दर्शन है। इसमें लगभग सभी प्रचलित तत्कालीन व्यवस्थाओं और प्रणालियों का विरोध किया गया है। सिन्डीकलवादी विचार सूत्रों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

सिन्डीकलवाद और अविवेकवाद (Syndicalism and Irrationalism)

सिन्डीकलवाद अविवेकवाद पर आधारित है। यह तर्क-संगतता या विवेक में विश्वास नहीं करता है। सोरेल को महान् अविवेकवादी कहा जाता है। सोरेल का विश्वास था कि व्यक्तियों को उन बातों से प्रभावित करना चाहिये जो उनकी भावनाओं को छू लें। इसी कारण सोरेल भ्रान्तियों (myth) का भी प्रबल समर्थक था।[12]

अविवेकवाद का दूसरा पक्ष सोरेल का अज्ञानवाद (anti-intellectualism) था। सोरेल ने सुकरात से लेकर अपने तत्कालीन दार्शनिकों तक लगभग सभी की अत्यन्त कड़ी निन्दा की है। उन्हें सोरेल ने पाखण्डी (humbug), उच्च वर्गीय कीटाणुओं के सेवक, मायावी (charlatans) आदि कह कर पुकारा[13] जिन्होंने विश्व को गुमराह कर प्रगति-पथ पर कभी आगे नहीं बढ़ने दिया। इस प्रकार सोरेल का उद्देश्य सिर्फ अपने विचार की अभिव्यक्ति कर व्यक्तियों को प्रभावित करना था। उसने इस पर कभी भी ध्यान नहीं दिया कि कोई तर्क-संगत या वैज्ञानिक दृष्टिकोण होता भी है या नहीं।

पूंजीवाद का विरोध

सिन्डीकलवादी पूंजीवाद के प्रबल विरोधी हैं। उन्होंने अन्य समाजवादियों की भाँति पूंजीवाद तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध अपने लगभग वही तर्क दिये हैं। पूंजीवादी व्यवस्था को वे शोषण व्यवस्था मानते हैं। ये कारखाने, वस्त्र-औजारों के स्वामी होने के नाते सब लाभ हड़प लेते हैं। इन्होंने सम्पूर्ण समाज को कारखाने के नमूने पर संगठित कर रखा है। पूंजीवाद का उन्मूलन करना सिन्डीकलवादियों का प्रमुख उद्देश्य है।

वर्ग-संघर्ष

सिन्डीकल आन्दोलन ने मार्क्सवाद से वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ग्रहण किया है। ये वर्ग-संघर्ष को प्रमुख स्थान देते हैं। किन्तु यही सब कुछ नहीं है। इनके अनुसार

11 उद्धृत, आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 618.
12 Lancaster, L W, Masters of Political Thought, Vol III, p 289
13, Ibid, p 301

वर्ग-संघर्ष महत्त्वपूर्ण है किन्तु अपनी विचारधारा में इसे साधन या उद्देश्य के रूप में स्वीकार नहीं करते।[14] वे समाज में पूँजीपति तथा श्रमिक वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी होने के कारण श्रमिकों का शोषण करता है। फलस्वरूप दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। दोनों वर्गों के परस्पर-विरोधी हित हैं। इस प्रकार की स्थिति के कारण श्रमिकों में वर्ग चेतना विकसित होती है और वे संगठित होकर पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करने को तैयार होते हैं।

श्रमिकों की स्वतन्त्रता एवं मुक्ति

सिन्डीकलवादी श्रमिकों को उद्योगपति तथा पूँजीपतियों के चंगुल से मुक्त कर उसे उत्पादक की श्रेणी में लाना चाहते हैं। उनका कथन है कि "मानव व्यक्तित्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति, उसकी रचनात्मक शक्ति का प्रमाण उत्पादक कार्य में ही है। कम से कम, कार्य इस कोटि का उस समय होता है जबकि वह उसका निजी कार्य हो जिसे उसने स्वेच्छा से ऐसे ढंग से तथा ऐसी अवस्थाओं में किया हो जिनका उसने स्वयं या अपने साथी मजदूरों के सहयोग से निर्धारण किया हो। तत्कालीन समाज में श्रमिक नीचे से ऊपर तक पराधीनता के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। जहाँ उद्योगपति साधनों यन्त्रों तथा औजारों के स्वामी होते हैं वहाँ मजदूर कोई भी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता। सिन्डीकलवादी कारखाने आदि को स्वतन्त्र बनाना चाहते हैं। जब कारखाना स्वतन्त्र होगा तो समाज भी स्वतन्त्र रहेगा और मजदूरों में गौरव तथा स्वाधीनता की भावना पुनः जाग्रत होगी।"[15]

मध्यमवर्ग तथा मध्यमवर्गीय समाजवाद का विरोध

सिन्डीकलवादी मध्यमवर्ग के विरोधी होने के साथ साथ मध्यमवर्गीय समाजवाद के प्रति भी श्रद्धा नहीं रखते। उनका कहना है कि श्रमिक समाजवादियों को छोड़ कर अन्य सभी समाजवादी मध्यमवर्गीय थे। सिन्डीकलवाद को छोड़कर सभी समाजवादी सिद्धान्त चतुर मध्यमवर्गीय सिद्धान्तशास्त्रियों के मस्तिष्क की उपज हैं। बुद्धिजीवियों को समाज की जो व्यवस्था आदर्श प्रतीत होती है उसी के अनुसार वे श्रमिकों को संगठित करना चाहते हैं। उन्हें श्रमिकों की आवश्यकताओं का कोई ज्ञान नहीं होता। इन आवश्यकताओं को श्रमिकों द्वारा निर्मित व्यवस्था ही व्यक्त कर सकती है। इसलिये सिन्डीकलवादियों का यह दावा था कि उनका समाजवाद स्वयं श्रमिकों का है, जो श्रमिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से कर सकता है। इस सम्बन्ध में सिन्डीकलवादी एक और तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार श्रमिकों और मध्यमवर्गीय व्यक्तियों के मध्य किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

14 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p 459

15 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 248.

समाज मे वर्ग चेतना को जीवित रखना अत्यन्त आवश्यक है। मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियो के साथ रहने या उस वर्ग मे मिलने से श्रमिको मे क्रान्ति या अन्य कार्यवाही करने के उत्साह मे मन्दी पड जाती है।[16]

राज्य का विरोध

सिन्डीकलवादी राज्य के प्रबल विरोधी हैं। इनका इस सस्था मे बिल्कुल विश्वास नही है। राज्य के प्रति विरोध और अविश्वास के ये निम्नलिखित कारण देते हैं:—

प्रथम, राज्य को सिन्डीकलवादी एक मध्यमवर्गीय सस्था मानते हैं। इस प्रकार इनका मध्यमवर्ग के प्रति विरोध राज्य के प्रति भी लागू होता है।

द्वितीय, राज्य समाज मे पूँजीपतियो के शोषण का साधन है। राज्य इस शोषण का श्रमिको के पक्ष मे कभी विरोध नही कर सकता।

तृतीय, राज्य मे केन्द्रीय व्यवस्था होती है। "हर केन्द्रीय संगठन एकरूपता और क्रमबद्धता की ओर प्रवृत्त होता है। उसमे कल्पनाशीलता एव उपक्रम का अभाव होता है, तथा वह स्थानीय विकास और उद्यम को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। इसलिये, यदि किसी उदार राज्य को भी उद्योग का नियत्रण सौंप दिया जाय, तो वह कालान्तर मे प्रगति का शत्रु हो जायेगा।"[17]

चतुर्थ, राज्य सेवा मे नियुक्त व्यक्ति अधिकाराभिमानी और सहानुभूतिहीन होते हैं। वे उन लोगों की आवश्यकताओ और आकाक्षाओं पर कोई ध्यान नही देते, जो वास्तविक-उत्पादन कार्य मे सलग्न होते हैं। लोक सेवा का मध्यमवर्गीय पदाधिकारी श्रमिकों की आवश्यकताओ को नहीं जान सकता। यही कारण है कि औद्योगिक संगठन का कार्य शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिको के हाथ मे ही होना चाहिये।

राष्ट्र तथा राष्ट्रीय भावना का विरोध

राज्य के साथ साथ सिन्डीकलवादी राष्ट्र तथा राष्ट्रीय भावना का भी विरोध करते हैं। इनका कहना है कि 'हमारा देश' 'हमारा राष्ट्र' आदि नारे एक ढोंग हैं। ये धारणाएँ पूँजीवादियों द्वारा प्रसारित की गई हैं। श्रमिको की कोई मातृभूमि नहीं होती। वस्तुत· समस्त ससार के श्रमिको की समस्याएँ एक हैं तथा उनमे कोई विरोध नही है।

जनतान्त्रिक व्यवस्था का विरोध

शासन व्यवस्था के विषय मे सिन्डीकलवादियों पर फ्रास की तत्कालीन राज-नीतिक स्थिति का प्रभाव पडा है। फ्रास मे राजनीतिक अस्थिरता, लोकतान्त्रिक संस्थाओ

---

16 जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 65.

17. जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 64.

का धीमा विकास, श्रमिक प्रतिनिधियों का श्रमिकों के प्रति विश्वासघात, शासन का श्रमिक सुधारों के प्रति उदासीन दृष्टिकोण आदि के कारण सिण्डीकलवादी सभी प्रकार की शासन व्यवस्था, विशेषत: लोकतान्त्रिक प्रणाली, के विरोधी हो गये तथा उसकी उन्होंने कटु आलोचना की। लोकतन्त्र की निन्दात्मक व्याख्या करते हुए सिण्डीकलवाद के प्रमुख प्रवक्ता सॉरेल ने कहा था :—

"लोकतन्त्र मनुष्यों के मस्तिष्कों को उलझन में डालने में सफल होता है, बुद्धिमान व्यक्तियों को वास्तविकता पहचानने में रुकावट डालता है, क्योंकि इस व्यवस्था में वे भाग लेते हैं जो समस्याओं को उलझाने में निपुण हैं। लोकतान्त्रिक युग के विषय में यह कहा जा सकता है कि सफलता शब्द-आडम्बर से प्राप्त होता है न कि विचारों से, चापलूसियों से न कि विवेक से...."[18]

सॉरेल के अनुसार जन-शासन सिर्फ कल्पना है। संसदीय वातावरण हमेशा जहरीला रहता है। यह मनुष्य को छोटे-मोटे पूँजीपति के रूप में परिणत कर देता है। जिस प्रकार बहुमत प्राप्त किया जाता है उससे किसी भी प्रकार की अच्छाई की आशा करना व्यर्थ है।[19] बहु-सदस्यों का शासन-सिद्धान्त मध्यवर्गीय अन्धविश्वास के अलावा कुछ नहीं। संक्षिप्त में सिण्डीकलवाद—

(i) लोकतान्त्रिक व्यवस्था का विरोध करता है, इसके साथ साथ,

(ii) संसदीय प्रणाली में अविश्वास, तथा

(iii) राजनीतिक दलों में किसी भी प्रकार की श्रद्धा नहीं रखता।

अधिनायकत्व एवं राज्य समाजवाद का विरोध

जब सिण्डीकलवाद में राज्य का विरोध किया गया है तो वे उन सभी सिद्धान्तों का विरोध करते हैं जिनके द्वारा राज्य की उपयोगिता एवं महत्ता को स्वीकार करने के साथ साथ राज्य को अधिनायकवादी अधिकार प्रदान करते हैं। इस सन्दर्भ में वे न तो सर्वहारा अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat) में और न राज्य समाजवाद (State Socialism) में विश्वास रखते हैं। सर्वहारा अधिनायकत्व प्रारम्भ में तो श्रमिकों को सत्ता उपलब्ध करता है किन्तु अन्तिम रूप में यह एक दल तथा एक नेता के अधिनायकत्व की स्थापना करता है। इसी प्रकार राज्य समाजवाद में सरकारी अधिकारियों का उत्पादन पर नियन्त्रण हो जाता है। यह मनोवृत्ति उत्पादकों के लिये हानिकारक होती है।

भावी समाज की रूपरेखा

सिण्डीकलवादियों ने जितना साधनों को महत्व दिया है उतना साध्य को नहीं। जिन उद्देश्यों या भावी समाज का वे सर्जन करना चाहते हैं उसका उन्होंने कोई

18 Quoted by Lancaster, L. W., Masters of Political Thought Vol III, p 280

19 Ibid., pp 280-81.

विशद चित्र प्रस्तुत नही किया है।[20] वास्तव में वे भावी समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत करना भी नही चाहते थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार की योजना प्रस्तुत करना असम्भव एवं अनावश्यक दोनों ही था। उनका कहना था कि ऐसा करने से निश्चय ही हानि होगी। समाज की काल्पनिक रूपरेखा यदि प्रस्तुत की जाय तो व्यक्तियो में सुधारवादी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होंगी तथा थोड़ा बहुत हेर फेर करके वे इसी समाज व्यवस्था को स्वीकार कर लेंगे। इसलिये इस समय वे सिर्फ वर्तमान व्यवस्था को समाप्त करने तक ही अपने को सीमित रखते हैं।

इतना सब होते हुये भी सिन्डीकलवाद के व्याख्याताओ की रचनाओं में भावी समाज की कुछ मोटी सी रूप-रेखा मिल ही जाती है। विशेषत दो भूतपूर्व अराजकतावादी पातांद (Pataud) तथा पूगे (Pouget) की पुस्तक–How We Shall Bring About Revolution, 1913,—में भावी सिन्डीकलवादी समाज का चित्रण किया गया है।

सिन्डीकलवादियो के विचारो से भावी समाज से सम्बन्धित कुछ सैद्धान्तिक बातें स्पष्ट हो जाती हैं जैसे—

प्रथम, वे मार्क्सवादियो की तरह तत्कालीन व्यवस्था का क्रान्ति द्वारा उन्मूलन कर किसी भी प्रकार के अधिनायकत्व के पक्ष में नहीं हैं।

द्वितीय, वे विकासवादी समाजवादियो की भाँति लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था का भी निर्माण नहीं करेंगे।

तृतीय, सिन्डीकलवादी अराजकतावादियों की तरह राज्य को तत्काल समाप्त करने की कहते हैं किन्तु राज्य की समाप्ति के बाद वे व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार समाज सर्जन करने के लिये स्वतन्त्र भी नहीं छोडना चाहते।

सिन्डीकलवादी समाज का मूल आधार श्रमिक-संघ हैं। वे फ्रांस में स्थापित श्रमिक कनफेडेरेशन (C G.T.) के नमूने पर नवीन सामाजिक सगठन की बात सोचते थे। इस कनफेडेरेशन में दो प्रकार की संस्थाएँ थीं—सिन्डीकेट और बोर्ज (लेबर एक्सचेन्ज)। सिन्डीकेट में एक ही उद्योग से सम्बन्धित श्रमिक सम्मिलित हुआ करते थे, किन्तु बोर्ज स्थानीय संस्था होती थी। एक बोर्ज मे एक ही स्थान पर विभिन्न उद्योगो में कार्य करने वाले श्रमिक शामिल होते थे। सिन्डीकलवादियो का विचार था कि बोर्ज जैसा श्रमिक-संघ स्थानीय सामाजिक सगठन की इकाई होगा। इस प्रकार के स्थानीय सगठन के निम्नलिखित कार्य होंगे —

(i) उद्योगो से सम्बन्धित इमारतें, मशीन तथा अन्य उत्पादक सामग्री की सुरक्षा करना,

[20] जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 65,
कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 257.

(ii) उत्पादन के सारे काम की देखभाल करना,

(iii) माल के आयात-निर्यात की देखभाल करना,

(iv) स्थानीय श्रमिक आवश्यकताओं से परिचित होना तथा

(v) इसी प्रकार के अन्य दूसरे श्रमिक संघों से सम्पर्क बनाये रखना, आदि।

सिन्डीकलवादी राज्य का उन्मूलन तो करते हैं किन्तु वे भावी समाज की व्यवस्था हेतु किसी न किसी प्रकार के केन्द्रीय संगठन का समर्थन करते हैं। वे राज्य से सम्बन्धित संस्थाओं जैसे कारागार, पुलिस, न्यायालय की समाप्ति की बात कहते हैं तथापि उनकी कल्पना है कि भावी सामाजिक व्यवस्था में इस तरह का वातावरण होगा जो हर व्यक्ति की उन्नति और विकास के अनुकूल हो। इसलिए इन संस्थाओं की स्वतः ही समाप्ति हो जायेगी। किन्तु कुछ ऐसे भी कार्य हैं जैसे डाक-व्यवस्था, रेल, सार्वजनिक सेवाएँ, उद्योगों के मध्य तालमेल बैठाना आदि जिनके लिए वे राष्ट्रीय श्रमिक संघों को आवश्यक मानते हैं।

अन्त में सी. जी. टी. की भाँति एक व्यापक राष्ट्रीय श्रमिक-संघ होगा जो इन सब मामलों के विषय में निर्णय लेगा जैसे उद्योगों में एक सी नीति अपनाना, बच्चे बूढ़े और बीमारों की देखभाल, काम के लिए न्यूनतम और अधिकतम आयु का निर्धारण, वेतन का मानदंड तथा काम के घण्टे आदि का निर्धारण करना।

रक्षा व्यवस्था के विषय में सिन्डीकलवादियों की धारणा है कि उनका समाज कभी युद्ध नहीं करेगा दूसरे श्रमिकों और जनता में इतना घनिष्ठ सम्पर्क होगा कि उनके मन में समाज विरोधी कार्य करने का विचार उत्पन्न ही नहीं होगा। इसलिए स्थायी पेशेवर सेना, पुलिस तथा सैनिक स्कूलों की आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु कभी-कभी विशेष स्थिति का सामना करने के लिए हर संघ में सशस्त्र श्रमिकों की एक टुकड़ी होगी जिसका मुख्य कार्य प्रतिक्रियावादियों को रोकना होगा। यदि संघों की ऐसी टुकड़ियां मिलाकर बड़ी टुकड़ियाँ बना ली जायेंगी जिन्हें केन्द्रीय संघ से अधिकार आदि दिये जायेंगे। प्रतिरक्षा की दृष्टि से सिन्डीकलवादी इतनी ही व्यवस्था को पर्याप्त समझते हैं।[21]

साधन-पद्धति (Means and Methods)

यह पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि राजनीतिक साधनों से परिवर्तन करने में सिन्डीकलवादी विश्वास नहीं करते। वे श्रमिकों के कल्याण के लिए अपने प्रतिनिधियों को भी श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते। अनुभव से उन्होंने यह सीखा है कि श्रमिकों को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये स्वयं पर ही निर्भर रहना चाहिये। "श्रमिकों

[21] सिन्डीकलवाद समाज की रूप रेखा के लिए देखिये —
जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 66–68.
शंकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 255–58.

को राज्य की सत्ता संसद-सदस्य या प्रतिनिधियों द्वारा परोक्ष रूप से प्राप्त करने की चेष्टा न कर प्रत्यक्ष रूप से अपने संघ की शक्ति द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।"[22]

आर्थिक साधन

सिन्डीकलवाद साधनों के विषय में इस धारणा से प्रारम्भ होता है "कि आर्थिक शक्ति ही सत्ता ग्रहण करने की कुंजी है।" श्रमिकों के राजनीतिक मत भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु उनके आर्थिक हित समान हैं अतः औद्योगिक क्षेत्र में उनमें एक प्रकार की ऐसी सुदृढ़ एकता होती है जिसका सामान्यतः राजनीतिक क्षेत्र में अभाव होता है। वे हड़ताल एक साथ करेंगे परन्तु एक मत से एक ही व्यक्ति को निर्वाचित नहीं करेंगे। प्रत्येक दृष्टि से राजनीतिक दल क्रान्ति का एक अत्यन्त ही निर्बल साधन है, वह विभिन्न रहता है, उसके अधिवेशन कभी-कभी होते हैं, और उसका आकार इतना बड़ा होता है कि वह लोक-संकल्प को प्रत्यक्ष रीति से अभिव्यक्त नहीं कर सकता।[23]

इस प्रकार सिन्डीकलवादी अपनी सारी शक्ति को आर्थिक क्षेत्र में केन्द्रित करते हैं, जो उन्हें एकता, सबलता तथा अतिरिक्त शक्ति प्रदान करते हैं।

सिन्डीकलवादी अपने साधनों में मार्क्स के निकट होते हुए भी उसकी शिक्षा का पूर्ण रूप से पालन नहीं करते। वे शान्ति में इसलिये विश्वास नहीं करते क्योंकि उनके लिये स्थिति उपयुक्त नहीं है। पूँजीपति सौदा करके, समझौता करके, श्रमिकों में मतभेद कर तथा स्वामी और श्रमिकों के मध्य अन्तर कम करने का प्रयत्न करते हैं। इन परिस्थितियों में क्रान्ति का सफल होना संदिग्ध है। किन्तु वे हिंसात्मक कार्यवाहियों की भी अवहेलना नहीं करते। "यह हिंसा ही है।" सोरेल के शब्दों में, 'जिसमें समाजवाद उच्च नैतिक मान्यता ग्रहण करता है, जिसके माध्यम से आधुनिक विश्व की मुक्ति होगी।"[24]

प्रत्यक्ष कार्यवाही (direct action)—इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सिन्डीकलवादी कई साधनों का सुझाव देते हैं जिनके द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति कर श्रमिक संघों की व्यवस्था प्रारम्भ होगी। सभी साधन प्रत्यक्ष कार्यवाही (direct action) पर आधारित थे। सोरेल के शिष्य लेगारदे (Lagardelle) के अनुसार, प्रत्यक्ष कार्यवाही का तात्पर्य था कि कार्यों को दूसरों पर न छोड़ा जाय जैसा कि प्रतिनिधि प्रणाली के अन्तर्गत होता है। श्रमिक वर्ग को स्वयं ही कार्यवाही करने के लिये दृढ़ निश्चित होना चाहिये।[25] इस प्रत्यक्ष कार्यवाही के, सिन्डीकल-वादियों के अनुसार, निम्नलिखित स्वरूप हैं—

22 जोड, आधुनिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 68.

23 उपरोक्त, पृ. 69.

24 Quoted, Bose, A, AHistory of Anarchism, p 312

25 Ibid, p 304

आम हड़ताल (General Strike)[26]—[illegible] हड़ताल का सबसे प्रभावकारी साधन मानते हैं जिसके द्वारा वे पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त कर सामाजिक क्रान्ति कर उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर लें। सोरेल की पुस्तक Reflections on Voilence—वास्तव में हड़ताल का ही वर्णन है। हड़ताल के औचित्य को सही सिद्ध करने के लिए कई तर्क दिए हैं, जैसे—

प्रथम, हड़ताल में श्रमिकों की दबी हुई शक्ति का प्रदर्शन होता है।

द्वितीय, यह श्रमिकों में सहयोग एवं एकता की भावना जागृत करती है।

तृतीय, यह वर्ग-भेद तथा दोनों वर्गों के मध्य तनाव पैदा करता है जिससे श्रमिकों में युद्ध करने जैसी शक्ति आती है और वे पूँजीवाद का उन्मूलन के लिए और दृढ़-संकल्प हो जाते हैं।

चतुर्थ, आम हड़ताल के साधन को अपनाने से श्रमिक-वर्ग मध्य-वर्ग की धोखा धड़ी में नहीं फँस पाता।

पंचम, जब जनता अपने शासन से असन्तुष्ट होती है तो वह हड़तालों द्वारा अपना क्रोध व्यक्त करती है। इसका सरकार के विरुद्ध सोदाकर निर्णय करने के लिये भी प्रयोग किया जाता है।

अन्त में, हड़ताल में श्रमिकों द्वारा हिंसा का प्रयोग नैतिक है। इससे उनकी आध्यात्मिकता की अभिवृद्धि होती है।

हड़ताल के महत्व का बखान करते हुए सोरेल ने कहा है:—

"हड़तालों द्वारा श्रमिक-वर्ग में श्रेष्ठतम, आन्तरिक तथा मर्मस्पर्शी भावनाओं का अभ्युदय होता है, आम हड़ताल उन सबका समूहीकरण कर एक संयोजित चित्र उपस्थित करती है और उन्हें एक दूसरे के निकट लाकर प्रत्येक को अत्यधिक तीव्रता प्रदान करती है।"[27]

इस सम्बन्ध में सिंडीकलवादियों के विचारों को व्यक्त करते हुए लॉस्किन ने लिखा है कि—

"हित-संघर्ष में हड़ताल श्रमिकों और स्वामियों को आमने-सामने लाकर खड़ा कर देती है। बिजली की चमक की भांति हड़ताल श्रमिकों और मालिकों के बीच गहरे विरोध को एक दम स्पष्ट कर देती है। इससे

26 For detailed study of this method see Gray, A., The Socialist Tradition, pp 418-32

27. "Strikes have engendered in the proletariat the noblest, deepest and most moving sentiments that they possess, the general strike groups them all in a co-ordinated picture, and by bringing them together gives to each one them its maximum intensity."
Reflections on Violens, p. 137.

उनके बीच की खाई और भी गहरी हो जाती है जो मजदूरों की एकता तथा संगठन को बल प्रदान करती है। यह एक क्रान्तिकारी तत्व है जिसका महान महत्व है।"[28]

सिन्डीकलवादी जब हड़ताल की बात करते हैं, इससे उनका तात्पर्य आम हड़ताल (General strike) से है न कि उन छोटी मोटी हड़तालों से जो वेतन वृद्धि, बोनस, कार्य अवधि घटाने आदि के लिये की जाती हैं। किन्तु सिन्डीकलवादियों के अनुसार आम हड़ताल का तात्पर्य यह नहीं कि देश भर के मजदूर एक साथ कार्य करना बन्द कर दें। इसका अर्थ हड़ताल में बहु-संख्यक श्रमिकों का सम्मिलित होना भी नहीं है। एक सिन्डीकलवादी के लिये वही आम हड़ताल है कि देश के मुख्य उद्योगों में काम करने वाले मजदूर पर्याप्त संख्या में हड़ताल कर दें। उनका विश्वास था कि आधुनिक युग में इतनी पारस्परिक निर्भरता है कि अल्प संख्या में भी मजदूर प्रत्यक्ष कार्यवाही करके पूरी व्यवस्था को ठप्प कर देंगे। जैसे ही एक पर्याप्त संख्या में वर्ग-चेतना से ओत-प्रोत और अनुशासनबद्ध श्रमिक तैयार हो जाएँ वैसे ही आम हड़ताल की घोषणा कर उत्पादन साधनों पर अधिकार कर लेना चाहिये।

सामान्यत सिन्डीकलवादी आम हड़ताल को ही प्राथमिकता देते हैं किन्तु वे दिन-प्रतिदिन छोटी-छोटी हड़तालों के महत्व की अवहेलना नहीं करते। उनके अनुसार प्रत्येक हड़ताल अपने में अच्छी चीज है। जब भी और जहाँ भी अवसर मिले हड़ताल को प्रोत्साहन देना चाहिये। हर हड़ताल आम हड़ताल की तैयारी में सहायक होती है। यदि कोई हड़ताल असफल भी हो जाये तो भी कोई हानि नहीं। कम से कम उससे श्रमिकों में वर्ग-चेतना, क्रान्तिकारी उत्साह और आन्दोलन के लिए उग्र भावना का विकास तो हुआ। ऐलेग्जेन्डर ग्रे के शब्दों में "छोटा से छोटी हड़ताल यदि बार-बार की जाय तो श्रमिकों में समाजवादी भावना को प्रबल करने, उनमें वीरता, त्याग व एकता की भावना भरने तथा क्रान्ति की आशा को चिरस्थाई बनाये रखने में असफल नहीं हो सकती।"[29]

ध्वंसात्मक कार्य अथवा तोड़-फोड़ की नीति (Sabotage)-सिन्डीकलवादियों का संघर्ष निरन्तर तथा कई प्रकार से चलता रहना चाहिये। हड़ताल के अलावा वे और भी अन्य साधनों का समर्थन करते हैं जैसे तोड़-फोड़, छाप (label) तथा बहिष्कार आदि। इन अन्य साधनों के अपनाने का मूल उद्देश्य यह है कि जब तक आम हड़ताल द्वारा पूंजीवाद तथा राज्य का विनाश न हो जाय तब तक श्रमिकों को निरन्तर उनके विरुद्ध कोई न कोई कार्य करते रहना चाहिये।

ध्वंसात्मक कार्य का अर्थ, कोकर के अनुसार, यह है कि उद्योगपति की सम्पत्ति का विनाश श्रमिकों द्वारा आलस्यपूर्ण कार्यों, ढंग से कार्य न करके स्वामी की

28 Lorwin, L., Syndicalism in France, New York, 1914, pp 126-27.
29 Gray, Alexander, The Socialst Tradition, pp 419-20

सम्पत्ति की फिजूलखर्ची तथा अन्य ध्वंसात्मक कार्यों में किया जाय। ध्वंसात्मक कार्य श्रमिकों को कारखाने में काम करते हुए या हड़ताल के समय कभी भी करते रहना चाहिये।[30] अन्य शब्दों में तोड़-फोड़ के मुख्य रूप हैं ठीक लगाकर कार्य न करना, धीरे-धीरे काम करना, आदेशों का अक्षरशः पालन न करना, ग्राहकों को वस्तुओं के दोष बतलाना जिससे वे वस्तुएं न खरीदें, मशीनों को जान बूझ कर खराब करना आदि। हालांकि सोरेल ने तोड़-फोड़ की नीति का विरोध किया, क्योंकि भविष्य इससे में श्रमिकों को हानि होगी तथा उनके चरित्र पर प्रभाव पड़ेगा, किन्तु सिन्डीकलवाद के प्रत्यक्ष साधनों में इसका भी महत्व रहा है।

छाप (Label)–इसका यह तात्पर्य है कि श्रमिकों के नियन्त्रित कारखानों में बनी हुई वस्तुओं पर श्रमिक एक अलग प्रकार की छाप लगाकर जनता से अपील करेंगे कि वे सिर्फ श्रमिकों द्वारा नियन्त्रित कारखानों में बनी हुई वस्तुओं को खरीदें न कि पूंजीपतियों के कारखानों में निर्मित माल। सिन्डीकलवादी समझते थे कि इससे पूंजीपतियों के माल की बिक्री पर गहरा एवं विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

बहिष्कार—बहिष्कार साधन के अन्तर्गत श्रमिक पूंजीपतियों के माल का बहिष्कार करने का प्रचार करेंगे। जहां सम्भव होगा वहां वे स्वयं भी बहिष्कार में सक्रिय भाग लेंगे। इससे वे पूंजीपतियों के माल की बिक्री में विघ्न डालकर हानि पहुंचाना चाहते हैं।

इसके साथ-साथ श्रमिक कैकैनी-नीति ('Ca' canny') नीति भी अपनाएं। इसका अर्थ है कि वे अधिक सावधानी से काम करें ताकि पूरे समय में बहुत थोड़ा काम हो।[31]

उपर्युक्त सिन्डीकलवादी साधन वास्तव में हिंसा और अहिंसा दोनों का ही मिश्रण है। हड़ताल हिंसात्मक या बिना हिंसा के भी हो सकती है। तोड़-फोड़ की नीति के साथ हिंसा सम्बन्धित है। किन्तु 'छाप' तथा बहिष्कार अहिंसात्मक श्रेणी में आते हैं। फिर भी सिन्डीकलवादी इन सभी साधनों को हिंसा पर आधारित मानते हैं क्योंकि वे हिंसा को भी अपने कार्य-क्रम एवं दर्शन में उचित स्थान देते हैं। कुछ भी हो उनके साधन पूर्णतः हिंसात्मक नहीं हैं।

सिन्डीकलवाद का मूल्यांकन

सिन्डीकलवाद का अविवेकीय (Irrationalist) आधार

सिन्डीकलवाद तथा इसके प्रमुख व्याख्याता सोरेल के विचारों का आधार अविवेकवाद था। अविवेकवाद का तात्पर्य किसी बात की तथ्यों तथा तर्क संगतता के आधार पर व्याख्या करना नहीं होता। इसके अन्तर्गत मनुष्य की भावनाओं और मूल प्रवृत्तियों का महत्व

30. कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 252-53.
31. जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 71.

होता है।[32] अविवेकवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये भ्रान्तियों (myth) का सहारा लेते हैं। जब सिन्डीकलवादी का यह आधार है तो विवेक, तर्क-दक्षता की अपेक्षा करना व्यर्थ है। जहां पर बुद्धिजीवियों की पूर्ण निन्दा की जाती हो तो ऐसी विचारधारा से ज्ञान अर्जन के तत्व ढूंढना भी असम्भव है। यही कारण है कि अराजकतावाद में सर्वत्र दोष ही दोष दृष्टिगोचर होते हैं।

राज्य का विरोध

मार्क्सवादी एवं अराजकतावादियों की भांति सिन्डीकलवादी राज्य के उन्मूलन का समर्थन करते हैं। सिन्डीकलवादियों का यह विचार बिलकुल ही अव्यावहारिक है। मनुष्य के जीवन में राज्य के महत्व की जो वृद्धि हो रही है तथा यह संस्था सक्रिय रूप से जिस प्रकार सकारात्मक एवं जनकल्याण के कार्यों को अपने हाथों में ले रही है इससे तो यही सिद्ध होता है कि राज्य मनुष्य का मित्र है तथा अच्छे जीवन व्यतीत करने में सहायता देने के लिये सर्वोत्तम साधन है।

हालांकि सिन्डीकलवादी राज्य की समाप्ति की बात कहते हैं लेकिन जिस समाज की वे कल्पना करते हैं तथा जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय श्रम संगठनों को जो अधिकार दिये जायेंगे वे वास्तव में वे ही कार्य हैं जिन्हें आजकल राज्य करता है। इस प्रकार एक ओर तो ये राज्य के उन्मूलन का समर्थन करते हैं लेकिन दूसरी ओर पिछले दरवाजे से वे राज्य को को पुनः वापस ले आते हैं। इस सम्बन्ध में बार्कर (Ernest Barker) के विचार उल्लेखनीय हैं। बार्कर ने लिखा है कि—

> "या तो राज्य की समाप्ति हो जानी चाहिये जैसाकि सिन्डीकलवादी व्यक्त करते हैं, इसका तात्पर्य अराजकता (अस्त-व्यस्त या उथल-पुथल) होगा, या फिर राज्य को रहना चाहिये—और यदि आप समाजवाद चाहते है तो वह राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकेगा। अगर राज्य को रखना है तो राज्य में अपने नागरिकों के जीवन से सम्बन्धित अन्तिम रूप से उत्तरदायित्व निहित होना चाहिये।"[33]

राष्ट्रीयता

सिन्डीकलवादी राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के विरोधी हैं। ये श्रमिकों का न तो कोई राष्ट्र मानते हैं और न राष्ट्रीयता। यह सिर्फ एक भ्रान्ति ही है। राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता को

32 *Kilzer and Ross, Western Social Thoughts*, p 281

33 "Either the state must go, as Syndicalists seems to advocate, and that means chaos, or the state must remain and then, if you are to have Socialism it must be a state Socialism If there is to be a state, it must have the final responsibility for the life of its citizens";

Barker, E., Political Thought in England, p 203

परिधि को तोड़कर सिन्डीकल समाज की स्थापना ठीक प्रतीत नहीं होती।[34] युद्ध के समय यह बात कई बार स्पष्ट हो चुकी है कि विभिन्न देशों के श्रमिक अपने-अपने देशों की सरकार को किस प्रकार व्यापक समर्थन देते हैं। श्रमिकों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय एकता की बात किसी सीमा तक स्वीकार की जा सकती है किन्तु राष्ट्र को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज की स्थापना करना एक यूटोपियावादी विचार ही प्रतीत होता है।

मध्यम वर्ग

सिन्डीकलवादियों ने मध्यम वर्ग की जो निन्दा की है वह उनकी मूर्खता का प्रमाण है। प्रत्येक समाज में मध्यवर्ग सदा से सबसे अधिक, प्रतिभाशाली या विरोध करने वाला तथा राजनीतिक स्थायित्व प्रदान करने वाला होता है। यह बात आधुनिक राज्य में ही नहीं किन्तु प्राचीन काल में अरस्तु ने भी राजनीति में मध्यम-वर्ग के योगदान को व्यापक रूप से स्वीकार किया। मध्यम वर्ग का उन्मूलन कर किसी भी स्थायी समाज की स्थापना नहीं हो सकती।

निश्चित भावी समाज की व्यापक रूप रेखा का अभाव

सिन्डीकलवादियों के समक्ष कोई निश्चित भावी-समाज की व्यापक रूप रेखा नहीं है। वे जो भी रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं वह न तो स्पष्ट है और न निश्चित। इसलिए यह विचारधारा उद्देश्य-हीन प्रतीत होती है। जिस विचारधारा के निश्चित उद्देश्य नहीं होते तो उसके प्रभाव का सीमित होना भी स्वाभाविक था। कोई भी व्यक्ति हड़ताल या हिंसात्मक कार्यवाहियों में क्यों सम्मिलित होगा जब उसके समक्ष यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसा करने के लिये वह किनसे प्रेरित हो रहा है। उद्देश्य-हीन विचारधारा कभी भी प्रभावशाली नहीं हो सकती।

संकीर्ण क्षेत्रीयवाद

लेकिन सिन्डीकलवादियों ने अपनी जो सामाजिक रूप रेखा प्रस्तुत की है उसमें स्थानीय श्रमिक संघों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। आलोचकों का कहना है कि इस प्रकार की व्यवस्था संकुचित क्षेत्रीयवाद को जन्म देगी जो सामाजिक एकता तथा प्रगति के मार्ग में बाधक होगी।[35]

उपभोक्ताओं की अवहेलना

सिन्डीकलवाद एकपक्षीय विचारधारा है। इसका तात्पर्य यह है कि यह सिर्फ उत्पादकों का ही समाजवाद है। ये उपभोक्ताओं की पूर्णतः अवहेलना करते हैं। लेडलर (Laidler) के शब्दों में "उत्पादकों के अधिकारों और उत्तरदायित्वों पर बहुत अधिक और उपभोक्ताओं के अधिकारों और उत्तरदायित्वों पर बहुत कम ध्यान

34. आशीर्वादम्., राजनीतिशास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 621.
35. जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 67.

देकर यह उपभोक्ताओं को अपने विरुद्ध कर देता है।[36] कोई भी विचारधारा तब तक पूर्ण या व्यावहारिक नहीं हो सकती जब तक वह समाज के इन दोनों अंगों के हित को ध्यान में न रखे।

सिन्डीकलवादी साधनों की आलोचना

सिन्डीकलवादी साधन-पद्धति के विरुद्ध प्रारम्भिक दोष यह है कि ये हिंसा को मान्यता देते हैं। सिण्डीकलवादी हिंसा को क्रान्ति के अन्तर्गत भी नहीं लिया जा सकता। वे हिंसात्मक साधनों का किस सीमा तक प्रयोग करें, स्पष्ट नहीं है। नैतिक दृष्टि से हिंसात्मक साधनों के औचित्य को कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता।

सिन्डीकलवादियों का मुख्य शस्त्र हड़ताल है। इस साधन की आलोचकों ने कटु निन्दा की है। *हड़तालों द्वारा सामाजिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं किया जा सकता।* इसलिये आम हड़ताल द्वारा क्रान्ति एक भ्रम है। यदि एक बार हड़ताल प्रारम्भ हो जाती है और लम्बी चल जाय तो इसका श्रमिकों पर ही विपरीत प्रभाव पड़ता है। वे भूखों मरने लगते हैं। इस प्रकार हड़तालों की सफलता बहुत कुछ श्रमिकों की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। जब श्रमिकों द्वारा सीधी कार्यवाही प्रारम्भ हो जाती है उसके बाद कोई नहीं जानता कि इसका अंत कहाँ होगा। यह श्रमिकों के समक्ष अनिश्चितता का वातावरण प्रस्तुत करता है जो सफलता के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। "आम हड़ताल एक कल्पना मात्र है। यह सगठित अराजकता से अधिक और कुछ नहीं है।"[37]

सिन्डीकलवादियों द्वारा आयोजित की गयी हड़तालों पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो उनकी व्यवहार में अनुपयुक्तता एवं असफलता स्वाभाविक प्रतीत होती है। 1894 से 1907 तक फ्रांस में हजारों हड़तालें हुई लेकिन उनमें 23 प्रतिशत सफल, 36 प्रतिशत में समझौता हुआ तथा 41 प्रतिशत असफल हुई। यहां तक कि *1906 में आयोजित देश व्यापी विशाल हड़ताल पूर्णतः असफल रही।*[38] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हड़तालों द्वारा सिन्डीकलवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकते। जब देश में बार-बार हड़तालें की जायेंगी उससे जन जीवन पर जो असर पड़ेगा उसके परिणामस्वरूप सिन्डीकलवादी सामान्य जनता को भी अपने पक्ष में नहीं कर सकते।

अन्य साधन जैसे तोड़-फोड़, बहिष्कार आदि अधिक प्रभावशाली प्रतीत नहीं होते। तोड़-फोड़ की नीति द्वारा क्रान्ति का नारा एक मजाक सा प्रतीत होता है। तोड़-फोड़ की नीति से श्रमिकों को भी हानि उठानी पड़ेगी, मशीनें नष्ट हो जायेंगी,

---

36 Laidler, H W, History of Socialist Thought, P 310

37 आशीर्वादम्., राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 621.

38 Bose, A., A History of Anarchism, p 322

कारखाने बन्द हो जायेंगे और उन्हें बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ेगा। निरंतर तोड़-फोड़ करते रहने से श्रमिकों का चरित्र गिर जायेगा, उनमें जिम्मेदारी की भावना नष्ट हो जायेगी। यह आशा करना व्यर्थ होगा कि क्रान्ति के बाद तोड़-फोड़ करने वाले श्रमिक उत्तरदायित्व की भावना से कार्य करेंगे। वास्तव में सिन्डीकलवादियों के साधनों में खोखलापन अधिक है तथा वे सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने के लिये अनुपयुक्त सिद्ध होंगे।

प्रभाव एवं योगदान

सिन्डीकलवाद का काफी अध्ययन हुआ है। कई विद्वानों ने इस पर व्यापक टीकाएँ की हैं। इतना सब होते हुए भी, ऐलेक्जेन्डर ग्रे का मत है, निष्कर्ष में लिखने के लिये लगभग कुछ भी नहीं है।[39] इस कथन में सत्यता तो है किन्तु सिन्डीकल-वादी विचारधारा ने कुछ प्रभाव अवश्य ही छोड़े।

सिन्डीकलवाद का सबसे अधिक विपरीत प्रभाव लोकतन्त्र के विकास पर पड़ा। इस विचारधारा के प्रादुर्भाव से यूरोप में जितनी अधिक संख्या में व्यक्ति इससे प्रभावित हुए यह एक आश्चर्य की बात थी। इससे पनपते हुए लोकतन्त्र का मार्ग अवश्य ही अवरुद्ध हुआ। किन्तु इसने लोकतन्त्र के समर्थकों को एक आत्म-विवेचन (self analysis) का अवसर प्रदान किया। वे इस बात पर विचार करने लगे कि आखिर लोकतन्त्र व्यवस्था में क्या कमी है जिसके कारण इतनी संख्या में व्यक्ति लोकतन्त्र से विमुख हो रहे हैं।[40] इस आत्म-विवेचन से लाभ ही हुआ। कई देशों में लोकतन्त्र की त्रुटियों को दूर करने के प्रयत्न किये गये सुधारों की शृंखला में वृद्धि हुई।

सिन्डीकलवाद के प्रभाव ने आगे चलकर फासीवाद (Fascism) को प्रोत्साहित किया। यूँकि बहुत सी बातों में सिन्डीकलवाद तथा फासीवाद में व्यापक अन्तर है किन्तु इनके बीच एक बड़ी मजबूत कड़ी है। मुसोलिनी सोरेल की रचनाओं को बड़े चाव से पढ़ता था। वास्तव में मुसोलिनी ने 1922 में सिन्डीकलवादी साधनों से ही सत्ता प्राप्त की।[41]

यतिन्द्रनाथ बोस ने सिन्डीकलवाद के योगदान की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस विचारधारा की शक्ति इसमें निहित है कि इसने श्रमिकों में तीव्रता, आत्म-विश्वास और साहस की भावना का विकास किया। द्वितीय, इन्होंने आर्थिक समस्याओं को सर्वाधिक महत्व दिया। ये आर्थिक सुधारों के लिये निरन्तर दबाव बनाये रखे। परिणामस्वरूप श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये यूरोप में कानूनों के

39 Gray, A., The Socialist Tradition, pp 430-31
40 Hallowell, J H., Main Currents in Modern Political Thought, p 463.
41. Sabine, G H., A History of Political Theory, p 714

निर्माण की गति में तेजी आई। तृतीय, सिण्डीकलवाद का आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को सबसे महत्वपूर्ण योगदान समाज के बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralism) का व्यापक प्रतियोगदान करना था जिससे व्यावसायिक आर्थिक संस्थाओं (functional economic organisations) की महत्ता स्वीकार की गई।[42]



पाठ्य-ग्रन्थ

1. Bose, A., — A History of Anarchism, Chapter IV, Syndicalism.
2. कोकर, फान्सिस., — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 8, सिण्डीकेलिज्म.
3. Gray, A, — The Socialist Tradition, Chapter 15, Syndicalism.
4. जोड., — आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, अध्याय 4. शिल्पी संघवाद (सिण्डीकलवाद) और श्रेणी-संघवाद
5. Laidler, H. W., — History yf Socialist Thought, Chapter XXII.
6. Lancaster, L. W., — Masters of Political Thought, vol. III, Chapter 8, Irrationalism, George Sorel.



42 Bose, A, A History of Anarchism, p 322

6

फेबियनवाद

FABIANISM

फेबियनवाद समाजवाद की एक अंग्रेजी विचारधारा है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मार्क्सवाद चर्चा तथा विवाद का मुख्य विषय था। मार्क्स ने अपने विचारों का प्रतिपादन इंग्लैण्ड में ही किया। किन्तु मार्क्सवाद वहाँ के लोगों को प्रभावित नहीं कर सका। इंग्लैण्ड की उदारवादी, व्यावहारिक तथा समझौता प्रिय जनता पर मार्क्सवाद के वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति तथा अन्य विचारसूत्रों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इससे भी मना नहीं किया जा सकता कि मार्क्स ने उस समय के विचार चिन्तन को नया मोड़ नहीं दिया। कोई भी व्यक्ति जिसमें थोड़ी बहुत चिन्तन-क्षमता थी इस प्रवाह से अलग नहीं रह सका। इसके साथ-साथ उस समय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति भी ऐसी थी जिसमें सुधार की अत्यन्त आवश्यकता थी। इन सभी कारणों ने इंग्लैण्ड के बुद्धिजीवी-वर्ग को चिन्तन के लिए प्रेरित किया। परिणाम-स्वरूप फेबियनवाद का अभ्युदय हुआ। प्रसिद्ध इतिहासकार बीयर (M. Beer) का विचार है कि उस समय सामाजिक-आर्थिक-नैतिक कारणों से कई प्रकार की राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न हो चुकी थीं। उन्हें सुलझाने के लिए राष्ट्रीय प्रयत्नों की आवश्यकता थी ताकि देश दक्षता और प्रगति की ओर अग्रसर हो सके। इस कार्य को विचार-चिन्तन के आधार पर पूरा करने का दायित्व फेबियनवादियों ने लिया।[1] इस प्रकार एक नई समाजवादी शाखा का जन्म हुआ।

फेबियन–समाजवाद का मुख्य विचार-स्थल फेबियन सोसायटी (Fabian Society) था। फेबियन सोसायटी का प्रादुर्भाव एक समाजवादी संस्था के रूप में नहीं हुआ था। 1883 में टॉमस डेविडसन (Thomas Davidson, 1840-1900) जो स्कॉटलैण्ड में पैदा हुए तथा अमेरिका में एक शिक्षा शास्त्री का कार्य कर रहे थे, का लन्दन आगमन हुआ। ये नैतिकवादी एवं रहस्यवादी थे तथा एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे जो इस कपटपूर्ण विश्व से दूर हो। इस सम्बन्ध में इनके प्रवचनों का लंदन में आयोजन किया गया। लंदन का बुद्धिजीवी समूह इनसे बहुत प्रभावित हुआ तथा डेविडसन के आदर्शों की उपलब्धि के लिए एक संस्था की स्थापना की गयी। लेकिन

1. Beer, M., A History of British Socialism, Vol II, p 277.

ये उद्देश्य तो पृष्ठभूमि में रह गये और समाजवादी उद्देश्यों को लेकर एक नए सगठन की स्थापना हुई। इस प्रकार जनवरी 4, 1884, को फेबियन सोसायटी की स्थापना हुई। इस सोसायटी के सदस्य एक रोमन जनरल फेबियस क्क्टेटर (Fabius-Cunctator) की कार्य-पद्धति से बड़े प्रभावित थे। इसलिए इस संस्था का नाम फेबियस के नाम पर फेबियन सोसायटी रखा गया। ग्रे के अनुसार संस्था का नामकरण कोई सुखप्रद नहीं था।[2] इस सोसायटी के नाम की व्याख्या फ्रैंक पॉडमोर (Frank Podmore) द्वारा लिखित इसके आदर्श-सूत्र (motto) से होती है। इस सम्बन्ध में लिखा गया है कि—

"आपको उपयुक्त अवसर के लिए उसी प्रकार प्रतीक्षा करनी चाहिए जिस प्रकार हॉनिबॉल से युद्ध करते समय फेबियस ने की थी, यद्यपि कई लोगों ने देर करने के लिए उसकी निन्दा की थी, किन्तु जब अवसर आ जाता है तो आपको फेबियस के समान कठिन चोट करनी चाहिए अन्यथा आपका प्रतीक्षा करना व्यर्थ एवं निष्फल होगा।"[3]

कुछ ही समय में फेबियन सोसायटी ने इंगलैंड के कई प्रख्यात बुद्धिजीवियों को आकर्षित किया जिनमें प्रमुख थे—सिडनी वेब (Sydney Webb), श्रीमती बीट्रिस वेब (Mrs Beatrice Webb or Mrs. Sidney Webb), जार्ज बर्नार्ड शॉ (Goerge Bernard Shaw), सिडनी ऑलीवीर (Sydney Olivier), ग्राहम वालास (Grabam Wallas), श्रीमती एनी बेसेन्ट (Mrs. Annie Besant), ह्यूबर्ट ब्लॉ (Hubert Bland), विलियम क्लार्क (William Clarke), केम्पबेल (J. Campbell), हैरॉल्ड लास्की (Harold Laski), कोल (G. D. H. Cole) आदि। किन्तु इनमें सबसे प्रमुख एवं प्रारम्भिक योगदान सिडनी वेब तथा जॉर्ज बर्नार्ड शॉ का था। ये ही फेबियनवाद के प्रवर्तक थे।[4]

फेबियनवाद के विकास की प्रमुख विशेषता यह है कि इस समाजवादी विचार-धारा के प्रतिपादकों का श्रमिकों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है, यह सिर्फ अंग्रेजी विद्वानों के मस्तिष्क की उपज थी। दूसरे, यह वह समाजवादी सम्प्रदाय था जिस पर पूर्व समाजवादियों जैसे ओवन या मार्क्स आदि का प्रभाव नहीं पड़ा है। ये इसकी

2 Gray, A , The Socialist Tradition, p 386

3 *"For the right moment you must wait, as Fabius did most patiently when* warring against Hannibal, though many censured his delays; but when the time comes you must strike hard, as Fabius did, or your waiting will be in vain, and fruitless "
Pease, Edward R , History of the Fabian Society, p 32

4 Beer, M , A History of British Socialism, Vol II, p 217

प्रेरणा के स्रोत नहीं हैं।[5] इनकी प्रेरणा के स्रोत तो कुछ गैर-समाजवादी व्यक्ति जैसे रिकार्डो (David Ricardo), मिल (J. S Mill), हेनरी जार्ज (Henry George) आदि हैं। बार्कर (Ernest Barker) का विचार है कि फेबियनवादियों पर मुख्य प्रभाव मिल का था। उन्होंने मिल के आर्थिक विचारों का अनुसरण किया। मिल ही ने यदृभाव्यम् (laissez faire) नीति और सामाजिक समन्वय (social adjustment) तथा राजनीतिक प्रगतिवाद (Political Radicalism) और आर्थिक सामाजीकरण (economic socialisation) के मध्य सेतु स्थापित किया। लगभग यही कार्य फेबियनवादियों का था।[6]

फेबियन सोसायटी के सभी सदस्य प्रथम श्रेणी के बुद्धिजीवी समालोचक थे सोसायटी की स्थापना के बाद इनका प्रथम कार्य उस समय की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं का अध्ययन कर कुछ निष्कर्षों का निर्धारण करना था। इन्होंने मार्क्स लासेल (Lassalle), प्रधों, ओवन, प्रमुख अर्थ-शास्त्री – स्मिथ, रिकार्डो तथा मिल आदि के विचारों का अध्ययन किया। यह अध्ययन 1884 से 1887 तक चलता रहा। इन वर्षों में मार्क्स ओवन तथा चार्टिस्ट आन्दोलनकारी इनकी आलोचना के प्रमुख केन्द्र थे। मार्क्स तथा ओवन से ये प्रभावित तो हुए किन्तु उनके विचार फेबियनवादियों के लिए ग्राह्य नहीं थे। बीयर (M. Beer) के शब्दों में:—

> "ओवन-समाजवाद संक्षिप्त एवं साधारण था, मार्क्सवादी समाजवाद क्रान्तिकारी एवं सैद्धान्तिक था; फेबियन समाजवाद सामाजिक पुनरुत्थान के लिए दिन-प्रतिदिन की राजनीति था।"[7]

फिर भी ये स्वयं को ओवन तथा मार्क्स से पृथक नहीं कर सके। ओवन इंग्लैंड-निवासी थे। उनके समाजवादी विचार और सहकारिता के क्षेत्र में योगदान को भुलाया नहीं जा सकता था। मार्क्सवाद पूर्ण यूरोप पर छाया हुआ था। कोई भी समाजवाद मार्क्सवाद के विवेचन के बिना अपूर्ण था।

फेबियन समाजवाद के सिद्धान्त

फेबियनवादियों द्वारा इतिहास की व्याख्या

अपने सैद्धान्तिक रूपों में फेबियन समाजवादियों ने ऐतिहासिक एवं आर्थिक आधार स्थापित करने में मार्क्सवादी परम्परा का अनुसरण किया। किन्तु इतिहास तथा अर्थशास्त्र से उन्होंने जो सामग्री ली एवं जो निष्कर्ष निकाले हैं वह मार्क्स से भिन्न है।

---

5 "The early Fabians owed little to pervious Socialist thinkers, and in particular nothing to either Owen or Marx Their intellectual derivation was wholly non socialists from Ricardo, Mill, Jevons, and Henry George" Crosland, C A. R., The Future of Socialism, p 84

6 Barker, E, Political Thought in England, p 90

7 Beer, M, History of British Socialism, Vol II, p. 281.

फेबियनवादियों के अनुसार इतिहास यह बतलाता है कि समाज स्थिर नहीं है। इतिहास में समाजवाद की जो व्याख्या है उससे मार्क्स की तरह यह सिद्ध नहीं होता कि प्रत्येक वस्तु पर आर्थिक अवस्थाओं का आधिपत्य रहता है। फेबियन यह मानते हैं कि इतिहास लोकतन्त्र तथा समाजवाद की ओर एक निरन्तर प्रगति प्रकट करता है। इस सम्बन्ध में सिडनी वेब लिखते हैं कि इतिहास 'लोकतन्त्र की अदम्य प्रगति' और 'समाजवाद की प्रायः निरन्तर प्रगति' को लगातार व्यक्त करता है। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि इंग्लैण्ड में कुलीनतन्त्र से किस प्रकार मध्यवर्गीय लोकतन्त्र में परिवर्तन हुआ तथा आर्थिक क्षेत्र में विशुद्ध व्यक्तिगत तत्व का धीरे-धीरे निष्कासन हो रहा है।[8]

फेबियनवाद का आर्थिक पक्ष

फेबियनवाद आर्थिक विज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित है। यह आधार समाज द्वारा उत्पन्न मूल्यों के सिद्धान्त में निहित है। रिकार्डो (David Ricardo 1772-1823) ने लगान-सिद्धान्त (Theory of Rent) के आधार पर 'परिश्रम-हीन आय' (unearned increment) के सिद्धान्त को जन्म दिया। फेबियनवादियों ने यह स्वीकार करते हुए बतलाया है कि 'परिश्रम-हीन आय' का सिद्धान्त सिर्फ भूमि तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उद्योगों के ऊपर भी चरितार्थ होता है। किसी उद्योग में पूंजी लगाने मात्र से किसी भी व्यक्ति को उसकी आमदनी का उचित अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। उद्योगों में 'परिश्रम-हीन आय' को मुट्ठी भर पूंजीपति भूमि और पूंजी पर स्वामित्व के कारण हड़प जाते हैं।[9] वास्तव में यही समाज में अनेक बुराइयों का मूल कारण है। इससे आर्थिक विषमता फैलती है। धनिक वर्ग के हाथों में पूंजी के केन्द्रीकरण होने से वह इसका दुरुपयोग विलासिता के साधनों पर करता है, जब कि दूसरी ओर जन-साधारण निर्धन होते जाते हैं। इन बुराइयों का अन्त केवल भूमि और पूंजी का राष्ट्रीयकरण या सामाजीकरण (socialisation) करके ही किया जा सकता है। फेबियनवादी राज्य के आर्थिक साधनों पर किसी भी एक वर्ग का नियन्त्रण स्वीकार नहीं करते। ये उत्पादन साधनों को समस्त समाज की सम्पत्ति मानते हैं।

फेबियनवाद के समर्थक मार्क्सवादी मूल्य का श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार श्रम ही एक मात्र मूल्य का निर्धारक तत्व नहीं है। इसके विपरीत ये जेवोन्स (Jevons) द्वारा प्रतिपादित *सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility Theory)* को मान्यता देते हैं, जिसके अनुसार मूल्य का निर्धारण माग और पूर्ति के सिद्धान्त (Theory of Demand

8. जौहर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 110-111.
9. Sabine, G H, A History of Political Theory, p 619

and Supply) तथा मिल (J.S. Mill) द्वारा विकसित उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) के द्वारा होता है।

फेबियनवादियों के अनुसार अतिरिक्त मूल्य का स्रोत श्रमिक या पूंजीपति की परिश्रम-हीन आय नहीं है। यह आय उत्पादन साधनों के स्वामित्व के परिणाम-स्वरूप भाड़े (rent) से प्राप्त होती है। किन्तु फेबियनवादी यह मानने को भी तैयार नहीं है कि यह आय भूमि तथा पूंजी के व्यक्तिगत स्वामियों को मिलनी चाहिए। यह अन्याय है। इस आय पर समस्त समाज का अधिकार होता है। "वह शासन जो सामाजिक सुधारों के प्रति गम्भीर है उसे अपना ध्यान उस ओर देना चाहिये जिससे औद्योगिक तथा कृषि आय का उपयोग आंशिक रूप से करों द्वारा, आंशिक रूप से म्यूनिसिपलीकरण और राष्ट्रीयकरण द्वारा सम्पूर्ण समाज के हित में किया जाय।"[10]

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त का विरोध

फेबियनवादियों ने स्वयं को न तो कभी श्रमिकों का प्रतिनिधि कहा और न उन्होंने कोई पृथक वर्ग बनाने का प्रयत्न ही किया। अपने समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उन्होंने वर्ग-संघर्ष को मान्यता नहीं दी। किन्तु उनके विचारों में वर्ग-संघर्ष का आभास अवश्य मिलता है। "जहाँ तक वर्तमान उत्पादन एवं वितरण प्रणाली समाज में हित-संघर्ष को उत्पन्न करती है वह संघर्ष फेबियनों के अनुसार वेतन पर काम करने वालों तथा उनको काम में लगाने वालों के बीच नहीं वरन् एक ओर समाज और दूसरी ओर पूंजी लगाकर धनी बन जाने वालों के बीच है।"[11] कुछ भी हो, फेबियनवादियों का उद्देश्य वर्ग-संघर्ष द्वारा एक वर्ग का विनाश कर दूसरे वर्ग की शासन व्यवस्था स्थापित करना नहीं था। फेबियन समाजवाद उन समस्त योजनाओं को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करता है, जो समाज के समस्त उत्पादन को किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग को सौंपती है। उसका उद्देश्य स्वामित्व श्रमिकों को नहीं समाज को सौंपना है। इस हस्तान्तरण में उन्होंने क्रमिक विकास के अवश्यम्भावीपन (inevitability of gradualness) पर जोर दिया है।

फेबियन समाजवाद के उद्देश्य

जैसे प्राय: यह कहा जाता है कि फेबियन सोसायटी न तो समाजवादी दल था और न मूलत: कोई समाजवादी विचारधारा, किन्तु कुछ व्यक्तियों के एक समूह द्वारा उस समय की आवश्यक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रसार करना तथा उनकी प्राप्ति के लिये व्यवस्थापिका तथा प्रशासनिक

10 Beer, M., A History of British Socialism, Vol II. p. 283
Also see Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 284

11 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 112-113.

समाधानों की ओर इंगित करना था।[12] प्रारम्भिक फेबियन समाजवादी निम्नलिखित सामान्य समझौते से प्रतिज्ञाबद्ध थे:—

"इस सोसायटी के सदस्य यह मानते हैं कि प्रतियोगी प्रणाली से सुख-सुविधाएं कम व्यक्तियों को मिलती हैं और बहुसंख्यक जनता को कष्ट मिलता है, इसलिए समाज का पुनः संगठन इस प्रकार होना चाहिए जिससे समाज के समस्त व्यक्तियों का सुख एवं कल्याण सुनिश्चित हो सके।"[13]

1884 में बर्नार्ड शा द्वारा तैयार किये गये घोषणापत्र में सोसायटी ने अधिक स्पष्ट शब्दों में समाजवाद को स्वीकार किया तथा कहा कि भूमि का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और राज्य को प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतियोगिता करनी चाहिए।

फेबियनवाद में समय समय पर तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपने उद्देश्यों में संशोधन एवं परिवर्धन हुए हैं। 1919 में फेबियनवादियों ने फिर यह घोषणा की कि—

"भूमि और औद्योगिक पूँजी को व्यक्तिगत स्वामित्व से मुक्त करके और उन्हें सार्वजनिक हित के लिए समाज के हाथों में सौंप कर समाज का पुनर्गठन करना इसका लक्ष्य है। तभी देश की प्राकृतिक और अर्जित सम्पत्ति को पूरी जनता में न्यायपूर्वक बाँटना सम्भव है।"

"इसलिए भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्मूलन करने के लिए समाज कदम उठाता है। ऐसा करने में वह प्रतिष्ठित आशाओं का और घर तथा बगीचे के स्वामित्व का न्यायसंगत विचार रखता है। यह उन सब उद्योगों को समाज के आधिपत्य में लाने के कदम उठाता है, जिनका संचालन सामाजिक रीति से किया जा सकता है तथा उत्पादन, वितरण और सेवा के नियमन में व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सार्वजनिक हित को प्रधान लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है।"[14]

इन उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए लेडलर (H. W Laidler) ने लिखा है कि इसका यह अर्थ हुआ कि फेबियनवाद—

प्रथम, पूँजीवाद से समाजवाद के संक्रमण को एक क्रमिक प्रक्रिया मानता है।

द्वितीय, शान्तिपूर्ण आर्थिक और राजनैतिक उपकरणों के माध्यम से ही उद्योगों के सामाजीकरण की आवश्यकता समझता है।

12 Beer, M , A History of British Socialism, Vol, II pp 276-77

13 Pease, Edward R , History of the Fabian society, p 269

14 Pease, Edward R , History of the Fabian Society, p 259

तृतीय, मध्यवर्ग को एक ऐसा समुदाय मानना है जिसका उपयोग नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए शासन कला का विकास करने में किया जा सकता है।

चतुर्थ, समाजवाद की प्राप्ति के लिए समाजवादी आदर्शों के विषय में सामाजिक चेतना को जागृत और सक्रिय करना महत्वपूर्ण कदम है।[15]

इंग्लैंड में जैसे जैसे समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ता गया तथा जैसे ही लेबर पार्टी की सक्रियता में वृद्धि हुई फेबियनवाद का महत्व कम होता गया। इनके सदस्यों में भी मतभेद होने लगे। परिणामस्वरूप फेबियनवाद के उद्देश्यों का पुनः मूल्यांकन किया गया। कोल (G. D H Cole) जो 1939 से 1946 तक फेबियन सोसायटी के अध्यक्ष रहे, उन्होंने 1942 में फेबियनवाद की निम्नलिखित शब्दों में फिर से व्याख्या की—

"हमारा विश्वास है कि समाजवादी आन्दोलन में कहीं एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो नवीन विचारों को सोचने और उनका प्रचार करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र हो। भले ही ऐसे विचार समाजवादी परम्परा के अनुसार शास्त्र-सम्मत न हों। समाजवाद कुछ निश्चित नियमों का समूह नहीं है, जिसे समय या स्थान का विचार किये बिना ही प्रयोग में लाया जाय।"

आगे कोल लिखते हैं —

फेबियन समाज का संगठन विचार-विनिमय के लिए है न कि चुनाव लड़ने के लिए। *यह काम उसने अन्य संस्थाओं के लिए छोड़* दिया है। फेबियनों को अपने चुने हुए काम–लेखन और अनुसंधान में लगा रहना चाहिये, पर चूंकि अब यह विस्तृत कार्य (समाजवादी दल में समाजवादी प्रचार) करने वाला कोई नहीं है, इसलिये फेबियन पुस्तक-लेखन और शोध कार्य द्वारा पूरे दल पर अपना वांछित प्रभाव डालने में असमर्थ है। यदि अन्य कोई इस कार्य को नहीं करता है तो फेबियनों को ही सामने आना होगा और समाजवाद का प्रचार करने का बीड़ा उठाना पड़ेगा।"[16]

कोल की यह व्याख्या निश्चय ही फेबियनवाद के पतन को व्यक्त करती है। अब लेखन और शोध कार्य में फेबियनवादियों का विशेष महत्व नहीं रहा, कोई विशेष समाजवादी कार्य-क्रम प्रस्तुत करना तो अलग रहा। लेबर पार्टी अब तक पूर्ण विकसित राजनीतिक दल ही नहीं बन चुकी थी किन्तु सत्ता को अपने हाथों में भी ले चुकी थी। धीरे-धीरे फेबियन सोसायटी लेबर पार्टी की छाया मात्र ही बनकर रह गई।

15 Laidler, H W, Social Economic Movements, p 184
16 Cole, G D H, Fabian Socialism, p 164

फेबियनवाद तथा राज्य

फेबियनवादियों का राज्य में विश्वास है। वे राज्य को प्रतिनिधि, संरक्षक, व्यवसायी, प्रबन्धकर्त्ता आदि सभी समझते हैं। किन्तु राज्य के विषय में उनके विचार मार्क्स से भिन्न थे। न तो वे राज्य के लोप में विश्वास करते थे और न सर्वहारा-अधिनायकत्व की भाँति राज्य के इतने व्यापक अधिकार के पक्ष में थे।[17] उनका कहना था कि राज्य बिना किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन के निर्दोष तथा विश्वासपात्र बनाया जा सकता है। इसलिये उन्होंने इस प्रकार के सुझाव दिये कि बिना क्रान्ति के ही राज्य के आन्तरिक स्वभाव में परिवर्तन हो जाय। ये सुझाव थे मताधिकार का विस्तार, प्रशिक्षित लोक सेवा (Civil Services), सबके लिये समान अवसर आदि।

फेबियनवादी राज्य के कार्य विस्तार को समाजवाद के लिये आवश्यक मानते थे। राज्य के कार्य में वृद्धि करने का तात्पर्य था कि राज्य के तत्वावधान में स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं को अधिक कार्य करने के अवसर देने चाहिये।[18] राज्य द्वारा कई प्रकार के कार्य करने नागरिक सेवाओं तथा औद्योगिक स्पर्धा में भाग लेने आदि से फेबियनवादियों का मुख्य आशय यह था कि ये कार्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा किये जायेंगे। वे बहुत से कार्यों के म्यूनिसिपलकरण (Municipalisation) के पक्ष में थे।

राज्य का अपने अधिकार क्षेत्र में कहाँ तक वृद्धि करनी चाहिये इस विषय में फेबियनवादी स्पष्ट नहीं हैं। उनके लिये समाजवादी मार्ग की ओर बढ़ना एक ऐसी यात्रा के समान था जिसकी कोई निश्चित मंजिल न हो।[19] किन्तु राज्य के माध्यम से अवश्य ही निरन्तर बढ़ते रहना चाहिये। इंग्लैंड में जब जब लेबर पार्टी की सरकार बनी उसने फेबियनवादी सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया। उनके कार्यकाल में कई उद्योगों के राष्ट्रीयकरण किये गये तथा नगरपालिकाओं ने कई नागरिक सेवाओं को अपने नियन्त्रण में लिया।

कार्य-पद्धति (Methods and Means)

फेबियनवादी समाजवादियों में सर्वाधिक सक्रिय किन्तु किंचित् मात्र भी क्रान्तिकारी नहीं थे।[20] उन्होंने हमेशा ही अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये शान्तिपूर्ण एवं संवैधानिक साधनों का समर्थन किया। वे क्रमिक-प्रगतिवादी (Gradualist) थे। कार्य-पद्धति के विषय में उनके लिये यह प्रयास गति अधिक उपयुक्त थी—

---

17 Crosland, C A R, The Future of Socialism, p 84
18 Gray, A, The Socialist Tradition, p 387,
Cole, G D H, Fabian Socialism, pp 164, 172
19 Gray, A., The Socialist Tradition, p 399
20 Ibid, p 399

हम बढ़ेंगे,
निरन्तर थोड़ा-थोड़ा आगे।[21]

जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया गया है फेबियनों का उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना नहीं था। वे समाजवादी विचारधारा को जन साधारण तक पहुंचाना चाहते थे। इसलिये उन्होंने मुख्य प्रसार साधनों को ही अपनाया था।[22] उन्होंने पुस्तक-प्रकाशन, लेखों, व्याख्यानों तथा अध्ययन संस्थाओं का सहारा लेकर अपने विचारों से जनमानस को प्रभावित करने का प्रयत्न किया।

फेबियनवादी उच्च कोटि के बुद्धिवादी थे। फेबियन समाज के तत्वावधान में कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन हुआ। पीज (Edward Pease)[23] द्वारा लिखित-History of the Fabian Society, फेबियनवादियों के लेख तथा व्याख्यानों का संग्रह-Fabian Essays in Socialism (1889) तथा Fabian Society Tracts, 1884-1924, Nos 1-212 आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।[24]

1888-89 में फेबियन सोसायटी के सदस्यों ने सात सौ से अधिक व्याख्यान दिये। 1912 में सोसायटी ने एक फेबियन अन्वेषण-विभाग खोला। समय समय पर फेबियन ग्रीष्म स्कूलों (Fabian Summer Schools), विश्व-विद्यालयों तथा कई शहरों में फेबियन कोष्ठों (Fabian Cells) की स्थापना की गई। इन सभी ने फेबियन समाजवादी विचारधारा का प्रसार तथा इसे लोकप्रिय बनाने का व्यापक एवं सफल प्रयत्न किया और यही फेबियनों का उद्देश्य था।

महिला उत्थान

महिला उत्थान के क्षेत्र में फेबियन सोसायटी की महिला सदस्यों ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। इनका विश्वास था कि समाज में महिला-मुक्ति तथा उनकी प्रगति समाजवाद का एक आन्तरिक भाग है। महिलाओं की उन्नति तथा समाजवाद का विकास बहुत कुछ समानान्तर चलता है। राष्ट्रीय जीवन के पूर्ण सामाजीकरण के लिये महिलाओं की राजनीतिक, आर्थिक स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है। इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए 1908 में फेबियन सोसायटी के तत्वावधान में एक फेबियन महिला ग्रुप (Fabian Women's Group) की स्थापना की गई। इस संस्था का मुख्य कार्य महिलाओं से सम्बन्धित राजनीतिक व आर्थिक संस्थाओं का व्यापक अन्वेषण करना तथा उन्हें मर्दों के स्तर तक लाना था। इन्होंने बिना

21 We shall go,
Always a little further
Ibid, p 399
22 Ibid, p. 387.
23 एडवर्ड पीज 1884 से 1912 तक फेबियन सोसायटी के सचिव थे।
24 For literary and scientific work of Fabian Society See Beer, M, A History of British Socialism, Vol II, pp 238-90.

किसी भेदभाव के स्त्री तथा पुरुषों की समानता की माग की । ये वास्तव मे यह भ्रान्ति दूर करना चाहते थे कि स्त्री और पुरुष अलग अलग कार्यों के लिये ही उपयुक्त हैं ।

महिला उत्थान से सम्बन्धित इस ग्रुप ने व्याख्यानों का आयोजन किया तथा रचनाएँ प्रकाशित कीं । इन रचनाओं मे प्रमुख थीः—

1. Hutchins B. L. (Miss)., The working life of women
2. Pember Reeves (Mrs.)., Family life on one pound a week.
3. Charlotte Wilson (Mrs) and
   Helen Blagg (Miss), Women and Prisons.
4. Mobin Atkinson (Miss), The Economic Foundation of the Women Movement.

मूल्यांकन

रमजे मेकडोनेल्ड (J Ramsay MacDonald), 1924 मे इंग्लैण्ड में लेबर पार्टी के प्रथम प्रधानमन्त्री, के मतानुसार फेबियन सोसायटी का समाजवादी सगठन के विकास मे बिलकुल मामूली योगदान रहा है । वास्तव मे फेबियन सोसायटी ने उन बहुत मे विचार और नीतियो का विरोध किया जिसने इंग्लैण्ड मे एक विशेष ढग के समाजवादी आन्दोलन का निर्धारण किया । ये एक स्वतन्त्र श्रमिक दल के अलग अस्तित्व के विरुद्ध थे ।[25]

फेबियन सोसायटी सिर्फ एक अन्वेषण-केन्द्र तथा मुट्ठी भर बुद्धिजीवियों का विचार-विनिमय का फोरम था । यही कारण था कि फेबियनो ने अपनी सख्या मे वृद्धि नही की । 1914 में इसकी सदस्य सख्या लगभग 3000 थी ।[26] इस सदस्य सख्या से सिर्फ सीमित विचार-क्रान्ति या विचार-परिवर्तन ही सम्भव था । इसका तात्पर्य था कि फेबियनवादी जन साधारण के साथ न तो घुले मिले और न उनकी समस्याओं को प्रत्यक्ष रूप से उनके साथ रह कर समझ सके । इनमे तथा जन-साधारण के मध्य भारी खाई थी ।

फेबियनवादी प्रहार करने के इच्छुक तो हैं, लेकिन उसके लिये उनमें क्षमता नहीं थी । वे अपने विचारों मे मार्क्स ओवन तथा अन्य की आलोचना करते हैं., वे परिश्रम-हीन आय, जिसका सम्बन्ध पूंजीवाद से ही हो सकता है, की भी निन्दा करते हैं., ये समाजवादी प्रगति के लिये कार्यक्रम भी सुझाते हैं, लेकिन जहाँ तक कार्यशील होने का प्रश्न था इन्होंने सामान्यतः अपने अध्ययन-कक्ष की सीमा को पार करने की हिम्मत नहीं की । यही उनका कार्य-स्थल था । फिर भी ये कम से कम निम्न वर्ग के लिए, जिसका कि प्रत्येक देश मे बहुमत होता है, कुछ गतिशील होने की

25 Ramsay MacDonald J., Socialism Critical and Constructive, p 82
26 Beer, M., A History of British Socialism, vol II, p 296

प्रेरणा दे सकते थे। वे यह भी नहीं कर सके। वे जो कुछ भी चाहते थे राज्य के माध्यम से करवाना पसन्द करते थे। इसका सीधा यही तात्पर्य था कि राज्य जिस पर पूँजीपतियों का अधिकार था वही जन कल्याण की ओर कदम उठाये। यह व्यापक रूप से असम्भव था। वे राज्य को तथा उच्च वर्ग को उदारवादी बनाना चाहते थे, समाजवादी नहीं। सम्भवत उच्च-वर्ग से फेबियनों के सम्बन्ध घनिष्ठ थे।

फेबियनवादी इस विषय पर मौन हैं कि जिस व्यवस्था का वे समर्थन करते हैं, क्या वह राजनीतिक लोकतन्त्र को बनाये रखने में सफल होगी। लेन लेनकास्टर का विचार है कि सम्भवतः यह आसान नहीं होगा। क्योंकि फेबियनवादी राज्य को एक सेवा करने वाली सार्वजनिक कर्मचारियों की संस्था मानते हैं। ये सार्वजनिक कर्मचारी अपना स्वयं ही एक वर्ग बना लेते हैं। कर्मचारी दक्षता पर अधिक बल देते हैं और यह व्यक्तियों तथा राज्य के मध्य एक चौड़ी खाई की स्थापना करता है।[27]

योगदान

ऐलेक्जेन्डर ग्रे के विचारानुसार फेबियनों का महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने समाजवाद को एक सम्मानित विचारधारा बनाया। इससे पहले समाजवाद को विध्वंसकारी, विप्लवकारी, तोड़-फोड़वादी, मजदूर वर्ग की विचारधारा माना जाता था। फेबियनों ने ऐसे समाजवाद का सर्जन किया जिसे मध्य-वर्ग, तथा थोड़ा बहुत पढ़ा लिखा व्यक्ति भी आसानी से ग्रहण कर सके। जिस तरह उन्होंने अपने विचारों का प्रसार किया समाजवाद एक सम्मानित विचारधारा ही नहीं बल्कि एक फैशन बन गया।[28]

साहित्यिक महत्त्व

फेबियनवादी अपनी गतिविधियों से इंग्लैंड के समाज पर छा गये। उनके ग्रन्थों, पुस्तिकाओं आदि का राजनीतिक ही नहीं किन्तु साहित्यिक महत्त्व भी था। बर्नार्ड शॉ तथा अन्य का अंग्रेजी साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

फेबियन साहित्य मजा हुआ, सधा हुआ साहित्य था। उन्होंने जो कुछ लिखा वह शोध एवं साहित्यिक भाषा में ही लिखा। कार्ल मार्क्स की तरह आवेगपूर्ण क्रान्तिकारी शब्दों का प्रयोग नहीं किया।[29] यही कारण था कि इंग्लैंड की विचारशील जनता उनके विचारों से प्रभावित हुई।

इंग्लैंड की गृह नीति पर प्रभाव

फेबियनों का मुख्यतः प्रभाव इंग्लैंड की गृह नीति के क्षेत्र में पड़ा। उन्होंने श्रमिकों की स्थिति को उठाने, उद्योग वर्ग के स्वामियों की सम्पत्ति कम करने,

27 Lancaster, L. W. Masters of Political Thought, vol II, p 330
28 Gray, Alexander, The Socialist. Tradition, p 400
29. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 285.

लाभों का न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए कई व्यावहारिक योजनाएँ बनाई और तर्क एवं तथ्यों द्वारा उनको शक्ति प्रदान की।[30] कोकर ने मत व्यक्त किया है कि उन्होंने तात्कालिक प्रयोग के लिए व्यावहारिक योजनाएँ बनाई जो कई प्रकार से काम में लाई जा सकती थीं जैसे—

1. सामाजिक विधि-निर्माण द्वारा काम के घन्टों में कमी, बेकारी के समय संरक्षण, स्वास्थ्य सुरक्षा, वेतन के लिए न्यूनतम स्तर तथा शिक्षा की उन्नति
2. राष्ट्रीय तथा म्यूनिसिपल सरकारों द्वारा सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (public utility Services) और स्वाभाविक एकाधिकारों पर सार्वजनिक स्वामित्व,
3. उत्तराधिकार पर कर, भूमि-कर तथा लगी हुई पूँजी की आय पर कर आदि।

इन सभी क्षेत्रों में फेबियन समाजवादियों ने अधिक स्पष्ट प्रभाव डाला है। इंग्लैण्ड तथा स्कॉटलैंड में म्यूनिसिपल सामाजीकरण के विस्तार को शीघ्रता से बढ़ाने में इनके प्रचार-साहित्य तथा व्याख्यानों से बड़ी सहायता मिली। "उनसे उस लोकमत को तैयार करने में बड़ी सहायता मिली जिसने सम्पत्ति पर कर लगाने के नये ढङ्गों को कार्य में लाते समय राष्ट्रीय सरकार का समर्थन किया, जैसे, लगी हुई पूँजी से होने वाली आय पर सापेक्ष दृष्टि से ऊँचा कर लगाना, उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर भारी शुल्क लेना और (1910 के राजस्व कानून द्वारा) काम में नहीं ली हुई भूमि तथा काम में लाई हुई भूमि के मूल्यों में अनर्जित वृद्धि पर विशेष कर लगाना।"[31] इसमें कोई शक नहीं कि फेबियनवादियों ने कर लगाने के जो नये-नये सुझाव दिये वे महत्वपूर्ण थे। कोई भी समाजवादी दल या राज्य इन कर सुझावों की अवहेलना नहीं कर सकता।

इंग्लैण्ड के मजदूर दल पर प्रभाव

फेबियन समाजवादी इंग्लैंड में मजदूर दल (Labour Party) के सैद्धान्तिक पक्ष को व्यक्त करते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि समय समय पर फेबियनों ने मजदूर दल का सैद्धान्तिक मार्ग निर्देशन किया। सन् 1918 में सिडनी वेब ने मजदूर दल के लिए एक नया विधान तथा कार्य-क्रम बनाया जिसके कारण उसकी सदस्यता में विस्तार हुआ। फेबियन सोसायटी तथा मजदूर दल का सम्बन्ध काफी घनिष्ठ था तथा फेबियनों में बहुत से मजदूर दल के सक्रिय सदस्य थे। इंग्लैंड में

---

[30] कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 113–14.

[31] उपरोक्त, पृ. 114.

जब जब लेबर पार्टी को सत्ता रखनी उसमें फेबियन समाज के सदस्यों को महत्वपूर्ण स्थान मिला। सन् 1924 के प्रथम मजदूर मन्त्रिमण्डल में लगभग 9 फेबियन समाजवादी थे जिनमें प्रमुख सिडनी वेब, लार्ड आलीवर, नोएल ब्यूटन (Noel Buton) आर्थर हेन्डरसन, लार्ड टामसन आदि थे। यही नहीं प्रधानमन्त्री रेमजे मेकडॉनल्ड तथा उनके वित्तमन्त्री स्नोडन (Lord Snowdon) भी फेबियन सोसायटी के भूतपूर्व सदस्य थे। मजदूर दल की सरकारों के माध्यम से फेबियनों ने अपने समाजवादी कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न ही नहीं किया, किन्तु इंग्लैण्ड की सम्पूर्ण राजनीति को समयानुसार चलाये रखने के लिये महत्वपूर्ण योगदान दिया।

फेबियनवाद तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद

फेबियनवादियों का एक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि इन्होंने लोकतान्त्रिक समाजवाद को स्थायित्व ही प्रदान नहीं किया, उसकी गति में वृद्धि करने में भी योगदान दिया। ओवनवाद के यूटोपियायी विचारों से ऊपर उठकर तथा मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों का डटकर सैद्धान्तिक सामना कर इन्होंने लोकतान्त्रिक या विकासवादी समाजवाद के मार्ग को प्रशस्त तथा स्पष्ट दोनों ही किया। इंग्लैण्ड का मजदूर दल जो विकासवादी समाजवाद का द्योतक था फेबियनवादियों से उत्प्रेरित हुआ था।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Beer. M., A History of British Socialism, vol II, Chapter XIV, The Fabian Society.
2. कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन., अध्याय 5, प्रजातान्त्रिक एवं विकासवादी समाजवाद
3. Cole, G.D.H , Fabian Socialism, London, 1943,
4. Cole, Margaret., The Story of Fabian Socialism. London, 1963.
5. Gray, Alexander , The Socialist Tradition., Chapter XIV (a), Fabianism.
6. Laidler, Harry W., History of Socialist Thought., Chapters XVII and XVIII.
7. Pease Edward R., History of the Fabian Society, London, 1916, Revised edition, 1925.
8. Pelling, Henry (Ed.), The Challienge of Socialism, Chapter II, Fabian Society.

7

गिल्ड समाजवाद

GUILD SOCIALISM

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंग्लैंड में एक और समाजवादी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism) कहते हैं। गिल्ड समाजवाद का प्रवर्तन कुछ फेबियनवादियों ने मिलकर किया।[1] गिल्ड या श्रेणी (Guild) का अर्थ है स्वेच्छा पर आधारित पारस्परिक-निर्भर व्यक्तियों की वह स्व-शासित संस्था जिसका संगठन समाज के किसी विशेष कर्त्तव्य को उत्तरदायित्व के साथ पूरा करने के लिए संगठित किया गया हो।[2] गिल्ड या श्रेणी पर आधारित समाजवाद ही गिल्ड समाजवाद है।

गिल्ड समाजवाद की, किल्जर एवं रॉस के अनुसार, यह परिकल्पना थी कि समस्त उत्पादकों को सामान्यतः छोटी-छोटी आत्म-निर्भर औद्योगिक इकाइयों में संगठित किया जाय, जहाँ दस्तकारी के कार्य की प्रधानता तथा श्रमिकों में अधिक उत्तरदायित्व की भावना होगी, जो पूँजीवादी व्यवस्था में सम्भव नहीं है। इसकी प्राप्ति श्रमिकों के कार्य के गुण तथा सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को लोकतान्त्रिक ढंग से व्यवस्थित करने से होगी।[3]

कोकर ने मत व्यक्त किया है कि गिल्ड समाजवाद पूँजी के मालिकों से उन अवस्थाओं का निर्णय करने की सत्ता जिनके अधीन मजदूर काम करते हैं, और मजदूर जो कुछ उत्पादन करते हैं उससे लाभ उठाने का अधिकार छीन लेना चाहता है। परन्तु वह उत्पादकों या मजदूरों के अतिरिक्त अन्य सामाजिक हितों को भी स्वीकार करता है।[4]

लेकिन गिल्ड समाजवाद के जो भी उद्देश्य या कार्यक्रम हैं उनका माध्यम गिल्ड व्यवस्था ही होनी चाहिए। इस तथ्य को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करते हुए जोड ने लिखा है:—

"श्रेणी समाजवादियों के विषय में यह कहना सत्य है कि वह सिद्धान्तवादियों की एक छोटी सी मण्डली है, जो श्रमिक आन्दोलन के

---

1 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 285

2 Orage, A R, An Alphabet of Economics, London, 1917, p 53

3 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 286

4 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 275.

अन्तर्गत उनके प्रभावशाली सदस्यों को अपना मतवर्ती बनाने के उद्देश्य से काम कर रहे हैं तथा सामान्यतः अपने विचारों के समर्थन के लिए वे जनता से सीधी अपील नहीं करते।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाएँ तथा विचार गिल्ड समाजवाद को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करते। वास्तव में गिल्ड समाजवाद वह विचारधारा है जिसके समर्थक एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसका आधार गिल्ड प्रणाली हो। यह मूलतः श्रमिकों का आन्दोलन है किन्तु सभी प्रकार के उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को सरक्षण प्रदान करता है। गिल्ड समाजवादी राज्य विरोधी होते हुए भी किसी न किसी रूप में राज्य हितैषी हैं।

विकास: प्रभाव एवं कारण

गिल्ड समाजवाद की प्रेरणा-स्रोत मध्यकालीन यूरोप की व्यवस्था थी। मध्य-कालीन यूरोप में औद्योगिक और व्यावसायिक संघ जो गिल्ड (Guild) कहलाते थे, का आर्थिक जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। एक गिल्ड (संघ या श्रेणी) में एक उद्योग से सम्बन्धित सभी कारीगर और श्रमिक सम्मिलित होते थे। ये गिल्ड मजदूरी, कार्य-परिस्थितियों आदि का स्वयं निर्धारण करते थे। गिल्ड के सदस्यों का प्रशिक्षण, उनकी पारिवारिक सहायता आदि का प्रबन्ध भी इनके द्वारा किया जाता था। इसके अलावा समाज सेवा इनका मुख्य उद्देश्य था। वास्तव में उस समय की अर्थ व्यवस्था इन्हीं संस्थाओं द्वारा नियन्त्रित होती थी।

गिल्ड समाजवादियों पर इस व्यवस्था का मूल प्रभाव था। अपनी पुस्तक-Guild Socialism में कोल ने इस प्रभाव को स्पष्टतः स्वीकार किया है। किन्तु उनका उद्देश्य मध्यकालीन व्यवस्था को पूर्णतः लागू करना नहीं था। उसे आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर ग्रहण करना था। विशेषतः गिल्ड समाजवादी मध्यकालीन गिल्ड व्यवस्था की व्यावसायिक नैतिकता तथा समाजसेवी भावना से अत्यधिक प्रभावित हुए।[6]

गिल्ड समाजवाद पर बहुलवाद (Pluralism) की छाया स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। प्रमुख बहुलवादी नेविल फिगिस (J.Neville Figgis) जो इंग्लैंड में पादरी थे, ने अपने विचारों से बहुत से व्यक्तियों को प्रभावित किया। हेरॉल्ड लास्की (Harold J. Laski), लिन्डसे (A.D. Lindsay) के अलावा कोल (C. D. H. Cole) स्वयं भी प्रमुख बहुलवादी थे। वास्तव में कोल को किसी विशेष विचार-धारा तक सीमित नहीं किया जा सकता।

---

5 जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 76-77.

6 Cole, G D H, Guild Socialism, Allen & Unwin, London, 1920 pp 36-37.

गिल्ड समाजवाद को बहुलवाद की देन राज्य सत्ता को सीमित करने तथा राज्य के अन्तर्गत समुदायों को व्यापक अधिकार करने के क्षेत्र में है। बहुलवादी राज्य के व्यापक अधिकारों का विरोध तथा विकेन्द्रीकृत राज्य (Decentralised State) का समर्थन करते हैं। गिल्ड व्यवस्था के अन्तर्गत भी लगभग ऐसे ही विचारों का निरूपण किया गया है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि इंग्लैंड में इस समाजवादी सम्प्रदाय की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ? मार्क्सवाद की प्रेरणा से यूरोप में कई समाजवादी सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रांस में सिन्डीकलवाद तथा इंग्लैंड में फेबियनवाद ने कुछ समय तक समाजवादी आन्दोलन को प्रभावित किया। लेकिन समष्टिवाद और सिन्डीकलवाद दोनों ही अंग्रेजों की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं थे। इंग्लैंड में राज्य समाजवादी आन्दोलन की जड़ें कभी भी गहरी नहीं हो पाई हैं।[7] उन्हें सिन्डीकलवाद अत्यधिक उग्र, क्रांतिकारी तथा अराजकतापूर्ण प्रतीत हुआ। दूसरी ओर, फेबियनवाद अधिक उदारवादी होने के कारण अंग्रेजों को आकर्षित करने में असफल रहा। अंग्रेज परम्परागत मध्यमार्ग का अनुसरण करने वाले हैं, इसलिए उन्होंने फेबियनवाद और सिन्डीकलवाद की अतिवादिता को त्याग कर दोनों की अच्छी बातों का सम्मिश्रण कर एक नये समाजवादी सम्प्रदाय गिल्ड समाजवाद को जन्म दिया। अन्य शब्दों में गिल्ड समाजवाद को सिन्डीकलवाद और समष्टिवाद का 'बुद्धिवादी शिशु' (Intellectual Child) भी कहते हैं।

गिल्ड समाजवाद को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का श्रेय उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ विद्वानों को है। कारलायल (Thomas Carlyle, 1795–1881), स्कॉटलैंड के लेखक एवं दार्शनिक तथा जॉन रस्किन (John Ruskin 1819–1900), अंग्रेजी लेखक, आलोचक और समाज सुधारक आदि ने अति उत्पादन, शक्तिशाली शासन का विरोध तथा छोटे छोटे समूहों का समर्थन किया था। विलियम मोरिस (William Morris, 1834–1896) ने अपनी यूटोपियायी पुस्तक— News from Nowhere— में ऐसी कल्पना की है जहाँ बड़े-बड़े नगर नहीं थे, व्यक्ति विकेन्द्रीय ग्रामों में सुखपूर्वक तथा सहयोगपूर्ण भावना को लेकर रहते थे। इसके साथ ही साथ उन्हें अपनी कला और हुनर पर गर्व था।[9] मोरिस, कारलायल तथा रस्किन के लेखों में गिल्ड समाजवाद का केवल आभास ही मिलता है, उन्हें गिल्ड समाजवादी नहीं कह सकते।

---

7 Ramsay MacDonald J., Socialism Critical and Constructive, pp 89-90

8 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 285

9 Ibid, p 158

पेन्टी (A. J. Penty, 1875-1937), जो एक शिल्पकार थे, को गिल्ड समाजवाद का प्रमुख प्रवर्तक माना जाता है।[10] 1906 में प्रकाशित पेन्टी की पुस्तक-The Restoration of Guild System (अर्थात्, गिल्ड व्यवस्था की पुनर्स्थापना)—में गिल्ड समाजवाद के प्रारम्भिक विचार मिलते हैं। इस पुस्तक की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। पेन्टी के अनुसार उद्योग में स्व-शासन के मध्यकालीन सिद्धान्त को पुनः स्थापित करना चाहिए। इस व्यवस्था में दस्तकार, जो कि एक स्व-शासित श्रेणी का सदस्य होता था, उत्पादन के साधनों का भी स्वामी होता था और वही यह निश्चय करता था कि किस प्रकार का तथा कितना माल तैयार किया जाय।[11]

1909 तक इस सिद्धान्त ने अधिक व्यावहारिक रूप धारण नहीं किया था। 1909 से 1912 तक इग्लैंड में बड़ी श्रमिक अशान्ति रही जिसमें श्रमिक संघों ने प्रमुख भाग लिया। इस श्रमिक अशान्ति तथा आन्दोलन का मार्ग निर्देशन करने में ऑरेज (A.R. Orage, 1875-1934), जो पत्रकार, दार्शनिक एवं निबन्धकार थे, तथा पत्रकार एवं वक्ता हॉब्सन (S. G. Hobson, 1864-1907) ने महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। इन्होंने 1907 में एक पत्रिका—New Age—के माध्यम से इस प्रकार के विचार प्रसारित किये कि प्राचीन गिल्ड प्रणाली के विचार को वर्तमान श्रमिक संगठनों के आधार पर आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाना चाहिए। इनका सुझाव था कि उद्योग में उससे सम्बन्धित श्रमिकों का स्व-शासन हो। इसके लिए उनका संगठन एवं औद्योगिक गिल्ड व्यवस्था से किया जाय जिसका प्रारम्भ वर्तमान श्रमिक संघों के आधार पर किया जा सकता है।[12]

न्यू एज् (New Age) में प्रकाशित लेखमाला के आधार पर एक अन्य पुस्तक—National Guilds, An Inquiry into the Wage System and the Way Out—प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के द्वारा गिल्ड समाजवाद को पेन्टी के मध्यकालीन विचारों से मुक्त करा कर तथा एक नवीन दिशा प्रदान कर आधुनिक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया गया।

---

10. हेलोवेल ने गिल्ड समाजवाद का विवरण देने में पेन्टी का नाम ही उल्लेख नहीं किया है। संभवतः वे पेन्टी के योगदान को स्वीकार नहीं करते।
Hallowel, H J, Main Currents in Modern Political Thought, pp 466-468

11. जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 75.

12. उपरोक्त, पृ. 79;
A Summary of articles published in the New Age is given in A History of British Socialism by M. Beer, p. 365-66

गिल्ड समाजवाद के सबसे प्रबल समर्थक कोल (G. D. H. Cole, 1889-1959) थे जिन्होंने अपनी दर्जनों पुस्तक-पुस्तिकाओं में इस विचारधारा को विवेचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया।

इस सम्बन्ध में कोल की निम्नलिखित पुस्तकें अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थी —

1 Self Government in Industry, 1917.
2 Social Theory, 1918.
3 Guild Socialism Restated, 1920.
4. Guild Socialism, 1920 (a Fabian tract).

इन पुस्तकों के माध्यम से गिल्ड समाजवाद को पूर्णतः विकसित, व्यवस्थित तथा आन्दोलन का रूप देने का श्रेय कोल को ही है।

गिल्ड समाजवादी, विशेषत. ऑरेंज, किसी प्रकार की गिल्ड संस्था की स्थापना के विरोध में थे। इसलिए गिल्ड समाजवाद के संगठित आन्दोलन का रूप ग्रहण करने में कुछ कठिनाई हुई। किन्तु 1915 में गिल्ड समाजवाद के दो नये समर्थक आक्सफोर्ड के विद्वान विलियम मेलौर (William Mellor) तथा मोरिस रेकिट (M. B Reckitt) आदि ने एक राष्ट्रीय गिल्ड संघ (National Guilds League) की स्थापना की। ऑरेंज, हॉब्सन तथा कोल इसकी कार्यकारिणी के सदस्य थे। राष्ट्रीय गिल्ड संघ इस समाजवादी विचारधारा का प्रमुख केन्द्र बन गया। इसने कई बुद्धिजीवियों को आकर्षित किया। इसने एक मासिक पत्र-Guilds Man—निकाला जो बाद में 'Guild Socialist' हो गया।

गिल्ड समाजवादियों ने इंगलैण्ड में कुछ रचनात्मक कार्य भी किये। 1920 में मेनचेस्टर के अनेक भवन निर्माण मजदूर संघों ने 'भवन निर्माणकारी संघ'(A Builder's Guild) स्थापित किया। हाब्सन इस संघ के मंत्री थे। इस संघ ने ठेके लेकर लगभग दस हजार सस्ते मकानों का निर्माण किया। लेकिन सरकार का इसके प्रति कुछ विरोधपूर्ण दृष्टिकोण रहा। इसे आर्थिक सहायता बन्द कर दी गई तथा छः माह के अन्तर्गत Buider's Guild का अन्त हो गया। 1925 में राष्ट्रीय गिल्ड्स-लीग को भी भंग कर दिया गया। इसके बाद गिल्ड समाजवादी आन्दोलन का ह्रास होता चला गया।

गिल्ड समाजवाद के विचार-सूत्र

गिल्ड समाजवाद के सामान्यतः दो पक्ष हैं। प्रथम, गिल्ड समाजवादी, पूंजीवादी और प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था की वैसी ही परम्परागत आलोचना करते हैं जिस प्रकार समाजवाद के अन्य सम्प्रदाय। इस सम्बन्ध में गिल्ड समाजवाद, समाजवाद की अन्य शाखाओं से भिन्न नहीं है। द्वितीय, गिल्ड समाजवादी समाज के आर्थिक और राजनीतिक संगठन में आमूल परिवर्तन आवश्यक मानते हैं। इसके लिये वे कुछ

रचनात्मक सुझाव देते हैं जिनके कारण गिल्ड समाजवाद अन्य समाजवादी शाखाओं से हट कर एक अलग विचारधारा के रूप में स्वीकार किया जाता है। गिल्ड समाजवाद की प्रमुख विशेषताएँ इन दोनों पक्षों को व्यक्त करती हैं।

उत्पादन का ह्रास.—पूंजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक संगठन की गिल्ड समाजवादी कटु आलोचना करते हैं। इसके अनुसार श्रमिकों ने शिक्षा तथा जीवन-अनुभवों से यह सीख लिया है कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था उत्पादन वृद्धि के उपयुक्त नहीं है। श्रमिक कठोर परिश्रम द्वारा उत्पादन में वृद्धि तो कर सकता है किन्तु उसका यह लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। इसके विपरीत उत्पादन यदि सीमित है तो माग के अनुपात में वृद्धि कम होगी और इस प्रकार कम उत्पादन से ही अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन अधिक या कम क्यों न हो श्रमिकों को लाभ नहीं होता। किन्तु प्रमुख बात यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था अधिक उत्पादन के लिये प्रोत्साहित नहीं करती।

मूल्य-निर्धारण

गिल्ड समाजवादियों का कहना है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य श्रम से निर्धारित होता है। लेकिन भू-स्वामी, उद्योगपति और पूंजीपति मूल्य अधिक लेते हैं और अतिरिक्त मूल्य को हड़प जाते हैं। श्रमिकों को जो कुछ मिलता है वह बहुत ही अनुपयुक्त होता है। इस सम्बन्ध में इनका सुझाव है कि या तो वर्तमान प्रथा का अन्त कर दिया जाय या मजदूरी, किराया, लाभ, ब्याज आदि की दर को निश्चित करने का कोई अलग सिद्धान्त अपनाया जाय।

मजदूरी-प्रथा का उन्मूलन

पूंजीवादी दोषों को ध्यान में रखते हुए गिल्ड समाजवादी मजदूरी प्रथा को दोषपूर्ण मानते हैं। प्रथम, मजदूरी प्रथा श्रमिक को उसके श्रम से अलग कर देती है ताकि एक दूसरे के बिना दोनों को बेचा और खरीदा जा सकता है। द्वितीय, मालिक मजदूरी तभी देता है जब उसे लाभ हो। तृतीय, सिर्फ मजदूरी के बदले श्रमिक उत्पादन के संगठन पर अपना नियन्त्रण खो देता है। चतुर्थ, मजदूरी प्रथा के अन्तर्गत श्रमिक अपने द्वारा निर्मित वस्तु से भी अपना दावा और अधिकार छोड़ बैठता है। इस प्रकार मजदूरी प्रथा नैतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक तथा रचनात्मक दृष्टि से उचित नहीं है। प्रचलित मजदूरी प्रथा श्रमिक में निर्भरता एवं दासता की भावना उत्पन्न करती है और उसकी सृजनात्मक प्रवृत्ति को सीमित तथा कुण्ठित करती है।

मजदूरी प्रथा में उपरोक्त दोषों के परिणामस्वरूप गिल्ड समाजवादी इस प्रथा को अन्त करने के ही पक्ष में हैं। इसके अलावा वे चाहते हैं कि श्रमिक को जो कुछ मजदूरी प्राप्त हो वह उसे मनुष्य समझ के दी जाये। द्वितीय, बेरोजगारी तथा बीमारी के समय श्रमिकों को भत्ता दिया जाय। तृतीय, उत्पादन साधनों पर श्रमिकों का

नियन्त्रण तथा स्वय के द्वारा निर्मित वस्तु पर अधिकार हो। साधारण भाषा में इसका तात्पर्य यह हुआ कि मजदूरी के स्थान पर श्रमिकों को उनके कार्य के लिए किसी अन्य ढग, तरीके या व्यवस्था के अन्तर्गत वेतन दिया जाये, श्रमिक की सुरक्षा की गारटी हो, श्रमिक का उत्पादन प्रक्रिया पर ही नहीं किन्तु विक्रय प्रक्रिया पर भी नियन्त्रण हो।[13]

मशीनयुगीय दुष्परिणामों का प्रश्न

रस्किन, कारलायल तथा विलियम मोरिस मशीन युगीय व्यवस्था पर तीव्र प्रहार करते हैं जिनका गिल्ड समाजवादियों पर स्पष्ट प्रभाव है। गिल्ड समाजवादियों के अनुसार मशीन युग मे पूंजीवादी व्यवस्था मशीन व्यवस्था पर निर्भर करती है। मनोवैज्ञानिक आधार पर इस व्यवस्था मे श्रमिक के व्यक्तित्व, भावनाओं और कलात्मकता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। उत्पादन प्रक्रियाओं का इतना व्यापक एव सूक्ष्म विभाजन हो गया है कि श्रमिक एक मशीन की भांति एक निश्चित क्रिया को निरतर दुहराता रहता है। इससे उसके कार्य मे आनन्द, पहल करने की शक्ति एव क्षमता तथा सृजनात्मक और कलात्मक रुचि का ह्रास होता है। इसलिये गिल्ड समाजवादी ऐसी अर्थ व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें श्रमिक आनन्दपूर्वक उत्पादन मे सहयोगी हो। वे उत्पादन प्रक्रिया और परिस्थितियों मे परिवर्तन चाहते हैं। कोकर ने इस भावना को व्यक्त करते हुए लिखा है कि—

> "गिल्ड समाजवाद के लिये प्रमुख आर्थिक समस्या कला या कारीगरी की भावना के पुन: स्थापन का मार्ग खोज निकालने की है तथा एक ऐसी प्रणाली स्थापित करने की है जिससे मजदूरी मे केवल दक्षता का ही विकास न हो वरन् उन्हे अपने काम के गौरव का भी अनुभव हो, केवल अपने उपार्जित धन की रकम में ही दिलचस्पी न हो वरन् अपने उत्पादन के रूप और गुण मे भी दिलचस्पी हो।"[14]

सम्पत्ति का सामाजिक उपयोग

अन्य समाजवादियों की तरह गिल्ड समाजवादी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के आलोचक हैं। किन्तु वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के पूर्णरूपेण उन्मूलन के पक्ष मे नहीं हैं। सम्पत्ति के सम्बन्ध मे गिल्ड समाजवादी नैतिक तर्क देते हुए कहते हैं कि सम्पत्ति और सामाजिक हित का पूर्ण समन्वय होना चाहिये। वे व्यक्ति जो समाज सेवा नहीं कर सकते, उन्हें सम्पत्ति धारण और उपभोग करने का अधिकार नहीं होना चाहिये। मनुष्य को स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, समाज सेवा की भावना से कार्य करना चाहिये।

13 Gray, A , The Socialist Tradition, pp 438-39

14 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 280.

व्यावसायिक प्रजातन्त्र (Democracy in Industry)

व्यावसायिक प्रजातन्त्र का सिद्धान्त गिल्ड समाजवाद के प्रमुख विचार-सूत्रों में से एक है। "व्यावसायिक प्रजातन्त्र का सिद्धान्त केन्द्रीय, सर्वशक्तिशाली राज्य की कल्पना के विरुद्ध, इस बात का समर्थन करता है कि शक्तियों तथा कार्यों को विकेन्द्रीकरण द्वारा विभिन्न निकायों को दे दिया जाय। इससे यह आशा की जाती है कि आधुनिक जटिल समाज में मनुष्य के विविध हितों का पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व हो सकेगा।"[15]

व्यावसायिक प्रजातन्त्र के दो आधार या दो पक्ष हैं। प्रथम, गिल्ड समाजवादी, विशेषत कोल, मार्क्स के इस कथन से सहमत हैं कि "आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की पूर्ववर्ती होती है अर्थात् वे यह मानते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र तभी सम्भव है जब आर्थिक क्षेत्र में पहले प्रजातन्त्र की स्थापना की जाय। यदि उद्योगों का संगठन प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के आधार पर हो तो समाज का संगठन अनिवार्यतः प्रजातान्त्रिक हो जायगा।[15]

द्वितीय, व्यावसायिक प्रजातन्त्र के अनुसार गिल्ड समाजवादी क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व सिद्धान्त (Territorial Representation) का समर्थन नहीं करते। "किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी भी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करना असम्भव है। इसलिए अभी तक जो भी प्रतिनिधि संस्थाएँ रही हैं वे वास्तव में प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं। यद्यपि यह सच है कि कोई भी व्यक्ति अपने पड़ोसियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, वह उनके उद्देश्यों के एक समूह का प्रतिनिधित्व कर सकता है।"[17] इसका तात्पर्य है कि गिल्ड समाजवादी अलग अलग हितों के लिए अलग अलग गिल्ड की स्थापना करने का समर्थन करते हैं। ये गिल्ड ही व्यक्तियों के अलग अलग हितों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में ही गिल्ड समाजवादी क्षेत्रीय प्रतिनिधि प्रणाली को निरस्त कर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) सिद्धान्त को मान्यता देते हैं।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व गिल्ड समाजवादियों का मूल मंत्र है। उन्होंने लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की आलोचना की है क्योंकि—

(i) प्रचलित प्रतिनिधित्व प्रणाली प्रादेशिक प्रतिनिधित्व पर आधारित है। राज्य को जनसंख्या के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है।

---

15 जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 79.

16. उपर्युक्त पृ. 79-80.
Also see, The Socialist Tradition by Gray, A., pp. 441-42

17. जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 77.

(ii) एक क्षेत्र से एक या अनेक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। एक निर्वाचन क्षेत्र में कई व्यवसाय के लोग रहते हैं जैसे किसान, मजदूर, डॉक्टर, इंजीनियर, लेखक, प्रकाशक, मकान मालिक, किरायेदार आदि। कोई भी प्रतिनिधि इन विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। वे तो सिर्फ अपने क्षेत्र के सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

(iii) एक ही क्षेत्र में रहने वाले विभिन्न व्यावसायिक व्यक्तियों के हित भी भिन्न भिन्न होते हैं। ये विभिन्न हित एक निर्वाचन क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहते। बहुत से व्यावसायिक हित स्थानीय क्षेत्र से प्रारम्भ होकर राष्ट्रीय स्तर तक जाते हैं।

(iv) वर्तमान शासन मूलतः राजनीतिक व्यवस्था है। किन्तु बहुत से कार्य और प्रश्न ऐसे हैं जो सिर्फ राजनीतिक ही नहीं होते। प्रचलित शासन प्रणाली आर्थिक मामलों में निष्पक्ष और लगन से काम चलाने में असमर्थ है। उदाहरण के लिये वर्तमान शासन व्यवस्था में श्रमिकों को उन परिस्थितियों के निर्माण और नियन्त्रण आदि निर्धारण करने में भाग नहीं लेने दिया जाता जिनमें उन्हें कार्य करना पड़ता है। इसके विपरीत राज्य परम्परागत सम्पत्ति अधिकारों की रक्षा कर शोषण व्यवस्था बनाये रखने में सहायता देता है।

इस प्रकार क्षेत्रीय आधार पर चुना हुआ कोई भी प्रतिनिधि चाहे वह कितना ही योग्य क्यों न हो, उसका अनुभव एवं ज्ञान कितना ही व्यापक क्यों न हो, इन विभिन्न व्यावसायिक हितों से सम्बन्धित समस्याओं को न तो वह पूर्ण रूप से समझ सकता है और न इन सभी के प्रति उसकी समान सहानुभूति ही रह सकती है।[18]

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए गिल्ड समाजवादी सामाजिक संगठन के लिये निम्नलिखित सुझाव देते हैं—

(i) समाज का पूर्ण लोकतान्त्रिक संगठन तभी हो सकता है जब उसका संगठन कार्यों और व्यावसायिक आधार (functional basis) पर किया जाय।

(ii) गिल्ड संख्या में उतने होने चाहिए जितने समाज में होने वाले कार्य। समस्त प्रमुख व्यवसायों में काम करने वाले व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् गिल्ड (श्रेणियों) में संगठित किया जाये। एक गिल्ड में केवल एक ही व्यवसाय के व्यक्ति सम्मिलित किये जाएँ।

(iii) प्रत्येक गिल्ड में संलग्न सभी कुशल एवं अकुशल श्रमिक, टेक्नीशियन, प्रशासक एवं प्रबन्धक आदि सभी सम्मिलित होने चाहिए।

---

18 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 281.

(iv) गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत न केवल औद्योगिक गिल्ड होंगे बल्कि उपभोक्ता गिल्ड, नागरिक गिल्ड तथा अन्य कार्य जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य जीविकाओं के क्षेत्र में भी गिल्ड होंगे जिनका संगठन स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय आधार पर होगा। उपभोक्ता गिल्ड उत्पादक गिल्ड आदि से मिलकर उत्पादन व्यय, उत्पादन सीमा तथा मूल्य आदि के विषय में विचार एवं निर्माण करेंगे।

(v) गिल्ड स्थानीय प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर संगठित किये जाने चाहियें या नहीं इस बात पर गिल्ड समाजवादियों में मतभेद था। पेन्टी ने स्थानीय गिल्ड संगठन को ही अधिक महत्त्व दिया। वह नहीं चाहता था कि प्रादेशिक या राष्ट्रीय गिल्ड स्थानीय गिल्डों पर नियन्त्रण रखें जिससे श्रमिकों की स्वतन्त्रता एवं शिल्पकारिता का हनन होने की सम्भावना थी। लेकिन अधिकतर गिल्ड समाजवादी आधुनिक परिस्थितियों में तथा बड़े पैमाने पर प्रचलित उत्पादन पद्धति के आधार पर स्वीकार करते थे कि गिल्ड का उच्च स्तरों पर भी संगठन होना चाहिए। प्रत्येक व्यवसाय को आवश्यकतानुसार विभिन्न स्तरों पर गिल्ड निर्माण करने चाहिए, जैसे कर-आरोपण (taxation), प्रतिरक्षा (defence) आदि राष्ट्रीय मामलों के राष्ट्रीय गिल्ड होंगे तथा बिजली, पेयजल, पुलिस आदि की व्यवस्था स्थानीय गिल्ड करेंगे। लेकिन स्थानीय गिल्ड को अधिक से अधिक स्वायत्तता होनी चाहिए।

सामान्यतः समस्त महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक उत्पादन तथा उपभोक्ता क्षेत्रों में राष्ट्रीय गिल्ड (National Guild) होंगे। राष्ट्रीय गिल्ड किसी भी एक उद्योग से सम्बन्धित सभी प्रकार के श्रम या कार्य जैसे प्रशासनिक, कार्यपालिका तथा उत्पादन आदि का संगम होगा। इसमें वे सभी सम्मिलित होंगे जो हाथ या मस्तिष्क से कार्य करते हैं। कोई भी व्यक्ति जो काम कर सकता है इसका सदस्य बन सकता है।[19] यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि राष्ट्रीय गिल्ड कोई एक ही नहीं होगा। प्रत्येक उद्योग या गतिविधियों से सम्बन्धित राष्ट्रीय गिल्ड हो सकते हैं। इस प्रकार गिल्ड प्रणाली के अन्दर कई राष्ट्रीय गिल्ड हो सकते हैं। इनका कार्य अपने ही उद्योग में नीचे के गिल्ड को परामर्श देना, उनके कार्यों में ताल-मेल बैठाना, पूरे उद्योग से सम्बन्धित नीति निर्धारण करना आदि होगा।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत सबसे अन्तिम संगठन कम्यून (Commune) कहलायगा। यह राज्य का स्थान ग्रहण करेगा। कम्यून में सभी राष्ट्रीय गिल्ड के प्रतिनिधि होंगे। कोल के अनुसार कम्यून निम्नलिखित कार्य करेगा:–[20]

19 Hobson, S. G., Guild Principles in War and Peace, 1908, pp. 26-27.
20 Cole, G. D. H., Guild Socialism, Allen & Unwin, London, 1920, p. 125

(i) वित्तीय मामले जैसे राष्ट्रीय स्रोतों का वितरण, आमदनी, मूल्य आदि से सम्बन्धित समस्याएं,

(ii) नीति के मामलों में विभिन्न गिल्ड (श्रेणियों) के मतभेदों को सुलझाना,

(iii) विभिन्न गिल्ड के अधिकार क्षेत्रों से सम्बन्धित सर्वधानिक समस्याओं का समाधान करना,

(iv) विदेशी मामले,

(v) आवश्यकता पड़ने पर शक्ति का प्रयोग, तथा

(vi) वे कार्य जो किसी अन्य गिल्ड के अधिकार क्षेत्र में न आते हों।

चूंकि कम्यून राज्य के स्थान पर कार्य करेगा इसलिए स्थानीय, क्षेत्रीय स्तर पर भी इसकी शाखाएँ होंगी जो अपने अपने स्तरों पर वही कार्य करेंगी जो राज्य करता है तथा जिसे कम्यून स्वीकार करे।

प्रत्येक स्तर पर श्रेणियों का संगठन स्वायत्तता और लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर होगा। प्रथम, प्रत्येक गिल्ड अपने प्रबन्ध के लिए स्वायत्त होगा। लेकिन वे दूसरी श्रेणियों के साथ पारस्परिक निर्भर होंगे। उन्हें अपनी इस स्वतन्त्रता या स्वायत्तता का अन्य गिल्ड के साथ समन्वय करना होगा ताकि उनमें संघर्ष या स्पर्द्धा न हो। दूसरे, प्रत्येक गिल्ड का सम्पूर्ण प्रबन्ध लोकतान्त्रिक पद्धति से होगा। सदस्यों की इच्छानुसार उनके प्रतिनिधियों का चयन किया जाये। गिल्ड के सदस्य अपने अधिकारियों, समितियों तथा ऊपर के स्तर की श्रेणियों के लिये प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेंगे।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत राज्य की स्थिति

गिल्ड व्यवस्था पर आधारित समाज में राज्य की क्या स्थिति हो इस सम्बन्ध में गिल्ड समाजवाद के समर्थक एकमत नहीं हैं, लेकिन राज्य के विषय में इनके दो पक्ष पूर्णतः स्पष्ट हैं। प्रथम, गिल्ड समाजवाद मुख्यतः आर्थिक और औद्योगिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। यह उद्योग पर राज्य के प्रबन्ध, नियन्त्रण या हस्तक्षेप का समर्थक नहीं है। गिल्ड समाजवादी उद्योगों की राज्य के आधिपत्य से मुक्ति चाहते हैं तथा गिल्ड प्रणाली को अधिक महत्त्व देते हैं।

द्वितीय, अराजकतावादी और सिन्डीकलवादियों की भाँति गिल्ड समाजवादी राज्य को पूर्णरूप से समाप्त करने के पक्ष में भी नहीं हैं। स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर गिल्ड प्रणाली की स्थापना से ही पूरे सामाजिक कार्य नहीं चल सकते। समाज की कुछ ऐसी भी आवश्यकताएँ हैं जिन्हें चलाने के लिये गिल्ड समाजवादी राज्य की किसी न किसी रूप में आवश्यकता स्वीकार करते हैं। देश की रक्षा, अपराधों की रोकथाम आदि ऐसी बातें हैं जिन्हें गिल्ड नहीं कर सकते। इनके सम्पादन के लिए केवल राज्य ही उपयुक्त है। गिल्डों द्वारा न किये जाने वाले समस्त

राजनीतिक कार्य राज्य ही करेगा। इस प्रकार गिल्ड समाजवाद राज्य के अस्तित्व एवं आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी उसके सीमित अधिकारों का समर्थन है।

बार्कर (E. Barker) के अनुसार गिल्ड समाजवाद के समर्थक राज्य तथा श्रेणियों (Guilds) दोनों के लिये गुंजाइश छोड़ते हैं। शक्ति-विभाजन के आधार पर ये राज्य तथा गिल्ड के अस्तित्व को मान्यता देते हैं। किन्तु राज्य का स्तर फिर भी सबसे महत्त्वपूर्ण होगा। बार्कर के शब्दों में—

> "गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत आधुनिक राज्य व्यावसायिक श्रेणियों का एक समुदाय होगा। किन्तु राज्य इस प्रकार की श्रेणियों के समूह से कुछ अधिक ही होगा। राज्य सिर्फ एक कोष्ठक या हायफन (hyphen) ही नहीं किन्तु स्वयं का एक वास्तविक अस्तित्व होगा।"[21]

गिल्ड समाजवादियों में राज्य की उपयोगिता एवं कार्य-क्षेत्र के विषय में मुख्यतः मतभेद हाब्सन तथा कोल में है। ये दोनों ही दो दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

राज्य के विषय में हाब्सन (S. G. Hobson) के विचार

हाब्सन हालांकि गिल्ड समाजवादी है, लेकिन उनके राज्य-सम्बन्धी विचार गिल्ड समाजवाद की अपेक्षा राज्य-समाजवाद के अधिक निकट हैं; या उनके विचार राज्य-समाजवाद और बहुलवाद के सम्मिश्रण हैं। हाब्सन गिल्ड व्यवस्था का पूर्ण समर्थन करते हैं लेकिन प्रत्येक गिल्ड समाज के किसी विशिष्ट अंग का ही प्रतिनिधित्व करेगा। इसलिये राज्य जैसी संस्था का होना परमावश्यक है जो सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व कर सके और शक्ति का अन्तिम स्रोत माना जाये। हाब्सन के राज्य सम्बन्धी विचारों की विवेचना में निम्नलिखित तत्व स्पष्ट होते हैं:—

प्रथम, राज्य सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था है।

द्वितीय, राज्य की आर्थिक सत्ता को गिल्डों में वितरित कर राज्य की शक्ति को कम कर दिया जाये।

तृतीय, उत्पादन की सारी मशीनों, कारखानों का स्वामित्व राज्य का होगा। वह उन्हें तमाम गिल्डों को पट्टे पर देगा। इनका प्रयोग गिल्ड समाज-हित में ट्रस्टी के रूप में करेंगे।

चतुर्थ, राज्य समस्त गिल्डों से कर आदि वसूल करेगा तथा ऐसी श्रेणियों की सहायता देगा जो स्वास्थ्य एवं शिक्षा आदि की निःशुल्क सामाजिक सेवा करती हैं।

---

21. "Under Guild Socialism the modern state will be a community of professional Guilds But the state will be more than a sum of such Guilds. It will not be a mere bracket or hyphen, but a real entity in itself." Barker, E., Political Thought in England, 1848 to 1914, p 201.

पंचम, राज्य के अन्य कार्य आंतरिक एवं बाह्य सुरक्षा का उत्तरदायित्व, प्रमुख कानूनों का निर्माण तथा गिल्डों के आपसी विवादों को सुलझाना होगा।

राज्य एवं कम्यून व्यवस्था के विषय में कोल (G. H. Cole) के विचार—

हॉब्सन की तुलना में कोल राज्य को कम महत्वपूर्ण मानते हैं। हॉब्सन के विचार जो राज्य को महत्व देते हैं, कोल ने उसका खण्डन किया है। कोल अपने विचारों में मूलतः बहुलवादी (Pluralist) हैं। कोल के अनुसार—

(i) राज्य उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करने वाली आवश्यक संस्था है।

(ii) उत्पादन संस्थाओं पर राज्य का नियंत्रण नहीं होना चाहिए।

(iii) समाज में राज्य का स्थान अन्य संस्थाओं जैसा ही होना चाहिये। राज्य अनेक समुदायों में एक समुदाय है। राज्य स्वयं भी एक प्रादेशिक गिल्ड जैसा होगा। जिसका कार्य समाज संरक्षण, शिक्षा व्यवस्था, विवाह-तलाक नियन्त्रण, अपराधों की रोकथाम तथा बच्चों की देखभाल आदि होगा।

राज्य और अन्य गिल्डों के विवाद समाप्त करने तथा गतिविधियों में तालमेल बैठाने के लिए एक संस्था का निर्माण किया जाये जिसका नाम Democratic Supreme Court of Functional Equity—(कार्यात्मक न्याय का लोकतान्त्रिक उच्चतम न्यायालय) होगा। यह न्यायालय राज्य तथा अन्य गिल्डों के ऊपर होगा। यह शान्ति व्यवस्था, पुलिस, कानून आदि का नियन्त्रण करेगा। समाज में यही सर्वोच्च संस्था होगी।

कोल राज्य के कार्य-क्षेत्र को बिल्कुल संकुचित ही नहीं करते किन्तु वह राज्य की सम्प्रभुता सम्पन्न धारणा को भी स्वीकार नहीं करते। राज्य के विषय में कोल के विचारों में आगे चल कर और भी परिवर्तन हुआ है। कोल के अनुसार राज्य धीरे-धीरे मुरझा जायगा तथा उसका स्थान एक कम्यून व्यवस्था लेगी।

कम्यून प्रणाली (Commune System)

समस्त समुदायों में सामन्जस्य कार्य के लिये कोल कम्यून प्रणाली का प्रतिपादन करता है, यह समस्त समाज की संस्थाओं का एकीकरण करने वाली संस्था होगी। कम्यून का संगठन स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तरों पर होगा। प्रत्येक स्तर पर कम्यून उत्पादकों और उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करेंगे। प्रत्येक गिल्ड के प्रतिनिधियों को मिलाकर स्थानीय कम्यून की रचना होगी। प्रादेशिक उद्योगों तथा अन्य क्षेत्रों के गिल्डों के प्रतिनिधियों का प्रादेशिक कम्यून होगा। राष्ट्रीय स्तर के तमाम गिल्डों का राष्ट्रीय कम्यून बनाया जायेगा। प्रत्येक स्तर पर कम्यून के निम्नलिखित कार्य होंगे —

(i) राजस्व प्रबन्ध, मूल्य निर्धारण तथा ऋण व्यवस्था।
(ii) विभिन्न गिल्ड के कार्य-क्षेत्र एवं शक्तियों का निर्धारण करना।
(iii) गिल्डों के बीच नीति सम्बन्धी मतभेदों का निराकरण करना।
(iv) राजनीतिक कार्य जैसे:—
   (अ) युद्ध, शान्ति की घोषणा तथा सैन्य बल पर नियन्त्रण,
   (ब) वैदेशिक सम्बन्धों का नियन्त्रण,
   (स) नगरों, कस्बों तथा प्रदेश की सीमाओं का निर्धारण,
   (द) व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा वैयक्तिक सम्पत्ति पर नियन्त्रण आदि।
(v) बलप्रयोग करना। समाज की समस्त संस्थाओं को कानून के अनुसार अपने कार्य पालन करने के लिये बाध्य करना। पुलिस कार्य तथा दण्ड व्यवस्था भी राज्य के कार्य होंगे।

गिल्ड समाजवादी साधन

राजनीतिक साधन

गिल्ड समाजवादी अपनी कल्पनानुसार जो सामाजिक रचना करना चाहते हैं उसकी प्राप्ति के साधन के विषय में वे एक तो पूर्णत: स्पष्ट नहीं हैं तथा दूसरे इस विषय पर इनके समर्थक एकमत भी नहीं हैं। सामान्यत: ये राजनीतिक तथा संवैधानिक साधनों में श्रद्धा नहीं रखते क्योंकि:—

प्रथम, पूंजीवादी व्यवस्था में यह असम्भव है कि श्रमिक वर्ग में पूर्ण वर्ग चेतना आये और वह संगठित हो कर एक साथ मतदान करें।

द्वितीय, परिवर्तन लाने में अति विलम्ब होगा। लगभग एक शताब्दी तक इन साधनों से गिल्ड प्रणाली की स्थापना नहीं हो सकती।

तृतीय, पूंजीवादी वर्ग और शासक वर्ग इस प्रकार के परिवर्तन के मार्ग में बाधाएं प्रस्तुत करेगा।

अंत में, गिल्ड समाजवादियों की यह धारणा है कि राज्य संस्था स्वयं ही इस प्रकार की समाज रचना के लिये पर्याप्त एवं उपयुक्त नहीं है।

चूंकि गिल्ड समाजवादियों का प्रादुर्भाव इंग्लैण्ड में हुआ इसलिये इनके समर्थक वहां के राजनीतिक वातावरण के प्रभाव से अपने को अलग नहीं कर सके। इसलिये राजनीतिक साधनों के विरुद्ध होते हुए भी संवैधानिक एवं शान्तिपूर्ण साधनों तथा क्रमिक विकास के सिद्धान्त का पूर्णत: बहिष्कार नहीं करते तथा ऐसे ही साधनों में अपना विश्वास व्यक्त करते हैं।

आर्थिक साधन

गिल्ड समाजवादी प्रत्यक्ष कार्यवाही (direct action) जैसे हड़ताल, तोड़-फोड़ आदि में विश्वास तो नहीं रखते, लेकिन कुछ ऐसे आर्थिक साधन हैं जिनमें उनका पूर्ण विश्वास है। गिल्ड समाजवादी निम्नलिखित आर्थिक साधनों को प्रमुखता देते हैं:—

धीरे-धीरे नियंत्रण प्राप्त करने की नीति (The policy of encroching control)—इसका तात्पर्य है कि शनैः शनैः श्रमिक स्वामियों से अधिकारों को छीन लें। इस नीति के अन्तर्गत श्रमिकों को इस बात का आग्रह करना चाहिए कि कारखानों के कर्मचारी जैसे फोरमैन, ओवरसियर, टैक्नीशियनों आदि की नियुक्तियों के लिए श्रमिक स्वयं चुनाव करेंगे। इसके अलावा श्रमिक जिन अधिकारियों को पसन्द न करें उन्हें नौकरी से हटा दिया जाय। इस प्रकार नियुक्ति तथा पद से हटाने का अधिकार जब श्रमिकों के हाथों में आ जायेगा तो धीरे-धीरे सम्पूर्ण कारखाने पर उनका आधिपत्य हो जायगा। इस साधन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि श्रमिक तथा समाज के अन्य वर्ग हिंसा तथा मारकाट से बच जायेंगे।

औद्योगिक प्रतियोगिता (Industrial Competition) श्रमिक संघ सामूहिक रूप से पूँजीपतियों से स्पर्धा करेंगे तथा स्वयं उद्योगों की स्थापना करेंगे। गिल्ड उद्योगों का संचालन योग्यता के साथ कर पूँजीपतियों को मुका देंगे।

सामूहिक ठेका या संविदा (Collective Contract)—इसका तात्पर्य यह है कि श्रमिक संगठन कारखाने के मालिकों के साथ समझौता करें तथा उत्पादन का स्वयं ठेका ले लें। इसके अनुसार यह निश्चय करना होगा कि किस प्रकार के माल का कितना उत्पादन होगा तथा उसकी इकट्ठी मजदूरी कितनी होगी। संघ संगठन उत्पादन का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लें, अपने काम करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति करें तथा काम करने के बाद पूरी मजदूरी आपस में वितरित कर लें।

मुआवजा का विरोध—यदि उपरोक्त साधनों से पूँजीपतियों से उनकी सम्पत्ति ले ली जाती है तो गिल्ड समाजवादी उसका मुआवजा देने के पक्ष में नहीं हैं। इसके बदले अधिक से अधिक उद्योग स्वामियों को सहायता के रूप में कुछ भत्ता दिया जा सकता है।

संगठन शक्ति

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गिल्ड समाजवादी यह चाहते हैं कि श्रमिक संगठनों की व्यवस्था को मजबूत बनाया जाये। इसके लिये वे कुछ सुझाव देते हैं। प्रथम, गिल्ड व्यवस्था को व्यापक बनाया जाय ताकि चपरासी से लेकर मैनेजर तक सभी गिल्ड के सदस्य बनें। इस प्रकार का गिल्ड पूँजीपति को अधिक सफलतापूर्वक चुनौती दे सकता है। द्वितीय, श्रमिक संगठनों का आन्तरिक ढाँचा पूर्णतः लोकतान्त्रिक हो। समस्त सदस्यों में एकता और सहयोग हो ताकि उनका श्रमिक शक्ति पर पूर्ण आधिपत्य हो जाय। इस प्रकार वे पूँजीवादी व्यवस्था का अच्छी तरह मुकाबला कर सकेंगे। तृतीय, श्रमिक सभाओं के संगठन को सुदृढ़ बनाया जाय जिसमें संक्रमण समय में आवश्यकता पड़ने पर वे सम्पूर्ण कार्य सुचारु रूप से चला सकें।

गिल्ड समाजवादी साधनों से यह बात स्पष्ट होती है कि वे सर्व व्यवस्था पर श्रमिक नियन्त्रण प्राप्त करना चाहते हैं। वे वर्तमान श्रमिक-संघ संगठन के आधार पर आगे बढ़ना चाहते हैं। सम्भवत उनकी चेष्टा यह है कि पूंजीवादी तथा समाजवादी समाज के मध्य जो खाई है उस पर पुल बांध दिया जाये। तभी वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकते हैं।[22]

गिल्ड और ट्रेड यूनियन (Gulids and Trade Unions)

गिल्ड समाजवाद का अध्ययन करते समय कहीं-कहीं यह भास होता है कि गिल्ड और ट्रेड यूनियन एक जैसी ही संस्थाएं हैं जैसे दोनों ही श्रमिक वर्ग का कल्याण चाहते है, दोनों ही उत्पादन में श्रमिकों के महत्वपूर्ण योगदान का पक्ष लेते हैं, तथा उद्योगों में श्रमिकों की कार्य परिस्थितियों में सुधार एवं श्रमिक नियन्त्रण का समर्थन करते हैं। फिर भी गिल्ड प्रणाली और श्रमिक संघ एक नहीं हैं। इनमें निम्नलिखित अन्तर स्वयं ही अपने आप स्पष्ट होता है—

(i) ट्रेड यूनियन सीमित संस्थाएं हैं। इनके केवल श्रमिक ही सदस्य हो सकते हैं। गिल्ड व्यवस्था में उस उद्योग के श्रमिक, प्रबन्धक, बुद्धिजीवी आदि सभी सदस्य हो सकते हैं। गिल्ड की सदस्यता व्यापक है।

(ii) ट्रेड यूनियन मजदूरी में वृद्धि तथा कार्य परिस्थितियों में सुधार चाहते हैं। गिल्ड प्रणाली पूरे उद्योग का नियन्त्रण चाहती है।

(iii) ट्रेड यूनियन मुख्यतः प्रबन्धकों से संघर्ष तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही में विश्वास करते हैं। गिल्ड प्रणाली में यह बात स्वीकार नहीं की जाती।

(iv) ट्रेड यूनियन स्वार्थ पर निर्भर है। यह अपने सदस्यों के हित को ही सर्वोपरि मानता है। गिल्ड व्यवस्था का उद्देश्य सम्पूर्ण समाज की भलाई है।

मध्यमार्गीय समाजवाद

गिल्ड समाजवाद मध्यमार्गीय विचारधारा है। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित समाजवादी विचारधाराएँ गिल्ड समाजवादियों को या तो अधिक उग्र या अत्यधिक उदार लगी। यूटोपियायी विचारकों के साधन एवं आदर्श सामाजिक व्यवस्था उन्हें प्रभावित नहीं कर सके। मार्क्सवाद उन्हें श्रमिकपक्षीय एवं क्रान्तिकारी प्रतीत हुआ। अराजकतावाद उद्देश्यहीन सा लगा। सिन्डीकलवाद में उन्हें मार्क्सवादी उग्रता तथा अराजकतावाद की अराजकता दृष्टिगोचर हुई। फेबियनवाद सिर्फ बुद्धिवादी और सक्रिय कार्य-क्रम रहित जान पड़ा। समष्टिवाद भी अधिनायकत्व तथा राज्य सत्ता में वृद्धि का समर्थक जैसा लगा।

---

22 जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 86.

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने पूर्णतः इन सभी विचारधाराओं का जड़ मूल से ही खण्डन किया हो। गिल्ड समाजवादियों का उद्देश्य समाजवादी विचारधाराओं की क्रान्तिकारी उग्रता तथा युद्ध की प्रति उदारवादिता का त्याग कर अंग्रेज मनोवृत्ति के अनुकूल एक नये समाजवादी सम्प्रदाय का सर्जन करना था। इस आधार पर उन्हें अन्य विचारधाराओं में जो भी अच्छा लगा ग्रहण किया। इस प्रकार यह समन्वयात्मक विचारधारा थी। इसे समष्टिवाद तथा सिन्डीकलवाद का बुद्धिजीवी शिशु (Intellectual Child) भी कहा जाता है। अन्य शब्दों में इसका उद्भव समष्टिवाद (और फेबियनवाद भी) और सिन्डीकल के संयोग से हुआ।

गिल्ड समाजवादी तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति के आलोचक हैं। वे पूँजीवाद तथा उससे सम्बन्धित दुर्गुणों की निन्दा करते हैं। लेकिन उनके विचारों में मार्क्सवाद और सिन्डीकलवाद की वह उग्रता नहीं है जो प्रचलित व्यवस्था का पूर्णतः उन्मूलन कर एक नई व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं। गिल्ड समाजवादी प्रचलित दोषों को दूर करने, श्रमिकों का शोषण समाप्त करने के लिए तत्कालीन व्यवस्था को नष्ट नहीं वरन् उसमें सुधार कर नई व्यवस्था की रचना उनका उद्देश्य है।

सिन्डीकलवाद में राज्य के लिए कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर समष्टिवाद पूँजीवाद के दोषों को दूर नहीं कर सकता। वे पूँजीवादी राज्य के स्थान पर नौकरशाही केन्द्रीकरण राज्य की स्थापना करते हैं। श्रमिकों को अपनी व्यवस्था तथा दशाओं का निर्धारण करने के लिए यह कुछ नहीं करता। गिल्ड समाजवादी न तो सिन्डीकलवादियों की तरह राज्य के अस्तित्व को समाप्त करना चाहते हैं और न ही समष्टिवादियों की भांति राज्य स्वामित्व की स्थापना के पक्ष में हैं। गिल्ड समाजवाद राज्य के सीमित अधिकार तथा साथ ही साथ गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का अनुमोदन करता है।

गिल्ड समाजवादी सम्पूर्ण क्षेत्रों में गिल्ड व्यवस्था की रचना चाहते हैं। वे सिन्डीकलवादियों की भांति गिल्डों को सामाजिक संगठन का आधार बनाना चाहते हैं। लेकिन समष्टिवादियों की तरह राज्य की भी उपयोगिता में विश्वास रखते हैं। गिल्ड समाजवाद राज्य के सीमित अधिकार साथ ही साथ गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का अनुमोदन करते हैं। यहाँ वे सिन्डीकलवाद तथा समष्टिवाद से दूर होते हुए भी दोनों के निकट हैं।

सिन्डीकल समाज आर्थिक जीवन में उत्पादकों को प्रमुख स्थान देकर उत्पादन पर उन्हीं का नियन्त्रण चाहता है। समष्टिवाद तथा राज्य समाजवाद मनुष्य को केवल उपभोक्ता के ही रूप में देखता है। गिल्ड समाजवादी उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों को ही महत्त्व देते हैं। इसने समष्टिवाद तथा सिन्डीकलवाद के एकपक्षीयपन को दूर कर सामन्जस्य स्थापित किया।

साधनों के विषय में भी गिल्ड समाजवादी प्रतिवादी नहीं हैं। वे मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी पद्धति तथा सिन्डीकलवाद की सीधी या प्रत्यक्ष कार्यवाही जैसे हड़ताल आदि में विश्वास नहीं करते। शान्ति के आधार पर समाजवाद की आकस्मिक स्थापना शिक्षित अंग्रेजों को प्रभावित नहीं कर पाई। दूसरी ओर यूटोपियायी साधन जैसे उच्च वर्ग से सुधार की अपील करना या फेबियनवादियों की भाँति अध्ययन कक्ष से बैठे बैठे ही कागजी कार्यवाही जिसमें सक्रियता का कोई स्थान न हो आदि में गिल्ड समाजवादियों की निष्ठा नहीं थी। उनके साधन कम उग्र किन्तु प्रभावपूर्ण आर्थिक कार्यवाही पर आधारित थे।

इस प्रकार गिल्ड समाजवाद अन्य समाजवादी विचारधाराओं का समन्वयकारक सिद्ध हुआ। समन्वय का प्रभाव मध्यमार्गीय ही हो सकता था और वास्तव में गिल्ड समाजवाद मध्यमार्गीय समाजवाद था भी।

मूल्यांकन

गिल्ड समाजवादी आन्दोलन लगभग दो दशाब्दी तक चला। 1906 में पेन्टी के ग्रन्थ–Restoration of Guild System–के प्रकाशन से प्रारम्भ हुआ और 1925 में– National Guild League– के विघटन के साथ ही इस आन्दोलन का अन्त हो गया। यह सम्प्रदाय समाजवादी आन्दोलन को न तो लोकप्रिय और न प्रभावशाली ही बना सका। गिल्ड समाजवाद कई दृष्टिकोणों से एक निर्बल विचारधारा और अव्यावहारिक विकल्प साबित हुआ।

इंग्लैंड की परम्परा के विरुद्ध

अंग्रेज चरित्र की यह विशेषता है कि वे केवल उसी विचार को ग्रहण करते हैं जो व्यावहारिक एवं विकास का परिणाम हो। वहाँ सीमित राजतन्त्र, लोकतान्त्रिक संसदीय व्यवस्था तथा उदारवाद का धीरे-धीरे विकास हुआ और इनकी जड़ें वहाँ बहुत ही दृढ़तापूर्वक जम चुकी हैं। गिल्ड समाजवाद ने जो कुछ विचार रखे वे प्रथम, उस शासन परम्परा को चुनौती देते हैं जिसका सदियों से विकास हुआ है। द्वितीय, वे जो कुछ विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हैं, यह इतना निर्बल सिद्ध हुआ कि अंग्रेजों ने न तो इन पर व्यापक रूप से गम्भीरतापूर्वक मनन किया और न स्वीकार किया। इस प्रकार यह कुछ वर्षों के विचार आन्दोलन के बाद स्वयं ही समाप्त हो गया।

मौलिकता का अभाव

गिल्ड समाजवाद में ऐसी कोई भी बात नहीं है जिसके विषय में इसके समर्थक मौलिकता का दावा कर सकें। इसे राज्य समाजवाद और फेबियनवाद का बुद्धिजीवी शिशु कहा जाता है। फिलजर एवं रॉस ने इसे सिण्डीकलवाद तथा फेबियनवाद का वर्णसंकर कहा है। कभी-कभी इसे फ्रांस के सिन्डीकलवाद का अंग्रेजी समानान्तर

कहते हैं। हैलोवेल ने इसे गिल्ड-समाजवाद या रस्किन-स्पान्सर की संज्ञा दी है।[23] गिल्ड समाजवाद के सबसे प्रमुख समर्थक कोल (G. D. H. Cole) का एक पैर फेबियनवादी भवन में था, तो दूसरा गिल्ड समाजवादी खेमे में। वे इन दोनों विचारधाराओं के साथ-साथ बहुलवादी भी थे। गिल्ड समाजवाद में प्रभाव डालने वाली विचार-मौलिकता का प्रभाव तो था ही यह उस समय प्रचलित विचारधाराओं का समुचित समन्वय भी नहीं बन पाया।

अनिश्चित विचारधारा

गिल्ड समाजवाद एक निश्चित विचारधारा भी नहीं बन पाया। इसके प्रतिपादकों में मतभेद है। हाब्सन तथा कोल में इन मूल बातों पर ही मतभेद है कि गिल्ड प्रणाली पर आधारित समाज का क्या स्वरूप होगा। राज्य के अस्तित्व एव क्षेत्राधिकार के विषय में भी उनके विचारों में भारी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

ऐलेक्जेन्डर ग्रे का विचार है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में "समाजवाद चौराहे पर एक खोए बच्चे के समान था जिसे यह भी मालूम नहीं था कि वह कहां से आया है तथा कहां जाना चाहता है। समाजवाद की यह दुर्दशा बनाने में काफी सीमा तक गिल्ड समाजवाद उत्तरदायी है। इन्होंने राज्य समाजवाद या राष्ट्रीयकरण के विचार को पूरी तरह नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया। इनके अनुसार राज्य समाजवाद एक बेकार सा विकल्प था। गिल्ड समाजवादियों ने पुराने समाजवादी विचार को समाप्त तो किया, किन्तु इसके स्थान पर ये कोई ऐसा विकल्प प्रस्तुत नहीं कर सके जिसे स्वीकार किया जा सके।"[24]

राज्य एवं सरकार

गिल्ड समाजवादी जब राज्य के विषय में विचार व्यक्त करते हैं उस समय वे एक मूल त्रुटि करते हैं, वे राज्य और सरकार में अन्तर नहीं करते। यदि वे इस अन्तर को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देते, तो उनके विचार बहुत कुछ और प्रतीत होते। वे जिस संस्था को राज्य कहते हैं वह वास्तव में राज्य नहीं सरकार है। राज्य की समाप्ति असम्भव है। अधिकार सरकार से कम किये जा सकते हैं।

23 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 285,
Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 469

24 "Socialism today is rather like a lost child at the cross roads, not quite sure where it has come from and not knowing where exactly it wants to go For this the Guild socialists are to a considerable extent responsible They killed, and killed rather effectively, the old idea of State socialism, meaning thereby straight forward nationalisation, and they showed that it was rather a poor and unimaginative ideal But having destroyed the old faith of socialism, they have provided no new abiding faith to take its place"
Gray, A, The Socialist Tradition, p 458

हाब्सन के राज्य सम्बन्धी विचार किसी सीमा तक उचित है। लेकिन कोल के विचार उचित प्रतीत नहीं होते। कोल जब राज्य को अन्य समुदायों जैसा कहता है तब राज्य राज्य नहीं रहेगा, तथा जब वह किसी न्यायालय या कम्यून की स्थापना को कहता है तो यह कम्यून व्यवस्था ही वास्तव में राज्य की शासन व्यवस्था होगी।

द्वैध शासन प्रणाली

एक ही राजनीतिक समाज में राज्य के कार्यों का गिल्ड समाजवादी दो भागों में विभाजित करते हैं—राजनीतिक और आर्थिक। आर्थिक कार्य गिल्ड करेंगे तथा राजनीतिक कार्य राज्य के पास ही रहेंगे। इस प्रकार एक ही शासन व्यवस्था को गिल्ड समाजवादी दो शाखाओं में विभाजित करते हैं तथा इन दोनों की व्यवस्था का उत्तरदायित्व दो प्रकार की संस्थाओं को देते हैं। यह सैद्धान्तिक रूप में ठीक नहीं है।

गिल्ड समाजवादी समाज के आर्थिक और राजनीतिक कार्यों का विभाजन करते हैं। आर्थिक कार्य गिल्ड करेंगे तथा राजनीतिक कार्य राज्य के पास छोड़ दिये जायेंगे। बहुत ही व्यापक या मोटे रूप में कुछ कार्यों को आर्थिक एवं राजनीतिक पक्षों में विभाजित किया जा सकता है, लेकिन यह सामान्यतः सम्भव नहीं है। समाज में आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों का स्पष्ट एवं निश्चित विभाजन नहीं हो सकता। व्यावहारिक दृष्टि से ये दोनों पक्ष एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। जब यह विभाजन स्पष्टतः नहीं हो सकता तो कौन से कार्य राज्य को छोड़े जायें, कौन से कार्य गिल्डों को दिये जायें, तथा जो पूर्ण रूप से दोनों पक्षों में आते हैं उन्हें राज्य या गिल्ड में से किसको दिये जावें यह सम्भव नहीं है। इस प्रकार उनकी विचारधारा का प्रमुख आधार ही समाप्त हो जाता है।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत राज्य तथा श्रेणियों में अधिकार-विभाजन की बार्कर (E Barker) ने आलोचना की है। बार्कर ने लिखा है —

> "वास्तव में, शक्ति-विभाजन का कोई भी सिद्धान्त, जैसा कि गिल्ड समाजवाद समर्थन करता है, धराशायी हुए बिना नहीं रह सकता क्योंकि यह सामान्य तथ्य है। आजकल के वृहद् समाज में पारस्परिक निर्भरता अत्यन्त आवश्यक है। राज्य एक शरीर है, कोई भी व्याख्या इस तथ्य से अलग नहीं की जा सकती।"[25]

---

25 "In truth, any doctrine of separation of powers, such as Guild Socialism advocates, is bound to collapse before the simple fact of the vital inter-dependence of all the activities of the great society of today The state is one body, no clever essay in dichotomy can get away from that fact"

Barker, E., Political Thought in England, 1848 to 1914, p 203

संघर्ष की सम्भावना

गिल्ड समाजवादी प्रत्येक स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों में गिल्ड की स्थापना चाहते हैं। प्रत्येक स्तर पर सम्पूर्ण व्यवस्था भी होगी। साथ ही साथ प्रत्येक स्तर पर राजनीतिक कार्यों के लिये राज्य किसी न किसी रूप में रहेगा ही। इसके अलावा बहुत कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वे आर्थिक अधिक हैं या राजनीतिक। इन परिस्थितियों में समाज में सम्पूर्ण गिल्ड व्यवस्था में अराजकता तथा संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। समाज में इतनी संख्या में विभिन्न संस्थाओं का होना ही प्रतिद्वन्द्विता तथा गतिरोध के लिये पर्याप्त है।

अव्यावहारिक एवं त्रुटिपूर्ण प्रतिनिधि प्रणाली

गिल्ड समाजवादी क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का खण्डन कर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करते हैं। उनके क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की आलोचना में आंशिक सत्यता तो है, लेकिन व्यावसायिक प्रतिनिधित्व उसका विकल्प नहीं हो सकता। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व से संसद का राष्ट्रीय स्वरूप समाप्त हो जायगा। संसद एक परस्पर-विरोधी विभिन्न व्यावसायिक हितों का समूहमात्र ही रह जायगी। इसके अलावा विभिन्न व्यावसायिक हितों का समान प्रतिनिधित्व अनुचित तथा अव्यावहारिक दोनों ही है। समाज में कुछ व्यवसाय अधिक महत्वपूर्ण होते हैं तथा कुछ कम। उनके अनुपातिक महत्व को भी गिल्ड समाजवादी स्वीकार नहीं करते।

शिल्पकारिता का भ्रममूलक समर्थन

गिल्ड समाजवादी उत्पादन क्षेत्र में शिल्पकारिता के समर्थक हैं तथा उसे पुनर्जीवित करने के लिए उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था और बड़े पैमाने पर उत्पादन का विरोध किया है। जिस समाज में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है, जहाँ समाज की माँग निरंतर बढ़ रही है, इन सबकी पूर्ति बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा ही सम्भव है। बड़े पैमाने पर उत्पादन सूक्ष्म श्रम-विभाजन (Division of Labour) और विशेषीकरण (Specialisation) पर निर्भर करता है। ऐसी अवस्था में केवल शिल्पकारिता के लिए ही आधुनिक अर्थ व्यवस्था को छोड़ना असम्भव एवं अवांछनीय दोनों ही होगा।

पेन्टी (A. J Penty) दस्तकारिता तथा शिल्पकारिता के प्रबल समर्थक थे। जोड (C E M Joad) के अनुसार "पेन्टी के तर्क गलत भावुकता तथा अशक्त, सौन्दर्यात्मक आधारों पर आधारित हैं तथा वे बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा व्यापार की आधुनिक पद्धतियों के विरुद्ध हैं। इस कारण स्वतन्त्र दस्तकारों के आधार पर उद्योगों के संगठन का प्रस्ताव आधुनिक परिस्थितियों में व्यावहारिक नहीं है।"[26]

[26] जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 75

दूसरे, शिल्पकारिता की भावना को किन्हीं क्षेत्रों में तो स्वीकार किया जा सकता है, लेकिन यह मनुष्य को स्वयं-केन्द्रित और व्यक्तिवादी बनाता है। मनुष्य सामूहिक एवं सामाजिक प्रयत्नों की उपेक्षा करता है। यदि यह विचारधारा सामूहिक और सामाजिकता के विरुद्ध है तो इसे समाजवादी विचारधारा कहना ही उपयुक्त न होगा।

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के अनुपयुक्त

आधुनिक अर्थ व्यवस्था बड़े पैमाने (Large Scale) और विशिष्टिकरण (Specialisation) के ऊपर आधारित है। किसी एक बड़ी वस्तु के महत्वपूर्ण भागों के निर्माण के लिये अलग स्थानों पर उद्योगों की स्थापना की जाती है। अलग अलग स्थानों पर निर्मित भागों को फिर एक जगह एकत्रित किया जाता है। इसके लिये उद्योगों की पूर्ण परस्पर निर्भरता और समन्वय अत्यन्त ही आवश्यक है। इस प्रकार की उत्पादन व्यवस्था में गिल्ड समाजवाद या तो उपयुक्त नहीं है या इस तरह औद्योगिक विकास गिल्ड प्रणाली के अन्तर्गत सम्भव ही नहीं है।

आधुनिक युग में प्रत्येक राज्य सीमित या व्यापक रूप में उद्योगों या जन उपयोगी सेवाओं (Public Utility Services) का राष्ट्रीयकरण या राष्ट्रीय उत्तरदायित्व लेते हैं इससे राज्य की उपयोगिता में वृद्धि हुई है। जब समाज इस प्रकार की व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है तब गिल्ड प्रणाली की कल्पना ही मूर्खतापूर्ण होगी।

औद्योगिक अवनति

गिल्ड व्यवस्था के अन्तर्गत औद्योगिक अवनति की अधिक सम्भावना है। किसी सीमा तक मनुष्य स्वार्थी होता है। हो सकता है कि मनुष्य गिल्ड का अपने स्वार्थ के लिये प्रयोग करे। गिल्ड व्यवस्था में श्रमिक संघों का उत्पादन पर पूर्ण आधिपत्य होगा। उनके ऊपर एक कुशल प्रबन्धक का अभाव होगा। इस दशा में श्रमिक मेहनत और कुशलतापूर्ण कार्य नहीं कर सकेंगे। इससे औद्योगिक गतिहीनता आ जायेगी।

उत्पादक वर्ग को प्राथमिकता

गिल्ड समाजवाद वैसे समस्त सामाजिक वर्ग जैसे उत्पादक वर्ग, उपभोक्ता वर्ग आदि के हितों का संरक्षण करता है किन्तु वास्तव में यह विचारधारा उत्पादक के रूप में श्रमिकों की ओर अधिक झुकी हुई है। यह उत्पादक वर्ग को प्राथमिकता देती हुई प्रतीत होती है।[27] यह सम्भव हो सकता है कि उत्पादक वर्ग उपभोक्ताओं पर हावी हो जाय। इस प्रकार समाज के सभी वर्गों के संरक्षण की बात में खोखलापन अधिक है। इसके अलावा उत्पादक और उपभोक्ता के मध्य विभेद करना

27 Crosland, C. A. R., The Future of Socialism, p. 86.

अव्यावहारिक है। उपभोक्ता किसी न किसी प्रकार का सर्जन कार्य करता है और उत्पादक उपभोक्ता होता ही है। यह तो सोचा भी नहीं जा सकता कि कोई व्यक्ति उपभोक्ता नहीं होता।

एकाधिकार को प्रोत्साहन

गिल्ड समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योगों में गिल्ड का ही एकाधिकार होगा। स्पर्धा के अभाव में गिल्ड कुशलता के साथ कार्य कर सकेंगे या नहीं यह कहा नहीं जा सकता। सम्भवतः नहीं।

एकाधिकार के कारण क्या गिल्ड समाज-सेवा के उद्देश्य से काम करेंगे? "ऐसा हो सकता है कि समाज-सेवा का उद्देश्य, जिसकी यथार्थता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, व्यक्तिगत लाभ की तुलना में सबल सिद्ध न हो सके। यह भी सम्भव है कि मनुष्य सर्वप्रथम अपना हानि-लाभ देखता है, उसके बाद वह सार्वजनिक कल्याण की ओर ध्यान देता है। यदि ऐसा है तो गिल्ड समाजवाद मत हो जायेगा तथा समाज में अराजकता व्याप्त हो जायेगी क्योंकि यह एक ऐसी श्रेणियों (गिल्ड) के शोषण का केन्द्र-स्थल हो जायेगा जिनको अपने उद्योगों के क्षेत्र में एकाधिकार होने के कारण पूंजीपतियों से भी अधिक समुदाय का शोषण करने के पुष्ट साधन उपलब्ध होंगे।[28]

समाज के सामान्य हितों की क्षति

विभिन्न उद्योगों के लिये पृथक-पृथक गिल्ड होने का तात्पर्य यह होगा कि समाज विभिन्न हितों में विभाजित हो जायेगा। प्रत्येक गिल्ड अपने-अपने विशेष हित संरक्षण का प्रयत्न करेंगे। इस परिस्थिति में समाज के सामान्य हितों की क्षति होगी। सामान्य हितों को समुचित महत्त्व नहीं मिलेगा। राज्य का राष्ट्रीय स्वरूप नष्ट हो जायेगा। राज्य ही सामान्य हितों का रक्षक होता है जिस संस्था को गिल्ड समाजवादी अन्य संस्थाओं के समान ही मानते हैं।

साधनों की अनुपयुक्तता

गिल्ड समाजवादी गिल्ड व्यवस्था की स्थापना के लिये जिन साधनों को अपनाते हैं उनसे सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी। वे हिंसात्मक साधन और राजनीतिक साधन दोनों को ही नहीं अपनाते। जिन आर्थिक साधनों का वे समर्थन करते हैं उनसे कुछ आर्थिक उद्देश्य तो प्राप्त हो सकते हैं, लेकिन पूंजीवाद का उन्मूलन, राज्य के अधिकारों को पूर्णतः सीमित कर गिल्ड प्रणाली की स्थापना करना सम्भव नहीं। इसी कारण वे अपनी विचारधारा को कार्यान्वित करने में असफल रहे हैं।

---

[28] जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 82–83.

योगदान

गिल्ड समाजवादी आन्दोलन का जीवन बड़ा छोटा रहा, किन्तु यह कुछ महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ गया। अब श्रमिक संघों, युद्धोत्तर गिल्डीयवादों, समष्टिवादी आदि राष्ट्रीयकृत उद्योगों की व्यवस्था तथा व्यक्तिगत उद्योगों के नियन्त्रण की योजनाओं में गिल्ड समाजवादी सिद्धान्तों को व्यापक रूप में स्वीकार करते हैं। 1917 में व्हिट्ले रिपोर्ट (Whitley Report) में बहुत कुछ सुझाव तथा इनके अन्तर्गत जो श्रमिक समितियां नियुक्त की गयी उन पर गिल्ड समाजवाद का स्पष्ट प्रभाव था। इन्होंने गिल्ड समाजवाद से ही प्रेरणा ग्रहण की।[29]

अमेरिका में भी गिल्ड समाजवाद का प्रभाव पड़ा। जिन परिवर्तनों की मांगें गिल्ड समाजवादियों ने की उनमें से कुछ मांगें औद्योगिक नियन्त्रण के विस्तृत पुनर्गठन की योजना द्वारा 1933 में संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वीकार कर ली गयी हैं। 1933 में राष्ट्रीय पुनरुद्धार कानून (National Recovery Act) के अनुसार सरकार ने काम के घंटों का मूल्य तथा उत्पादन की दर तथा प्रतियोगिताओं के सम्बन्ध में जो अधिकार प्राप्त किये उनको कार्यान्वित करने के लिए श्रमिकों के प्रतिनिधियों से परामर्श एवं समझौता किया जाने लगा। केन्द्रीय प्रशासन बोर्ड (Central Administrative Board) को परामर्श देने के लिए उद्योगपतियों, श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों की समितियां होती हैं। इस प्रकार सभी सम्बन्धित हितों को संयुक्त भागीदार बनाना, गिल्ड समाजवाद की ही देन है।[30]

ऐलेग्जेन्डर ग्रे ने लिखा है कि गिल्ड समाजवादी विचारधारा ने श्रमिक आन्दोलन को भी प्रभावित किया। अब श्रमिक संगठन अधिक औद्योगिकवादी तथा जागरूक हुए और वे कार्यप्रणाली के विषय में भी सोचने लगे। गिल्ड समाजवादियों ने लोकतान्त्रिक चुनाव प्रणाली की जो निन्दा की है उसमें चुनाव प्रणाली के विषय में सुधारों के लिये इन्होंने नवीन शक्ति प्रदान की। प्रजातन्त्र के विषय में लोगों की जो शंकाएँ थी उनको बल मिला। परिणामस्वरूप कई देशों में प्रतिनिधि प्रणाली में बहुत कुछ परिवर्तन हुए।[31]

कोकर के अनुसार, गिल्ड समाजवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से कुछ सैद्धान्तिकों को प्रभावित किया है। बहुलवादियों ने इस सिद्धान्त को सुझाकर या उसका समर्थन करके कि वर्तमान उद्योग की अवस्थाओं के अधीन स्वतंत्रता तथा समानता की प्राप्ति, कुलीनतन्त्र अथवा धनिकतन्त्र के स्थान पर समष्टिवादी प्रजातन्त्र व्यवस्था स्थापित करने से नहीं, किन्तु श्रमिकों को स्वायत्तशासी समुदायों में जो समाज सेवा के लिये

---

29. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 297.
30 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 299.
31 Gray, A, The Socialist Tradition, pp 457-58.

विशिष्ट आर्थिक या सांस्कृतिक कार्य के लिये संगठित हों, सत्ता का विभाजन करने से ही होगा।[32]

गिल्ड समाजवाद के वे सिद्धान्त जिन्हें किसी न किसी रूप में आज भी मान्यता दी जाती है निम्नलिखित हैं:—

(i) मजदूरी पद्धति के दोषों की ओर ध्यान आकर्षित करना,
(ii) श्रमिक सहयोगी संस्थाओं की महत्ता को समाज के सामने रखना;
(iii) उद्योग प्रबन्ध में श्रमिकों के भाग की वाञ्छनीयता पर जोर देना;
(iv) राज्य के सर्वव्यापी, सर्व-सत्ताधारी सिद्धान्त को अस्वीकार करना,
(v) समाज के छोटे छोटे हितों को भी महत्ता प्रदान करना,
(vi) क्षेत्रीय स्वायत्तता तथा विकेन्द्रीकरण के महत्व को स्वीकार करना,
(vii) इस बात पर जोर देना कि उत्पादन का उद्देश्य लाभ नहीं सामाजिक उपयोगिता है;
(viii) क्रान्ति एवं हिंसा के माध्यम से उद्देश्यों की प्राप्ति की धारणा को अस्वीकार करना,
(ix) अतिवादिता के स्थान पर मध्य-मार्गीय सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार करना, तथा
(x) राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिये आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र की स्थापना की आवश्यकता का पूर्ण समर्थन करना, आदि।

पाठ्य–ग्रन्थ

1. Beer, M., — A History of British Socialism., Vol. II Chapter XVIII, Rise of Guild Socialism
2. कोकर, फान्सिस., — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 9, गिल्ड समाजवादी
3. Cole, G D. H, — Guild Socialism, 1920.
4. Gray, Alexander, — The Socialist Tradition, Chapter XVI, Guild Socialism
5. जोड, सी ई. एम., — आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, अध्याय 4, शिल्पी संघवाद और श्रेणी संघवाद
6. MacDonald, R., — Socialism: Critical and Constructive, Chapter III, Socialism : Its Organisation and Idea
7. Pelling, Henry,(Ed.), — The Challenge of Socialism, Chapter 14, Guild Socialism.

[32] कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 300.

8

साम्यवाद

COMMUNISM

साम्यवाद का कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी इसका अर्थ समाज के ऐसे सिद्धान्त के रूप में लिया जाता है जिसमें सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार हो। अन्य स्थलों पर साम्यवाद का प्रयोग समाजवाद के पर्याय के रूप में किया जाता है।[1] प्राय लोग मार्क्सवाद और साम्यवाद को एक ही सिद्धान्त समझ लेते हैं, जो सही नहीं है। हालांकि मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है, मार्क्सवाद और समाजवाद दोनों ही साम्यवाद से भिन्न हैं।

साम्यवाद, मार्क्सवाद से प्रथक होते हुए भी अभिन्न है। साम्यवाद मुख्यतः कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर आधारित है। आगे चलकर मार्क्स के अनुयायियों ने मार्क्सवाद को जो सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप प्रदान किया, इसे ही हम *साम्यवाद कहते हैं।* अन्य शब्दों में, साम्यवाद का आधार मार्क्सवाद है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रत्येक साम्यवादी मार्क्सवादी तो होता ही है। किन्तु साम्यवाद विशुद्ध मार्क्सवाद नहीं है। मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर रूस में 1917 की क्रान्ति का संगठन किया गया। व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन (Lenin, 1870-1924) ने मार्क्स के सिद्धान्तों में कुछ परिवर्धन किये और नये तत्वों को जोड़ा। लेनिन द्वारा प्रतिपादित मार्क्सवाद ही साम्यवाद है। या, हम यह कह सकते हैं कि "साम्यवाद वह मार्क्सवाद है जिसका विवेचन और परिवर्धन लेनिन ने किया।" या, लेनिनवाद (Leninism) जो मार्क्सवाद का संशोधित एवं क्रियात्मक रूप है साम्यवाद कहलाता है।[2] लेनिनवाद साम्यवाद का प्रथम चरण है।

साम्यवाद लेनिन के विचारों तक ही सीमित नहीं रहा। लेनिन के पश्चात् यह माना जाता है कि स्टालिन (Joseph Stalin, 1879-1953) ने साम्यवाद का सर्जनात्मक विकास किया। लेनिन की भांति स्टालिन भी मृत्युपर्यन्त रूसी साम्यवादी व्यवस्था का प्रमुख नेता तथा दार्शनिक बना रहा। स्टालिनवाद साम्यवादी विचारधारा परिवर्धन में दूसरा चरण है।

---

1 जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 91-92.

2 रूस की क्रान्ति (1917) के समय लेनिनवाद बोल्शेविज्म (Bolshevism) के नाम से जाना जाता था।

सामान्यतः यही माना जाता है कि साम्यवाद का महत्वपूर्ण विकास स्टालिन तक ही हुआ है या, सूक्ष्म में 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्टालिनवाद' ही साम्यवाद है। इसलिये विभिन्न विद्वानों ने साम्यवाद की परिभाषा देते हुए साम्यवाद के स्टालिन तक के ही विकास को ध्यान में रखा है। साम्यवाद को परिभाषित करते हुए गेटिल (R G Gettell) ने लिखा है कि:—

"साम्यवाद मानव विकास के लिये भौतिकवादी सिद्धान्त पर आधारित एवं इतिहास का दर्शन है जिसका प्रारम्भ कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एन्जिल्स से हुआ। इनको लेनिन तथा स्टालिन सहित, एक नई विचारधारा के पैगम्बरों के रूप में सम्मानित किया जाता है जिनका भ्रातृत्व प्रेम नहीं किन्तु वर्ग-संघर्ष और विद्रोह का सिद्धान्त है।"[3]

जोड (C E M Joad) ने साम्यवाद को एक क्रान्ति-पद्धति के रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। उन्ही के शब्दों में—

"साम्यवाद मूलतः एक पद्धति का दर्शन है। यह उन सैद्धान्तिक तत्त्वों का निरूपण करता है जिनके आधार पर पूंजीवादी समाज को समाजवादी समाज में परिवर्तित किया जायेगा। इसके दो मूलतत्त्व हैं-वर्गयुद्ध तथा क्रान्ति द्वारा अर्थात् बल प्रयोग द्वारा सर्वहारा वर्ग को शक्ति का हस्तान्तरण।"[4]

यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि आज के समस्त साम्यवादी राज्य स्वयं को समाजवादी घोषित करते हैं। वास्तव में इन साम्यवादी राज्यों का समाजवाद ही साम्यवाद है। मार्क्स ने सर्वहारा-अधिनायकत्व के युग को समाजवादी युग कहा था। साम्यवादी राज्य इसी युग में चल रहे हैं। इसलिये जब साम्यवादी अपने लिए समाजवादी कहते हैं तो हमें भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिये। रूस, चीन, पूर्वी यूरोप के राज्य, उत्तरी वियतनाम, क्यूबा आदि की समाजवादी व्यवस्थाएं ही साम्यवाद हैं। कुछ लेखकों ने साम्यवाद को समाजवाद का उग्र, क्रान्तिकारी एवं अधिनायकवादी स्वरूप माना है।

उपरोक्त परिभाषाओं एवं विद्वानों के विचारों के विवेचन से साम्यवाद को अधिक स्पष्ट करने हेतु निम्नलिखित तत्व पुनः प्रस्तुत किये जाते हैं—

प्रथम, साम्यवाद का आधार एवं स्रोत मार्क्सवाद है, जिसमें फ्रेड्रिक एन्जिल्स के विचार भी सम्मिलित हैं। सभी साम्यवादी मार्क्सवाद के निम्नलिखित आधार-भूत सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं जैसे—

(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या।

3 Wanlass, Lawrence C., Gettell's History of Political Thought, p 389
4 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 92.

(ii) पूंजीवादी-व्यवस्था के दोष तथा उसका अवश्यम्भावी पतन।
(iii) वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त।
(iv) श्रमिक क्रान्ति।
(v) सर्वहारा अधिनायकत्व।
(vi) वर्ग-रहित, राज्य-रहित, शोषण-विहीन साम्यवादी समाज की स्थापना।[5]

द्वितीय रूस में साम्यवादी क्रान्ति के समय तथा बाद में जब मार्क्सवाद का प्रयोग किया गया तब नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में क्रान्ति के नेता लेनिन ने उनमें कुछ संशोधन किये जिन लेनिनवाद के नाम से जाना जाता है। यह साम्यवाद का सबसे प्रथम महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक पक्ष है।

तृतीय, साम्यवाद के विषय में स्टालिन के विचार तक ही साधारणतया साम्यवाद की व्याख्याएँ सीमित रहती हैं। किन्तु स्टालिन के बाद साम्यवादी विचारधारा में कुछ और परिवर्तन हुआ है। रूस में ही निकिता ख्रुश्चेव (Nikita Khruschev) ने साम्यवाद की आधुनिक समीक्षा की। चीन में साम्यवादी क्रान्ति के नेता माओ त्से-तुंग (Mao Tse-tung) ने साम्यवाद की वृहद् व्याख्या की है जिसे माओवाद (Maoism) कहते हैं। विश्व के और कई साम्यवादी नेताओं ने भी टीका-टिप्पणी की है, जिनमें युगोस्लाविया के मार्शल टीटो (Marshal Tito) उत्तर कोरिया के किम इल सुंग (Kim Il Sung), उत्तर वियतनाम के जनरल गियाप (General Giap) आदि प्रमुख हैं। इन सभी के विचारों ने साम्यवाद के सैद्धान्तिक या व्यावहारिक पक्ष को प्रभावित किया है। इसके अलावा कई राज्यों में साम्यवादी प्रणाली की स्थापना हो चुकी है, जिनमें रूस और चीन प्रमुख हैं। इन राज्यों में साम्यवाद को जो व्यावहारिक रूप दिया गया, नई संस्थाओं की स्थापना की गयी, उनमें साम्यवाद के कुछ और तत्व स्पष्ट होते हैं जैसे साम्यवादी दल का महत्ता, व्यक्ति-पूजा, साम्यवाद की विस्तारवादी प्रवृत्ति आदि। इन सभी को साम्यवाद के अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं।

लेनिनवाद (Leninism)

लेनिन (Vladimir Ilyitch Ulianov,[6] 1870–1924) रूस में साम्यवादी क्रान्ति के प्रमुख नेता थे। वे एक मध्यवर्गीय परिवार में पैदा हुए थे। लेनिन के पिता सरकारी स्कूलों के निरीक्षक थे तथा उन्हें अपनी सरकारी सेवाओं के लिए पुरस्कार-स्वरूप कुलीनता (nobility) का अलंकरण प्राप्त हुआ था। लेकिन उनका परिवार क्रान्तिकारी विचारों एवं गतिविधियों से मुक्त नहीं था। 1886 में लेनिन के ज्येष्ठ भ्राता को ज़ार एलेक्जेन्डर तृतीय की हत्या के षड्यन्त्र में मृत्यु दण्ड दिया गया था।

5. मार्क्सवाद के पूर्ण विवरण के लिये अध्याय 'मार्क्सवाद' देखिये।

विद्यार्थी जीवन से स्वयं लेनिन का झुकाव क्रान्तिकारी गतिविधियों की ओर था। सेन्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय से विधि-स्नातक बनने के उपरान्त भी इनकी रुचि श्रमिकों को संगठित करने की थी। 1890 में वे क्रान्तिकारी आन्दोलनों में सम्मिलित हो गये। 1897 में इन्हें साइबेरिया निष्कासित किया गया। साइबेरिया में इन्हें लेना (Lena) नामक स्थान पर रखा गया। इस स्थान के नाम पर इन्होंने अपना उपनाम लेनिन रखा। 1900 में इन्होंने रूस छोड़ा। मार्क्स तथा एन्जिल्स के विचारों का अध्ययन करने के लिये अनेक वर्ष विदेशों में बिताये। प्रथम विश्व युद्ध में इन्हें आस्ट्रिया में बन्दी बनाया गया, किन्तु बाद में छोड़ दिया गया। अप्रैल 1917 में जर्मन सरकार के सहयोग से ये रूस वापस आये और साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व किया। रूसी क्रान्ति से लेकर मृत्यु-पर्यन्त (1924 तक) वे रूस में सोवियत दल के सर्वमान्य नेता ही नहीं, अपितु मार्क्सवाद-साम्यवाद के प्रमुख एवं अग्रणीय प्रवक्ता भी रहे। इस प्रकार लेनिन सिद्धान्तवादी और कर्मशील दोनों ही थे।

लेनिन ने अपने विचारों को कई ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है किन्तु इनमें निम्न-लिखित अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं—

1. What Is to Be Done, 1902.
2. Imperialism . The Highest Stage of Capitalism, 1916
3. State and Revolution, 1917.
4. The Immediate Task of the Soviet Government, 1918
5. The Proletarian Revolution and the Renegade Kautsky, 1918.

अपने संक्षिप्त सैद्धान्तिक लेखों एवं पुस्तकों में लेनिन ने बड़े तार्किक ढंग से साम्यवादी सिद्धान्तों का विवेचन किया है। लेनिन के विचारों को ही 'लेनिनवाद' कहा जाता है।

मार्क्सवाद और लेनिन

लेनिन मार्क्सवाद के परम अनुयायी थे। वे मार्क्सवाद में किसी भी प्रकार का संशोधन नहीं चाहते थे। ऐसे संशोधनवादियों जैसे एडुअर्ड बर्न्सटीन (Eduard Bernstein), तथा-कथित मार्क्सवादी कार्ल कॉट्स्की (Karl Kautsky) आदि से उन्हें घृणा थी। किन्तु जब ऐसे व्यक्तियों ने मार्क्सवाद में त्रुटियों का निरूपण किया, या उन्हें नये विवेचन के साथ प्रस्तुत किया तब लेनिन ने इसका विरोध किया। इनके प्रत्युत्तर में लेनिन ने जो कुछ व्यक्त किया वहीं से लेनिनवाद प्रारम्भ होता है।

लेनिनवाद मार्क्सवाद की उत्तरकृति, पुनर्विकास, प्रगति और परिवर्धन का युद्ध था। लेनिन प्रबल मार्क्सवादी थे। लेनिन द्वारा मार्क्सवाद का इतना प्रबल समर्थन दो पक्षों में स्पष्ट होता है। प्रथम, लेनिन मार्क्स तथा ऐन्जिल्स के प्रत्येक शब्द को सार से भरा हुआ समझते थे। वे मार्क्स के सभी वचनों को 'वेद वाक्य' मानते थे और

तदनुसार उनकी व्याख्या करते थे। द्वितीय, लेनिन ने मार्क्सवाद की रक्षा इस प्रकार की जैसे कट्टर धर्मावलम्बी अपने धर्म की करता है। अपने विरोधियों के ऊपर उनका सबसे बड़ा आक्षेप यह रहता था कि वे मार्क्सवाद के अर्थ में अपमिश्रण करते हैं। मार्क्सवाद का पूर्ण अनुमोदन करते हुए लेनिन ने कहा था—

"मार्क्सवाद का दर्शन फौलाद के एक ठोस पिण्ड की तरह है। आप इसमें से एक भी मूलभूत धारणा, एक भी सारभूत अंश नहीं निकाल सकते। यदि आप ऐसा करते हैं, तो आप वस्तु सत्य को त्याग देते हैं, आप पूंजीवादी-प्रतिक्रियावादी झूठ के हाथों में पड़ जाते हैं।"[7]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा वर्ग संघर्ष को लेनिन मार्क्सवाद की मूल आत्मा मानते थे। "लेनिन की धारणा के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक ऐसी सार्वभौम पद्धति बन गया जो विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में लागू हो सकती थी और सही पथ-प्रदर्शन कर सकती थी। इस दृष्टिकोण ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक उच्चतर ज्ञान, एक प्रकार का धर्मशास्त्र बना दिया जो समस्त विज्ञानों के गहनतम प्रश्नों का निर्णय कर सकता था।'[8]

वर्ग-संघर्ष के विषय में भी लेनिन का ऐसा ही दृष्टिकोण था। लेनिन के अनुसार जैसा कि सेबाइन ने लिखा है, "वर्ग संघर्ष एक परम सिद्धान्त है। यह अस्थाई रूप में धूमिल पड़ सकता है, लेकिन उसे कभी हटाया नहीं जा सकता। वर्ग-संघर्ष का शाश्वत तत्व द्वन्द्वात्मक पद्धति का अनिवार्य परिणाम है।'[9]

लेनिन मार्क्सवादी होने के साथ-साथ यथार्थवादी भी थे। वे मार्क्स के सिद्धान्तों को सर्वकालीन सत्य मानने के साथ साथ उसे विकासशील भी स्वीकार करते थे। मार्क्स ने अपने विचार उस युग में प्रस्तुत किये जब पूंजीवाद का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था। सर्वहारा वर्ग भी क्रान्ति के लिए सबल तथा संगठित नहीं था। लेनिन ने अपने विचार उस समय प्रकट किये जब पूंजीवाद का पूर्ण विकास हो चुका था तथा रूस में सर्वहारा क्रान्ति हो चुकी थी। इसलिए दोनों के विचारों में मौलिक एकता होते हुए भी उनमें भेद होना स्वाभाविक था। उपयोगितावाद के विषय में जो अन्तर बेन्थम और जॉन स्टुअर्ट मिल में था, साम्यवाद के विषय में वही मार्क्स और लेनिन के विषय में कहा जा सकता है।

कार्ल मार्क्स ने सिर्फ सैद्धान्तिक आधार ही प्रस्तुत किये थे। उन्हें किसी क्रान्ति का नेतृत्व कर साम्यवादी शासन की स्थापना करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका था। यदि मार्क्स को यह अवसर प्राप्त होता तो नवीन परिस्थितियों के

7 सेबाइन., राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ. 763.

8 उपर्युक्त, पृ. 766.

9. उपर्युक्त, पृ 767.

सन्दर्भ में अपने विचारों में अवश्य ही कुछ परिवर्तन करते। लेनिन को यह अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने रूसी क्रान्ति का नेतृत्व किया और विश्व में सर्वप्रथम साम्यवादी राज्य की स्थापना हुई। उन्होंने मार्क्सवाद का प्रयोग रूसी परिस्थितियों में बहुत ही बुद्धिमत्ता से किया, यद्यपि कुछ विशेष बातों में मार्क्सवाद में संशोधन भी करना पड़ा।[10] रूसी बोल्शेविकों (Bolsheviks) के प्रभाव के कारण, जोड़ के शब्दों में, साम्यवाद विशिष्टत: पद्धति का दर्शन (Philosophy of method) बन गया, अर्थात् यह उस कार्यक्रम का सिद्धान्त बन गया जिसके अनुसार पूँजीवाद से समाजवाद की ओर किस प्रकार परिवर्तन होगा।[11] इस सन्दर्भ में लेनिनवाद को नवीन मार्क्सवाद (New form of Marxism) तथा रूसी साम्यवाद को सोवियत मार्क्सवाद (Soviet Marxism) भी कहा जाता है।

रूस में क्रान्ति के बाद लेनिन के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण समस्या साम्यवादी शासन के अस्तित्व को बनाये रखने के अलावा उसे सगठित तथा सबल बनाने की थी। उस समय रूस की आन्तरिक स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के संदर्भ में लेनिन को कुछ दाँव-पेच खेलने पड़े, नयी चालें चलनी पड़ीं। इन्हीं चालों से लेनिन रूस में पूँजीवादियों के समर्थकों तथा यूरोपीय राज्यों के बाह्य हस्तक्षेप का मुकाबला कर सका। ये दाव-पेच और चालें (tactics) मार्क्सवादी विचारधारा का भाग है। इस सम्बन्ध में स्टालिन के विचार भी उल्लेखनीय हैं।—

> "लेनिनवाद साम्राज्यवाद तथा सर्वहारा क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद है। अधिक सही अर्थ में लेनिनवाद सामान्य तौर पर सर्वहारा की क्रान्ति का सिद्धान्त और सामरिक चाल तथा विशिष्ट रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व का सिद्धान्त और चाल (tactics) है।[12]

लेनिन के नेतृत्व में अनेक विशेषताएँ थीं। उनमें कठोरता और नम्यता का अपूर्व समन्वय था। वे अवसर से तुरन्त लाभ उठा सकते थे, वे मोर्चा बदल सकते थे। लेकिन उनका मोर्चा बदलना युक्तिसंगत अगला कदम मालूम पड़ता था। लेनिन ने क्रान्ति-विद्या को एक सिद्धान्त का रूप दिया।[13] इस विद्या के अन्तर्गत विद्रोह को एक कला कहा गया। उन्होंने पेशेवर क्रान्तिकारियों के संगठन तथा चालों के कई सुझाव दिये।

लेनिन की क्रान्ति विद्या या चालों का एक अन्य प्रमुख सिद्धान्त था 'समझौते का सिद्धान्त' (Theory of Compromise) है। लेनिन का कहना था कि परिस्थितिवश क्रान्तिकारियों को समझौते के लिये या अन्य विकल्प के लिये भी

[10] आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग पृ. 629.

[11] जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 90

[12] Stalin, J V, Foundation of Leninism, Little Stalin Library, Moscow, p. 10

[13] सेबाइन., राजनीति दर्शन का इतिहास पृ० 745,
Gray., A, The Socialist Tradition, pp 430-31.

तैयार रहना चाहिये। लेनिन ने इस समझौते सिद्धान्त के कुछ पक्ष दिये हैं। प्रथम, साम्यवादियों को श्रम संगठनों में प्रवेश कर उनका अपने हित में प्रयोग करना चाहिये। द्वितीय, साम्यवादी सिद्धान्तों के अन्तर्गत संसदीय प्रणाली की चाहे कुछ भी आलोचना की गई हो साम्यवादियों को चुनावों में भाग लेकर संसद में प्रवेश करना चाहिये। संसद के अन्दर फिर उन्हें अपने हित को देखते हुए कार्य करना चाहिये। तृतीय, परिस्थितियोंवश साम्यवादियों द्वारा दूसरे राजनीतिक दलों से भी गठबन्धन करना चाहिये। किन्तु ऐसे दलों या तथाकथित मित्रों पर वैसे ही कड़ी नजर रखनी चाहिये जैसे कि एक शत्रु पर।[14]

इन चालों का साम्यवादी प्रत्येक देश में आज तक खूब प्रयोग करते हैं। जब कभी भी साम्यवादी कोई ऐसा कार्य करते हैं जिससे राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए साम्यवादी सिद्धान्तों पर आंच आती है तो वे इसे सामयिक व्यवस्था कहकर एक चाल बतलाते हैं। वास्तव में आज साम्यवाद चाल-सिद्धान्त (doctrine of tactics) ही अधिक है। हरबर्ट मारक्यूज (Herbert Marcuse) के शब्दों में—

'सोवियत मार्क्सवाद (लेनिनवाद, स्टालिनवाद तथा उत्तर वाद) रूस की नीतियों को सही एवं विवेकपूर्ण बतलाने के लिए क्रेमलिन द्वारा पोषित विचारधारा ही नहीं है किन्तु यह रूस की वास्तविकताओं को कई प्रकार से व्यक्त करता है।'[15]

एलेग्जेन्डर ग्रे (Alexandea Gray) ने लेनिन को राजनीतिक चालों तथा राजनीतिक रणनीति का गुरु बतलाया है। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लेनिन राजनीति में नैतिकताहीन खेल खेलने में भी कुशल थे। इस पक्ष में वे मैकियावली के अधिक निकट थे।[16] साम्यवाद के लिए लेनिन का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान राजनीतिक चालों के रूप में ही है।

साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था (Imperialism : the Last Stage of Capitalism)

मार्क्स पूंजीवाद का विरोधी था। किन्तु लेनिन पूंजीवाद का मार्क्स से भी अधिक कटु आलोचक था। वास्तव में पूंजीवाद-साम्राज्यवाद विचार को पूर्णरूप से लेनिन ने ही विकसित किया। इसके साथ ही उसने संशोधनवादियों की आलोचना का भी करारा उत्तर दिया।

लेनिन ने प्राचीन और मध्यकालीन साम्राज्यवाद तथा आधुनिक साम्राज्यवाद में अन्तर स्पष्ट किया है। प्राचीन तथा मध्यकालीन साम्राज्यवाद सम्राटों की विजय

14 Gray, A., The Socialist Tradition, pp 480-81
15 Marcuse, Herbert, Soviet Marxism-A Critical Analysis, Routledge and Kegan Paul, London, 1958, p 1
16 Gray, Aelxander., The Socialist Tradition, p 461.

आकांक्षाओं का व्यावहारिक रूप था। आधुनिक साम्राज्यवाद मुख्यतः आर्थिक है। संशोधनवादी नेता एडुअर्ड बर्नस्टीन ने मार्क्सवाद की आलोचना करते हुए कहा था कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी सही सिद्ध नहीं हुई कि पूंजीवाद की वृद्धि से मजदूरों की दशा और अधिक शोचनीय होगी। न पूंजीवादियों की संख्या में कमी हुई है और न उनका पतन ही निकट है। संशोधनवादियों का उत्तर देते हुए लेनिन ने कहा कि पूंजीवाद अपनी चरम अवस्था साम्राज्यवाद में पहुंच चुका है। लेनिन ने विशेषतः इसका विवेचन अपनी पुस्तक—Imperialism : The Highest Stage of Capitalism—में की है। लेनिन के ही शब्दों में—

"साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास का वह चरण है जिसमें एकाधिकार और वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व अपना आकार स्थापित कर चुका है, जिसमें पूंजी-निर्यात महत्ता प्राप्त कर चुकी है, जिसमें विश्व का विभाजन अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट (International trusts) में प्रारम्भ हो चुका है, जिसमें विश्व की समस्त भूमि का विभाजन पूंजीवादी महाराज्यों के मध्य पूर्ण हो चुका है।"[17]

इस सिद्धान्त के द्वारा लेनिन ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास और प्रगति का स्वाभाविक परिणाम है। लेकिन पूंजीवाद साम्राज्यवाद में परिणत एक विशेष और उच्च स्तर की प्राप्ति के बाद ही होता है। साम्राज्यवाद किस प्रकार पूंजीवाद की उच्चतम व्यवस्था या शिखर है लेनिन ने इसे पूंजीवाद से साम्राज्यवाद तक की प्रगति एवं प्रक्रिया के माध्यम से स्पष्ट किया है। लेनिन के इस सिद्धान्त को निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है.—

1 **पूंजीवाद की मूल प्रवृत्ति**—पूंजीवादी व्यवस्था स्वतन्त्र स्पर्द्धा पर आधारित है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्वतन्त्र स्पर्द्धा पूंजीवाद का कोई आधारभूत सिद्धान्त या साध्य है। पूंजीवादी विकास की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस व्यवस्था में स्वतन्त्र स्पर्द्धा और पूंजीवाद का सामान्य स्वरूप दोनों ही समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि स्वतन्त्र स्पर्द्धा में एकाधिकार की प्रवृत्ति होती है। स्पर्द्धा में औद्योगिक इकाइयां अपना आकार बढ़ाती हैं, छोटे छोटे पूंजीपति समाप्त हो जाते हैं और केवल दानव प्रकृति वाले पूंजीपति ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। इस प्रकार पूंजीवाद एकाधिकारवादी व्यवस्था में प्रवेश करता है।

17. "Imperialism is capitalism in that stage of development in which the combination of monopolies and finance capital has taken shape, in which the export of capital has acquired pronounced importance, in which the division of the world by the international trusts has begun, and in which the partition of all the territory of the earth by the greatest capitalist countries has been completed "

Lenin, Imperialism, p 81, quoted by Gray, A, The Socialist Tradition, p 462

2. एकाधिकार—एकाधिकार पूँजीवादी व्यवस्था का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अगला चरण है। वास्तव में पूँजीवाद के अन्तर्गत स्वतन्त्र स्पर्द्धा और एकाधिकार परस्पर-विरोधी होते हुए भी एकाधिकार अवश्यम्भावी है। राष्ट्र की छोटी-छोटी आर्थिक इकाइयां समाप्त हो जाती हैं। एकाधिकार सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था पर छा जाता है। एकाधिकारवादी चरण में पूँजी व उत्पादन एक अत्यन्त ही छोटे समूह में केन्द्रित एवं संचित हो जाता है। इस अवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण विकास उद्योगपति और बैंकपतियों के संयुक्तीकरण से वित्त निर्मित कुलीनतन्त्र (Financial Oligarchi) जैसी व्यवस्था की स्थापना होती है। औद्योगिक संघों के निर्माण के साथ साथ उत्पादन के ऊपर उत्पादकों का नियन्त्रण उनके हाथों से निकल कर थोड़े से चतुर वित्त-धारियों के हाथों में चला जाता है।

पूँजीवाद से साम्राज्यवाद तक बढ़ने की प्रक्रिया में एकाधिकार वाली अवस्था को लेनिन बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे एकाधिकार को ही साम्राज्यवाद जैसा समझते हैं। इसी सन्दर्भ में लेनिन ने साम्राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—

"यदि साम्राज्यवाद की कोई सूक्ष्म परिभाषा देने की आवश्यकता है तो हमें कहना चाहिए कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की एकाधिकार वाली अवस्था है।"[18]

3. पूँजी निर्यात—लेनिन के अनुसार पूँजीवाद राष्ट्रीय सीमाओं के अन्तर्गत बन्द कर नहीं रह सकता। इसमें विस्तारवादी प्रवृत्ति होती है। जब बाजार विश्व-व्यापी हो जाता है एकाधिकारवादी संस्थाएँ अपने आर्थिक हितों में अभिवृद्धि के लिये पिछड़े हुए देशों की ओर दृष्टि डालती हैं। पिछड़े एवं अविकसित राज्यों से पूँजीवादी राज्य कच्चा माल प्राप्त करते हैं तथा उनमें अपनी पूँजी लगाते हैं। यह अवस्था उपनिवेशवाद की ओर अग्रसर करती है।

4. एकाधिकारवादियों के मध्य स्पर्द्धा—संसार के उन्नतिशील राष्ट्रों के एकाधिकारों के मध्य अविकसित तथा पिछड़े हुए देशों पर अधिकार करने की होड़ लग जाती है। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह हो जाता है कि शोषण के योग्य प्रदेशों तथा जनसंख्या का किस प्रकार विभाजन किया जाए। लेनिन 1914 के विश्वयुद्ध का उदाहरण देकर कहते हैं कि यह युद्ध जर्मन पूँजीपतियों के सिन्डीकेटों तथा इंग्लैंड एवं फ्रांस के सिन्डीकेटों के बीच अफ्रीका के नियन्त्रण के लिए संघर्ष था। लेनिन ऐसे और भी कई उदाहरण देते हैं।

लेनिन का कहना है कि इस स्थिति में विश्व के पूँजी एकाधिकारवादी मिलकर विश्व के आर्थिक हितों को स्वयं में विभाजित कर लेते हैं। तदुपरान्त विश्व के पूँजीपति सम्पूर्ण विश्व का स्वयं में क्षेत्रीय विभाजन कर लेते हैं। इस प्रकार "एकाधिकार और वित्त पूँजीवाद स्वतन्त्र प्रतियोगितापूर्ण पूँजीवाद का स्वाभाविक

18 Quoted, Anderson, T , Masters of Russian Marxism, p 73

परिणाम है। राजनीतिक साम्राज्यवाद एकाधिकार पूँजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है और युद्ध पूँजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है। साम्राज्यवाद पूँजीवादी विकास की उच्चतम व्यवस्था है।"[19]

साम्राज्यवादी युद्ध—लेनिन युद्ध को पूँजीवाद के विकास का एक आवश्यक कदम मानते हैं। प्रथम विश्व युद्ध का विवेचन करते हुए लेनिन ने कहा था कि यह युद्ध जर्मन पूँजीपतियों के सिन्डीकेटों तथा इंग्लैंड और फ्रांस के सिन्डीकेटों के बीच अफ्रीका के नियन्त्रण के लिए संघर्ष था। कुस्तुनतुनिया के प्रति रूसी पूँजीवादी (क्रान्ति के पूर्व) और चीन के प्रति जापान के दृष्टिकोण को इसी सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

साम्राज्यवादी युद्ध में किसका कितना दोष है, लेनिन के अनुसार यह सोचना व्यर्थ है। सभी पूँजीवादी राष्ट्र आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित रहते हैं। ये सभी लुटेरे हैं। प्रथम विश्व युद्ध का सर्वहारा क्रांति के दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करते हुए लेनिन साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध और सर्वहारावर्ग की क्रान्ति के रूप में बदलने की आशा रखते थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार की क्रान्ति सम्पूर्ण विश्व में होने वाली है।

एक देश में समाजवाद (Socialism in one state)

मार्क्सवाद अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है जो विश्व के श्रमिकों को एकता और क्रांति के लिए आह्वान करती है। लेनिन ने इस बात को स्वीकार किया है, किन्तु मार्क्सवाद के प्रारम्भिक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की एक राष्ट्रीय व्याख्या करके उसका शोधन किया। लेनिन ने "एक देश में समाजवाद" के सिद्धान्त को जन्म दिया। 'उनका कहना था कि जैसे पूँजीवाद अपने उत्थान में संसार के विभिन्न भागों में एक सा नहीं रहा, और उसी तरह समाजवाद का विस्तार भी सब जगह एक समान नहीं होगा। एक ही प्रयत्न में संसार में साम्यवाद जैसी कोई चीज स्थापित नहीं हो सकती। उसका प्रसार असमान और असम्बद्ध रूप से ही होगा। लेनिन का विश्वास था कि पूँजीवाद के सागर के बीच रूस रूपी एक समाजवादी द्वीप सारे संसार के सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक प्रकाश पुञ्ज का काम करेगा।"[20]

'एक देश में समाजवाद' के समर्थक होने के साथ साथ लेनिन का उत्साह अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विषय में भी बना रहा। उनके प्रयत्नों से मार्च 1919 में 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य संसार के मजदूरों को एक सूत्र में बाधना और पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह करना था।

---

[19] सेबाइन., राजनीति दर्शन का इतिहास, पृ० 771.

[20] आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ० 630

क्रान्ति के लिए उपयुक्त सामाजिक व्यवस्था

मार्क्स के अनुसार क्रान्ति सर्वप्रथम उन देशों में होगी जो औद्योगिक क्षेत्र में काफी आगे बढ़े हों तथा जहाँ पूँजीवाद का पूर्ण विकास हो चुका हो। पूँजीवाद का आन्तरिक परस्पर-विरोध क्रान्ति को और अग्रसर करेगा। रूस की क्रांति के सन्दर्भ में लेनिन मार्क्स की इस धारणा से सहमत नहीं थे। लेनिन के अनुसार मार्क्स ने क्रान्ति के लिए प्रत्येक देश में पूँजीवाद की अवस्था को आवश्यक माना। अब पूँजीवाद विश्वव्यापी बन गया है, इसलिए जहाँ भी पूँजीवाद निर्बल हो, शासक वर्ग की कमजोर स्थिति हो, अधिकतर जनता क्रान्तिकारियों का साथ देने को तैयार हो, वहीं पर समाजवादी क्रान्ति हो सकती है। लेनिन ने कहा कि किसी भी देश में पूँजीवाद के पूर्ण विकास की प्रतीक्षा अनावश्यक है। क्रान्ति किसी भी पिछड़े हुए देश में हो सकती है।

कृषक वर्ग और साम्यवादी क्रांति

मार्क्स साम्यवादी क्रान्ति के लिए औद्योगिक मजदूरों को अधिक उपयोगी और उपयुक्त समझते थे। सर्वहारा वर्ग के पास खोना कुछ नहीं होता तथा प्रत्येक समय क्रान्ति व विद्रोह के लिए तत्पर रह सकता है। लेनिन इस बात से सहमत तो था किन्तु उसने किसानों के योगदान को भी स्वीकार किया। रूसी क्रान्ति में लेनिन को कृषक वर्ग से बहुत सहायता मिली थी। परिणामस्वरूप लेनिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि औद्योगिक श्रमिक ही नहीं किन्तु कृषक वर्ग भी साम्यवादी क्रान्ति में सहायक होता है।

सर्वहारा-अधिनायकत्व बनाम साम्यवादी दल अधिनायकत्व

मार्क्स के अनुसार क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होगा जो साम्यवादी व्यवस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। लेनिन ने इसका खण्डन नहीं किया किन्तु रूस में क्रान्ति के बाद जिस सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना हुई वह वास्तव में साम्यवादी दल की तानाशाही थी। लेनिन के अनुसार साम्यवादी दल ही सर्वहारा वर्ग का मार्ग निर्देशन करेगा। लास्की के शब्दों में—

> सर्वहारा-अधिनायकत्व वास्तव में आवश्यकतानुसार साम्यवादी दल का अधिनायकत्व हो गया क्योंकि प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य के लिये साम्यवादी दल राज्य-यन्त्र से संभिन्न है। साम्यवादी दल का अधिनायकत्व भी उस दल के समस्त सदस्यों का अधिनायकत्व नहीं है।[21]

21 "The dictatorship of the proletariat, in fact became necessarily the dictatorship of the communist party, for every serious purpose, the party has been identical with the apparatus of the state But the dictatorship of the party has not meant the dictatorship of the rank and file" Laski, H J, Reflection on the Revolution of our Time, p 57.

अन्य शब्दों में, मार्क्स के सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थान पर लेनिन ने साम्यवादी दल के अधिनायकत्व की स्थापना की, जो व्यवहार में कुछ ही नेताओं की तानाशाही में परिवर्तित हो गया।

साम्यवादी दल

मार्क्स तथा लेनिन में सबसे महत्वपूर्ण विचार भेद सर्वहारावर्ग की भूमिका के विषय में था। मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने साम्यवादी क्रान्ति के लिये दल के सगठन की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। उनका विचार था कि पूँजीवाद परिस्थितियों तथा शोषण से परेशान होकर श्रमिक वर्ग में वर्ग-चेतना पैदा होगी और सर्वहारा वर्ग स्वय ही क्रान्ति की ओर अग्रसर होगा। लेनिन ने पार्टी को अधिक महत्त्व दिया। लेनिन यह मानने के लिये तैयार नहीं थे कि श्रमिकों में इतनी चेतना स्वय उत्पन्न हो सकती है कि वे संगठित होकर सरकार तथा पूँजीपतियों से लोहा ले सकें। समाजवादी क्रान्ति के लिये लेनिन ने सर्वहारा आन्दोलन को कोई विशेष महत्व नहीं दिया। *लेनिन ने सेन्ट पीटर्सबर्ग में औद्योगिक श्रमिकों का काफी अवलोकन एवं अध्ययन किया था। यहा श्रमिकों की गतिविधियों में भाग लेने के बाद लेनिन का निष्कर्ष था कि किसी फैक्ट्री में कार्य करने से श्रमिक अपने आप में समाजवादी नहीं बन जाता। सर्वहारा या श्रमिक आन्दोलन, लेनिन के अनुसार, ट्रेड यूनियन दृष्टिकोण अपना लेते हैं। उनका उद्देश्य अर्थवाद तक ही सीमित होकर रह जाता है।* सर्वहारावर्ग समाजवादी चेतना तथा वर्ग सघर्ष के लिये तब तक सक्षम नहीं हो सकता जब तक समाजवाद और वर्ग-सघर्ष चेतना उनमे न भरी जाय। समाजवादी क्रान्ति के लिये सर्वहारा वर्ग को सगठित करने, उनमें क्रान्ति भावना का विकास करने का कार्य केवल साम्यवादी दल ही कर सकता है। इस प्रकार साम्यवादी दल की भूमिका का जिसकी ओर मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, लेनिन के विचारों में एक महत्वपूर्ण स्थान है। लेनिन ने साम्यवादी दल को 'क्रान्ति का अग्रणीय' बतलाया।

लेनिन ने जब इसी क्रान्ति की बागडोर अपने हाथों में ली वह इस क्रान्ति को दो आधारों पर रखना चाहता था। प्रथम, मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर आदर्श एकता, द्वितीय, क्रान्तिकारी समूह का कठोर अनुशासन और सगठन। 1902 में क्रान्ति के लिये दल सगठन के विषय में लेनिन ने लिखा था—

> "एक छोटा सुगठित गुट, जिसमे विश्वसनीय, अनुभवी और कठोर-हृदय मजदूर हों, मुख्य केन्द्रों में अपने उत्तरदायी एजेन्टों को रखकर, कठोर गोपनीयता के नियमों के आधार पर क्रान्तिकारियों के सगठनों के साथ सम्बद्ध होकर और जनता का व्यापक समर्थन मिलने पर, बिना किन्हीं विस्तृत नियमों के ही श्रमिक सघ सगठन के समस्त कार्यों को कर सकता है।"[22]

[22] सबाइन., राजनीति दर्शन का इतिहास, पृ० 753–54.

विचार से असहमति प्रगट नहीं की, लेकिन उन्हें यह धारणा एक आदर्श ही प्रतीत हुई। क्रान्ति के उपरान्त सर्वहारा वर्ग को राज्य की आवश्यकता बनी रहेगी। लेनिन के अनुसार "सर्वहारा को राज्य की आवश्यकता है। शक्ति और हिंसा के केन्द्रीय संगठन इसलिये आवश्यक है ताकि शोषक वर्ग की बची खुची शक्ति एवं प्रतिक्रिया को पूर्णत कुचला जा सके। राज्य इसलिये और भी आवश्यक है ताकि जनसंख्या के बहुत बड़े भाग का समाजवादी निर्माण के लिये मार्गदर्शन किया जा सके। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में लेनिन ने कहा कि सोवियत संघ समार के शक्तिशाली राज्यों के मध्य में रह रहा है। जब तक पूंजीवादी राज्यों के साथ संघर्ष समाप्त नहीं होता तथा उनका अन्त नहीं हो जाता तब तक रूस में भी राज्य का अन्त नहीं हो सकता। सम्भवतः लेनिन राज्य के लोप को असम्भव समझते थे।

लेनिनवाद का मूल्यांकन

लेनिनवाद का आलोचनात्मक विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे तर्क जो मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के विरुद्ध दिये जाते हैं लेनिन के विचारों के विषय में भी सही हैं। लेनिनवाद में अधिनायकवाद, अन्तर्राष्ट्रीय विस्तारवाद, अवसरवाद आदि सभी का समावेश है। सामान्यतः लेनिनवाद की उतनी आलोचना नहीं हुई है जितनी आगे चल कर स्टालिनवाद की हुई है। किन्तु रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार ऐलेग्जेन्डर सॉलजेनितसिन (Alexander Solzhenitsyn) जिन्हें मार्च 1914 में रूस से निष्कासित किया गया है, ने लेनिन पर सम्भवतः सबसे प्रबल आलोचनात्मक प्रहार किया है। सॉलजेनितसिन का कहना है कि स्टालिन के शासन काल में सत्ता का जिस प्रकार दुरुपयोग किया गया, जिस प्रकार एक दल और एक व्यक्ति की तानाशाही की प्रस्थापना की गई, जिस प्रकार राजनीतिक स्वतन्त्रता का गला घोटा गया, वास्तव में इन सभी साम्यवादी दुर्गुणों तथा अधिनायकवाद का आधार लेनिन के समय में ही रख दिया गया था। यदि लेनिन को शासन करने का अधिक समय मिलता तो वे स्टालिन से किसी भी तरह कम तानाशाह न बनते।

साम्यवादी दृष्टिकोण से लेनिनवाद के दो महत्वपूर्ण प्रमुख पक्ष हैं। प्रथम, लेनिन ने मार्क्सवाद का बड़ी योग्यता के साथ विवेचन एवं परिवर्धन किया। उन्होंने पूंजीवाद के उत्तरोत्तर भाग में मार्क्सवाद की नई व्याख्या कर मार्क्सवाद को समय के अनुकूल बनाकर एक नया जीवन और एक नयी दिशा प्रदान की। लेनिन के विचारों में मार्क्स की दुहाई रहती थी लेकिन इन सिद्धान्तों का निरूपण सदैव ही एक विशिष्ट कार्य-पद्धति तथा एक निश्चित परिस्थिति के सन्दर्भ में होता था। इसलिये लेनिन का मार्क्सवाद अत्यधिक रूढ़िवादी भी था और व्यावहारिक भी। उनके इस समन्वय से इतिहासकारों को भी उसी प्रकार उलझन हो सकती है जिस प्रकार उनके मार्क्सवादी साथियों को होती है।[25]

[25] सेबाइन, राजनीति दर्शन का इतिहास, पृ. 752.

लेनिनवाद का दूसरा पक्ष साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है। लेनिन ने रूस में साम्यवादी क्रान्ति का सर्वप्रथम नेतृत्व कर विश्व को यह दर्शा दिया कि अन्य देशों में इस प्रकार की क्रान्ति असम्भव नहीं है। लेनिन को निसन्देह विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का जनक एवं अग्रचेता स्वीकार किया जाता है। साम्यवादी लेनिन के विचारों को अत्यधिक महत्व देते हैं। विश्व के सभी साम्यवादी मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को जोड़ कर अपने सैद्धान्तिक आदर्शों की संरचना मानते हैं।

लिओन ट्रॉट्स्की

Leon Bronshtein Trotsky, 1879–1940.

लिओन ट्रॉट्स्की एक सफल यहूदी कृषक का पुत्र था। क्रान्तिकारियों की भांति इसका अधिकांश जीवन निर्वासन में ही व्यतीत हुआ किन्तु रूस में मार्क्सवादियों के साथ इसका सक्रिय सम्पर्क बना रहा। 1902 से सर्वप्रथम पेरिस में लेनिन और ट्रॉट्स्की मिले। 1905 में रूस की असफल क्रान्ति में ट्रॉट्स्की ने सक्रिय भाग लिया। 1917 में रूस की क्रान्ति के पूर्व ट्रॉट्स्की का बॉलशेविकों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। *क्रान्ति के पहले वे न्यूयार्क में रूसी क्रान्तिकारी पत्र का सम्पादन कर रहे थे।* 1917 के मध्य में जब क्रान्ति के अवसर ठीक लग रहे थे, ट्रॉट्स्की स्वदेश आ गये तथा बॉलशेविक दल में सम्मिलित हो गये। सितम्बर 1917 में वे पेट्रोग्राड सोवियत के अध्यक्ष बने तथा सोवियत क्रान्ति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अप्रैल 1917 से नवम्बर 1917 तक लेनिन तथा ट्रॉट्स्की ने रूस में अस्थाई सरकार का विरोध करने के लिये स्थानीय सोवियत संस्थाओं (Local Soviets) पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया। क्रान्ति के समर्थन में जनता को आकृष्ट करने में लेनिन तथा ट्रॉट्स्की का नारा था– 'शान्ति, भूमि और रोटी' (Peace, Land and Bread)। क्रान्ति के समय ट्रॉट्स्की ने बोलशेविक सेना का संगठन किया तथा कई स्थानों पर साम्यवादी क्रान्ति को असफल होने से बचाया। नवम्बर 1917 में रूस में साम्यवादी क्रान्ति के बाद (1917-18) वे रूस के विदेश मंत्री बने। प्रथम विश्वयुद्ध में रूस को बाहर निकालने तथा जर्मनी के साथ सन्धि करने में ट्रॉट्स्की ने ही कूटनीतिक वार्ता की थी। 1918-25 तक ट्रॉट्स्की सेना विभाग के मंत्री रहे। इस कार्यकाल में ट्रॉट्स्की ने सोवियत सेना के संगठन का महत्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया।

यद्यपि लेनिन और ट्रॉट्स्की में भी सैद्धान्तिक मतभेद थे किन्तु रूस में क्रान्ति का संचालन करने तथा क्रान्ति को स्थाई बनाने में दोनों ने एक दूसरे को सहयोग दिया। लेनिन की मृत्यु के बाद स्टालिन और ट्रॉट्स्की में व्यापक मतभेद सामने आये। वैसे ट्रॉट्स्की को लेनिन का उत्तराधिकारी समझा जाता था किन्तु स्टालिन का साम्यवादी दल का महामंत्री होने के नाते दल पर प्रभाव एवं नियन्त्रण था। उत्तराधिकारी संघर्ष में ट्रॉट्स्की स्टालिन के सामने नहीं टिक सके। परन्तु स्टालिन

और ट्रॉट्स्की के सिद्धान्त संघर्ष में तीव्रता आ गई। 1927 तक रूस के साम्यवादी दल ने ट्रॉट्स्की के सभी सिद्धान्तों को ठुकरा दिया तथा उन्हें रूस से निष्कासित कर दिया गया। निष्कासन में भी ट्रॉट्स्की स्टालिन तथा स्टालिन के विचारों का प्रतिरोध करते रहे। 1940 में सम्भवत: रूसी एजेन्टों ने मेक्सिको में ट्रॉट्स्की की हत्या कर दी।

ट्रॉट्स्की ने साम्यवादी सिद्धान्तों की व्याख्या के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

1 Our Revolution, 1906.
2 Terrorism and Communism : A Reply to Karl Kautsky, 1920
3 Toward Socialism or Capitalism, 1925.
4 In Defence of Marxism, 1939-40

स्थाई क्रांति का सिद्धान्त (Theory of the Permanent Revolution)

ट्रॉट्स्की ने साम्यवाद के विभिन्न पक्षों को लेकर टीकाएँ की हैं किन्तु उनका स्थायी क्रान्ति का सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में ट्रॉट्स्की के अन्य विचार भी स्थाई क्रांति के सिद्धान्त से ही सम्बद्ध हैं।[26]

स्थाई क्रान्ति सिद्धान्त का अर्थ, ट्रॉट्स्की के अनुसार, उस क्रांति से है जिसके अन्तर्गत वर्ग-शासन के किसी भी स्वरूप को स्वीकार नहीं किया जाता, क्रान्ति लोकतान्त्रिक व्यवस्था तक ही सीमित नहीं रहती इसका उद्देश्य समाजवादी क्रान्ति की उपलब्धि है। साथ ही साथ देश के बाहर प्रतिक्रियावादियों के विरुद्ध मोर्चा लिए रहना ही स्थायी क्रान्ति है। अन्य शब्दों में जब तक वर्ग-भेद का उन्मूलन नहीं हो जाता, जब तक देश में समाजवाद की पूर्ण स्थापना नहीं हो जाती और जब तक रूस की साम्यवादी क्रांति का विरोध करने वालों को समाप्त कर उन्हें समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं ले लिया जाता तब तक इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष एवं प्रयास करते रहना ही स्थाई क्रांति है। ट्रॉट्स्की स्थाई क्रान्ति के सिद्धान्त के निम्नलिखित पक्षों को स्पष्ट करते हैं —

लोकतान्त्रिक क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की ओर संक्रमण

स्थाई क्रांति के इस पक्ष के अन्तर्गत पिछड़े हुए राज्यों में लोकतन्त्र की स्थापना सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत ही सम्भव है। इसका तात्पर्य हुआ कि समाजवादी क्रान्ति के लिए सर्वहारा लोकतन्त्र एक प्रारम्भिक अवस्था है। लोकतान्त्रिक क्रान्ति से समाजवादी क्रांति की ओर अग्रसर होना क्रान्ति के स्थायित्व को स्वीकार करना है।

26 साम्यवाद के विभिन्न पक्षों पर ट्रॉट्स्की के स्वयं के विचारों के लिये देखिये,— Anderson, Thornton, Masters of Russian Marxism, pp. 135-160, Also see - Communism and Revolution by Black and Thornton, pp 27-42

स्थाई क्रान्ति का दूसरा पक्ष समाजवादी क्रान्ति है। इसके अन्तर्गत निरन्तर संघर्ष के द्वारा सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन करना है। आर्थिक, नौकरशाही, विज्ञान, परिवार, नैतिकता आदि के क्षेत्र में क्रान्ति स्थाई क्रान्ति का समाजवादी स्वरूप है।

समाजवादी क्रान्ति के विषय में ट्रॉटस्की का सबसे महत्वपूर्ण सुझाव कृषि का सामूहिकीकरण (collective farming) था।

क्रान्ति का व्यापक आधार कृषक वर्ग के समर्थन की अपेक्षा

रूस में साम्यवादी क्रान्ति को स्थाई बनाने तथा उसे व्यापक आधार प्रदान करने के लिये ट्रॉटस्की का विश्वास था कि सर्वहारा वर्ग को कृषकों का समर्थन प्राप्त करना चाहिए। सत्ता में आते ही बोल्शेविक कृषक वर्ग के समक्ष एक मुक्तिदाता के रूप में आयेंगे। सर्वहारा वर्ग कृषकों को अपनी ओर मिलाने के लिए उस भूमि पर कृषकों के स्वामित्व को स्वीकार कर लेगा जो उन्होंने क्रान्ति के समय छीन ली थी किन्तु कृषक वर्ग स्वयं स्वतन्त्र रूप से शासन करने के सदैव अयोग्य है। ट्रॉटस्की एक प्रकार से सर्वहारा-कृषक अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat and the Peasantry) का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।

श्रम सैन्यीकरण (Militarisation of labour)

रूस में साम्यवादी क्रान्ति प्रथम विश्व युद्ध के अन्तिम चरण में हुई। इसलिए रूस में राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान युद्ध स्तर पर किया जा रहा था। साम्यवाद की व्याख्या तथा कार्य प्रणाली पर युद्ध का प्रभाव पड़ा। इस सन्दर्भ में अस्थाई रूप से 'युद्ध साम्यवाद' (War Communism) नामक कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। 1920-21 में रूस को युद्ध साम्यवाद से निकाल कर सामान्य साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत लाने की बात सोची गई। ट्रॉटस्की का इस सम्बन्ध में सुझाव था कि 'युद्ध साम्यवाद' का विकल्प भी उग्र होना चाहिए। ट्रॉटस्की के अनुसार उत्पादन, आर्थिक नियोजन, श्रमिक तथा श्रमिक संगठनों आदि को चाहे सेना के अधिकार में न भी रखा जाय किन्तु इन्हें सैनिक अनुशासन जैसी स्थिति के अन्तर्गत अवश्य लाया जाय। ट्रॉटस्की ने ट्रेड यूनियनों के सैन्यीकरण का सुझाव दिया। प्रत्येक श्रमिक, ट्रॉटस्की के अनुसार, श्रम सैनिक है (Every worker is a soldier of labour)

ट्रॉटस्की प्रत्येक श्रमिक से अनिवार्य श्रम लेने के पक्ष में थे। 'मनुष्य को श्रम करना चाहिए ताकि वह जीवित रह सके' (Man must work in order not to die) ट्रॉटस्की का नारा था।[27] ट्रॉटस्की ट्रेड यूनियन की स्वायत्तता के विरुद्ध थे तथा दल के अन्दर लोकतन्त्र का भी उन्होंने कभी भी समर्थन नहीं किया।

27. Anderson, Thorton, Masters of Russian Marxism, p. 128.

श्रमिकों के सैन्यीकरण का उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करना था। इसके लिए अर्थ व्यवस्था का नियोजन एवं संचालन केन्द्र से होना चाहिए। इस सम्बन्ध में ट्रॉट्स्की 'अति राज्यवादी' थे।

ट्रॉटस्की के ये सुझाव रूस में एक विवाद के कारण बन गये। श्रमिकों तथा उन राजनीतिज्ञों ने, जो ट्रॉट्स्की को लेनिन का उत्तराधिकारी बनना पसन्द नहीं करते थे ट्राटस्की के ये सिद्धान्त दल में स्वीकार नहीं किये गए। इससे उनकी लोकप्रियता को काफी धक्का लगा।

अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व क्रान्ति

अपने मार्क्सवादी विचारों में ट्रॉट्स्की पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के समर्थक थे। उन्होंने दूसरे देशों में क्रान्ति का निर्माण करने के लिए आक्रामक दृष्टिकोण अपनाया। ट्रॉट्स्की का विश्वास था कि साम्यवादी क्रान्ति को रूस तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। क्रान्ति स्थायी होनी चाहिए जिससे विश्व के अन्य भागों में क्रान्ति के माध्यम से समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जा सके। इसके लिए ट्राट्स्की साम्यवाद का प्रचार एवं विस्तार करने वाली मास्को स्थित 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) संस्था का प्रयोग करना चाहते थे। ट्रॉट्स्की का विचार था कि विश्वव्यापी, निरन्तर एवं स्थायी क्रान्ति से रूस की क्रान्ति को भी स्थायित्व एवं सुरक्षा प्राप्त होगी। अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति से रूस की सर्वहारा क्रान्ति को ट्रॉट्स्की सुरक्षा इसलिये और प्रदान करना चाहते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि रूस का सर्वहारा वर्ग अलग-थलग होकर क्रान्ति को स्थायी नहीं बना सकता। सूक्ष्म में ट्रॉट्स्की ने 'एक देश में समाजवाद' के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद को प्राथमिकता दी।

अन्तर्राष्ट्रीय बोल्शेविक क्रान्ति के समर्थक ट्रॉटस्की पश्चिम यूरोप में क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित करना चाहते थे। इसके लिये चिनगारी भड़काने का कार्य रूस को करना चाहिये। इस सम्बन्ध में ट्रॉट्स्की निम्नलिखित दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है —

प्रथम– किसी भी देश में क्रान्ति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह पूंजीवादी विकास की सीमा प्राप्त कर चुका हो तथा औद्योगिक श्रमिक वर्ग शक्तिशाली बन चुका हो।

द्वितीय—ट्रॉटस्की का विचार था कि समाजवादी क्रान्ति के लिए व्यापक जन समर्थन या श्रमिक वर्ग की संख्या में वृद्धि आदि आवश्यक नहीं है। क्रान्ति कुछ समाजवादी अल्प-संख्यकों द्वारा भी की जा सकती है। यहाँ इसका आशय यह भी हुआ कि जब तक पश्चिम यूरोप का श्रमिक वर्ग क्रान्ति के लिये आगे नहीं बढ़ता, रूस को क्रान्ति का उत्तरदायित्व लेना चाहिए। ट्रॉट्स्की की यह धारणा रूस की

क्रान्ति के सन्दर्भ में ही बनी। जब नवम्बर 1917 में बोल्शेविक सत्ता में आए इसका कारण सम्पूर्ण जनता का सहयोग या समर्थन नहीं था। उस समय बोल्शेविकों की सदस्य संख्या केवल दो लाख के लगभग थी। रूस की क्रान्ति वास्तव में बोल्शेविक दल-सदस्यों द्वारा सरकार का तख्ता पलट कर शासन पर अधिकार करना था।[28]

मूल्यांकन

लेनिन के बाद ट्राट्स्की को साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रमुख टीकाकार माना जाता था। वे सिद्धान्तकार और साम्यवादी क्रान्ति के कर्मठ कार्यकर्ता दोनों ही थे। साम्यवादी क्रान्ति को स्थायित्व देने के लिये उनका स्थायी क्रान्ति का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साथ ही साथ रूस में साम्यवादी क्रान्ति का सफल सञ्चालन करने में ट्राट्स्की का महत्त्वपूर्ण योगदान था। वे साम्यवादियों में उग्रपंथी थे।

यद्यपि ट्राट्स्की ने साम्यवादी सिद्धान्तों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है परन्तु विश्व के साम्यवादी उनके योगदान को स्वीकार नहीं करते। इसका प्रमुख कारण स्टालिन तथा ट्राट्स्की के मध्य सैद्धान्तिक मतभेद एवं सत्ता सम्बन्धी संघर्ष था जिसमें स्टालिन सफल रहा। रूस में स्टालिन युग में उनके विचारों के विरुद्ध एक व्यापक एवं व्यवस्थित ढंग से प्रचार किया गया इससे ट्राट्स्की के विचारों का प्रभाव समाप्त होता चला गया। आज साम्यवादी परिभाषा में ट्राट्स्कीवाद का अर्थ मार्क्सवाद से विचलन, मार्क्सवादी सिद्धान्तों से हटना या उनमें संशोधन करना माना जाता है। साम्यवादी इन सभी तत्त्वों की निन्दा करते हैं। यद्यपि रूस में ट्राट्स्की को खूब अपमानित किया गया, ट्राट्स्की का ऐसा कोई विचार नहीं था जिसे आगे चलकर स्टालिन ने स्वीकार न किया हो।[29] यहाँ तक कि 'अप्रैल थीसिस' (April Theses, April, 1917) के उपरान्त लेनिन भी ट्राट्स्की के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों के अधिक निकट थे। रूस में साम्यवादी क्रान्ति के समय तथा बाद में लेनिन ने ट्राट्स्की के स्थायी क्रान्ति के विभिन्न सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया।[30]

वर्तमान में विश्व के किसी भी राज्य का साम्यवादी दल ट्राट्स्की को अपना प्रेरणा स्रोत नहीं मानता। केवल श्री लंका ही एक ऐसा अपवाद है जहाँ ट्राट्स्की के सिद्धान्तों के आधार पर एक राजनीतिक दल सक्रिय है।

स्टालिनवाद (Stalinism)

स्टालिन (Joseph V. Dzhugashvili, 1879–1953) का जन्म जार्जिया में हुआ। स्टालिन की माँ अनपढ़ किन्तु धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थी किन्तु स्टालिन का पिता एक मोची था जिसे शराब पीने की लत थी। प्रारम्भ में स्टालिन ने चर्च

28 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 455.
29 Deutsher, Isaac., The Prophet Armed, Trotsky, p. 515.
30 Labedz, Leopold, Ideology: The Fourth Stage; in Political Thought Since World War II, edited by W. J. Stankiewicz, p. 176

नास्तिक का अध्ययन किया तथा चौदह वर्ष की आयु में एक धार्मिक संस्था की ओर से छात्रवृत्ति भी मिली। लेकिन धीरे धीरे स्टालिन का ध्यान मार्क्सवाद की ओर आकर्षित होता चला गया। 1898 में ये एक मार्क्सवादी समूह के सक्रिय सदस्य बन गये। 1903 के लगभग स्टालिन लेनिन के प्रमुख अनुयायी एवं भावी बन गये। इनकी महान योग्यता तथा कट्टर मार्क्सवादी होने के कारण 1912 में स्टालिन बाॅलशेविक केन्द्रीय समिति के सदस्य नियुक्त किये गये। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व 1913 में स्टालिन को बन्दी बनाकर साइबेरिया निष्कासित कर दिया गया। मार्च 1917 में स्टालिन जब निर्वासन से वापस आये तो रूस की क्रान्ति में कूद पड़े। रूस की क्रान्ति में स्टालिन ने लेनिन को अत्यधिक सहयोग दिया।

क्रान्ति के उपरान्त स्टालिन को काफी उत्तरदायी कार्य सौंपे गये। वे साम्यवादी दल के मुख पत्र 'प्रावदा' के सम्पादक रहे तथा राष्ट्रीयता, श्रमिकों, किसानों आदि से सम्बन्धित मंत्रालयों का कार्यभार सम्भाला। अप्रैल 1920 में स्टालिन को सर्वोच्च महत्वपूर्ण पद-साम्यवादी दल के महासचिव-पर नियुक्त किया गया। यहीं से स्टालिन के हाथों में सत्ता संचय का प्रारम्भ होता है। 1924 में लेनिन की मृत्यु से लेकर 1953 में स्वयं की मृत्यु तक स्टालिन रूस के सर्वेसर्वा तानाशाह बन कर रहे।

मार्क्सवाद-साम्यवाद में स्टालिन के योगदान को स्वीकार किया जाता है। स्टालिन के कुछ प्रमुख ग्रन्थ, जिनमें उन्होंने मार्क्सवाद में परिवर्तन किया, निम्नलिखित हैं—

1. Foundations of Leninism, 1924.
2. On the Problems of Leninsm 1926,
3. Dialectical and Historical Materialism, 193[illegible],
4. Marxism and National Question, 1942,
5. Economic Problems of Socialism in the USSR 1952, etc

स्टालिन-ट्राटस्की मतभेद

लेनिन की मृत्यु के पश्चात रूस का नेतृत्व स्टालिन के हाथों में आया। किन्तु इसी समय स्टालिन और ट्रॉटस्की (Trotsky 1879-1940) के मतभेदों ने साम्यवादी दल की जड़ें हिला दी। रूस की साम्यवादी पार्टी में दो गुट हो गये। एक गुट का नेता ट्रॉट्स्की था और दूसरे का स्टालिन। स्टालिन और ट्रॉट्स्की का संघर्ष व्यक्तिगत तथा सैद्धान्तिक दोनों ही था। अन्तिम रूप में यह सत्ता का संघर्ष था।[31] स्टालिन तथा ट्राटस्की के जो सैद्धान्तिक मतभेद हुए इनसे साम्यवादी सिद्धान्तों की व्याख्या को भी अवसर प्रदान किया। निम्नलिखित पंक्तियों में ट्रॉट्स्की स्टालिन मतभेद के साथ-साथ स्टालिनवाद भी स्पष्ट हो जाता है।

31 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 498

स्टालिन और भूमि समस्या : कृषि का सामुदायीकरण

साम्यवादी सिद्धान्त को स्टालिन का सबसे महत्वपूर्ण योगदान भूमि समस्या के समाधान के क्षेत्र में है। मार्क्सवाद का छोटे छोटे उत्पादकों तथा किसानों की निजी सम्पत्ति, उनका समझौतापूर्ण एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तो पहले से ही ज्ञात था। लेकिन वे साम्यवादी क्रान्ति में इनकी द्वितीय पंक्ति में रूस में भूमिका को भी महत्वपूर्ण मानते थे। फिर भी उस समय तक यह प्रमुख समस्या भूमि का मार्क्सवादी समाधान नहीं हुआ था। इस समस्या के समाधान के लिए भूमि का सामाजीकरण, राष्ट्रीयकरण, म्युनिसिपलीकरण तथा जिलीकरण के सुझाव दिए गए। 1906 में स्टॉकहोम कांग्रेस में स्टालिन ने इन तीनों विकल्पों का विरोध किया। उस समय स्टालिन का विचार था कि किसानों को भूमिपतियों से भूमि छीन कर दे दी जाय और फिर उसका व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में विभाजन कर दिया जाय। स्टालिन का विचार था कि इस प्रकार वह साम्यवादी क्रान्ति का कम से कम कुछ समय के लिए समर्थन करेगा। 1917 में रूस में क्रान्ति के उपरान्त भूमि का सामाजीकरण और स्टालिन के विचार का ही प्रयोग चलता रहा। लेनिन की मृत्यु के बाद इसी समस्या को लेकर ट्राटस्की और स्टालिन में मतभेद हो गए। ट्राटस्की का विचार था कि किसानों का सामुदायीकरण (Collectivisation) किया जाय। उस समय की परिस्थितियों के सन्दर्भ में स्टालिन कृषि का पूर्ण सामुदायीकरण न कर किसानों को कुछ सुविधाएँ देना चाहते थे। किन्तु बाद में स्वयं स्टालिन ने रूस में कृषि के सामुदायीकरण (Collective farming) को स्वीकार किया।

एक देश में समाजवाद

'एक देश में समाजवाद' का प्रारम्भिक विवेचन लेनिन के विचारों में मिलता है किन्तु स्टालिन ने इसका और विस्तार किया। स्टालिन और ट्राटस्की में इस विषय पर बड़ा मतभेद था कि पहले रूस में साम्यवाद को दृढ़ किया जाय अथवा विश्वव्यापी साम्यवादी क्रान्ति की ओर ध्यान दिया जाए। ट्राटस्की का विचार था कि जब तक रूस पूँजीवादी देशों से घिरा है (Capitalist encirclement) तब तक रूस में क्रान्ति स्थायी नहीं रह सकती। पूँजीवादी देशों से आक्रमण का भय सदैव बना रहेगा। ट्राटस्की समझता था कि अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्ति की विस्तार योजना बनाई जाय। जब कई राज्य विशेषतः पश्चिमी यूरोप के राज्य, समाजवादी क्रान्ति के अन्तर्गत आ जायेंगे तो इससे रूस की व्यवस्था भी सुदृढ़ होगी और पूँजीवादी घेराव (Capitalist encirclement) भी कोई हानि नहीं कर सकेगा। ट्राटस्की ने स्थायी साम्यवादी क्रान्ति का समर्थन किया।

स्टालिन इस विचार से सहमत नहीं था। उसका कहना था कि एक देश में भी साम्यवाद की स्थापना की जा सकती है। इसके अलावा दूसरे देशों में क्रान्ति का

निर्यात नहीं किया जा सकता। किसी भी देश में क्रान्ति तभी हो सकती है जब वहाँ कुछ आवश्यक परिस्थितियाँ उपलब्ध हों। स्टालिन का दृष्टिकोण था कि पहले रूस में ही साम्यवाद को दृढ़ तथा सफल बनाया जाय।

सितम्बर 1925 में साम्यवादी दल के चौदहवें अधिवेशन में स्टालिन का मत स्वीकार कर लिया गया। दिसम्बर 1927 में ट्रॉट्स्की को साम्यवादी दल से निष्कासित तथा देश से निर्वासित कर दिया गया। बाद में अमेरिका में उसकी हत्या कर दी गई।

स्टालिन और ट्रॉट्स्की के सैद्धान्तिक मतभेदों में स्टालिन के विचारों की आलोचना हुई है। आलोचकों के अनुसार स्टालिन ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को पूर्णत ठुकरा दिया। 'एक देश म समाजवाद' मार्क्सवादी विचारधारा के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इस आधार पर स्टालिन ने कम से कम उस समय तथा तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी क्रान्ति का त्याग कर दिया। यहाँ स्टालिन का उद्देश्य रूस के हित को सुरक्षित रखना था न कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी हित को। इस विवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्टालिन का दृष्टिकोण बहुत कुछ राष्ट्रवादी हो गया था। इन बातों से, आशीर्वादम् के शब्दों में, ऐसा मालूम होगा कि लेनिनवाद स्टालिन के हाथों में आकर भ्रष्ट हो गया।[32] उन्हें कट्टर मार्क्सवादी या संशोधनवादी कहा जाय, इस पर साम्यवादी स्वयं भी एक मत नहीं हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार को भी स्टालिन ने कभी नहीं छोड़ा। इस सम्बन्ध में उसने नई चालों को अपनाया तथा उनमें सदैव परिवर्तन करता रहा। 1928 में *'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय'* (Third International) के छठे विश्व-सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें उल्लेख था कि—

> "अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का अन्तिम उद्देश्य विश्व की पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के स्थान पर विश्व-व्यापी साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करना है ...जिसके अन्तर्गत समस्त मनुष्य जाति को सोवियत समाजवादी गणतन्त्रों के विश्व-संघ में निर्माण करना है।....चूँकि रूस सर्वहारा तानाशाही और समाजवादी निर्माण का देश है इसलिए यह स्वाभाविक रूप से विश्व आन्दोलन का आधार (या केन्द्र) है।"[33]

उस समय विश्व में साम्यवादी क्रान्ति सम्भव नहीं थी। द्वितीय विश्व युद्ध के समय स्टालिन ने एक कदम पीछे हटने की चाल चली। हिटलर के विरुद्ध इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि से सहायता प्राप्त करने के लिये 1943 में रूस ने कोमिनटर्न को समाप्त कर दी। किन्तु युद्ध के बाद इसका फिर पुनरुत्थान कर दिया। युद्ध में रूस ने पूर्वी यूरोप के राज्यों पर अधिकार कर उनका सोवियतकरण करना प्रारम्भ

32 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 632.

33 Burns, Emile, (Ed.) A Hand book of Marxism, London, 1935, p 964.

कर विश्व के अन्य देशों में साम्यवादी दलों को सहायता तथा समर्थन देना प्रारम्भ किया। इसलिए स्टालिन द्वारा ट्रॉटस्की का विरोध करना सैद्धान्तिक नहीं व्यक्तिगत प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि स्टालिन के विचार एवं व्यवहार परस्पर-विरोधी थे, क्योंकि स्टालिन ऐसा चाहता भी था।

स्टालिन ने ट्रॉटस्की के साथ अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को जान बूझ कर तूल दिया। सत्ता-संघर्ष में साम्यवादी दल का समर्थन प्राप्त करने के लिए स्टालिन ने यह संघर्ष सिद्धान्तों की आड़ लेकर लड़ा। वास्तव में स्टालिन और ट्रॉटस्की के मतभेदों को मतभेद की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इन दोनों में तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सिर्फ राजनीतिक चाल में ही कुछ अन्तर प्रतीत होता है। इन मतभेदों के होते हुए भी स्टालिन ने ट्रॉटस्की के पतन के बाद उन्हीं सिद्धान्तों को अपनाया जिनका ट्रॉटस्की ने समर्थन किया।

स्टालिन और क्षेत्रीय स्वायत्तता का सिद्धान्त

स्टालिन का दूसरा सैद्धान्तिक योगदान 'राष्ट्रीय समस्या' के विषय में है। 1913 में स्टालिन की पुस्तक—The National Question and Social Democracy—में इस समस्या के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं। उस समय दो परस्पर-विरोधी विचारों - राष्ट्रीय स्वाधीनता और सर्वहारा वर्ग की अन्तर्राष्ट्रीय एकता-में विवाद उत्पन्न हो गया था। राष्ट्रवाद के समर्थक राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा मार्क्सवादी अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा एकता में विश्वास करते थे। स्टालिन ने अपने विचारों में इन दोनों परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय किया है। स्टालिन ने राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों (national minorities) के आत्म-निर्णय (Self-determination) अधिकार को स्वीकार किया है यदि उनका शोषण और दमन किया जाता है। वैसे स्टालिन ने राष्ट्रीयता को पूँजीवादी विचार, व्यक्तियों को विभाजन करने, राष्ट्रीय बाधाएँ उत्पन्न करने वाला विचार कह कर आलोचना की है। दूसरी ओर पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा शासन की स्थापना अव्यावहारिक है। इन दोनों के विकल्प में स्टालिन ने क्षेत्रीय स्वायत्तता (regional autonomy) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके अन्तर्गत एक समाजवादी राज्य में क्षेत्रीय स्वायत्तता के आधार पर कई राष्ट्रीय अल्पसंख्यक रह सकते हैं। 1936 में निर्मित स्टालिन-संविधान में इस सिद्धान्त की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।

राज्य का लोप (Withering away of the State)

स्टालिन ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद में एक और महत्वपूर्ण संशोधन किया। मार्क्सवाद में राज्य के लोप होने की बात कही गई है। लेनिन ने राज्य के लोप होने को अप्रत्यक्ष रूप से अव्यावहारिक माना है। किन्तु स्टालिन इस सम्बन्ध में लेनिन से बहुत आगे है। उस समय प्रायः यह प्रश्न किया जाता था कि राज्य का लोप तथा

साम्यवादी समाज की स्थापना कब होगी ? मार्च 1938 में सोवियत साम्यवादी-दल-कांग्रेस के अधिवेशन में स्टालिन ने इस बात को लेकर काफी चर्चा की।

स्टालिन ने बतलाया कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद को हमें एक रूढ़िवादी धारणा (dogma) के रूप में स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। आज की प्रत्येक परिस्थिति के लिये मार्क्स-ऐन्जिल्स आदि ने कोई उपचार नहीं बतलाये। इन सिद्धान्तों को हमें तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही समझना चाहिये।

स्टालिन के अनुसार यदि किसी देश का विकास केवल उसकी आन्तरिक परिस्थितियों पर निर्भर होता, या संसार के अधिकतम भाग में समाजवाद की स्थापना हो गई होती तो राज्य के लोप होने की कल्पना की जा सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलता, रूस का पूंजीवादी राज्यों द्वारा घिरा होना (Capitalist encirclement) जो रूस की समाजवादी व्यवस्था का उन्मूलन करने के लिये कटिबद्ध हैं, राज्य के लोप होने की बात नहीं कही जा सकती। इसके विपरीत स्टालिन ने राज्य को अधिक शक्तिशाली तथा सर्वहारा अधिनायकत्व को अधिक सुदृढ़ करने पर विशेष बल दिया।[34]

व्यक्तिगत तानाशाही

कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को महत्व दिया, लेनिन ने सर्वहारा वर्ग के स्थान पर साम्यवादी दल को प्राथमिकता दी, किन्तु स्टालिन ने सर्वहारा वर्ग तथा साम्यवादी दल को स्वयं में समा लिया और इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत तानाशाही की स्थापना की। स्टालिन जब तक जीवित रहे तब तक उन्होंने पूर्ण तानाशाह की तरह शक्तियों का प्रयोग किया। (आगे कई स्थलों पर स्टालिन के अधिनायकत्व व व्यक्ति पूजा को स्पष्ट किया गया है)

मूल्यांकन

स्टालिनवाद मार्क्सवाद-साम्यवाद की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी है किन्तु स्टालिन के योगदान के विषय में अब साम्यवादी विभाजित हैं। यद्यपि विश्व के बहुत से साम्यवादी दल (चीन सहित) स्टालिनवाद के महत्व को स्वीकार करते हैं किन्तु स्वयं रूस में ही निकिता ख्रुश्चेव ने अपने शासन-काल में स्टालिनवाद को दफना दिया। ख्रुश्चेव के पतन के बाद स्टालिनवाद का शनैः शनैः किन्तु सीमित रूप में फिर पुनरुत्थान किया जा रहा है।

स्टालिन युग के पहले तथा बाद में स्टालिन के विचारों की लोकप्रियता कम होने के कई कारण हैं। स्टालिन ने स्वयं को सदैव लेनिन का सहायक समझा। इसलिये लेनिनवाद के समक्ष स्टालिनवाद फीका सा लगता था। इसके अतिरिक्त

34 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, pp 511-13

स्टालिन ने अपने शासन काल में कुछ ऐसे अधिनायकवादी, हिंसात्मक, अनैतिक साधनों का प्रयोग किया जिनके कारण स्टालिन लोकप्रिय न हो सका।

स्टालिन ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद को एक कदम और आगे बढ़ाया। सैद्धान्तिक दृष्टि से स्टालिन लेनिन की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी थे। 'एक ही देश में समाजवाद तथा 'राज्य के लोप' के विषय में स्टालिन अधिक स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत रूस में पंचवर्षीय योजनाओं का निर्देशन, कृषि का सामूहीकरण रूस को 1936 में नवीन संविधान देने तथा द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त रूस को एक महा शक्ति का स्तर प्रदान करने में एक निष्पक्ष पर्यवेक्षक स्टालिन के योगदान की अवहेलना नहीं कर सकता। ख्रुश्चेव के शासन काल से स्टालिन के विरुद्ध अभियान चलाने के बावजूद भी स्टालिन से साम्यवाद को जो सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्वरूप दिया आज के सभी साम्यवादी उनके इस योगदान को स्वीकार करते हैं।

साम्यवादी विचारधारा में निकिता ख्रुश्चेव (Nikita Khruschev) का योगदान

स्टालिन की मृत्यु के कुछ ही समय बाद निकिता ख्रुश्चेव ने रूस में अपनी स्थिति सुदृढ़ करली। राजनीतिक विरोधियों को मार्ग से हटाकर सरकार और साम्यवादी दल दोनों का नेतृत्व ख्रुश्चेव ने अपने में केन्द्रित कर लिया। लगभग एक दशक तक रूस पर इनका एकछत्र प्रभुत्व रहा। रूस की आन्तरिक दशा, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तथा रूस–चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों के सन्दर्भ में इन्होंने साम्यवाद के कुछ पक्षों का नया विवेचन प्रस्तुत किया, जिसे रूस का शासक और दलीय वर्ग आज भी मान्यता देता है। ख्रुश्चेव का साम्यवादी विवेचन निम्नलिखित सिद्धान्तों के विषय में है:—

व्यक्ति-पूजा (Cult of personality) का विरोध तथा सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership) का समर्थन

1956 में सोवियत साम्यवादी दल के बीसवें अधिवेशन से ख्रुश्चेव ने स्टालिन की निन्दा करना प्रारम्भ किया। उन्होंने स्टालिन पर व्यक्ति-पूजा, व्यक्तिगत तानाशाही स्थापित करने का आरोप लगाया। ख्रुश्चेव ने कहा कि यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद की भावना के विरुद्ध है कि किसी व्यक्ति को देवता की तरह ऊँचा उठाकर दल और जनता की सफलता का सारा श्रेय एक ही व्यक्ति को दे दिया जाय। व्यक्ति-पूजा के स्थान पर ख्रुश्चेव ने सामूहिक नेतृत्व का समर्थन किया।

ख्रुश्चेव ने स्टालिन-पूजा का विरोध किया, लेकिन अपने कार्यकाल में वे स्वयं भी इस ओर बढ़ते हुए प्रतीत होते थे। उनके उत्तराधिकारी ब्रेजनेव, कोसीगिन तथा पादगोर्नी आदि ने ख्रुश्चेव को पदच्युत करते समय भी यही आरोप लगाया कि वे अपनी व्यक्ति–पूजा को प्रोत्साहन दे रहे थे।

युद्ध का विरोध

मार्क्सवाद-लेनिनवाद वर्ग-संघर्ष तथा विश्व में पूंजीवादी और साम्यवादी राज्यों के मध्य युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार करता है। ख्रुश्चेव ने युद्ध की अनिवार्यता का समर्थन नहीं किया। उनके अनुसार परमाणु युग में युद्ध असम्भव है। बड़ी शक्तियों में अब जो भी युद्ध होगा वह परमाणु प्रस्त्र शस्त्रों से ही होगा। इस युद्ध में विश्व का सर्वनाश होगा तथा न कोई विजेता होगा न पराजित। इस स्थिति में युद्ध से साम्यवादी विस्तार नहीं हो सकता। विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-युद्ध साम्यवाद प्रसार के साधन के रूप में अब व्यावहारिक नहीं रहा।

एक अन्य तर्क देते हुए ख्रुश्चेव ने कहा कि युद्ध में सामान्यतः श्रमिक वर्ग की ही हानि होती है, चाहे वे पूंजीवादी या साम्यवादी राज्यों में रहते हों। युद्ध का पूंजीपतियों पर नहीं श्रमिकों के जीवन और जीवन-स्तर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। युद्ध का समर्थन करना श्रमिकों के हितों का विरोध करना है।

इसके अलावा साम्यवाद ने अभी तक जो प्रगति की है, इसका जो विस्तार हुआ है, विश्व युद्ध से यह भी समाप्त हो जायेगा। अत, ख्रुश्चेव के अनुसार, साम्यवादी राज्यों को अपनी शक्ति संगठित करनी चाहिए ताकि यदि भविष्य में उन्हें युद्ध का सामना करना पड़े तो वे उसका डटकर मुकाबला करें।

शान्तिपूर्ण एवं संसदीय साधनों का समर्थन

मार्क्स, लेनिन, स्टालिन सभी का विश्वास था कि किसी देश में सशस्त्र क्रान्ति के बिना समाजवादी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। ख्रुश्चेव के अनुसार रूस में अक्टूबर क्रान्ति उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में एक मात्र मार्ग था। अब विश्व स्थिति में आमूल परिवर्तन हो चुके हैं। विभिन्न देशों में साम्यवादियों की संख्या में वृद्धि हुई है किन्तु वे इतने सबल नहीं हैं कि शक्ति द्वारा सत्ता ग्रहण कर लें। उनमें क्रांति के प्रति जोश में भी उतार आया है। अब इस बात की सम्भावना अधिक बढ़ गई है कि मजदूर वर्ग शान्तिपूर्ण तथा संसदीय मार्ग से राज्य की शक्ति पर अपना अधिकार कर लें।[35] सम्भवतः 1957 में केरल में आम चुनावों के बाद साम्यवादी दल सत्ता में आया इसने ख्रुश्चेव को इस धारणा से प्रोत्साहित किया हो। आजकल साम्यवादी इस तरह से और भी प्रभावित हुए होंगे कि लेटिन अमरीकी राज्य चिली में राष्ट्रपति सैल्वाडोर ऐलेन्डे (Salvador Allende) के नेतृत्व में 1971 में चुनावों के माध्यम से साम्यवादी सत्ता में आ गये थे। इससे ख्रुश्चेव सिद्धान्त को और भी बल मिला।

रूस और युगोस्लाविया सम्बन्ध

समाजवाद के कई मार्ग (Many ways of socialism) का सिद्धांत—

35 Lowenthal, Richard, World Communism, pp 24-25

पूर्वी यूरोप के राज्यों का साम्यवादीकरण के साथ-साथ उनका सोवियतकरण (Sovietization) भी किया गया। इन राज्यों की दलीय एवं शासन व्यवस्था रूस की प्रणाली पर ही आधारित है। किन्तु मार्शल टीटो (Marshal Tito) के नेतृत्व में यूगोस्लाविया रूसी नियन्त्रण से निकल गया। यूगोस्लाविया ने मार्शल टीटो के नेतृत्व में जो साम्यवादी व्यवस्था अपनाई है वह रूस से कुछ दृष्टि से भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यूगोस्लाविया रूस का पिछलग्गुआ नहीं है। वह रूस के सैनिक संगठन का भी सदस्य नहीं है। वह एक प्रमुख तटस्थ राज्य है जो सभी के साथ, जिनमें पूँजीवादी राज्य भी सम्मिलित हैं, अपने सम्बन्ध अच्छे रखना चाहता है।

स्टालिन ने यूगोस्लाविया के साम्यवाद और मार्शल टीटो को सदैव ही घृणा की दृष्टि से देखा। दोनों देशों के आपसी सम्बन्ध भी ठीक नहीं थे। किन्तु ख्रुश्चेव यूगोस्लाविया के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने का प्रयत्न किया। इसी सन्दर्भ में ख्रुश्चेव ने यह स्वीकार किया कि साम्यवाद की प्राप्ति के लिये रूसी प्रणाली ही एकमात्र मार्ग नहीं है। अन्य समाजवादी प्रणालियों से भी साम्यवाद की उपलब्धि हो सकती है। इस प्रकार साम्यवाद के कई या विभिन्न मार्ग के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।

साम्राज्यवाद का बदलता स्वरूप.

सह-अस्तित्व (Co-existence) का समर्थन

ख्रुश्चेव के विचार से पूँजीवादी-साम्राज्यवादी राज्यों की प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ है। अब अमरीका जैसी महाशक्ति साम्यवादी राज्यों की असीमित शक्ति से परिचित है। वे भी युद्ध की व्यापकता और विभीषिका से डरने लगे हैं तथा शान्ति के इच्छुक हैं। साम्यवाद, मानववाद और शान्ति पर आधारित है। अत. युद्ध से बचने, तथा साम्यवादी राज्यों में आर्थिक प्रगति की ओर अधिक गति प्रदान करने के लि यह आवश्यक है कि साम्राज्यवादी राज्यों के प्रति नीति में कुछ परिवर्तन किया जाय। विकल्प रूप में ख्रुश्चेव ने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का समर्थन किया। साम्राज्यवादी—पूँजीवादी राज्यों के साथ साम्यवादी राज्यों का सह-अस्तित्व हो सकता है, किन्तु उन्हें आर्थिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा करनी चाहिए। जो भी व्यवस्था ठीक होगी विश्व के राज्य उसे स्वीकार कर लेंगे। यदि साम्यवादी राज्य स्वयं अच्छा आदर्श प्रस्तुत करते हैं तो ख्रुश्चेव का विश्वास था कि इस प्रतियोगिता में साम्यवादी राज्य पूँजीवादी-साम्राज्यवादी राज्यों को परास्त कर देंगे।

असंलग्नता (Non-alignment) की नीति का समर्थन

द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् धीरे-धीरे एशिया और अफ्रीका में नये-नये स्वतन्त्र राज्यों का प्रादुर्भाव होने लगा तथा उनकी संख्या में वृद्धि होने लगी। कुछ ही राज्यों को छोड़ कर लगभग सभी राज्यों ने असंलग्नता की नीति अपनाई। वे अमरीकी या सोवियत सैनिक गुट में सम्मिलित नहीं होना चाहते थे। वैसे साम्यवादी सिद्धान्तत

पूंजीवाद और सर्वहारा राज्यों के अलावा तटस्थ राज्यों को स्वीकार नहीं करते क्योंकि इससे पूंजीवादी और सर्वहारा राज्यों के मध्य संघर्ष में ढिलाई आयेगी किन्तु परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में ख्रुश्चेव का कहना था कि अब उन्हें यह नीति छोड़ देनी चाहिये कि जो साम्यवादियों के साथ नहीं है वह उनका शत्रु है। उनका यह प्रयत्न होना चाहिये कि तटस्थ राज्य कम से कम पूंजीवादी खेमे में सम्मिलित न हो जायें।

तटस्थ राज्यों की अधिक संख्या, जिसका संयुक्त राष्ट्र में मतदान के समय महत्व को ध्यान से रखते हुये, अविकसित अफ्रीकी-एशियायी राज्यों में साम्यवाद के शान्तिपूर्ण प्रसार के अच्छे अवसर, अपने आर्थिक हितों तथा इन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र (Sphere of influence) में लाने के लिये ख्रुश्चेव ने तटस्थ राज्यों की नीतियों को मान्यता तथा सहायता देने का प्रबल समर्थन किया। इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति लेनिन के समय में नहीं थी तथा स्टालिन के अन्तिम वर्षों में थोड़ा बहुत अभ्युदय हो चुका था। किन्तु इन नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में निश्चित ख्रुश्चेव ने असंलग्न राज्यों के महत्व को जिस तरह स्वीकार किया उससे मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सैद्धान्तिक पक्ष को ही बल नहीं मिला, इसने रूस के राष्ट्रीय हितों को भी संरक्षण प्रदान किया।

ब्रेजनेव सिद्धान्त (The Brezhnyov Doctrine)

1964 में निकिता ख्रुश्चेव के पतन के उपरान्त रूस का शासन सामूहिक नेतृत्व ने सम्हाला। इसमें लियोनार्ड ब्रेजनेव (L. I Brezhnyov) सोवियत साम्यवादी दल के महामन्त्री होने के नाते, कुछ अधिक शक्तिशाली बनते जा रहे हैं। इन्होंने समय-समय पर विशेष परिस्थितियों व परिक्षेप में कुछ सैद्धान्तिक विचार प्रकट किये हैं जिन्हें साम्यवादी महत्व देते हैं।

ब्रेजनेव का तथाकथित योगदान सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विषय में है 1968 में चेकोस्लोवाकिया में रूस विरोधी विद्रोह हुआ। सोवियत सेना ने इस विद्रोह का पूर्ण दमन किया। रूसी हस्तक्षेप की विश्व में काफी भर्त्सना भी की गई। ब्रेजनेव ने रूसी हस्तक्षेप को सही बतलाते हुए निम्नलिखित दो बातों को स्पष्ट किया—

प्रथम, जितने भी समाजवादी (पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राज्य और रूस के विशेष सन्दर्भ में) राज्य हैं उनकी सम्प्रभुता पारस्परिक व्यवहार में सीमित है। आपसी सम्बन्धों में इनमें से कोई भी राज्य पूर्ण सम्प्रभुता का दावा नहीं कर सकता। सभी की सम्प्रभुता सीमित रहती है।

द्वितीय, इनमें से किसी भी राज्य की साम्यवादी प्रणाली को यदि आन्तरिक या बाह्य खतरा उत्पन्न होता है, तो समाजवादी व्यवस्था की रक्षा के लिये अन्य समाजवादी राज्यों को हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

यही ब्रेजनेव सिद्धान्त है। यूगोस्लाविया, अलबानिया, रूमानिया ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है, फिर भी इसमें रूसी नेताओं का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विषय में वर्तमान दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। व्यवहार में रूस ने द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त सदैव ही पूर्वी यूरोप के राज्यों को उपनिवेशों की तरह समझा है किन्तु ब्रेजनेव का योगदान इसमें है कि उन्होंने इस तथ्य को एक सैद्धान्तिक आवरण पहना कर हस्तक्षेप को ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया।

माओवाद (Maoism)

जीवनी

माओ त्से-तुंग का जन्म 26 दिसम्बर 1893 में हूनान प्रान्त के एक गांव में हुआ। 1911 में मंचू क्रान्ति के बाद माओ ने लगभग छः माह तक सैनिक सेवा की। इस अल्पकालीन सैनिक सेवा ने माओ के सैनिक दर्शन को उभारने का अवसर दिया। 1918 में माओ ने एक शिक्षक महाविद्यालय से स्नातक परीक्षा पास की। कुछ समय के लिये इन्होंने पीकिंग विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में एक छोटे से पद पर कार्य किया। 1922-23 में माओ हूनान प्रान्त में एक प्राथमिक शाला के प्रिन्सिपल रहे।

1920-21 में चेन तू-शिन (Chen Tu-hsin) के प्रयासों एवं पहल करने से जिस साम्यवादी गतवर्ष का सम्मेलन आयोजित किया गया तथा चीन के साम्यवादी दल की स्थापना हुई, माओ त्से-तुंग उसके संस्थापकों में से एक थे। 1927 में हूनान क्रान्ति में माओ ने सक्रिय भाग लिया। इसी वर्ष माओ ने सुप्रसिद्ध चीनी सेनापति चू तेह (Chu Teh) के साथ कियागसी में लाल सेना (Red Army) और सोवियत सरकार की स्थापना की। यहाँ से माओ त्से-तुंग का ध्यान भूमि सुधार की ओर गया जो आगे चल कर कृषक साम्यवाद का एक तत्व बन गया।

धीरे-धीरे माओ त्से-तुंग साम्यवादी दल के अग्रणीय नेता बनते जा रहे थे तथा उनके क्रान्तिकारी गतिविधियों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। इस समय चीन की स्थिति अति दयनीय थी। आन्तरिक विघटन के साथ-साथ जापान निरन्तर चीन पर अपना दबाव बढ़ाता जा रहा था। 1934 में माओ ने अपने साथियों द्वारा कियागसी से शेन्सी तक लगभग तीन हजार मील की क्रान्ति यात्रा की। इस यात्रा के दौरान माओ की प्रथम पत्नी की मृत्यु हुई। इस लम्बी क्रान्ति यात्रा के उपरान्त माओ त्से-तुंग चीन में साम्यवादी आन्दोलन एक छत्र नेतृत्व इनके हाथों में आ गया। 1939 में माओ ने शघाई की एक अभिनेत्री चियांग ची से अपना चौथा विवाह किया।

आन्तरिक दृष्टि से चीन इस समय दो खेमों में विभाजित था। प्रथम, राष्ट्रवादी जिनका नेतृत्व चाग काई-शेक कर रहे थे, तथा जिनका शासन पर अधिकार था। द्वितीय, साम्यवादी क्रान्तिकारी जिनका नेतृत्व माओ कर रहे थे। चीन पर

जापान का आक्रमण तथा द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि में राष्ट्रवादियों एवं साम्यवादियों के सहयोग में कई उतार चढ़ाव आये किन्तु इनमें हृदय से सहयोग कभी स्थापित नहीं हो सका।

अक्टूबर 1949 में माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन में साम्यवादी शासन की प्रस्थापना हुई। 1949 से 1959 तक माओ त्से-तुंग चीन के राजाध्यक्ष रहे। अब वे सार्वजनिक जीवन अलग रह कर केवल से साम्यवादी दल के अध्यक्ष के रूप में शासन व्यवस्था के लिए निर्देश देते रहते है तथा राजनीति के दाव पेच प्रदर्शित करते रहते हैं।

माओ त्से-तुंग के विचारों को माओवाद (Maoism) की संज्ञा दी गई है क्योंकि माओ समर्थक यह मानते हैं कि उनके विचारों से मार्क्सवाद-लेनिनवाद में अभिवृद्धि के साथ साथ चीन की परिस्थितियों के परिपेक्ष में नये साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। माओवाद की सामग्री माओ द्वारा लिखे गये निबन्धों, ग्रन्थों तथा समय समय पर दिये गये भाषणों में मिलती है। माओ के कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं.—

- New Democracy, 1940, On Coalition Government, 1945;
- The Present Position and the Task Ahead, 1947;
- The People's Democratic Dictatorship, 1949.

माओ त्से-तुंग के सम्पूर्ण विचारों का सग्रह Mao's Selected Works में मिलता है जिनका समय समय पर प्रकाशन हुआ है। चीन में माओ के विचार (Thought of Mao Tse-tung) साम्यवादी दल के लिए विचार एवं कार्य के लिए प्रेरणा प्रदान करते हैं। 'सांस्कृतिक क्रांति' के समय माओ के विचारों की 'लाल पुस्तक' (Red Book) तथा माओ के उद्धरण लोकप्रिय हुए। माओवाद चीन की एक मात्र साम्यवादी विचारधारा है।

माओवाद की पृष्ठभूमि एवं प्रादुर्भाव

प्राचीन काल से चीन की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था के विकास में विभिन्नता और विरोधाभास का क्रम रहा है। चीन की परम्परा में आदर्शवादी, साम्राज्यवादी, पूंजीवादी, समाजवादी आदि विचारधाराओं का समय-समय पर प्रतिपादन हुआ है। वास्तव में चीन की परम्परा से किसी भी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो सकता था। इसलिए चीन में साम्यवाद तथा माओवाद के विभिन्न पक्षों का विकास होना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। चीन में साम्यवादी व्यवहार के स्रोतों को अामानों में खोजा जा सकता है।

चीनी साम्यवाद की उग्रता, विस्तारवादिता, राष्ट्रीय दर्प चीन में प्राचीन काल में ही विद्यमान थे। प्राचीनकाल में चीन के लोग अपने देश को 'मध्य साम्राज्य' (Middle Kingdom) कहते थे। उनका विश्वास था कि अन्य

आस पास के देशों को चीन के प्रभाव क्षेत्र में रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त चीन के लोगों में अपने विचार, व्यवहार, जीवन-पद्धति, संस्कृति आदि की श्रेष्ठता में पूर्ण विश्वास रहा है। माओवाद इन सभी विशेषताओं का समन्वय है।

चीन में ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में शांग यांग (Shang Yang) का दर्शन कन्फ्यूशियस के विरुद्ध था। इस दर्शन ने राज्य की निरकुशता, देश की व्यवस्था में एकरूपता, शिक्षा का केन्द्रीकरण, साहित्य पर नियन्त्रण आदि का समर्थन किया था। चीनी साम्यवाद इन सभी का पालन कर रहा है।

चीन के इतिहास के प्रारम्भ में, जब चीन का नाम चीन नहीं मध्य साम्राज्य (Middle Kingdom) था, कई छोटे छोटे नगर राज्य निरकुश शासकों के अधीन थे। इस युग में 'दर्शन के सैकड़ों सम्प्रदाय' (Hundred Schools of Phylosophy) नामक विचार प्रचलन में था जिसके द्वारा मनुष्य और समाज तथा मनुष्य और ब्रह्माड के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया था। माओ त्से-तु ग का 'सैकड़ों फूल तथा सैकड़ों विचार सम्प्रदायों' वाला सिद्धान्त उपर्युक्त मध्ययुगीय विचार पर आधारित था।

माओ त्से-तु ग का 'नवीन लोकतन्त्र' (New Democracy) का सिद्धान्त वाग माग साम्राज्य (Wang Mang, 9-23 A. D.) के विचार 'नवीन राजवंश' (New Dynasty) से ग्रहण किया गया था। 'नवीन राजवंश' का विचार था कि सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का अधिकार है, कृषकों से कम लगान लिया जाय, कृषकों को कम ब्याज पर ऋण दिया जाय, तथा उत्पादन के कई पक्षों पर राज्य का एकाधिकार होना आदि।

माओ त्से-तु ग के सैनिक विचार और सामरिक चालें आदि चीन के लिए कोई नया विचार नहीं है। कन्फ्यूशियस के समकालीन सुन त्ज़ू (Sun Tzu) ने कई सामरिक चालों का प्रतिपादन किया। उदाहरणार्थ सुन त्ज़ू ने कहा था "युद्ध करके विजय प्राप्त करना कोई महान् बात नहीं है, महानता इसमें है कि बिना युद्ध किए ही शत्रु के सामर्थ्य को नष्ट कर दिया जाय। स्वयं का और शत्रु का सही मूल्यांकन करो तो तुम्हें सैकड़ों युद्धों में भी पराजय का मुँह नहीं देखना पड़ेगा।"[36] इसी प्रकार माओ त्से-तु ग के समकालीन प्रसिद्ध सेनापति चू तेह (Chu Teh) की सामरिक नीति और सैनिक चालों को माओ ने ग्रहण किया है।

चीन में साम्यवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव रूस में साम्यवादी क्रान्ति के बाद हुआ था। 1919 में चीन के साम्यवादी प्रवर्तक चेन तू-शिन ने रूस में संस्थापित तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International or Comintern) से चीन का सम्पर्क स्थापित किया। 1920 में एक व्यक्ति श्री मालिग तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के प्रतिनिधि रूप में शंघाई आये और समाजवादी दल की स्थापना का प्रबन्ध किया। तदुपरात

36 Quoted, Clubb, Edmund, 20th Centuy China, p. 306

चेन तू-शिन ने साम्यवादी समर्थकों का एक सम्मेलन आयोजित किया तथा मई 1920 में चीन में साम्यवादी दल का प्रादुर्भाव हुआ। चेन तू-शिन नये दल के अध्यक्ष चुने गये तथा माओ त्से-तुंग दल के एक प्रमुख सदस्य थे लेकिन धीरे-धीरे माओ त्से-तुंग इसके अग्रणीय नेता बन गये।

चीन में साम्यवादी आन्दोलन पर मार्क्सवाद तथा रूसी साम्यवाद का प्रभाव था। माओ त्से-तुंग ने स्वयं ही अपने साम्यवाद पर मार्क्स-लेनिन-स्टालिन के प्रभाव को स्वीकार किया है किन्तु माओवाद या चीनी साम्यवाद मुख्यतः चीन की उपज अधिक है। एक बार माओ त्से-तुंग ने कहा था—"रूस के इतिहास ने रूस की व्यवस्था को जन्म दिया, चीन का इतिहास चीनी व्यवस्था का निर्माण करेगा।" चीनी साम्यवादी पहले चीनी हैं बाद में साम्यवादी। माओवाद इस प्रकार राष्ट्रवाद और साम्यवाद दोनों का समन्वय है।

द्वितीय विश्व के अन्त तक चीन में माओ त्से-तुंग और साम्यवाद का व्यापक प्रभाव होता जा रहा था किन्तु माओ त्से-तुंग एक विशिष्ट साम्यवादी चिन्तक के रूप में सामने नहीं आये। सम्भवतः माओ त्से-तुंग स्वयं को एक पृथक मार्क्सवादी-साम्यवादी टीकाकार के रूप में घोषित कर रूस को नाराज नहीं करना चाहते थे। 1945 में माओ त्से-तुंग को एक विशिष्ट मार्क्सवादी सिद्धान्तकार के रूप में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया। इस वर्ष ल्यू शाओ ची (बाद में चीन के राजाध्यक्ष, माओ के सम्भावित उत्तराधिकारी किन्तु सांस्कृतिक क्रान्ति में पदच्युत एवं अपमानित) का दावा था कि माओ त्से-तुंग ने चीन में क्रान्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो साम्यवादी सिद्धान्त शृंखला में एक नवीन विकास है। तभी से चीन का साम्यवादी दल माओ त्से-तुंग के विचारों को एक विशिष्ट साम्यवादी विचारधारा के रूप में प्रचार कर रहा है। चीनी साम्यवादी दल का दावा है कि माओ त्से-तुंग ने मार्क्सवाद-साम्यवाद के एक दर्जन से भी अधिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस समय साम्यवादी सिद्धान्तों की व्याख्या का स्रोत केवल मास्को ही नहीं है, उतने ही अधिकृत रूप में पीकिंग से भी साम्यवादी विचारों का विवेचन होता रहता है। वास्तव में रूस और चीन दोनों ही समानान्तर रूप से साम्यवादी विचारधारा का केन्द्र बन गए हैं।

माओ त्से-तुंग एक मार्क्सवादी दार्शनिक के रूप में

चीन के साम्यवादियों का कहना है कि माओ त्से-तुंग ने मार्क्सवादी दर्शन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके अनुसार माओ ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में परिवर्धन कर उसे अधिक स्पष्ट किया है। उनका यह दावा माओ त्से-तुंग के दो निबन्धों – On Practice और On Contradiction–पर आधारित है जो माओ ने 1937 में लिखे तथा 1950 और 1952 में क्रमशः प्रकाशित हुए। चीनी साम्यवादी टीकाकारों का मत है कि On Practice (कार्य अथवा प्रयोग) में माओ

त्से-तुंग ने मार्क्सवादी–लेनिनवादी सिद्धान्त के दार्शनिक पक्ष का और आगे विकास एवं विस्तार किया है। इस निबन्ध में माओ ने ऐंजिल्स तथा लेनिन के दो प्रमुख सिद्धान्तों—Principles of Absolute and Relative Truth—को पूर्णतः स्पष्ट किया है।

माओ त्से-तुंग का दूसरा निबन्ध–On Contradiction (परस्पर-विरोध)–के विषय में यह कहा जाता है कि यह लेनिन के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त पर आगे का विकास है जिसमें 'विरोध में एकता' (Units of opposites), 'आन्तरिक पक्ष व विरोध' (Internal Contradiction) तथा बाहरी आकस्मिक तत्वों का विकास पर प्रभाव को स्पष्ट किया है।

माओ त्से-तुंग के इन दोनों दार्शनिक निबन्धों पर मतभेद है। सर्वप्रथम आलोचकों का आक्षेप है कि ये निबन्ध माओ त्से-तुंग द्वारा नहीं लिखे गये हैं क्योंकि माओ के विचारों के प्रारम्भिक संकलन में इनको सम्मिलित नहीं किया गया। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी इन निबन्धों की कटु आलोचना की गई है। इन निबन्धों में ऐसी कोई नई बात नहीं है जिसके लिये माओ को इसकी मौलिकता का श्रेय दिया जाय। माओ ने जो कुछ लिखा है वह ऐंजिल्स तथा लेनिन के विचारों की पुनरावृत्ति ही है।[37]

खेतिहर देश के लिये मार्क्सवादी क्रान्ति का सिद्धान्त

माओवाद को लेनिनवाद का ही एक ऐसा स्वरूप माना जा सकता है जो खेतिहर देश की परिस्थिति के अनुकूल हो। कृषि की सदा चीन की प्रधान समस्या रही है और माओवाद उसी समस्या का उत्तर है।[38] माओ त्से-तुंग ने अपने विचारों में खेतिहर देशों में साम्यवादी क्रान्ति की सम्भावना पर काफी प्रकाश डाला है। 1927 में चीन के हुनान (Hunan) प्रान्त में कृषकों ने विद्रोह किया था। माओ त्से-तुंग स्वयं इस आन्दोलन का अवलोकन करने हुनान पहुँचे। कृषक विद्रोह के विषय में माओ ने एक प्रतिवेदन Report of an Investigation into The Peasant Movement in Hunan–तैयार की। वास्तव में यह प्रतिवेदन ही माओ त्से-तुंग का 'खेतिहर देश में क्रान्ति' सिद्धान्त का आधार है। माओ त्से-तुंग ने खेतिहर देश में क्रान्ति के सिद्धान्त में निम्नलिखित विचारों का प्रतिपादन किया है:—

तृतीय, निर्धन कृषक वर्ग एक विश्वसनीय शक्ति है तथा श्रमिक वर्ग का मित्र रहना है।

माओ त्से-तुंग समझते हैं कि उनके इन विचारों के आधार पर एशिया तथा अफ्रीका के देशों में साम्यवादी क्रान्तियाँ सम्भव हैं क्योंकि इन महाद्वीपों के देश मूलतः खेतिहर ही हैं।

क्रान्ति नीति एवं सामरिक चालें (Communist tactics)

प्रत्येक व्यक्ति जो किसी क्रान्ति का नेतृत्व करता है क्रान्ति को सफल बनाने के लिये कुछ नीतियों तथा चालों का निर्माण करता है। इसलिये सामरिक चालें भी क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाती हैं। माओ त्से तुंग ने चीन की क्रान्ति के सन्दर्भ में रणनीति एवं चालों का निर्माण किया जो माओवाद का एक आवश्यक पक्ष बन गया है। इस सम्बन्ध में माओ त्से-तुंग ने दो पक्षों का मुख्यतः विकास किया है। प्रथम, देहाती क्षेत्र को क्रान्ति का आत्म-निर्भर आधार बनाना, द्वितीय, गुरिल्ला युद्ध सम्बन्धी रणनीति एवं चालें।

देहाती क्षेत्र में क्रान्ति सञ्चालन करने के लिए माओ त्से तुंग का विचार है कि देहाती क्षेत्र में क्रान्ति की विजय सम्भव है। देहात को एक दीर्घकालीन क्रान्ति का आधार बनाया जा सकता है। जब क्रान्ति लम्बे समय तक चल सकती है तो विजय प्राप्त करने का प्रमुख साधन गुरिल्ला युद्ध ही हो सकता है।

1938 में माओ का निबन्ध 'युद्ध के विस्तार पर' (On Protracted War) का प्रतिपादन चीन तथा जापान के एक दशक से भी अधिक समय तक चलने वाले युद्ध के परिप्रेक्ष्य में किया गया था। जापान के साथ युद्ध करने में माओ ने कहा था कि युद्ध को अधिक समय तक अधिक क्षेत्र पर विस्तार करने से जापान अधिक दिन तक नहीं टिक सकेगा। इस सम्बन्ध में माओ ने निम्नलिखित सामरिक चालों का प्रतिपादन किया—प्रथम, शत्रु का आक्रमण तथा चीन द्वारा सामरिक रक्षा, द्वितीय, शत्रु द्वारा रक्षा और चीन द्वारा आक्रमण की तैयारी, तृतीय, चीन द्वारा आक्रमण और शत्रु द्वारा पीछे हटना आदि। साथ ही साथ माओ का कहना था कि युद्ध के समय उसे एक क्षण के लिए भी राजनीति से पृथक नहीं किया जा सकता।

युद्ध एवं शक्ति का समर्थन

साम्यवादी क्रान्ति के लिए माओ त्से-तुंग युद्ध तथा शक्ति का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार सत्ता शक्ति से ही प्राप्त हो सकती है (Power comes from the barrel of gun) माओ ने पूँजीवादी देशों की समाप्ति के लिए साम्यवादी राज्यों द्वारा युद्ध की बात कही है यद्यपि यह असम्भव है और असम्भव होती जा रही है। आन्तरिक राजनीति के अतिरिक्त माओ दूसरे देशों के साथ विवाद सुलझाने में युद्ध

एवं शक्ति का प्रयोग एवं प्रदर्शन करते है। भारत के साथ 1962 में सीमा विवाद हल करने में माओ ने युद्ध का समर्थन किया। इसी वर्ष क्यूबा संकट के समय रूस द्वारा अमेरिका से युद्ध न करने तथा पीछे हट जाने की चीन ने निन्दा की। जनवरी 1974 में दक्षिण चीन सागर में चीन ने दक्षिण वियतनाम के विरुद्ध पारासेल द्वीपों पर शक्ति द्वारा अधिकार कर लिया।

माओ के विचारों का विशेष महत्व युद्ध और सामरिक क्षेत्र में भी है। उन्होंने साम्यवादी गुरिल्ला युद्ध, रणनीति आदि के विषय में विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किये हैं। वे साम्यवादी दल जो अपनी सरकारों के तन्त्र उलटने में या विदेशी प्रभाव से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रहे हैं उनके लिए माओ के विचारों में खूब सारे सुझाव मिल सकते हैं। युद्ध में आगे बढ़ना, पीछे हटना, शत्रु को धोखा देने, दूसरे राज्यों को अपने साथ मिलाने, विरोधी को विभाजित करने लिए माओवाद में विचारों का अभाव नहीं है।[39]

नवीन लोकतन्त्र या लोकतान्त्रिक तानाशाही

साम्यवादी क्रान्ति के उपरान्त चीन में शासन चलाने के लिए माओ त्से-तुग ने 'नवीन लोकतन्त्र' (New Democracy) के सिद्धान्त को स्वीकार किया। 1940 में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन माओ ने एक छोटी सी पुस्तिका—New Democracy में किया था। चीन की शासन व्यवस्था चलाने के लिए नवीन लोकतन्त्र के दो सैद्धान्तिक पक्षों को स्वीकार किया गया। प्रथम, जनता के लिए लोकतन्त्र तथा द्वितीय, प्रतिक्रियावादियों के लिए तानाशाही। इन दोनों पक्षों के सम्मिलित रूप को 'लोकतान्त्रिक तानाशाही' (Democratic Dictatorship) का नाम दिया गया।

माओ त्से-तुग ने लोकतान्त्रिक तानाशाही को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया है। या, यह कहा जा सकता है कि लोकतान्त्रिक तानाशाही द्वारा माओ ने सर्वहारा अधिनायकत्व को चीन के सन्दर्भ में परिभाषित किया है। सूक्ष्म में लोकतान्त्रिक तानाशाही की निम्नलिखित विशेषताएं है—

(i) चीन की व्यवस्था को लोकतन्त्र की ओर अग्रसर करना।

(ii) चीन में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना।

(iii) लोकतान्त्रिक केन्द्रीकरण (Democratic Centralism) की स्थापना करना जिसका तात्पर्य व्यक्तियों को एक सीमा तक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का उपभोग करने देना किन्तु साथ ही साथ उन्हें समाजवादी अनुशासन स्वीकार करना चाहिए। शासन व्यवस्था में केन्द्रीय निर्देशों को प्राथमिकता देना आदि।

39 इस सम्बन्ध में देखिये—
Selected Works of Mao Tse—tung, Lonron, 1954 Vol II, deals with Protracted war, Strategic Offensive and Defensive Gorrilla Warfare

(iv) लोकतान्त्रिक तानाशाही के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग (व्यवहार में साम्यवादी दल) के नेतृत्व को स्वीकार करना जो श्रमिक एवं कृषक वर्ग के सहयोग पर आधारित हो। माओ की लोकतान्त्रिक व्यवस्था के विषय में रिचर्ड वाकर ने लिखा है —

> "माओ का लोकतान्त्रिक तानाशाही का सिद्धान्त लेनिन से ग्रहण किया हुआ है जिसमें अन्तर्गत सेना, पुलिस और न्यायालयों की भूमिका के विषय में स्टालिन का व्यवहारवादी दृष्टिकोण भी सम्मिलित है। रूस के अनुभव ने यह बतलाया कि राज्य शक्ति को पूर्णतः नियन्त्रित करने के लिये एकीकृत (या पूर्ण संगठित) दल आवश्यक है।"[40]

लोकतान्त्रिक तानाशाही पूर्णतः लेनिन-स्टालिनवादी व्यवस्था नहीं है। यह व्यवस्था समझौते के सिद्धान्त पर आधारित है। इसका तात्पर्य सर्वहारा वर्ग तथा साम्यवादी दल के तत्त्वावधान में प्रगतिशील तत्वों का समन्वय करना था। नवीन लोकतान्त्रिक तानाशाही के उद्देश्यों के विषय में माओ त्से-तुंग ने कहा था —

> "इस समय हमारा कार्य जन-शासन व्यवस्था को मजबूत करना है, अन्य शब्दों में, जन-सेना, जनता पुलिस व्यवस्था और जन-न्यायालयों को सुदृढ़ कर राष्ट्रीय सुरक्षा और जनता के हितों की संरक्षण देना है। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग और साम्यवादी दल के नेतृत्व में चीन का कृषि देश से औद्योगिक देश में नवीन लोकतन्त्र से समाजवादी व्यवस्था तथा अन्तिम रूप में वर्ग-उन्मूलन कर व्यापक सहयोग के आधार पर साम्यवादी समाज की ओर विकास करना है।"[41]

'सैकड़ों फूलों वाला सिद्धान्त' (1955–57)

1949 में चीन के साम्यवादी दल ने एशिया में पराधीन राज्यों की मुक्ति के लिए क्रान्ति का आह्वान किया था। एशिया के राज्यों में इसके विषय में ठीक प्रतिक्रिया नहीं हुई। 1555 में बान्डुंग में अफ्रो-एशियाई राज्यों के सम्मेलन में चीन के इस विचार को भय की दृष्टि से देखा गया। बान्डुंग सम्मेलन का मुख्य विचार 'अनेकता में एकता' (Unity in diversity) था। लगभग इसी समय रूस और यूगोस्लाविया के सम्बन्धों के सन्दर्भ में 'समाजवाद के विभिन्न स्वरूपों' के सिद्धान्त को कार्यान्वित किया जा रहा था। स्वयं रूस में ही स्टालिनवादी शासन की कापी गहरा दफनाने का प्रयत्न जारी था। इसके अतिरिक्त चीन अलग-थलग रहने की नीति को त्याग कर एशियाई राज्यों से सम्बन्ध बढ़ाने का इच्छुक था। इन परिस्थितियों के सन्दर्भ में माओ त्से-तुंग ने मई 1955 में 'सैकड़ों फूलों वाले विचार को चीनी जनता के समक्ष रखा। माओ के अनुसार—

40 Walker, Richard, *China Under Communism*, p 5

41 Mao Tse tung; People's Democratic Dictatorship, quoted by R C Gupta, *Great Political Thinkers*, p 87

सैकड़ों फूलों को खिलने दो,
सैकड़ों विचार सम्प्रदायों को सन्तुष्ट होने दो।[42]

प्रारम्भ में चीन की जनता ने उस नवीन विचार की ओर शंका की दृष्टि से देखा किन्तु धीरे धीरे गैर साम्यवादी विचार सतह पर आने लगे। आगे चलकर इसने साम्यवाद विरोधी रूप ले लिया। माओ त्से-तुंग नहीं चाहते थे कि आलोचना निश्चित सीमा को पार करे। इसलिए साम्यवादी दल ने साम्यवाद का विरोध करने वालों का उन्मूलन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार इस नई स्वतन्त्रता का वातावरण इस सप्ताह से अधिक न चल सका। पर्यवेक्षकों का विचार है कि माओ त्से-तुंग का यह नवीन नारा धोखा एवं भ्रमजाल था। माओ त्से-तुंग अपने विरोधियों तथा ईमानदारी से मतभेद रखने वालों से निपटने के लिए विशेष उपाय काम में लेते हैं। 'सैकड़ों फूलों' वाले वातावरण ने माओ त्से-तुंग के विरोधियों को उभरने का अवसर दिया। जब साम्यवाद विरोधी या गैर-साम्यवादी तत्व प्रकट हुए तो उनका उन्मूलन कर दिया गया।

राष्ट्रीय संस्कृति : सांस्कृतिक क्रान्ति

माओ त्से-तुंग का विचार है कि चीन में नवीन साम्यवादी व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए एक नवीन राष्ट्रीय संस्कृति की आवश्यकता है। राष्ट्रीय संस्कृति का तात्पर्य यह नहीं कि इसके अन्तर्गत चीन के राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रतिबिम्बित किया जाय। इसका तात्पर्य, माओ के अनुसार, विशद साम्यवादी संस्कृति, चीन की नई शासन व्यवस्था तथा चीन की कुछ विशेषताओं को एक नया रूप प्रदान करना है। अन्य शब्दों में, चीन की परम्परागत संस्कृति को साम्यवादी संस्कृति में परिणित करना है।[43] इसके लिये यह आवश्यक होगा कि चीन की परम्परा एवं जन-जीवन से सामन्तवादी, प्रतिक्रियावादी, साम्यवाद विरोधी विचारों एवं व्यवहार को समाप्त किया जाय। माओ त्से-तुंग का उद्देश्य चीन को एक नवीन साम्यवादी जीवन पद्धति (Communistic way of life) प्रदान करना है। नवीन राष्ट्रीय संस्कृति के अन्तर्गत चीन का मानव-मस्तिष्क परिवार, धर्म, सम्पत्ति आदि से प्रभावित न होकर द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवादी दर्शन से निर्देशित हो।

इन विचारों की अभिव्यक्ति 1966-1968 में 'सांस्कृतिक-क्रान्ति'[44] (Cultural Revolution) के समय हुई। सांस्कृतिक क्रान्ति की स्पष्ट व्याख्या करना

42 Let a Hundred Flowers Blossom,
Let a Hundred Schools of Thought Contond
Quoted, Issac Deutscher., Russia China and the West, p 103
43 Chou Hsiang-Kuang., Pelitical Thought of China, p. 277
44 सांस्कृतिक क्रान्ति के अध्ययन के लिये देखिये—
China's Cultural Revolution by Gargi Dutt

असम्भव है। यह सांस्कृतिक क्रान्ति न होकर एक प्रकार से बहुउद्देशीय आन्दोलन था। सम्पूर्ण चीन में लाल रक्षकों (Red Guards) के माध्यम से माओ त्से-तुंग ने अपने कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास किया। चीनी जनता को माओवाद से पूर्णत परिचित कराया गया, माओवाद से विचलन होने वालों को लकीर पर लाया गया।

सांस्कृतिक क्रान्ति को वास्तव में पाशविक और अराजकतावादी कहा जा सकता था। इस तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति के द्वारा माओ ने अपने विरोधियों को अपमानित करने, उन्हें उच्च पदों से हटाने का कार्यक्रम बनाया। परिणामस्वरूप माओ त्से-तुंग चीन के राज्याध्यक्ष ल्यू शाओ ची, विदेश मंत्री चेन यी तथा अन्य से छुटकारा पा सके। वैसे विरोध उन्मूलन साम्यवादी व्यवस्था में कोई नया तत्व नहीं है, माओ त्से तुंग ने विरोध उन्मूलन की प्राप्ति धोखे तथा केवल ऊपर से ही अच्छे लगने वाले साधनों द्वारा की।

नवीन अभियान—माओ त्से-तुंग स्थाई और निरन्तर क्रान्ति के समर्थक हैं। अभी तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति को चार वर्ष भी नहीं हुए थे कि 1973 में एक नवीन अभियान तथा आन्दोलन की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी। यह नवीन अभियान 1968-69 में नियुक्त माओ के उत्तराधिकारी लिन-पियाओ तथा चीन के सर्वकालीन प्रसिद्ध दार्शनिक कनफ्यूशियस (Confucious, 551 478 B. C) के विरुद्ध है। 1971 में लिन पियाओ द्वारा माओ से सत्ता छीनने के प्रयास में रहस्यमयी परिस्थितियों में मृत्यु के बाद चीन के साम्यवादी दल ने लिन पियाओ के विचार एवं समर्थकों को दल एवं चीन की राजनीति से उन्मूलन करना प्रारम्भ किया। किन्तु लिन पियाओ के साथ कनफ्यूशियस के विरुद्ध अभियान को जोड़ने की बात समझ में नहीं आती। यद्यपि कनफ्यूशियस का दर्शन और साम्यवादी विचारधारा एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं किन्तु माओ त्से-तुंग का कनफ्यूशियस के विरुद्ध प्रचार का कोई विशेष कारण प्रतीत नहीं होता। कभी कभी माओ ने भी कनफ्यूशियस के प्रति निष्ठा व्यक्त की है।[45] 1973 के मध्य से लिन-कनफ्यूशियस विरोधी अभियान अब व्यापकता ग्रहण करता जा रहा है। वास्तव में यह आन्दोलन तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति का ही विस्तार है। सम्भवत. माओ त्से-तुंग चीन के विचार क्षितिज पर अकेले ही सूर्य की भांति

45 उदाहरणार्थ माओ त्से-तुंग ने अपनी निम्नलिखित कविता में कनफ्यूशियस की प्रशंसा की है :—

I care not that the wind blows and the waves beat,
It is better than idly strolling in a countryyard,
It was on a river that the Master said
This is the whole of nature flowing

उपरोक्त कविता की तीसरी पंक्ति में 'Master' शब्द का प्रयोग कनफ्यूशियस के लिये किया गया है।

Quoted by Frank Moraes, The Sunday Standard, April 7, 1974, p 4.

चमकते रहना चाहते हैं। वे उन सभी चिन्तक, दार्शनिक जो कभी न कभी चीन में लोकप्रियता और ख्याति अर्जित कर चुके हैं वे विचार प्रभाव का उन्मूलन करना चाहते हैं।

कम्यून व्यवस्था (Commune System)

चीन के लोगों में अपने देश को एक बड़ी शक्ति बनाने की लालसा सदैव रही है। माओ त्से-तुंग में यह महत्वाकांक्षा सम्भवतः सबसे अधिक है। माओ के अनुसार देश को शक्तिशाली बनाने के लिये आर्थिक प्रगति अति आवश्यक होती है। चीन में *साम्यवादियों के सत्ता में आने के पश्चात् ही आर्थिक योजनाएं प्रारम्भ की गयीं।* प्रथम पंचवर्षीय योजना (1953-57) में देश की आर्थिक प्रगति तो हुई लेकिन उतनी नहीं जो चीन को एक आर्थिक आधार प्रदान कर सकती। माओ त्से-तुंग किसी ऐसी योजना को कार्यान्वित करना चाहते थे जिसके द्वारा चीन आर्थिक क्षेत्र में एक लम्बी छलांग लगाकर पाँच-सात वर्ष में ही एक पीढ़ी की आर्थिक प्रगति कर आत्म निर्भरता की ओर मार्ग प्रशस्त कर सके।[46]

अपनी आर्थिक योजनाओं पर चीन उस समय रूस पर एक बड़ी सीमा तक आश्रित था। माओ त्से-तुंग ने नवम्बर 1957 में रूस की दूसरी बार यात्रा की। आर्थिक सहायता के रूप में चीन को अपनी द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1958-62) के लिये रूस से कोई विशेष सहायता का आश्वासन नहीं मिल सका। चीन को अब अपने ही साधनों पर निर्भर रहने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया। फलस्वरूप फरवरी 1958 में राष्ट्रीय जन कांग्रेस (National People's Congress) ने देश के लिये 'लम्बी छलांग' (Big Leap Forward) का आह्वान किया। कुछ ही सप्ताहों में सम्पूर्ण देश में आर्थिक गतिविधियों की एक बाढ़ प्रारम्भ हो गयी। लाखों औद्योगिक एवं कृषि कम्यून (Commune) स्थापित हुए। सर्वप्रथम कृषि कम्यून अप्रैल 1958 में हॉनान प्रदेश (Honan Province) में स्थापित किया गया। इसका नाम स्पुतनिक (Sputnik) रखा गया। मई 1958 में साम्यवादी दल को पूर्ण सक्रिय एवं सतर्क बनाया गया तथा दल के सदस्यों को आदेश दिया गया कि वे 'लम्बी छलांग' कार्यक्रम को सफल बनाए। जून के अन्त तक अकेले हॉपाइ प्रान्त (Hopei Province) में ही लगभग पाँच लाख फैक्ट्री और वर्कशाप स्थापित किये गये जिनमें करोड़ों चीनियों को काम पर लगाया गया। अगस्त 1958 में साम्यवादी दल के नेतृत्व ने सम्पूर्ण चीन में कम्यून प्रणाली की स्थापना करने का आदेश दिया।

कम्यून व्यवस्था को लागू करने के पूर्व चीन में सामूहिक खेती (Collective Farming) प्रचलित थी। इस कार्य के लिये लगभग 7,40,000 कृषि उत्पादक सहकारी संस्थाएं (Agricultural Producers' Cooperatives) सक्रिय थी। किन्तु

46 चीन में कम्यून व्यवस्था की पृष्ठभूमि के लिये देखिए—
Dutt, Gargi, Rural Communes of China, pp 1—20

कम्यून प्रणाली के अन्तर्गत 'जन-स्वामित्व' के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। सभी कृषि उत्पादक सहकारी संस्थाओं को लगभग 25000 कम्यूनों में परिवर्तित कर दिया गया। प्रत्येक कम्यून के अन्तर्गत औसतन 10,000 एकड़ भूमि तथा 5000 परिवार सम्मिलित किये गये। एक कम्यून पर सामान्यतः दस हजार व्यक्तियों को कार्य पर लगाने का सामान्य प्रावधान है। अन्य शब्दों में, 'एक एकड़, एक व्यक्ति' का सिद्धान्त लागू किया गया।[47]

1958 में डा. एस. चन्द्रशेखर तथा उनके कुछ अन्य साथियों ने अपने चीन भ्रमण के समय चेंगचो (Chengchow) के निकट एक आदर्श कम्यून का अवलोकन किया। यहाँ साम्यवादी सिद्धान्त–'प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार मिले'—का प्रयोग किया जा रहा था। यहाँ कुछ अपवादों को छोड़ कर मुद्रा विनिमय समाप्त कर दिया गया था। कार्य के उपलक्ष में यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित सोलह गारण्टियाँ (सुविधाएँ या अधिकार) दी गयी–

1 कपड़ा, 2 भोजन, 3 रहने का स्थान, 4 कार्यस्थल तक आने जाने की सुविधा, 5 प्रसूति सुविधा, 6. बीमारी के समय अवकाश तथा मुफ्त दवा, 7 मुफ्त वृद्धावस्था हिफाजत, 8. मुफ्त अन्त्येष्टि व्यवस्था (जिसके अन्तर्गत मृत व्यक्तियों को सामान्यतः दस फीट की गहराई पर दफनाया जाता है ताकि भूमि के ऊपर खेती हो सके तथा वह स्थान श्मशान बनकर बेकार न हो जाये), 9. मुफ्त शिक्षा, 10. बच्चों का मुफ्त लालन पालन, 11 मुफ्त मनोरंजन, 12. विवाह के लिये कुछ अनुदान तथा नवविवाहितों के स्वागत तथा विवाह भोज की मुफ्त व्यवस्था, 13 एक वर्ष में बारह बार बाल कटाने की मुफ्त सुविधा, 14 एक वर्ष में गर्म जल से बीस बार नहाने की व्यवस्था, 15. कपड़े सिलाने की व्यवस्था तथा 16 मुफ्त बिजली।[48] ये सुविधाएं उस समय कुछ आदर्श कम्यून व्यवस्थाओं के लिये ही उपलब्ध थीं।

कम्यून दिनचर्या का प्रारम्भ प्रातः गलियों में लाउडस्पीकर की आवाज से होता था। यह आवाज व्यक्तियों को जगाने के लिये की जाती थी। आधे घन्टे खुली हवा में व्यायाम के उपरान्त सामूहिक नाश्ता, तदुपरान्त व्यक्तियों का विभिन्न कार्य समूहों में विभक्त होकर खेत या कारखाने के कार्य पर जाना था। यह आवश्यक नहीं था कि एक परिवार के सदस्य एक ही समूह में रहें। दोपहर सभी भोजन के लिये एकत्रित होते थे। यदि कार्य स्थान अधिक दूर है तो वहीं भोजन भेज दिया जाता था। भोजन में चावल, मीठे आलू तथा कभी-कभी थोड़ा मांस आदि दिया जाता था। भोजन करने के बाद फिर कार्य पर प्रस्थान करना था। सायंकाल कक्षाएं लगती थीं जहाँ सभी व्यक्तियों को रेडियो तथा अखबारों की खबरें सुनाई जाती थीं। उसके उपरान्त सिनेमा या नाटक या सर्कस जैसे कुछ कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते थे।

47 Clubb, Edmund, 20th Century China, p 356, pp 357 58
48 Chandrashekar, S., and Others. A Decade of Mao's China, pp. 31—32.

अन्त में साम्यवादी दल की बैठक होती थी जिसमें सभी श्रमिक भाग लेते थे। यह दिनचर्या का अन्त था। इसके बाद सभी को आठ घन्टे की निद्रा, विश्राम आवश्यक था।[49]

आलोचना—कम्यून निर्माण कार्य बड़ी ही जल्दबाजी से किया गया। जुलाई 1958 में कम्यून कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ तथा लगभग पांच सप्ताह में ही चीन के बारह तेरह करोड़ ग्रामीण परिवारों को कम्यून प्रणाली के अन्तर्गत लाया गया। इस प्रकारप्रारम्भ में कम्यून प्रणाली ठीक प्रकार से व्यवस्थित नहीं हो पाई।

कम्यून प्रणाली के अन्तर्गत मनुष्य से पशु की तरह काम लिया जाता है। मनुष्य की कार्य रुचि का कोई विशेष ध्यान नहीं रखा जाता। उनसे खेती, कारखाने, पहाड़ों को तोड़ना, कोयले की खानों में कार्य आदि सभी करवाया जाता है। एक कम्यून में काम करने वाला व्यक्ति एक ही साथ किसान है, श्रमिक है, सैनिक है।[50] इसके अतिरिक्त कम्यून में काम करने वालों को पर्याप्त विश्राम भी नहीं मिलता। उन्हें प्रतिदिन 12–14 तथा कभी-कभी 20 घन्टे कार्य करना पड़ता है। इस परिस्थिति में जब व्यक्ति को शारीरिक विश्राम का पूर्ण समय नहीं मिल पाता तब इस प्रकार के व्यक्ति से किसी भी प्रकार का चिन्तन करने की कल्पनाव्यर्थ होगी। कम्यून प्रणाली में कार्य करने वाला व्यक्ति चीनी साम्यवादी नेतृत्व तथा नपी तुली विचारधारा के पीछे अन्धी भेड़ चाल चलने तथा अनुकरण करने वाला व्यक्ति ही बन सकता है और वास्तव में चीनी साम्यवादी ऐसे ही स्तर का व्यक्ति चाहते हैं। वही उनकी योजना और कल्पना में फिट हो सकता है।

कम्यून प्रणाली मानव प्रकृति के प्रतिकूल है। परिवार तथा सम्पत्ति अर्जन मानव से स्वभावतः सम्बद्ध है। कम्यून–जीवन परिवार प्रथा तथा सम्पत्ति संस्था का उन्मूलन है। साम्यवाद, राष्ट्रवाद, आदि के प्रचार द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क की सफाई द्वारा विचार परिवर्तन कर उसे कम्यून जीवन के उपयुक्त बनाया जाता है। उसका स्वयं का कोई व्यक्तित्व नहीं रहता। मनुष्य की मनोवृत्ति फिर भी विद्रोह कर दे तो शक्ति का प्रदर्शन उसे कम्यून सांचे में ढालने के लिये पर्याप्त है। यदि मनुष्य को थोड़ा भी स्वतन्त्र वातावरण प्रदान किया जाय तो वह इस प्रकार के कठोर, नियन्त्रित समूहवादी जीवन में कभी भी रहना पसन्द नहीं करेगा।

आर्थिक प्रगति एवं पहल (initiative) के लिये व्यक्ति को थोड़ा बहुत प्रोत्साहन भी आवश्यक है। यह प्रोत्साहन उसे कुछ उचित लाभांश या अपने उत्पादन का कुछ भाग देकर भी दिया जा सकता है। कम्यून प्रणाली में प्रोत्साहन और लाभांश आदि पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। परिणामस्वरूप साग-सब्जी उत्पादन तथा

49 Ibid, p 31

50 Clark, Gerald, Impatient China : Red China Today, p 91

माल की पूर्ति में काफी कमी आयी। कहीं-कहीं व्यक्तियों ने अपने उत्पादन को छुपा कर रखना प्रारम्भ कर दिया।

कम्यून प्रणाली का रूस तथा चीन के प्रारम्भिक मतभेदों में वृद्धि करने में भी योगदान रहा है। रूस के साम्यवादी बुद्धिजीवियों तथा रूस के नेतृत्व ने चीनी कम्यून व्यवस्था को अव्यावहारिक एवं बेहूदा कहा है। उनका विचार है कि रूस में जब यह प्रणाली असफल रही फिर चीन में सफल होना सन्दिग्ध है।

चीन के साम्यवादी नेतृत्व ने कम्यून प्रणाली की त्रुटियों का अध्ययन किया है तथा जहां तक सम्भव हो सका है उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर उसे अधिक व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु अब यह निश्चित है कि कम्यून प्रणाली चीन की आर्थिक व्यवस्था का एक प्रमुख आधार है। इस समय चीन में लगभग 80000 कम्यून ग्रामीण क्षेत्र में हैं। इनके द्वारा वहां के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है।

चीन के साम्यवादी दल को अपनी कम्यून व्यवस्था पर बड़ा गर्व है। उनका विश्वास है कि यह व्यवस्था जो रूस में सफल नहीं हो सकी चीन इस क्षेत्र में रूस से कहीं आगे बढ़ गया है। अधिक से अधिक जनसंख्या को कम्यून प्रणाली के अन्तर्गत लाने में उनकी कल्पना है कि सम्पूर्ण देश को एक वृहद् कम्यून बनाया जाय।

कम्यून व्यवस्था के माध्यम से चीनी साम्यवादी कुछ दूरगामी सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति करना चाहते हैं। उनका विचार है कि यदि सभी खेतिहर लोग सामूहिक भोजन करेंगे, उनके बच्चों का कम्यून बाल-गृहों में जब लालन पालन किया जायेगा इससे परम्परागत परिवार प्रणाली अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकेगी तथा व्यक्तियों की श्रद्धा तथा प्रेम को आकर्षित करने वाली संस्था में महत्वपूर्ण कठोर कड़ी एवं केन्द्र समाप्त हो जायेगा। ऐसे नागरिक साम्यवादी व्यवस्था के अधिक अनुकूल होंगे तथा शुद्ध मार्क्सवादी आदर्श साम्यवादी समाज की उपलब्धि में सहायक होंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद

माओ त्से-तुंग के साम्यवादी विचार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही हैं। उन्होंने प्राचीन चीन की गरिमा एवं धर्म तथा साम्यवादी उग्रता का समन्वय किया है। वे किसी भी राज्य के अन्तर्गत चीन की स्थिति स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए वे एक साम्यवादी महाशक्ति रूस से सैद्धान्तिक एवं राजनीतिक मोर्चा ले रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में माओ विश्व साम्यवाद में भी विश्वास रखते हैं। वे चीन में साम्यवादी क्रान्ति को विश्व क्रान्ति का ही एक अंग मानते हैं। साम्यवादी चीन के प्रसार कई राज्यों में वहां की सरकारों के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान करते हैं। इनके विचारों के ही कारण विश्व के लगभग सभी राज्यों में चीन समर्थित साम्यवादी दल है। माओ त्से-तुंग के साम्यवादी विचार का प्रमुख केन्द्र एशिया है। इस विचार की

अभिव्यक्ति, सम्भवतः माओ रचित वह कविता, जिसका शीर्षक—East is Red-है, से होता है, जिसे चीन द्वारा भेजा गया अन्तरिक्ष यान निरन्तर प्रसारित कर रहा था।

माओवाद का मूल्यांकन

चीन के अतिरिक्त विश्व के कई भागों में माओवाद के समर्थक हैं। वे माओवाद को मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्टालिनवाद के आगे की एक कड़ी मानते हैं। किन्तु माओ त्से-तुंग को एक उच्च कोटि के राजनीतिक चिन्तक की श्रेणी में नहीं लिया जा सकता। उनके विचारों में राजनीतिक दर्शन जैसी कोई बात नहीं है। उनका चिन्तन कुछ व्यावहारिक विचार, कुछ नयी साम्यवादी शब्दावली, कुछ वयोवृद्ध जैसी शिक्षाओं का संकलन है।

माओवाद के समर्थकों का यह दावा भी संदिग्ध है कि माओ ने मार्क्सवादी विचारधारा को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वास्तव में माओवाद में मौलिकता का अभाव है। माओ त्से-तुंग ने जो कुछ भी कहा है उसका अधिकांश भाग चीन में विचार या व्यवहार के क्षेत्र में पहले ही व्यक्त किया जा चुका है। माओ त्से-तुंग ने उन्हें या तो मार्क्सवादी आवरण पहना दिया है या चीन की नवीन परिस्थितियों के अनुकूल उनका विवेचन प्रस्तुत किया है।

एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ और नेतृत्व की दृष्टि से माओ त्से-तुंग सफलतम व्यक्ति कहे जा सकते हैं। चीन में साम्यवादी क्रांति का संगठन करना; विश्व के सबसे बड़े जनसंख्या वाले देश में साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाना, तदुपरान्त चीन को एक महाशक्ति के स्तर तक लाना, सम्पूर्ण देश को अपने अंगूठे के नीचे दबा कर रखना और इस प्रकार लगभग आधी शताब्दी तक चीन पर एक छत्र की भांति छाये रहना किसी असाधारण व्यक्ति का ही कार्य हो सकता है। चीन में माओ त्से-तुंग का वही स्थान रहेगा जो रूस में लेनिन का है।

साम्यवाद के अन्य प्रमुख पक्ष

लेनिनवाद, स्टालिनवाद, माओवाद आदि के अध्ययन से साम्यवाद के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते है। किन्तु साम्यवाद के कुछ अन्य सामान्य पक्ष भी हैं जो काफी महत्त्वपूर्ण हैं। अगले पृष्ठों में साम्यवाद के कुछ और प्रमुख पक्षों का विवेचन प्रस्तुत है।

साम्यवादी साधन: क्रान्ति एवं शक्ति राजनीति

सम्पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था का केन्द्र शक्ति है। प्रारम्भ से लेकर जब तक वर्ग विहीन और राज्य विहीन साम्यवाद की स्थापना नहीं हो जाती, जो कोरी कल्पना है साम्यवादी विचारधारा क्रान्ति एवं शक्ति–साधनों पर आधारित है। पूँजीवर्ग और सर्वहारा वर्ग में शक्ति संघर्ष आदि का आधार शक्ति ही है। पूँजीवादी ढांचे का उन्मूलन करने के लिए सभी रक्तपात तथा क्रान्ति में विश्वास करते है।

साम्यवादी घोषणा पत्र की अन्तिम पंक्तियों में उल्लेख किया गया है कि साम्यवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति शक्ति द्वारा करना चाहते हैं। क्रान्ति द्वारा ही वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकेंगे। लेनिन का क्रान्ति एवं शक्ति में पूर्ण विश्वास था। उनके नेतृत्व में ही सर्वप्रथम सफल साम्यवादी क्रान्ति रूस में हुई। पूँजीवाद की समाप्ति के लिये ही शक्ति की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सर्वहारा वर्ग की सत्ता म बनाये रखने, विरोधियों का दमन करने आदि सभी के लिए लेनिन ने शक्ति अर्जन और प्रयोग का समर्थन किया। लेनिन के अनुसार सर्वहारा वर्ग शक्ति में विश्वास करता है। संक्रमण काल में सर्वहारा अधिनायकत्व द्वारा राज्य-यन्त्र का प्रयोग इसलिए किया जाता है क्योंकि वह सम्था शक्ति का स्रोत है जिसकी आवश्यकता फिलहाल अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।[51] प्रसिद्ध मार्क्सवादी टीकाकार कामानैव (*Kamanev*) ने लिखा है कि हिंसा को सत्ता हस्तगत करने के लिये तो उपयुक्त स्वीकार करना ही है, परन्तु जो समुदाय साम्यवादियों से पुनः सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं, उनसे आत्मरक्षा के लिए उसे साधन न मानना मूर्खता होगी।[52]

इसी प्रकार स्टालिन ने भी क्रान्ति एवं शक्ति के विषय में विचार व्यक्त किये हैं। स्टालिन ने अपने शासन काल में बल-प्रयोग खुल कर किया। समस्त विरोधियों को निष्कासित या मौत के घाट उतार दिया गया। फरवरी 1956 में साम्यवादी दल के बीसवें अधिवेशन में स्टालिन की निन्दा करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा कि स्टालिन ने देश में भय-शासन (Reign of terror) स्थापित कर रखा था। माओ त्से तुंग का प्रसिद्ध कथन कि "सत्ता शक्ति से प्राप्त की जाती है," सर्व-विदित है।

साम्यवादी दल

साम्यवादी शासन एक-दलीय व्यवस्था होती है। इसके अन्तर्गत विरोधी दलों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। इस शासन व्यवस्था में साम्यवादी दल का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। यह सत्ताधारी दल होता है। राजनीतिक गतिविधियों, विवाद, परिचर्चा आदि का मुख्य फोरम साम्यवादी दल ही रहता है। साम्यवादी क्रान्ति, विरोधी विचारधारा का उन्मूलन, राज्य सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण, जनता को दलीय विचारधारा से अवगत कराने आदि का उत्तरदायित्व साम्यवादी दल पर ही होता है। इसलिये साम्यवादी राज्यों के संविधानों में इस दल की विशेष स्थिति का सदैव ही उल्लेख किया जाता है। *सोवियत रूस के संविधान में यह लिखा* गया है कि श्रमिक वर्ग के हित को ध्यान में रखते हुए देश समस्त राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक समुदाय एवं संघ साम्यवादी दल द्वारा एकता के सूत्र में बन्धे हुए हैं।[53]

51 Lenin, Imperialism The State and Revolution, Vanguard Press, New York, 1926, pp 27-28

52 Kamanev, The Dictatorship of the Proletariat, 1920, p 12.

53 अनुच्छेद: 26.

साम्यवादी समाज के निर्माण संघर्ष में यह श्रमजीवियों का अग्रणीय (या पथ प्रदर्शक) है तथा श्रमिक संगठनों, राजकीय या सार्वजनिक, का प्रधान केन्द्र स्थान है।[53] किन्तु दल की भूमिका एवं सक्रियता उस राज्य के नेतृत्व के ऊपर निर्भर करती है। स्टालिन के कार्य-काल में साम्यवादी दल सदैव ही ऊपर से नियन्त्रित रहता था तथा तानाशाह की इच्छाओं को कार्यान्वित करने का एजेण्ट-मात्र था।[54]

साम्यवादी दल व्यवहार में राज्य के भीतर एक समानान्तर राज्य के रूप में कार्य करता है। हेरॉल्ड जिंक के मतानुसार सोवियत रूस में साम्यवादी दल और राज्य का विलय है यद्यपि दल और राज्य के कार्य अलग-अलग हैं, दोनों की अभिन्नता इतनी पूर्ण है कि यह कह सकना सम्भव नहीं है कि दल के कार्यों का अन्त और सरकार के कार्य-क्षेत्र का प्रारम्भ कहाँ से होता है।[55]

यूगोस्लाविया के विद्रोही साम्यवादी नेता एवं विचारक मिलोवेन जिलास (Milovan Djilas) ने साम्यवादी राज्य को 'पार्टी राज्य' (The Party State) की संज्ञा दी है। उनके स्वयं के ही शब्दों में—

> "साम्यवादी शक्ति-यन्त्र बिल्कुल साधारण है जो शुद्ध निरंकुशता तथा अत्यन्त क्रूर शोषण की ओर अग्रसर करता है। इस शक्ति-यन्त्र का अभ्युदय इस तथ्य से होता है कि सिर्फ एक ही दल-साम्यवादी दल-सम्पूर्ण राजनीतिक, आर्थिक और सैद्धान्तिक गतिविधियों का मूल आधार है। सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन का एक स्थान पर रुका रहना, आगे बढ़ना, पीछे जाना या मुड़ना यह सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि दल में क्या हो रहा है।"[56]

साम्यवादी दल के सदस्यों का महत्त्व एवं शक्तियों की व्याख्या करते हुए मिलोवेन जिलास ने कहा है कि इसमें एक 'नये वर्ग' (The New Class) का प्रादुर्भाव हुआ है।[57] मुनरो (William Munro) ने इसे 'राज्य का कुलीनवर्ग' (Aristocracy of the state) नाम से सम्बोधित किया है।[58]

व्यक्ति-पूजा (Cult of Personality)

सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व साम्यवादी दल करता है, दल के अधिकार कुछ अग्रणीय सदस्यों के सामूहिक नेतृत्व में निहित रहते हैं; सामूहिक नेतृत्व व्यवहार में एक व्यक्ति की तानाशाही के अलावा और कुछ नहीं। सैद्धान्तिक रूप में सर्वहारा वर्ग

54 Munro, W B, and Ayearst, The Governments of Europe, p 691
55 Zink, Harold, Modern Governments, D Van Nostrand Co., New York, 1958, p 571
56 Milovan Djilas., The New Class, An Analysis of the Communist System, Thames and Hudson, London 1957, p 70.
57. The New Class, जिलास की पुस्तक के तृतीय अध्याय का शीर्षक है।
58 Munro and Ayearst, The Governments of Europe, p. 683.

व साम्यवादी दल पूजनीय है। लेकिन सामूहिक नेतृत्व में जैसे ही किसी एक शक्तिशाली व्यक्ति का अभ्युदय हुआ, वह सारे सत्ता का स्रोत बन जाता है। जैसे ही वह व्यक्ति कुछ लम्बे समय तक सत्ता में टिक जाता है तो उसकी पूजा और प्रशंसा होने लगती है जिसे हम व्यक्ति-पूजा (Cult of personality) कहते हैं। स्टालिन और माओ त्से-तुंग की व्यक्ति-पूजा' प्रसिद्ध है। स्टालिन के लिए प्रशंसा गीतों और कविताओं का सृजन हुआ जिनमें उसे महान एवं ईश्वर तुल्य माना गया। रूस के प्रसिद्ध कवि जेम्बॉल जेबाव (Djamboul Djabaev) की कविता स्टालिन की व्यक्ति-पूजा का ज्वलन्त उदाहरण है। इस कविता का अर्थ इस प्रकार है—

> मैं उसकी समता पर्वत से करता—
> किन्तु पर्वत के शिखर है,
> मैं उसकी समता समुद्र से करता—
> किन्तु समुद्र के सतह है,
> मैं उसकी समता चमकीले चन्द्रमा से करता—
> किन्तु चन्द्रमा अर्धरात्रि में ही चमकता है, दोपहरी में नहीं,
> मैं उसकी समता प्रतिभावान् सूर्य से करता—
> किन्तु सूर्य दोपहरी में ही प्रकाश देता है, मध्यरात्रि में नहीं।

इसी तरह सोवियत साम्यवादी दल के मुखपत्र प्रावदा (Pravda) ने अगस्त 28, 1936, के अंक में प्रकाशित कविता—

> O great Stalin, O leader of the peoples
> Thou who broughtest man to birth,

स्टालिन पूजा ही थी जिसका पाठशालाओं आदि में स्तुति के रूप में प्रयोग किया जाता था।[59] स्टालिन-पूजा की निन्दा करते हुए 1956 में सोवियत साम्यवादी दल कांग्रेस के बीसवें अधिवेशन में निकिता ख्रुश्चेव ने कहा—

> "इस समय हम उस प्रश्न से अधिक सम्बन्धित हैं, जो दल के वर्तमान और भविष्य के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है, कि स्टालिन-पूजा का किस प्रकार विकास हुआ और एक निश्चित समय पर वह इस सीमा तक बढ़ गई, जिसने दल के सिद्धान्तों, दल का लोकतन्त्र और क्रान्ति की वैधानिकता को गम्भीर रूप से भ्रष्ट कर दिया।"[60]

---

59 Quoted, Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p 514

60 निकिता ख्रुश्चेव का यह भाषण Supplement, Freedom First, July 1956, में न्यूयॉर्क टाइम्स (New York Times) की स्वीकृति से अमरीकी विदेश विभाग ने प्रकाशित किया।

यही स्थिति चीन में माओ त्से-तुंग की है। "स्तालिन की तरह माओ भी अब मार्क्सवादिक व्यक्ति नहीं रहे, वे धार्मिक बन गये हैं। कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि वे कहां रहते हैं, उन्हें केवल पीकिंग के अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कार्यक्रमों को छोड़कर, सम्भवतः ही कहीं देखा जा सकता है। इस पर भी सभी को यह आभास कराया जाता है कि वे चीन में साम्यवादी शासन के मार्ग-दर्शक हैं। उनकी तस्वीरें प्रत्येक घर और सार्वजनिक भवनों को सुशोभित करती है।[61] वे अब चीनी जनता के देव-तुल्य एवं पैगम्बर बन गये हैं। उनके लिये भी गीतों और प्रार्थनाओं का निर्माण हुआ है। निम्नलिखित कविता माओ-स्तुति के रूप में बहुत लोकप्रिय है—

The East Shines red
the Sun arises,
Mao Tse-tung appears in China,
Toiling for the happiness of the people,
The savior of the people [62]

अर्थात्, 'पूर्व में साम्यवाद का विस्तार हो चुका है, सूर्य की भांति माओ त्से-तुंग का प्रादुर्भाव श्रमिकों की खुशहाली और जनता के संरक्षक के रूप में हुआ।' वास्तव में व्यक्ति पूजा साम्यवादी व्यवस्था का एक अंग बन गई है। व्यक्तिपूजा व्यक्तिगत तानाशाही की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

साम्यवाद व राज्य (Communism and State)

साम्यवादी विचारधारा में राज्य बुराई माना जाता है किन्तु विशेष परिस्थिति में व राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। राज्य के विषय में साम्यवाद के निम्नलिखित दृष्टिकोण हैं—

प्रथम, साम्यवादियों के अनुसार राज्य पूंजीवादी यन्त्र है, जिसके माध्यम से वे श्रमिकों का शोषण करते हैं। राज्य के कानून पूंजीपतियों की शोषण इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। वर्ग संघर्ष में राज्य पूंजीपतियों की सहायता करता है। जब तक राज्य का अस्तित्व है वर्ग-द्वेष समाप्त नहीं हो सकता।

द्वितीय, साम्यवादी राज्य की समाप्ति करना चाहते हैं, किन्तु पूंजीवाद और साम्यवाद के मध्य संक्रमण काल में व राज्य-सत्ता का अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रयोग करना चाहते हैं। संक्रमण काल में सर्वहारा-अधिनायकत्व राज्य-शक्ति द्वारा विरोधियों का बलपूर्वक दमन करके साम्यवादी मार्ग की ओर अग्रसर करेगा।

61. Walker, Richard L., China Under Communism, George Allen & Unwin, London, 1956, pp 180-31.
62. Ibid, p 181.

तृतीय, राज्य का महत्व केवल संक्रमण काल में ही है। वे राज्य को स्थाई संस्था नहीं मानते। उनकी धारणा है कि जैसे ही साम्यवादियों की कल्पना के समाज की रचना प्रारम्भ हो जायेगी राज्य धीरे-धीरे स्वतः ही समाप्त हो जायेगा।

उपर्युक्त तीन दृष्टिकोणों में प्रथम एवं द्वितीय ही साम्यवाद के सन्दर्भ में सही हैं। तृतीय दृष्टिकोण जिसमें साम्यवादी राज्य के लोप होने की बात कहते हैं व्यावहारिक नहीं हो सकता। सर्वहारा अधिनायकत्व की अस्थाई अवधि एक 'दीर्घ ऐतिहासिक युग' भी हो सकता है।[63] यदि साम्यवाद को हम मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद का व्यावहारिक पक्ष कहते हैं तो राज्य के लोप होने की बात साम्यवाद के अन्तर्गत नहीं आती।

साम्यवाद तथा जनतंत्र

साम्यवाद में जनतंत्र व्यवस्था का क्या स्थान है? इस बात पर साम्यवादी तथा अन्य जनतान्त्रिक विचारधाराओं में मूल मतभेद हैं। साम्यवादी पश्चिमी देशों में प्रचलित जनतंत्र को वास्तविक जनतन्त्र नहीं मानते। यह पूंजीवादी जनतन्त्र है, यह निर्धनों का नहीं धनिकों का जनतन्त्र है। इसी प्रकार वे संसदीय प्रणाली को भी बकवास तथा पूंजीवादी सदन कह कर उसकी भर्त्सना करते हैं। लेकिन यदि साम्यवादी पश्चिमी जनतन्त्र की निन्दा करते हैं तो साम्यवादी व्यवस्था स्वयं किसी भी दृष्टि से जनतान्त्रिक नहीं है।[64] साम्यवादी राज्य आर्थिक जनतन्त्र प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करते हैं, किन्तु राजनीतिक जनतन्त्र से वे बड़ी दूर रहते हैं। साम्यवादी राज्यों में न तो विरोधी विचारधारा पनप सकती है और न विरोधी दल ही। यहां तक कि साम्यवादी दलों में भी आन्तरिक जनतन्त्र का पूर्ण अभाव रहता है।

सैद्धान्तिक रूप से भी साम्यवादी व्यवस्था शक्ति एवं तानाशाही से पूर्णतः बंधी हुई है। वर्ग-संघर्ष तथा पूंजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिये क्रान्तिकाल में जनतान्त्रिक व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता। संक्रमण काल में वे स्वयं ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की बात करते हैं। इसके बाद की व्यवस्था जिसे वे साम्यवादी व्यवस्था कहते हैं, अभी तक सिर्फ आदर्श और कल्पना ही है। अतः इस विचारधारा के अन्तर्गत व्यापक जनतन्त्र के लिये बहुत कम क्षेत्र शेष रहता है।

साम्यवाद : एक विस्तारवादी विचारधारा के रूप में

साम्यवाद प्रकृति से ही एक विस्तारवादी विचारधारा है। इसकी कोई सीमा या कोई मर्यादा नहीं है। जॉर्ज केनन (George Kennan) ने, जो साम्यवादी जगत के अमरीकी विशेषज्ञ हैं, यह विचार प्रतिपादित किया कि "साम्यवाद विस्तारवाद में

[63] कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 194.

[64] इसके लिये देखिये जोड, पृ 101-103.

विश्वास करता है।" जॉर्ज केनन के ये विचार रूस के सम्बन्ध में थे, किन्तु यह अन्य साम्यवादी राज्यों, विशेषतः चीन पर पूर्णतः लागू होते है।[65]

साम्यवादी विचारधारा विस्तार के दो प्रमुख पक्ष हैं। प्रथम, जिस राज्य में साम्यवाद शासन की स्थापना हो चुकी है उस राज्य के अन्दर किसी अन्य विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जाता। सिर्फ साम्यवाद का ही अनुमोदन, विमोचन हो सकता है। और इसमें भी नेतृत्व के विचार ही सही समझे जाते है। स्टालिन को उसके कार्यकाल में मार्क्सवाद और साम्यवाद का सही विमोचनकर्त्ता समझा जाता था। उसके शब्द ही समाजवाद थे।[66] चीन में माओ त्से-तुंग के विचारों (Thought of Mao Tse-tung) को श्रेष्ठ विज्ञान और मूल दर्शन माना जाता है।[67] यही बात आजकल उत्तर कोरिया के साम्यवादी नेता किम इल सुंग (Kim IL Sung) के विषय में कही जाती है। ये भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद में परिवर्धन कर रहे हैं।

द्वितीय पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय है। एक बार सत्ता में आने के बाद साम्यवादी शेष विश्व का पुन. निर्माण अपनी इच्छानुसार करने का प्रयत्न करते हैं।[68] इस्लाम की भाँति साम्यवाद आक्रामक विचारधारा (offensive ideology) है। साम्यवादी युद्ध और शक्ति द्वारा विचारधारा का प्रचार और प्रसार अपना कर्त्तव्य समझते हैं।[69] मार्क्स ने साम्यवाद का अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में ही प्रतिपादन किया था। विश्व वर्ग-संघर्ष मार्क्सवाद की प्रमुख विशेषता थी। इसलिये उसने विश्व के समस्त मजदूरों के लिए एकता का आह्वान किया था। उसके अनुसार श्रमिकों का न तो कोई देश है और न कोई राष्ट्रीयता। साम्यवाद एक राज्य या क्षेत्र तक सीमित नहीं रह सकता।[70] समस्त विश्व साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आना चाहिए।

साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने भी इस सिद्धान्त का समय समय पर पूर्ण समर्थन किया। 1919 में कॉमिन्टर्न (Comintern or Third Communist International) की स्थापना का उद्देश्य रूस की भाँति अन्य राज्यों में क्रान्ति का नेतृत्व करना था। 1928 में ततीय अन्तर्राष्ट्रीय (Comintern) के विश्वसम्मेलन में सम्पूर्ण विश्व में पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था।[71] जब साम्यवादी राज्य अपनी सैनिक शक्ति

---

65 द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त रूस ने पूर्वी यूरोप के राज्यों का जब साम्यवादीकरण प्रारम्भ किया उस समय जॉर्ज केनन ने यह विचार प्रतिपादित किया था।

66 Hallowell, J H , Main Currents in Modern Political Thought, p 514

67 Walker, Richard L , China Under Communism, p 180

68 Djilas, Milovan , The New Class, p 1.

69 Straus-Hupe and Possony., International Relations, 1950, p 423.

70 *The Communist Manifesto*, p 71

71 Burns, Emile, (Ed) A Hand-book of Marxism, London, 1935, p 954

में वृद्धि कर विश्व-शक्तियों की श्रेणी में आ जाते हैं, इससे विश्व में साम्यवादी आक्रमण तथा विस्तार का भय और भी बढ़ जाता है।[72]

साम्यवादियों ने अपने इस दृष्टिकोण में समय समय पर परिवर्तन किया है। यह विवाद का विषय भी रहा है। स्टालिन व ट्रॉटस्की का संघर्ष इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है जिसमें स्टालिन के 'एक देश में समाजवाद' की विजय हुई। किन्तु कॉमिनटर्न का अस्तित्व यथावत् बना रहा। तात्कालिक युद्ध स्थिति को देखते हुए कॉमिनटर्न को मई 22, 1943, को भंग कर दिया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि रूस या अन्य साम्यवादियों ने अपना अन्तर्राष्ट्रीय चोगा सदैव के लिए उतार दिया हो। उसे सिर्फ कुछ समय के लिए शीत-गृह में सुरक्षित रख दिया गया। अक्टूबर 5, 1947 को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद को कॉमिनफॉर्म (Cominform or Communist Information Bureau) के नाम से पुनः संगठित किया गया किन्तु यूगोस्लाविया से सम्बन्ध सुधारने की उत्सुकता में इसे भी समाप्त कर दिया।

इसी समय निकिता ख्रुश्चेव ने पंचशील या शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व (Peaceful Co-existence) के सिद्धान्तों का समर्थन देना आरम्भ किया। इसका पुनः यही अर्थ लगाया जा सकता था कि साम्यवादी विश्व में यथा-स्थिति (Status quo) स्वीकार कर रहे हैं। विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक प्रणालियों के अन्तर्गत रहते हुए भी विश्व के राज्य शान्तिपूर्वक सहयोग कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में साम्यवादी दुरंगी बातें (double talks) और धोखा देने में अधिक उलझे प्रतीत होते हैं। उनके दृष्टिकोण में समय समय पर जो परिवर्तन हुए हैं, वे सिर्फ चाल या राजनीतिक दाँव पेच के रूप में ही हुए हैं, अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद को त्यागने के लिए नहीं। सह-अस्तित्व की बात राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए दूसरे देशों से आर्थिक सहयोग, व्यापार या मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाने के लिये ही कही जाती है।[73] इतना अवश्य है कि साम्यवादी अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद क्रान्ति के द्वारा आजकल सम्भव नहीं है। यह केवल ख्रुश्चेव के विचार, जिसमें पूँजीवादी राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्धा की बात कही गई है, के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। साम्यवादी स्थिति के अनुसार कभी भी क्रान्ति या शान्तिपूर्वक साम्यवादी प्रसार में विश्वास कर सकते हैं।

राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध (Wars of National Liberation)

पराधीन राज्यों द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति तथा स्वाधीनता के लिये संघर्ष एवं युद्ध के लिये आह्वान करना तथा उन्हें समर्थन प्रदान करना साम्यवादी विचारधारा का एक प्रमुख तत्व बन गया है। यद्यपि मार्क्स ने इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष विचार प्रस्तुत नहीं किये तथा लेनिन ने राष्ट्रीय विद्रोह के समर्थन में विचार व्यक्त किये, किन्तु इस

72 Jay, Douglas, Socialism in the New Society, pp 77
73 Munro and Ayearst, The Governments of Europe, p 695

दिशा में निकिता ख्रुश्चेव ने सर्वप्रथम स्पष्टत अपने विचार व्यक्त किये। 1961 में ख्रुश्चेव ने मुक्ति-युद्ध या स्वाधीनता संघर्ष की व्यापक व्याख्या की। मुक्ति-युद्ध या स्वाधीनता संघर्ष का तात्पर्य एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीकी राज्यों द्वारा उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी राज्यों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते रहना है। साम्यवादी ऐसे संघर्ष एवं युद्ध को पूर्णत उचित बतलाते हैं। यह पराधीन राज्यों की जनता का कर्त्तव्य है कि वे पूंजीवादी-उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी बेड़ियों से स्वयं को संघर्ष द्वारा मुक्त करें। चीन में एक समय माओ त्से-तुंग के उत्तराधिकारी लिन पियाओ (Lin Piao, 1910–1971) ने भी एक दूसरे सन्दर्भ में ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन किया। विश्व विजय के उद्देश्य से लिन पियाओ ने एक युक्ति सुझाई थी जिसका तात्पर्य एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीकी राज्यों की जनता पूंजीवादी क्षेत्रे द्वारा समर्थित सरकारों के विरुद्ध मुक्ति संघर्ष द्वारा देहाती क्षेत्रों पर अधिकार कर नगरों को घेर लेना चाहिए तथा बाद में शहरों पर अधिकार कर सम्पूर्ण राज्य को प्रतिक्रियावादियों से मुक्त कर लेना चाहिए। लगभग सभी उग्रवादी साम्यवादी मुक्ति संघर्ष एवं स्वाधीनता के लिये युद्ध का समर्थन करते हैं।

राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध द्वारा साम्यवादी विश्व को साम्यवादी प्रणाली के अन्तर्गत लाने के स्वप्न को साकार करना चाहते हैं। परमाणु युग में इस विचार का और भी अधिक महत्व बढ़ गया है। परमाणु युग में साम्यवादी तथा पूंजीवादी राज्यों द्वारा युद्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। इस स्थिति में साम्यवादी राष्ट्रीय मुक्तियुद्ध द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति करने का विचार रखते हैं। ऐसे संघर्ष एवं युद्ध में साम्यवादी राज्य प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित तो नहीं होंगे किन्तु संघर्षरत जनता की सहायता एवं समर्थन करते रहेंगे। वियतनाम युद्ध, अफ्रीका में पुर्तगाली उपनिवेश अंगोला तथा मुजाम्बिक में स्वाधीनता संग्राम तथा कई लेटिन अमरीकी राज्यों में गुरिल्ला संघर्ष को साम्यवादी राष्ट्रीय मुक्तियुद्ध मानते हैं।

साम्यवादी विचारधारा बनाम राष्ट्रीय हित

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की समस्याएँ तथा रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों के सन्दर्भ में साम्यवादी विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित में प्राथमिकता के प्रश्न को समझ लेना आवश्यक है। एक साम्यवादी राज्य के लिये विचारधारा का विस्तार महत्वपूर्ण है या उसका स्वयं का राष्ट्रीय हित? यदि विचारधारा को प्राथमिकता दी जाय तो प्रत्येक साम्यवादी राज्य का कर्तव्य है कि वह दूसरे देशों में साम्यवाद का विस्तार करे, विचारधारा के प्रसार में सभी साम्यवादी राज्य सहयोग करें। किन्तु व्यवहार में यह बात नहीं है।

प्रत्येक राज्य, साम्यवादी या गैर-साम्यवादी, अपने राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि महत्व देता है। साम्यवादी राज्यों में यदि हितों का टकराव है तो विचारधारा की एकता होते हुए भी उनमें सहयोग नहीं हो सकता और इनका साम्यवाद की

अन्तर्राष्ट्रीयता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। रूस और चीन दोनों ही साम्यवादी देश हैं लेकिन दोनों के परस्पर-विरोधी हितों के कारण वे विचारधारा को उतना महत्व नहीं देते जितना कि राष्ट्रीय हित को।

इसके अलावा यदि दो विरोधी विचारधाराओं के पालन करने वाले राज्यों में *राष्ट्रीय हितों का समाधान होता है तो वे विचारधारा को सहयोग के मार्ग में बाधा* नहीं बनने देते। चीन और अमेरिका परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के समर्थक हैं, लेकिन रूस के विरुद्ध दोनों के सहयोग में वृद्धि हो रही है। इसके पहले 1939 में रूस और नाजी जर्मनी ने अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर किये, जिसने दूरदर्शी राजनीतिज्ञों को भी आश्चर्य में डाल दिया। साम्यवाद और नाजीवाद दोनों ही एक दूसरे के कट्टु शत्रु थे, लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए विचारधारा सम्बन्धी तथ्य को ताक पर रख यह समझौता किया। इससे यह *निष्कर्ष निकाला जाता है कि साम्यवाद का अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष उतना सबल नहीं है* जितना कि समझा जाता है। साम्यवादी राज्यों में हमेशा सहयोग और भ्रातृत्व की भावना रहे, यह भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार राष्ट्रीय हित और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय पहलू को कमजोर एवं विभाजित कर दिया है।

रूस-चीन मतभेद तथा इनका साम्यवादी विचारधारा पर प्रभाव

रूस और चीन के मतभेदों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाला एक नया तत्व प्रदान किया है। विश्व के प्रमुख राज्यों की विदेश नीति निर्धारण पर *इसकी छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। दोनों पड़ोसी राज्य दिग्ग शक्तियां हैं,* दोनों ही साम्यवादी व्यवस्थाएँ हैं। दोनों राज्यों में जो तनाव उत्पन्न हुआ उसे एक नवीन शीत-युद्ध (A new Cold War) कहा गया है।[74] इन मतभेदों का वास्तविक कारण दोनों देशों के राष्ट्रीय हितों का टकराव है। किन्तु साम्यवादी होने के कारण रूस और चीन ने अपने मतभेदों को प्रारम्भिक वर्षों में सैद्धांतिक मतभेदों के रूप में प्रस्तुत किया।[75] दोनों राज्यों ने सैद्धान्तिक पक्ष लेकर एक दूसरे की कटु आलोचना की है। इनमें सैद्धान्तिक मतभेदों की वास्तविकता है या नहीं निश्चित रूप से कहना आसान नहीं। फिर भी इन मतभेदों के सन्दर्भ में साम्यवाद की जो व्याख्या हुई है वह महत्वपूर्ण है तथा इस विचारधारा की नवीन प्रवृत्ति एवं स्वभाव पर प्रकाश डालती है।

रूस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों में रूस अधिक नमनीय, व्यावहारिक और प्रगतिशील प्रतीत होता है। चीन रूढ़िवादी या परम्परावादी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-

74 एडवर्ड क्रैन्कशॉ (Edward Crankshaw), जो साम्यवादी राजनीति के एक प्रमुख टीकाकार हैं, की रूस-चीन विवाद पर लिखी पुस्तक का शीर्षक ही— The New Cold War, Moscow V p king—है।

75 Lowenthal, Richard, World Communism, p 132

स्टालिनवाद में ही उलझा है। माओ त्से-तुंग तथा चीन के साम्यवादी दल ने ख्रुश्चेव के लगभग सभी विचारों का खण्डन किया है। रूस द्वारा स्टालिन की जो निन्दा की गई है चीन ने उसे मान्यता नहीं दी है। यद्यपि स्टालिन ने कुछ भूलें अवश्य की, चीन साम्यवादी जगत तथा रूस में स्टालिन के महत्वपूर्ण योगदान को स्वीकार करता है। चीन के दृष्टिकोण में स्टालिन मार्क्सवाद-लेनिनवाद का कट्टर समर्थक था। चीन साम्यवादी विस्तार के लिए शान्तिपूर्ण साधनों को मान्यता नहीं देता। माओ त्से-तुंग ख्रुश्चेव के इस मत से सहमत नहीं है कि लोकतान्त्रिक तरीकों से समाजवाद लाया जा सकता है। साम्यवादी प्रसार केवल क्रान्ति एवं युद्ध से ही सम्भव है।

दोनों साम्यवादी राज्यों का साम्राज्यवाद के प्रति भी अलग-अलग दृष्टिकोण है। चीन रूस के इस तर्क को स्वीकार नहीं करता कि पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शांति चाहते हैं। माओ के अनुसार साम्राज्यवादियों की प्रकृति में कोई आन्तरिक परिवर्तन नहीं हुआ है। समाजवादी देशों को उनके विरुद्ध संघर्ष करने के लिए अधिक शक्तिशाली बनना चाहिए। इसलिए चीन सर्वहारा राज्यों का साम्राज्यवादी-पूंजीवादी राज्यों के साथ सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं करता।

चीन और रूस ने एक दूसरे की आर्थिक नीतियों की भी आलोचना की है। चीन ने ख्रुश्चेव की कृषि नीति की आलोचना की जिसके अन्तर्गत रूस लाभ के लिए कुछ गुंजाइश छोड़ता है। चीन के अनुसार लाभ सिद्धान्त पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में ही सम्भव है। इसके विपरीत रूस ने चीन में प्रारम्भ हुई 'कम्यून प्रणाली' *(Commune System)* की कटु निन्दा की है।

इन सैद्धान्तिक मतभेदों के बाद अब दोनों राज्यों का वास्तविक संघर्ष स्पष्ट हो गया है। उनके सीमा विवाद, उनकी एशिया और अफ्रीका में विस्तारवादी नीति तथा आर्थिक स्पर्धा में विश्व पूर्णतः अवगत है।

रूस और चीन के सैद्धान्तिक विवाद का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद पर व्यापक विपरीत प्रभाव पड़ा है। प्रथम, साम्यवाद की व्याख्या के विषय में साम्यवादी राज्य एक मत होकर निश्चित रूप में कुछ नहीं कह सकते। उनके विचारों में परस्पर-विरोध ही दृष्टिगोचर होता है। इससे साम्यवाद का सैद्धान्तिक पक्ष निर्बल हुआ है। द्वितीय, इस विवाद ने साम्यवादी राज्यों को दो गुटों में विभाजित कर दिया है। एक ओर चीन, अलबानिया आदि तथा दूसरी ओर रूस और अन्य पूर्वी यूरोप के राज्य हैं। कुछ राज्य, जैसे रूमानिया, लगभग तटस्थ रहते हैं। साम्यवादी राज्यों की एकता समाप्त होने से इनकी शक्ति विभाजित हो चुकी है। इससे गैरसाम्यवादी राज्यों में साम्यवादी विस्तार के खतरे में भी भारी कमी आई है। तृतीय, रूस-चीन मतभेदों से विश्व में अन्य राज्यों के साम्यवादी दल भी विभाजित हुए हैं। दल का एक भाग रूस समर्थक तथा दूसरा चीन का प्रशंसक रहता है। भारत में इस आधार पर अलग अलग दल बन गये हैं, जैसे भारतीय साम्यवादी दल रूस समर्थक है तथा भारतीय

साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) चीन का समर्थक है। जो भी हो इससे दलों की शक्ति एवं प्रतिष्ठा पर बड़ा आघात हुआ है।[76] लेबेड्ज एवं अर्बन (Labedz and Urban) ने रूस-चीन मतभेदों का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद पर प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस विवाद ने—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद आन्दोलन के अन्त का प्रारम्भ कर दिया है;

(ii) समस्त विश्व की सर्वहारा राष्ट्रीयता की भ्रान्ति का खण्डन कर दिया है, तथा

(iii) साम्यवादी क्रान्ति के अवश्यम्भावी स्वरूप को समाप्त कर दिया है।[77]

भविष्य में इन दोनों राज्यों के परस्पर-विरोधी हितों को ध्यान में रखते हुए इनमें सुलह होना असम्भव सा लगता है। किन्तु एक बात निश्चित है कि इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में चीन को भी रूस जैसी ही उदारवादी कमनीय नीति अपनानी पड़ेगी। चीन को भी सह-अस्तित्व, सहयोग, तटस्थ राज्यों का समर्थन आदि की नीति ग्रहण करनी पड़ेगी। फरवरी 1972 में अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन की चीन यात्रा ने यह और भी स्पष्ट कर दिया है कि चीन इस मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। चाहे यह दृष्टिकोण परिवर्तन बाह्य दिखावे के लिए ही क्यों न हो, लेकिन हो रहा है।

मूल्यांकन

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है मार्क्सवाद ही साम्यवाद का आधार एवं स्रोत है। साम्यवादी, मार्क्सवाद के जो सिद्धान्त स्वीकार करते हैं, जैसे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग-संघर्ष, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, सर्वहारा अधिनायकत्व आदि, उनका आलोचनात्मक अध्ययन मार्क्सवाद के सन्दर्भ में पहले ही किया जा चुका है। उन्हीं तत्वों को यहां प्रस्तुत करना पुनरावृत्ति ही होगी। फिर भी यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मार्क्सवादी सिद्धान्त साम्यवाद के प्रमुख आधार हैं। यहां सिर्फ साम्यवाद से सम्बन्धित विशेष समस्याओं का आलोचनात्मक विवेचन किया जा रहा है।

मार्क्सवाद को भ्रष्ट करने का आरोप

आलोचकों का यह कहना है कि साम्यवाद मार्क्सवाद का न तो तर्कसंगत विस्तार है और न सही परिवर्धन। साम्यवादियों ने मार्क्सवाद का संशोधन किया है या, साम्यवादियों ने मार्क्सवाद को भ्रष्ट कर दिया है। यद्यपि मार्क्स ने क्रान्ति

76 भारतीय साम्यवादी दल के विघटन का विवरण मोहन राम लिखित पुस्तक—Indian Communism: split within split, (1969) में काफी अच्छा दिया हुआ है जिसका अध्ययन उपयोगी होगा।

77 Labedz and Urban, The Sino-Soviet Conflict, p 9

और सर्वहारा अधिनायकत्व का समर्थन किया था किन्तु उसका दृष्टिकोण लोकतान्त्रिक था। उसका विश्वास था कि किसी देश मे क्रांति तभी सम्भव होगी जबकि वहाँ मजदूरों का बहुमत हो जायेगा। इसके अलावा मार्क्स का विचार स्वतन्त्रता से बड़ा प्रेम था। अपने तात्कालिक युग मे प्रशा (Prussia) तथा अन्य निरंकुशवादी राज्यो की प्रेस विरोधी नीतियो की मार्क्स ने कटु आलोचना की थी।

साम्यवाद विरोधियों के अनुसार मार्क्स के अनुयायियो ने, जिन्हे साम्यवादी कहा जाता है, मार्क्सवाद की इस प्रकार व्याख्या की है जो उनकी स्वार्थ-सिद्धि की पूर्ति और उनकी त्रुटियों पर आवरण डालने मे सहायक हो। मिलोवेन जिलास Milovan Djilas) के शब्दों मे—

"मूल मार्क्सवाद का अब लगभग कुछ नही बचा है। पश्चिम मे यह समाप्त हो चुका है या समाप्त होने जा रहा है। पूर्व मे साम्यवादी शासन की स्थापना से मार्क्स के द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद की सिर्फ औपचारिकता और ढोंगवादिता ही शेष रही है जिसका प्रयोग उन्होंने सत्ता को सुदृढ करने, निरकुशता को सही सिद्ध करने तथा मानव-आत्मा का उल्लघन करने के लिए किया है।[78]

साम्यवादियो ने मार्क्सवाद की विचार-आत्मा को नही समझा है। साम्यवादी राज्यो मे जनतन्त्र के स्थान पर अल्पसंख्यकों की तानाशाही, सर्वहारा के स्थान पर दल अधिनायकत्व और व्यक्तिपूजा की स्थापना होती है, जिसका मार्क्स ने शायद ही समर्थन किया हो।

काल्पनिक उद्देश्य

मार्क्सवादी सिद्धान्तो का अन्तिम उद्देश्य 'साम्यवादी समाज' की स्थापना करना है जिसमे न तो शोषण, न कोई वर्ग और न कोई राज्य ही होगा। मार्क्सवाद का यह उद्देश्य काल्पनिक है किन्तु साम्यवाद को मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद का व्यावहारिक रूप समझा जाता है। साम्यवाद के अन्तर्गत व्यावहारिक दृष्टि से राज्य का लोप होना असम्भव है। इसके विपरीत राज्य की शक्तियो मे दिनो दिन वृद्धि होती जा रही है। साम्यवादी इतने व्यावहारिक होते हुए न जाने क्यो इस काल्पनिक उद्देश्य मे अनावश्यक रूप से उलझे हुए है।

---

78 "Almost nothing remained of original Marxism In the West it had died out or was in the process of dying out; in the East, as a result of the establishment of Commumist rule, only a residue or formalism and dogmatism remained of Marx's dialectics and materialism., this was used for the purpose of cementing power, justifying tyranny and violating human conscience "
Djilas, Milovan , The New Class, p 9

साम्यवाद का नवीन विवेचन एक धोखा है

लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव, माओ त्से-तुंग ने मार्क्सवाद में जो व्यावहारिक परिवर्धन किये हैं उनसे मूल आधारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इन सभी की वर्ग संघर्ष, क्रान्ति, आदि में पूर्ण आस्था है। जब ख्रुश्चेव जैसे साम्यवादियों ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, लोकतान्त्रिक साधनों का समर्थन किया, इससे उन्होंने विश्व को भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है। यदि साम्यवादी लोकतन्त्र और शान्तिपूर्ण साधनों को स्वीकार करते हैं तो फिर वे साम्यवादी कहलाने का दावा नहीं कर सकते। इस प्रकार के सैद्धान्तिक परिवर्तनों का आशय मूल उद्देश्यों में परिवर्तन करना नहीं किन्तु इन उद्देश्यों की उपलब्धि के लिए अपनी कूटनीति और चालों में परिवर्तन करना है। इसलिए यदि विश्व की जनता से यह कहा जाय कि साम्यवादी अब शान्तिपूर्ण लोकतान्त्रिक साधनों में विश्वास रखते हैं तो यह उनके साथ धोखा करना है। साम्यवाद से अवगत व्यक्ति शायद ही साम्यवादियों के इस रंग-परिवर्तन पर विश्वास करे।

अधिनायकवादी व्यवस्था (Totalitarian system)

साम्यवाद पूर्णतः आरोपित एवं ऊपर से नियन्त्रित व्यवस्था है। इसमें एक दल, एक विचार, एक रंग, एक ढंग में ही व्यक्ति बन्दी रहता है। कला, साहित्य दर्शन, विज्ञान सभी को एक ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है। साम्यवाद के अंकुश में रहना ही स्वतन्त्रता है। व्यक्तिगत अधिकारों की बात करना व्यर्थ है। साम्यवादी दल के बीसवें अधिवेशन में (1956) में तात्कालिक महामन्त्री निकिता ख्रुश्चेव का भाषण स्टालिन युग के रूस में प्रचलित अधिनायकवादी व्यवस्था का ही प्रतिवेदन था। राज्य का हस्तक्षेप व्यक्तिगत जीवन में भी रहता है, यहां तक कि लेनिन की पत्नी (Nadezhda Konstantinovna Krupskaya) ने भी स्टालिन द्वारा उनके व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने का आरोप लगाया। इस विषय में लेनिन ने स्टालिन को एक पत्र लिखकर उससे क्षमा मांगने के लिए कहा था।[79]

---

79 Form Lenin to Stalin—
Dear Comrade Stalin
You permitted yourself a rude summon of my wife to the telephone and a rude reprimand of her Despite the fact that she told you that she agreed to forget what was said, nevertheless Zenovlev and Kamenev heard about it from her I have no intention to forget so easily that is being done against me, and I need not stress here that I consider it as directed against me which is being done against my wife I ask you therefore that you weigh carefully whether you are agreeable to retracting your words and apologizing or whether you prefer the severance of relations between us
Sincerely,
March 5, 1923
Lenin

This letter was produced by Nikita Khruschev before the Twentieth Congress of the CPSU, 1955 Supplement Freedom First July 1955 State Department U.S A

स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना की भी यही शिकायत थी। उन्हें अपनी इच्छानुसार विवाह करने पर सोवियत सरकार ने कई प्रकार की बाधाएँ पैदा की। कुछ समय बाद स्वेतलाना को गुप्त रूप से रूस छोड़ना पड़ा। यह सब कुछ तब हुआ जब स्टालिन की मृत्यु के बाद रूस में कुछ उदारवादी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगी थीं। इस समय भी यह सुनने में आता है कि रूस में विचारकों और प्रमुख लेखकों को यातनायें भोगनी पड़ती हैं क्योंकि वे सरकार द्वारा निर्देशित विचार-मार्ग का अनुसरण नहीं करना चाहते हैं। 1974 के प्रारम्भ में रूस ने प्रसिद्ध साहित्यकार एलेग्जेन्डर सॉलजेनित्सिन को देश से निष्कासित किया गया है। इस प्रकार अब आलोचकों को निष्कासित करने का एक नया कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ है। 1968 में चेकोस्लोवाकिया के उदारवादी आन्दोलन का दमन भी वर्तमान नेतृत्व के समय में ही हुआ है।

चीन में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी पहलू माओ त्से-तुंग के विचारों के अन्तर्गत आने चाहिए। माओ के विचारों का विरोध करना अपराध करने जैसा है। चीन के राष्ट्रपति ल्यू शाओ ची (Liu Shao Chi), विदेश मन्त्री चेन यी (Chen Yi), 1965 में मनोनीत माओ के उत्तराधिकारी लिन पियाओ (Lin Piao) तथा अन्य माओ-विचारों को ठीक तरह ग्रहण नहीं कर सके, परिणामस्वरूप सभी को अपमानित हो अपने पदों से हाथ धोना पड़ा। इस प्रकार के अधिनायकवादी तत्त्व सभी साम्यवादी राज्यों में विद्यमान रहते हैं। मनुष्य का अच्छा बुरा बहुत कुछ गुप्तचर विभाग पर निर्भर करता है। इस व्यवस्था में मनुष्य आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति पा सकता है किन्तु आत्मिक शान्ति एवं स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती।

साम्यवादी सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं का हल एक मात्र अपने ही मार्ग से मानते हैं। यह विश्वास भ्रान्तिपूर्ण है। विश्व विविधताओं का पुञ्ज है। अलग अलग राज्यों या क्षेत्रों में जीवन पद्धति, संस्कृति, राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार इस विश्व-विभिन्नता से सम्बन्धित समस्याओं की जटिलता भी इतनी ही व्यापक होगी। साम्यवाद अकेला ही इन सबका समाधान नहीं कर सकता। लास्की (H.J. Laski) के अनुसार—

> "सामान्य अर्थ में, निःसन्देह साम्यवाद की भूल यह है कि वह विश्व की जटिलता को स्वीकार नहीं करता। उसका बतलाया उपचार अवास्तविक है, क्योंकि विश्व बड़ा पेचीदा है और सम्पूर्ण विश्व के लिए कोई एक उपचार नहीं हो सकता।"[80]



80 Laski, H J, Communism, p 243,
Deane, Herbert A, The Political Ideas of Harold Laski, p 132,

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Clark, Gerald , Impatient China, Chapter 7, The People's Communes.
2 कोकर, फ्रान्सिस., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 3, समाजवादी आन्दोलन तथा मार्क्स के कट्टर अनुयायी, प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व।
3. Deutscher, Isaac, Russia, China and the West, Chapter 5, The Twentieth Congress of the Soviet Communist Party.
4 Djilas, Milovan., The New Class, An Analysis of the Communist System, Chapter 3, The New Class., Chapter 4, The Party State.
5. Donnelly, Desmond , Struggle for the World. Chapter 2, Socialism in One Country
6 Dutt, Gargi, Rural Commnnes of China
7. Gargi Dutt and V P. Dutt , China's Cultural Revolution.
8 Ebenstein, W., Today's isms, Chapter 1, Totalitarian Communism.
9 Fainsod, Merle., How Russia is Ruled, Chapter 5, The Dictatorship of the Party in Theory and Practice Chapter 13, Terror as a System of Power
10 Gray, Alexander., The Socialist Tradition, Chapter XVII, Lenin.
11 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, Chapter 14, Socialism in the Soviet Union.
12 Hunt, R. N. carew., The Theory and Practice of Communism An Introduction, Chapter XV, Lenin's Contribution to Marxist Cheory.

Chapter XVI, Stalin's Contribution to Marxist-Leninist Theory.

13. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, अध्याय 5, साम्यवाद तथा अराजकतावाद

14. Lowenthal, Richard., World Communism, Chapter, 5, The Distinctive Character of Chinese Communism

15. Paloczi-Horvath G , Khrushev The Road to Power, Chapter 14, Who is to Lead the Communist World.

16. Schapiro Leonard., The Communist Party of the Soviet Union, Chapter 16, The Defeat of Trotsky Chapter 17, Party Composition : Relations with the Government.

17. Stankiewicz, W. J. (Ed), Political Thought Since World War II, Part III, Marxism and Communism

18. Wanlass, Lawrence, D , Gettell's History of Political Thought, Chapter XXVII, Communism

9

फासीवाद एवं नात्सीवाद

FASCISM AND NAZISM

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् इटली मे फासीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। फैसिज्म (Fascism) शब्द की उत्पत्ति इटली भाषा के शब्द 'फैसियो' (Fascio) से हुई है। 'फैसियो' शब्द का अर्थ है 'लकड़ियों का बन्धा हुआ गट्ठा'। लकड़ियों का बन्धा हुआ गट्ठा एकता, अनुशासन और शक्ति का प्रतीक माना जाता है। प्राचीन काल मे रोमन साम्राज्य का राज्य-चिह्न फैसियो तथा कुल्हाडी था क्योंकि रोमन राजनीति एकता और शक्ति पर बल देती थी।

प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने के लगभग एक वर्ष पश्चात् 1915 मे मिलान (Milan) शहर मे मुसोलिनी (Benito Mussolini, 1883–1945) के नेतृत्व मे फैसियो (Facio) नामक संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था की स्थापना का उद्देश्य इटली के व्यक्तियों को एकता और अनुशासन के सूत्र मे बाधना था जो राष्ट्र के लिये मर मिटने को तैयार हो। इस दल ने भी फैसियो को अपना चिह्न बनाया। इसके सदस्य 'फैसिस्ट' कहलाते थे तथा इस दल की नीति एव विचारधारा फैसिज्म कहलायी जाने लगी। युद्ध के उपरान्त 1919 मे कई कारणों से इस संस्था का पुनर्निर्माण किया गया। इटली की समकालीन परिस्थितियो ने मुसोलिनी का साथ दिया। अक्टूबर 1922 के अन्तिम सप्ताह मे इटली की शासन सत्ता मुसोलिनी के हाथो आयी जो जुलाई 24, 1943, तक इटली के एक-छत्र तानाशाह रहे।

जर्मन फासीवाद राष्ट्रीय समाजवाद

प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही फासीवाद का एक अन्य नामकरण के अन्तर्गत जर्मनी मे प्रादुर्भाव हुआ। जिस फासीवादी विचारधारा का जर्मनी मे उद्भव हुआ उसे नात्सीवाद (Nazism) के नाम से जाना जाता है। कुछ ही तत्वो को छोड़कर ये दोनो विचारधाराएँ एक ही है।[1] जर्मनी मे हिटलर (Adolf hitler, 1889–1945) के नेतृत्व मे नात्सीवाद, जिसे राष्ट्रीय समाजवाद भी कहा जाता था, का

1 Hallowell, J H , Main Currents in Modern Political Thought, p 591

प्रादुर्भाव हुआ। जिन परिस्थितियों में इटली में फासीवाद पनपा लगभग वैसी ही परिस्थितियों से जर्मनी में नात्सीवाद का उद्भव हुआ। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी एक पराजित राज्य था। पेरिस शान्ति सम्मेलन में जर्मन प्रतिनिधि मण्डल को बडा ही अपमानित किया गया। वर्साय की शान्ति सन्धि (Treaty of Versailles, 1919) जर्मनी पर थोपी गई सन्धि थी, जो शान्ति सन्धि न होकर युद्ध का आमन्त्रण थी। वर्साय की सन्धि के अन्तर्गत जर्मनी का बहुत सा क्षेत्र छीन लिया तथा उसका पूर्णतः विसैन्यीकरण किया गया। युद्ध क्षति के रूप में जर्मनी को बहुत सी राष्ट्रीय सम्पत्ति विजेता राज्यों को देनी पडी। वास्तव में युद्ध क्षति के नाम पर विजेता राज्यों ने जर्मनी की आर्थिक लूट की। परिणामस्वरूप जर्मनी में भारी असन्तोष था। आर्थिक अराजकता और राजनीतिक अस्थिरता ने जर्मनी में फासीवादी शासन की स्थापना करने में बडी सहायता दी। इस असन्तोष का लाभ हिटलर ने उठाया तथा 1933 के प्रारम्भ में वह जर्मनी का तानाशाह बन बैठा।

हिटलर के फासीवादी (या नात्सीवादी) विचार हमें उसकी आत्मकथा-Mein Kampf (मेरा संघर्ष)-में मिलते हैं। हिटलर तथा मुसोलिनी, अन्य शब्दों में फासीवाद और नात्सीवाद, के विचारों में तत्वत कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसलिये इनके विचारों को एक ही अध्याय के अन्तर्गत लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। राष्ट्र राज्य व्यक्ति, दल, नेता, साध्य एवं साधन, विस्तारवाद आदि के विषय में इन दोनों के विचार लगभग समान ही हैं। इस अध्याय में कई स्थलों पर इन दोनों के विचारों को एक रूप में प्रस्तुत कर इनकी समानता को भी व्यक्त किया गया है।

फासीवाद केवल इटली और जर्मनी राज्य तक ही सीमित नहीं रहा, पूर्वी यूरोप के राज्य जैसे स्पेन और पुर्तगाल, तथा कुछ लैटिन अमरीकी राज्यों में भी फासीवादी अधिनायकतन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। दोनों विश्व युद्धों के मध्य फासीवाद यूरोप पर छाया रहा। इटली तथा जर्मनी से समस्त यूरोप भयावह सा प्रतीत होने लगा। मुसोलिनी तथा हिटलर ने विस्तारवादी नीतियों को अपनाया। इन्हीं विस्तारवादी नीतियों के सन्दर्भ में इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने सन्तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) स्वीकार कर फासीवादी विस्तारवाद को अप्रत्यक्ष रूप से बडा समर्थन दिया। परिणामस्वरूप इटली ने अबीसीनिया तथा अलबानिया, जर्मनी ने आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उधर स्पेन में जनरल फ्रेन्को (General Franco) ने उस देश में फासीवादी व्यवस्था की स्थापना की। अन्त में मुसोलिनी तथा हिटलर की विस्तारवादी नीति तथा इसके प्रत्युत्तर में इंग्लैण्ड-फ्रांस के सतुष्टिकरण दृष्टिकोण ने विश्व को दूसरे महायुद्ध में धकेल दिया। द्वितीय विश्व युद्ध में फासीवादियों को क्षणिक विजय अवश्य प्राप्त हुई; किन्तु अन्त में उन्हें पराजित होना पडा। इस प्रकार विश्व को जो फासीवाद का भय था वह समाप्त हो गया। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह विचारधारा

सदैव के लिए समाप्त हो गई हो। समय-समय पर यह विचारधारा कई देशों मे अपना क्रूर सर ऊपर उठा लेती है। लेटिन अमरीकी राज्य अभी भी फासीवादी विचारधारा के प्रभाव से मुक्त नही हो पाये है।

प्रेरणा एव पृष्ठभूमि

फासीवाद के बहुत कुछ सिद्धान्तो का प्रादुर्भाव या प्रचलन इटली मे किसी न किसी रूप मे प्रत्येक युग मे रहा है। प्राचीन काल मे इसी क्षेत्र मे कई प्रमुख राज्यो का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ नगर राज्य निरकुशता और एकता के लिए प्रसिद्ध थे। जब रोम साम्राज्य का अभ्युदय एव विस्तार हुआ, इटली तथा प्रसिद्ध नगर रोम इस साम्राज्य का केन्द्र थे। उग्र राष्ट्रवाद, एकता, शक्ति राजनीति, विस्तारवाद और निरकुशवाद रोम साम्राज्य के शासन-सिद्धान्त थे। मुसोलिनी ने रोमन परम्परा का पूर्णत: अनुकरण किया और ये तत्त्व फासीवाद के प्रमुख आधार बन गये।

रोम की देवी (The Godess Rome) के स्मारक का निर्माण 1870 मे किया गया। इस स्मारक को बनाने का उद्देश्य इटली की एकता और एकीकरण को मूर्तरूप देना था। रोम की देवी के प्रति मुसोलिनी की अटूट श्रद्धा थी। इटली की सत्ता सम्हालने के उपरान्त मुसोलिनी ने प्रधानमन्त्री के रूप मे अपना सर्वप्रथम भाषण रोम की देवी के चरणो के पास खडे होकर दिया। सम्पूर्ण इटली तथा विशेषत फासीवादियो के लिए यह मूर्ति एक विशेष प्रेरणा की स्रोत थी।[2]

एकता, गौरव तथा सीमा-विस्तार की आकाक्षा इटली की परम्परा रही है। रोमन साम्राज्य के पतन के उपरान्त इटली शताब्दियो तक अव्यवस्था और विघटन के अन्धकार मे डूबा रहा। चौदहवीं शताब्दी मे दान्ते (Dante, 1265–1321) इटली की एकता और विस्तार का प्रथम पैगम्बर सिद्ध हुआ। यह श्रेय दान्ते को ही जाता है कि उसने उस समय इटली की सीमा को स्पष्ट किया। दान्ते के अनुसार इटली की सीमा के अन्तर्गत वे सभी क्षेत्र आने चाहिये जिन्हे आजकल, इटली, आस्ट्रिया तथा भूमध्य-सागरीय क्षेत्र कहा जाता है। दान्ते के ग्रन्थ - De Monarchia – मे रोम को विश्व-विचार का स्रोत तथा विश्व शासन का केन्द्र कहा गया है। दान्ते के विचारो को मुसोलिनी ने ग्रहण किया। फासीवाद दान्ते के विचारो को पूर्णत कार्यरूप देना चाहता था। सितम्बर 1933 मे फासीवादी क्रान्ति-दशक के समारोह का अन्त दान्ते के मकबरे पर ही हुआ था। यह मकबरा फासिस्टो के लिए एक तीर्थस्थल के समान था।[3]

पन्द्रहवीं शताब्दी मे मेकियावली (Niccolo Machiavelli, 1469–1527) प्रसिद्ध व्यवहारवादी और कूटनीतिक विचारक हुआ। वह राष्ट्रवाद, निरकुशवाद

2 Munro, Ion S, Through Fascism to World Power, see footnote to Frontispiece—The Shrine of Italy.

3 पूर्व सन्दर्भ, पृ 7–9

तथा शक्तिवाद का समर्थक था। इस पूर्वगामी विचारक का मुसोलिनी पर बडा प्रभाव पडा। फासिस्टो की शिक्षा और आचरण से ऐसा प्रतीत होता था कि कुख्यात मेकियावेली एक बार फिर जीवित हो उठा हो।[4]

इटली की एकता, गौरव एव गरिमा मे वृद्धि करने वाले प्रत्येक कार्य को फासिस्ट उचित मानते थे। 1870-71 मे इटली का एकीकरण फासिस्टवादियों के समक्ष एक आदर्श घटना थी। इटली के एकीकरण ने इस क्षेत्र के कई छोटे-छोटे राज्यो को एकता के सूत्र मे बाध कर एक नये राष्ट्र को जन्म दिया। इस एकीकरण ने इटली की शक्ति और समृद्धि मे वृद्धि की तथा इसकी गणना योरोप के अग्रणीय राज्यो मे की जाने लगी। मुसोलिनी इस एकीकरण को अन्तिम रूप देना चाहता था। उसका उद्देश्य इटली को एक भूमध्य-सागरीय शक्ति बनाना था जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे प्रभावशाली योगदान दे सके।

फासीवाद के प्रेरणा-स्रोत अट्ठारहवी और उन्नीसवी शताब्दियो मे प्रचलित आदर्शवाद (Idealism), डार्विनवाद (Darwinism), अबुद्धिवाद (Irrationalism) और परम्परावाद (Traditionalism) आदि विचारधाराएँ थी। इन विचारधाराओं मे फासीवाद और नात्सीवाद ने बहुत से सैद्धान्तिक तत्त्व ग्रहण किये हैं। आदर्शवादियो मे कान्ट (Immanuel Kant, 1724-1804) तथा हीगल (Friedrich Hegal, 1770-1831) ने फासीवादियों को बहुत प्रभावित किया। हीगल का आदर्शवाद पूर्णत: राजसत्ताधारी और निरकुशवादी था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे इटली मे नव-हीगलवाद का प्रादुर्भाव हुआ। यह व्यक्तिवादी, उदारवादी परम्पराओ के विरुद्ध था। राज्य को ये अवयवी (Organic) और स्वय-राज्य तथा व्यक्ति को साधन मात्र मानते थे। सूक्ष्म मे इन्होने राज्य की सर्वोपरिता का प्रतिपादन किया। इटली के प्रसिद्ध विद्वान् गिओवानी गेंटाइल (Giovanni Gentile) नव-हीगलवाद के प्रबल समर्थक थे जो मुसोलिनी के शासन काल मे राज्य के शिक्षा मन्त्री तथा राष्ट्रीय फासीवादी सास्कृतिक सस्थान के निर्देशक रहे। इन्होंने फासीवादी विचारधारा का समय-समय पर विवेचन कर शासन व्यवस्था को बडा प्रभावित किया।

डार्विनवाद—उन्नीसवी शताब्दी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) से फासीवादियों ने बहुत कुछ ग्रहण किया। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory) के अनुसार प्राणियों को जीवित रहने के लिये सघर्ष करना पड़ता है। जो सबल है वही जीवित और अपना अस्तित्व बनाये रखने मे सक्षम होता है, निर्बल नष्ट हो जाते हैं। अन्य शब्दो मे डार्विनवाद इन तत्त्वो पर आधारित था कि—

(i) प्रगति के लिये सघर्ष आवश्यक है;

(ii) यह सघर्ष व्यक्तियों तक ही सीमित नही, समूहों मे भी चलता है,

---

4 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 664.

(iii) वह समूह विजयी होता है जिसमे एकता और अनुशासन होता है। समाजिक डार्विनवाद के इन सिद्धान्तों ने फासीवाद-नात्सीवाद को अत्यधिक प्रभावित किया। फासीवाद के संघर्ष तथा विस्तारवादी विचार-सूत्र इन्ही से प्रेरणा प्राप्त है।

अविवेकवाद—फासीवाद बीसवी शताब्दी में 'बुद्धि के प्रति विद्रोह' (Revolt against Reason) का व्यावहारिक रूप था।[5] अबुद्धिवाद अथवा अविवेकवाद में *बुद्धि तथा विवेकपूर्ण तर्क का कोई स्थान नही होता।* फासीवादियो पर अबुद्धिवादी विचारक शापेनहोर (Arthur Schopenhaur, 1788–1860), नीत्से (Friedrich Wilhelm Nietzsche, 1844–1900), सोरेल (George Sorel, 1847-1922) और बर्गसा (Henry Bergson, 1859–1941) का प्रमुख प्रभाव था। वे सोरेल और बर्गसा के अन्त प्रेरणा सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। इसके अनुसार मनुष्य बुद्धि से प्रेरित होकर कार्य नही करता। वास्तविकता यह है कि मनुष्य अपने आचरण में मूल प्रवृत्तियो एव भावनाओ के वशीभूत रहता है न कि विवेक या तर्क से।[6] फासीवाद तर्कसंगत विचारधारा तो थी नही। इसको जनप्रिय बनाने का प्रमुख साधन यही था कि मनुष्य की भावनाओ को यश राष्ट्रवाद आदि से उकसाया जाय जो अन्धविश्वास की तरह उनका पालन करें। मुसोलिनी तथा हिटलर ने इन्ही मनोवैज्ञानिक पद्धतियो का अनुसरण किया था। वे राष्ट्र एव जाति के नाम पर ऐसी श्रद्धा एव विश्वास का सर्जन करना चाहते थे जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति कार्य करें। वे सत्य के स्थान पर भ्रान्ति (myth) को प्राथमिकता देते थे। यही कारण है कि फासीवाद तर्क या प्रमाणो से सिद्ध नहीं किया जा सकता, वह तो केवल इच्छा और विश्वास के कारण ही सत्य है।[7]

परम्परावाद—अविवेकवाद पर आधारित परम्परावाद फासीवाद का मूल प्रेरणा तत्व था। *परम्परावाद क्रान्तिकारी विचारधाराओ के विपरीत है।* क्रान्तिकारी विचारधाराएँ पुरातन एव परम्परागत व्यवस्था को उखाडकर नई व्यवस्था की स्थापना करती है। लेकिन परम्परावादी रूढ़िया तथा पुरातन तत्वो के समर्थक होते हैं। इटली के प्रसिद्ध परम्परावादी विचारक जॉजफ मस्सीनी का विचार था कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति एव विकास म परम्पराओ का विशेष योगदान रहता है। जिन राष्ट्रो ने अपने समाज की परम्पराओ का पोषण किया है वे बड़े राष्ट्र बने हैं। शासन सत्ता प्राप्त करने, उसे बनाये रखने के लिये फासीवादियो ने परम्परावादी दृष्टिकोण का ही आश्रय लिया। फासीवादी शासन के समर्थन में मुसोलिनी सदैव प्राचीन परम्पराओ के उदाहरण देता था। वह रोम साम्राज्य के गौरव को जनता के समक्ष रखकर उनकी भावनाओ को शासन के प्रति श्रद्धा में परिवर्तित करता था।

5 Hallowell, J H, Main currents in Modern Political Thought, p 604
6 Lancaster, L W, Masters of Political Thought, Vol III, p 267
7 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 662.

फासीवाद के उत्थान एव प्रगति मे इटली के निम्न मध्य-वर्ग से अत्यधिक समर्थन प्राप्त हुआ। मुसोलिनी स्वय इसी वर्ग से सम्बन्धित था। फासीवादी दल के अधिकतर सदस्य बूचड, लोहार, डबल रोटी बनाने वाले, छोटे-छोटे दुकानदार एव पूजीपति थे। यह वर्ग श्रमिक वर्ग एव पूजीवर्ग दोनो से ही द्वेष रखता है। यह समाजवादी व्यवस्था से डरता है क्योकि इसके अन्तर्गत उसकी छोटी सी पूंजी का अन्त होकर कही उनकी स्थिति श्रमिकों जैसी हीन हो जाय। निम्न मध्यवर्ग पूजीपतियो की सम्पत्ति और वैभव से भी वैमनस्य रखता है। मुसोलिनी का कार्यक्रम इस मध्यवर्ग की मनोवृत्ति को सन्तुष्टि करना था, उसका कार्यक्रम इसी वर्ग के अनुकूल था। चूंकि मुसोलिनी पूजीपतियो के एकाधिकार और श्रमिको की क्रान्ति दोनो का ही विरोधी था, इसलिये निम्न मध्यवर्ग ने उसका पूरी तरह साथ दिया। यही वर्ग मुसोलिनी की लोकतान्त्रिक भ्रान्ति की सन्तुष्टि कर फासीवादी व्यवस्था पर लोकप्रिय आवरण डालने मे सहायक हुआ।

तत्कालीन परिस्थितियो की उपज: अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति–इटली मे फासीवाद तथा जर्मनी मे नात्सीवाद के उद्भव के तत्कालीन कारण प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त शान्ति सन्धियो मे निहित थे। इन्ही शान्ति सधियो के प्रावधानो के परिणामस्वरूप यूरोप मे अधिनायकवाद का प्रादुर्भाव हुआ और इन्ही शान्ति सन्धियो ने द्वितीय विश्व युद्ध को आमन्त्रण दिया। यद्यपि इटली प्रथम विश्वयुद्ध मे विजयी राज्य था, जिन आशाओ को लेकर उसने इग्लैंड, फ्रास आदि का साथ दिया वे युद्ध के उपरान्त पूरी नही हुई। युद्ध के पूर्व इटली 'त्रिदेशीय सन्धि' (Triple Alliance, 1882) का सदस्य था। किन्तु अप्रैल 26, 1915, को लन्दन मे इंग्लैण्ड, फ्रास, रूस और इटली के मध्य एक गुप्त सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत इटली को धन तथा बहुत सा प्रदेश देने का वचन दिया। युद्ध के उपरान्त इटली को आशा थी कि शान्ति सन्धियो के अन्तर्गत उसे आस्ट्रिया का कुछ भाग तथा अफ्रीका मे कुछ उपनिवेश प्राप्त होगे। उसे प्रमुख भूमध्यसागरीय शक्ति के रूप मे स्वीकार किया जायगा।[8] इंग्लैण्ड तथा फ्रास *अपने साम्राज्यवादी ध्येयो की ही पूर्ति मे लीन रहे तथा पराजित क्षेत्रो को इन्होने* स्वय ही हडप लिया। इटली को निराशा के अतिरिक्त और कुछ न मिल सका। भूमध्यसागरीय प्रदेश न तो इटली के प्रभाव क्षेत्र मे आ सके और न ही वह राष्ट्रसघ मे कोई प्रभाव अर्जित कर सका। इटली ने युद्ध के उपरान्त सभी व्यवस्थाओ को सदैव अपना अपमान समझा। इस असन्तोष का मुसोलिनी ने अपने लिए सत्ता मे लाने के लिए पूर्णत. प्रयोग किया। मुसोलिनी स्वय ही इस गहरे असन्तोष की भावना का मूर्तरूप था।[9]

---

8 Marriot, J A R., Modern England, 1885, 1945, p 393.

9 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ० 660.

आन्तरिक परिस्थिति—इटली में लोकतान्त्रिक एवं संसदीय परम्पराओं की जड़ें कभी भी गहराई तक नहीं पहुँच पायीं। 1861 से, जबकि इटली के कई राज्य, 'इटली के राज्य' में परिणत हो गये उस समय से अंग्रेजी ढंग की संसदीय पद्धति स्थापित की गई, किन्तु यह व्यवस्था सफल न हो सकी। इटली में जो छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित हुए वे मध्ययुग से ही स्वतन्त्र रहते आये थे, जिनकी राजनीतिक परम्पराएँ भिन्न थीं, वहाँ उत्तरदायी शासन प्रणाली की सफलता संदिग्ध ही थी। "राजनीतिक दलों की अधिकता और अस्थिरता, स्थानीय परम्पराओं की शक्ति और जनता में निरक्षरता की व्यापकता के कारण वहाँ संसदीय शासन प्रणाली को कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।[10]

व्यावहारिक राजनीति में नौकरशाही, निर्वाचन सम्बन्धी भ्रष्टाचार, अयोग्य एवं महत्वाकांक्षी नेतृत्व, जनता की राजनीतिक उदासीनता एवं अज्ञानता का लोकतन्त्र की असफलता में मुख्य योगदान था। डिप्रेटिस (Depretis) 1878 से 1887 तक आठ बार प्रधानमंत्री बने। इससे प्रशासनिक अस्थिरता की अभिव्यक्ति तो होती ही है किन्तु शासन सत्ता को ग्रहण करने के लिए डिप्रेटिस ने आम चुनावों में खुली धमकी, रिश्वतखोरी तथा दबाव आदि का प्रयोग किया। क्रिस्पी (Crispi) का शासनकाल स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता, श्रमिकों का दमन और लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रताओं का अपहरण करने के लिए प्रसिद्ध था। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व जिओलिटी (Giolitti) जो उदार एवं प्रजातन्त्रवादी था, राजनीतिक गतिविधियों में दबाव एवं भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं था। लोकतन्त्र के इस असफल प्रयोग का विकल्प इटली के लोगों को फासीवाद में मिला।

प्रथम विश्व युद्ध के कारण इटली की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न सी हो चुकी थी। विश्व का वित्तीय नियन्त्रण अन्य विजेता राज्यों के हाथों में पहुँच चुका था। लंदन सन्धि के अन्तर्गत इटली को लगभग पाँच करोड़ पौंड का ऋण मिलने को था, वह भी नहीं मिल सका। युद्ध बन्द होने के उपरान्त सेना तथा अन्य उद्योगों में छटनी की गयी जिससे बेरोजगारी में काफी वृद्धि हुई। दूसरी ओर श्रमिकों द्वारा हड़तालों से उत्पादन में निरन्तर कमी होती जा रही थी। इटली की जनता बढ़ती हुई कीमतों, आवश्यक वस्तुओं के अभाव से परेशान हो चुकी थी उसमें असन्तोष व्याप्त था। इटली की तत्कालीन लोकतान्त्रिक सरकार इन परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ सिद्ध हुई। शान्ति एवं व्यवस्था लगभग भंग सी होती चली जा रही थी। 1922 के मध्य इटली में तनाव, असंतोष और गृह-युद्ध जैसी स्थिति थी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और इटली की आंतरिक परिस्थिति ने मुसोलिनी को सत्ता प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया।

---

10 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 487.
Ebenstein, William, Modern Political Thought, p 357

इसके साथ-साथ मुसोलिनी के व्यक्तित्व में सैनिकवाद[11], अधिनायकवाद, राष्ट्रवाद, अवसरवाद आदि के तत्त्व विद्यमान थे ही। वह सम्पूर्ण इटली को एक सूत्र में बांध कर देश में शान्ति, व्यवस्था, अनुशासन, समृद्धि लाकर उसे यूरोप में प्रथम श्रेणी की शक्ति बनाना चाहता था। पहली अगस्त 1922 को फासीवादियों ने समस्त देश में हड़ताल की घोषणा की। यह हड़ताल काफी सफल रही। 28 अक्टूबर 1922 को मुसोलिनी ने अपने अनुयायियों के साथ रोम पर धावा बोलकर शासन पर लगभग अधिकार सा कर लिया। 30 अक्टूबर को इटली के सम्राट ने मुसोलिनी को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। यहीं से इटली में फासीवादी अधिनायकवाद का युग प्रारम्भ हुआ।

फासीवादी प्रादुर्भाव की मार्क्सवादी व्याख्या

फासीवादी उत्थान के विषय में मार्क्सवादी व्याख्या भी उल्लेखनीय है।[12] मार्क्सवादियों के अनुसार फासीवाद पूंजीपतियों का षड्यन्त्रमात्र था। प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप में भुखमरी, बेरोजगारी, निर्धनता में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। कुछ समय पहले (1917) रूस में साम्यवादी क्रान्ति हो चुकी थी। यूरोप का श्रमिक-वर्ग रूसी क्रान्ति से प्रेरणा प्राप्त कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहता था। इस आशय को लेकर इटली में एक समाजवादी दल भी विकसित हुआ। 1919 में साम्यवादियों के नेतृत्व में हड़तालों की श्रृंखला प्रारम्भ हुई। 1920 में लगभग दो हजार हड़तालें हुईं, जिसमें जनजीवन बड़ा ही अस्त-व्यस्त रहा। इसी वर्ष श्रमिकों ने उद्योगों तथा अन्य आर्थिक प्रतिष्ठानों पर भी अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया था। 1920 के अन्त में जब नगर पालिकाओं के चुनाव हुए, उनमें साम्यवादियों को भारी सफलता मिली तथा उन्होंने कई नगरों पर अपनी प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना भी करली थी।[13]

मुसोलिनी को समाजवादियों से घृणा थी तथा उसने समाजवादियों का खुलकर विरोध किया। फासीवादी अनुगामियों ने साम्यवादी तथा समाजवादी सभाओं को भंग किया, उनके समाचार-पत्रों के कार्यालयों को जला डाला तथा उनके नेताओं के साथ दुर्व्यवहार किया गया। साम्यवादी तथा समाजवादियों के प्रति फासीवादियों ने आतंक-

---

11 मुसोलिनी स्वयं ही सैनिक रह चुका था। प्रथम विश्व युद्ध में वह दो वर्ष तक सक्रिय सैनिक था।

12 फासीवादी उत्थान के लिये मार्क्सवादी व्याख्या का विस्तृत विवरण इस पुस्तक में मिलता है—
Bradly, Robert A , The Spirit and Structure of German Fascism, New York, 1937.

13 Charques and Ewen., Profits and Politics in the Post-War World, pp. 83-90

वादी मार्ग अपनाया। फासीवाद का नारा था : 'समाजवादी खतरे का अन्त करो।' समाजवाद विरोधी नीति ने मुसोलिनी को पूँजीपति क्षेत्र में बड़ा लोकप्रिय बना दिया।

इटली के पूँजीपतियों को उस समय साम्यवाद का सबसे अधिक भय था। रूस, आस्ट्रिया, हंगेरी आदि के उदाहरणों से प्रोत्साहित हो इटली का श्रमिक-वर्ग पूँजीपतियों के लिए एक खतरा बन गया था। साम्यवादी ज्वर एवं ज्वार का सामना करने के लिये पूँजीवर्ग कोई नई व्यवस्था चाहता था। इटली की लोकतान्त्रिक व्यवस्था साम्यवादी विस्तार का सामना करने में असमर्थ थी। जिस समय यह स्थिति थी उस समय इटली में कोई ऐसा राजनीतिक दल नहीं था जिसका संसद में बहुमत हो तथा स्थाई सरकार बना सके। हटिवादी दल आपस में ही विभाजित थे। इसलिये इटली के पूँजीपति मुसोलिनी के समाजवाद विरोधी विचारों से बड़े प्रभावित हुए।

पूँजीपतियों के लिये मुसोलिनी से अधिक उपयोगी और कौन हो सकता था जिसमें समाजवादी आन्दोलन को समाजवादी शब्दावली से ही काट करने की क्षमता हो। अत उन्होंने लोकतन्त्र का आवरण उतार कर अधिनायकवाद को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार फासीवाद पूँजीपतियों द्वारा साम्यवादी क्रान्ति को रोकने के लिये एक साधन था। यही कारण था कि इटली और जर्मनी के अधिनायकों ने श्रमिक आन्दोलनों को दबाने तथा साम्यवादी विचारों का दमन करने के लिये जब राज्य शक्ति का पूरा प्रयोग किया, पूँजीपतियों ने इनका पूरी तरह साथ दिया। इसमें फासीवादियों और पूँजीपतियों का सहयोग एवं षड्यन्त्र व्यक्त होता है।[14] साम्यवादियों ने फासीवाद को पूँजीवाद के पतन की चरम सीमा कहा है।[15]

फासीवाद को पूँजीवाद का ही षड्यन्त्र मानना भूल होगी। मुसोलिनी का व्यक्तित्व अवसरवादिता पर आधारित था। स्वयं को सत्ता में बनाये रखने के लिये मुसोलिनी सभी वर्गों का समर्थन किसी न किसी प्रकार प्राप्त करता रहता था। उसने *श्रमिकों का सहयोग प्राप्त करने के लिये पूँजीवादी विरोधी नारों का भी खूब प्रयोग* किया।[16] सम्भवत उसने पूँजीपतियों और श्रमिकों दोनों की ही कमजोरियों का लाभ उठाया। फिर भी यह सत्य है कि पूँजीपतियों ने फासीदल को खूब चन्दे दिये, *समर्थन दिया और साम्यवादी खतरे को सदैव ही दूर रखा।*

फासीवादी विचारधारा

फासीवाद लगभग इक्कीस वर्ष तक इटली की राजकीय विचारधारा रहकर भी कोई निश्चित एवं तर्कसंगत दर्शन नहीं बना सका। रोम पर धावा बोलने के पहले फासिस्टों के पास सिद्धान्तों में उलझने का समय ही नहीं था। इसके अलावा फासीवादियों का सिद्धान्तों से बधकर रहने में भी कोई विश्वास नहीं था। अपने एक

14 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 592
15 Ebenstein, W, Modern Political Thought, p 359
16 Ebenstein W, Modern Political Thought, p 357

लेख[17] में मुसोलिनी ने इस पक्ष को कई स्थलों पर स्पष्ट किया है। मुसोलिनी ने लिखा है कि "औपचारिक सिद्धान्त लोहे तथा टीन की बेड़ियाँ है। फासिस्ट इटली की राजनीति के जिम्मी हैं। वे किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों से बंधे नहीं हैं।" "हम विवाद और सिद्धान्त के बादलों में निकलना चाहते हैं। मेरा कार्यक्रम कार्य है, बातें नहीं" इसके आगे मुसोलिनी ने लिखा है—

> "हमारा कार्यक्रम सरल है। हम इटली पर शासन करना चाहते हैं। वे हमसे कार्यक्रम पूछते हैं, किन्तु पहले से ही बहुत से कार्यक्रम हैं। वास्तव में इटली की मुक्ति के लिए कार्यक्रमों की कमी नहीं। आवश्यकता है मनुष्यों की तथा इच्छाशक्ति की।"[18]

इस तथ्य को प्रसिद्ध फासीवादी विचारक एलफ्रेडो रोक्को (Alfredo Rocco) ने व्यक्त करते हुए लिखा है—

> 'यह सत्य है कि फासीवाद मुख्यतः कार्य तथा भावना है और उसे ऐसा ही बना रहना चाहिए। यदि इसके विपरीत बात हुई, तो वह अपनी उस प्रेरक शक्ति को, उस नवीनीकरण की शक्ति को स्थिर नहीं रख सकता जो उसमें इस समय है, और उस समय वह कुछ चुने हुए व्यक्तियों की मनन की ही चीज रह जायेगा।"[19]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि फासीवादी दर्शन कार्य साधक रहा है। किए हुए कार्यों का औचित्य सिद्ध करना, आने वाली परिस्थितियों का सामना करना और आवश्यकता पड़ने पर समय समय पर विचारों में परिवर्तन करना, फासीवाद की प्रमुख नीति थी। फासीवाद में कार्य को प्राथमिकता होने के कारण सिद्धान्तों का निर्णय एवं निर्माण कार्य द्वारा ही हुआ। उन्होंने पहले कार्य किया तथा बाद में उस कार्य को सही बतलाने के लिए विचार व्यक्त किये। जब मुसोलिनी की स्थिति सुदृढ़ हो गयी तो उसने मनमाने ढंग से कार्य किये। उन्हें उचित ठहराने तथा सैद्धान्तिक बनाने में उसने फासीवादी दर्शन की रचना कर डाली। वास्तव में फासीवादी विचारधारा तदर्थ (Ad hoc) विचारों का संकलन था। सेबाइन ने लिखा है कि फासीवाद विभिन्न स्रोतों से लिये गये उन विचारों का योग है जो परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार एकत्रित किए गए हैं।[20]

यह कहना कि फासीवाद का कोई विचार-दर्शन नहीं था, फासीवाद के जो भी विचार सूत्र थे वे तर्कहीन, असगत तथा तदर्थ थे; इनमें सत्यता तो है लेकिन पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। यद्यपि फासिस्ट राज्य की स्थापना किसी पूर्व प्रचलित

17. The Political and Social Doctrine of Fascism, 1935
18. Ibid.
19. Alfredo Rocco, The Political Doctrine of Fascism, 1926, p 10
20. Sabine, A., History of Political Theory, p. 710.

विचारधारा पर नहीं की गयी, लेकिन जैसे ही इटली में फासिस्ट व्यवस्था की स्थापना हुई, फासीवाद को एक क्रमबद्ध या दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया गया। मुसोलिनी तथा अन्य सहायकों ने फासीवाद के विषय में समय समय पर विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किये हैं, जिनका प्रकाशन दिन प्रतिदिन की पुस्तिकाओं—The Political and Social Doctrine of Fascism—Day to day Pamphlet—में होता रहता था। लगभग दस वर्ष के पश्चात् मुसोलिनी को फासीवादी विचारधारा के विषय में चिन्तन करने का समय मिला। 1932 में मुसोलिनी ने -The Doctrine of Fascism (फासीवाद के सिद्धान्त) नामक निबन्ध लिखा जिसका प्रकाशन एनसाइक्लोपीडिया इटेलियाना (Encyclopaedia Italiana) में हुआ।[21] यह फासीवाद का प्रारम्भिक *अधिकृत अभिकथन है। इसमें मुसोलिनी ने फासीवाद के दार्शनिक, नैतिक, धार्मिक,* ऐतिहासिक, व्यावहारिक वैयक्तिक, सामूहिक राजनीतिक आदि पक्षों की स्पष्ट व्याख्या की है।

मुसोलिनी के अतिरिक्त कुछ अन्य फैसिस्ट सिद्धान्तवादियों के नाम प्रसिद्ध एवं उल्लेखनीय हैं। एल्फ्रेडो रोको (Elfredo Rocco) जो पहले पेडुआ के विश्वविद्यालय में व्यावसायिक कानून का प्रोफेसर और फैसिज्म के उदय के पूर्व उत्साही राष्ट्रवादी *था, सन् 1925 से 1932 तक न्याय मन्त्री रहा और इटली के फैसिस्ट शासन के* अत्यन्त महत्वपूर्ण कानूनों का निर्माता था। जियोवेनी जेण्टाइल (Giovanni Gentile) जो इटली का प्रसिद्ध हेगलवादी दार्शनिक था और 1922 के बाद ही फैसिस्ट बना, सन् 1922 से 1924 तक शिक्षामन्त्री रहा तथा इटली की शिक्षा प्रणाली में मौलिक सुधार किये। एनरिको कोरादिनी (Enrico Corradini) जो फैसिज्म के एक दशाब्दी पूर्व सीनेटर तथा राष्ट्रीयता का प्रचारक था, ल्यूगी फेडरजोनी (Luigi Faderzoni) राष्ट्रवादी दल का एक संस्थापक, प्रथम फैसिस्ट केबिनेट में उपनिवेश मन्त्री, बाद में गृहमन्त्री और उपनिवेश मन्त्री तथा सन् 1929 से सीनेट का अध्यक्ष था, मौरजियो मारविगलिया (Mourizio Maraviglia) जो पहला फैसिस्ट प्रचार-कार्यालय का प्रमुख था, रॉबर्टो फोर्जे-देवान्जति (Roberto Forges-Davanzati नामक राष्ट्रवादी (बाद में फासिस्ट) समाचार पत्र भी फासीवादी *विचारधारा का एक प्रमुख सूत्रक समझा जाता था।*[22]

फासीवादी राज्य

राष्ट्र की कल्पना या भ्रान्ति (myth of nation)

फासिस्ट विचारधारा संकुचित एवं उग्र राष्ट्रवाद पर आधारित है। राष्ट्र व्यक्तियों का एक ऐसा अनुपम समूह है जो सामान्य भाषा, प्रथा परम्पराओं तथा धर्म

21 This essay has been reproduced in Through Fascism to World Power by Ion Munro, *part II, Chapter I.*

22 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 502.

से बधा हुआ है। राष्ट्र को गौरवान्वित करना उनका धर्म है। फासीवादियों के अनुसार राष्ट्र स्वयं का एक व्यक्तित्व, एक इच्छा तथा उद्देश्य होता है। राष्ट्र अपने में एक आत्मनिर्भर इकाई है जिसका जीवन स्थिर तथा स्थाई होता है। राष्ट्र समस्त सामाजिक जीवन का उद्देश्य है। व्यक्तियों का महत्व केवल राष्ट्रीय प्रसंग में है, उनसे पृथक होकर नहीं। व्यक्तियों का कर्तव्य राष्ट्र की सेवा करना है तथा उनके वे ही कार्य विचार तथा भावनाएँ अच्छी समझी जायेंगी जो राष्ट्र-शक्ति के विकास में सहायक हों। इस प्रकार फासीवादी एक राष्ट्र की कल्पना अथवा पौराणिकता अथवा भ्रान्ति अथवा 'मिथ' (myth of nation) में विश्वास करते हैं। यही उनके राज्य दर्शन का आदि एवं अन्त है। अपने एक महत्वपूर्ण भाषण में इस भावना को व्यक्त करते हुए मुसोलिनी ने कहा था कि—

> "हमने अपनी कल्पना (myth) का सर्जन कर लिया है। यह कल्पना विश्वास है, भावावेग है। यह आवश्यक नहीं है कि इसमें वास्तविकता हो। यह वास्तविक इसलिये है क्योंकि यह एक प्रेरणा है, एक विश्वास है, एक साहस है। हमारी कल्पना राष्ट्र है, राष्ट्र की महानता है। इस कल्पना, इस महिमा को हम पूर्ण वास्तविकता में परिणित करना चाहते हैं जिसकी प्राप्ति के लिये हम सब अधीनस्थ हैं।"[23]

प्रारम्भ में फासीवादी राष्ट्र तथा राज्य में राष्ट्र को प्राथमिकता देते हैं किन्तु बाद में वे राष्ट्र तथा राज्य में भेद नहीं करते। वे राज्य का तात्पर्य राष्ट्रीय राज्य से लेते हैं। राज्य, राष्ट्र-कल्पना की अभिव्यक्ति करता है। तथा उसे व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। फासीवाद राज्य को एक ऐसी आध्यात्मिक इकाई मानते हैं जिसके द्वारा राष्ट्र को राजनीतिक तथा आर्थिक संगठन प्राप्त होता है। मुसोलिनी के शब्दों में "राज्य, राष्ट्र का राजनीतिक, वैधानिक तथा आर्थिक संगठन है, इसलिए उसे राष्ट्र की आत्मा का मूर्त रूप मानना चाहिए।[24] किन्तु आगे चलकर फासीवादी राज्य को अधिक महत्त्व देने लगते हैं। राष्ट्र संगठित एवं शक्तिशाली राज्य के माध्यम से ही हो सकता है। इस विचार प्रक्रिया में वे राज्य को राष्ट्र से एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान कर देते हैं। मुसोलिनी ने लिखा है:—

> "राष्ट्र राज्य को जन्म देता जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय राज्य के प्रचारकों ने समर्थन किया है। इसके विपरीत राष्ट्र का निर्माण राज्य के द्वारा होता है जो व्यक्तियों को उनकी नैतिक ऐक्यता, इच्छा तथा समर्थ अस्तित्व को चेतना प्रदान करता है।"[25]

---

23 Naples, October 24, 1922, Quoted by H. Finer in Mussolin's Italy, New York, 1935, p. 218.

24 Mussolini, B., The Political and Social Doctrine of Fascism, Day to day Pamphlet, No 18, 1933, p. 22.

25 Quoted, Munro, Ion S., Through Fascism to World Power, p. 307

राज्य का अधिनायकवादी स्वरूप

फासिस्टवाद अधिनायकवादी राज्य को प्रेरणा देता है। वे व्यक्तिवादी धारणा कि राज्य एक आवश्यक बुराई है, का पूर्ण खण्डन करते हैं। वे साम्यवाद, अराजकतावाद और सिण्डीकलवाद की भांति राज्य के अंत करने का विचार स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत फासीवाद राज्य हीगल के दर्शन पर आधारित था। तदनुसार राज्य एक नैतिक तथा धार्मिक विचार है जो समाज की आध्यात्मिक चेतना की प्राप्ति कराता है। फासीवादी धर्म राज्य को ईश्वर तुल्य मानने की प्रेरणा देता है, जिसके अन्तर्गत राज्य को अन्ध-विश्वास की तरह स्वीकार करना चाहिए। फासीवादी राज्य सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी है। उसे सब क्षेत्रों तथा गतिविधियों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार है, वह जीवन के प्रत्येक पहलू में हस्तक्षेप कर सकता है। मुसोलिनी के शब्दों में 'सब राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के बाहर कुछ भी नहीं तथा कोई भी राज्य का विरोध नहीं कर सकता।"[26]

राज्य तथा व्यक्ति

फासीवादी राज्य में व्यक्ति की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। इस विचारधारा में व्यक्ति राज्य या समाज में पूर्ण रूप से विलीन हो जाता है। इस सन्दर्भ में उनकी निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण मान्यताएँ हैं—

प्रथम, फासीवादी राज्य व्यक्तिवादी आणविक सिद्धान्त का खण्डन कर सावयविक स्वरूप (Organic nature) को स्वीकार करते हैं। व्यक्तियों का राज्य में वही स्थान होता है जो शरीर में अंगों का। राज्य के बिना व्यक्ति अपना अस्तित्व नहीं रख सकते। राज्य से पृथक व्यक्तियों का कोई आध्यात्मिक और नैतिक जीवन नहीं हो सकता। राज्य एक अनिवार्य प्राकृतिक संस्था है।

द्वितीय, फासीवादी राज्य स्वयं में साध्य है तथा व्यक्ति साधन। राज्य का प्रमुख उद्देश्य अपनी शक्ति तथा सम्मान में वृद्धि करना है, इसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है। राज्य तथा व्यक्ति के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए मुसोलिनी ने कहा था—

> "राज्य मनुष्य के ऐतिहासिक अस्तित्व की सार्वभौम इच्छा और अन्तःकरण है। उदारवाद ने विशिष्ट व्यक्ति के स्वार्थों के लिये राज्य को अस्वीकार किया, किन्तु फासीवाद राज्य को ही व्यक्ति की सच्ची वास्तविकता मानता है। अतः फासीवाद के लिये सब कुछ राज्य के अन्तर्गत ही है, राज्य के बाहर किसी मानवीय अथवा आध्यात्मिक तत्व का अस्तित्व नहीं हो सकता, मूल्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी अर्थ में फासीवाद समग्रवादी है और फासीवादी राज्य सब मूल्यों और मान्यताओं की एकता है, वह

26 पूर्व सन्दर्भ।

जनता के सम्पूर्ण जीवन का निर्वचन, उसका विकास और उसे शक्ति देता है ।"[27]

फासीवादी लोग राज्य को केवल वर्तमान में ही नहीं, प्राचीन और भविष्य से भी बंधा हुआ एवं सम्बन्धित मानते हैं । राज्य सदियों से भाषा, विश्वास, रीति-रिवाजों के विकास का परिणाम है जिसकी तुलना में मनुष्य का अल्प जीवन कुछ भी नहीं होता । राज्य को व्यक्ति की सीमाओं में किसी भी प्रकार नहीं बांधा जा सकता । राज्य व्यक्तियों और पीढ़ियों को एक परम्परा और उद्देश्य सूत्र में बांधता है । इससे व्यक्ति-जीवन को विस्तार मिलता है । इन धारणाओं से स्पष्ट है कि फासीवादी राज्य में स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं है । राज्य के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नहीं । व्यक्ति राज्य में विलीन होकर ही अपना विकास तथा स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है । स्वतन्त्रता क्या है, स्वतन्त्रता किन-किन बातों में निहित है, कौन-कौन सी स्वतन्त्रताएँ व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए, इसका निर्णायक राज्य है, न कि व्यक्ति । कानून और स्वतन्त्रता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति राज्य है, राज्य की अधिकतम शक्ति ही व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता है । राज्य में व्यक्ति का निषेध नहीं बल्कि स्वयं कई गुना हो जाता है । प्रसिद्ध फासिस्ट विचारक अल्फ्रेड रोको (Alfred Rocco) ने राज्य तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विषय में इस प्रकार व्याख्या की है—

> 'फासीवादियों को व्यक्तियों के अधिकारों का घोषणा-पत्र स्वीकार नहीं है जो व्यक्ति को राज्य से श्रेष्ठतर बना देता है और उसे समाज के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार प्रदान करता है । हमारा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार यह है कि व्यक्ति राज्य की ओर से अपना विकास करे ।"

इन सिद्धान्तों पर आधारित इटली तथा जर्मनी के फासीवादी राज्य अधिनायकवादी थे, जहाँ राज्य के कार्य-क्षेत्र की कोई सीमाएँ नहीं थी, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप था । सामाजिक जीवन, सांस्कृतिक गतिविधियाँ जैसे शिक्षा, संगीत, विज्ञान, चित्रकला, फैशन आदि सब पर शासन का नियन्त्रण था । प्रेस राज्य के हाथों कठपुतली था नये विचारों के प्रतिपादकों के लिए कारागार के कपाट सदैव खुले रहते थे ।

फासिस्ट दल

यदि राज्य राष्ट्र की भावना व्यक्त करता है, तो राज्य व्यवस्था का मुख्य दायित्व फासीवादी दल पर रहता है । दल फासीवादी शासन व्यवस्था का आधार निर्देशन केन्द्र था । फासिस्ट प्रणाली 'एक दलीय राज्य' (Mono-party State) पर आधारित थी । दल तथा राज्य के संगठन प्राय: समान थे । या, दल तथा राज्य

---

[27] उद्धृत, गैटल., राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ. 444.

के कार्यों में कोई अन्तर स्थापित करना असम्भव था।[23] मुसोलिनी और हिटलर दोनों ही पार्टी के संगठन, एकता अनुशासन में विश्वास रखते थे। इटली में फासिस्ट दल के सदस्यों की संख्या बड़ी सीमित थी, सदस्यों की भर्ती बड़ी सावधानी और सतर्कतापूर्वक की जाती थी। उन्हें व्यापक प्रशिक्षण तथा कठोर अनुशासन में होकर निकलना पड़ता था। लेकिन जो भी व्यक्ति दल के सदस्य होते थे, समाज में उनकी प्रतिष्ठा की तथा उनका महत्त्व एक प्रकार उच्च प्रशासनिक अधिकारियों से भी अधिक रहता था।

एक-दलीय व्यवस्था होने के कारण फासिस्ट दल ही सत्ताधारी दल था। इसके विरोधी दलों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। फासीदल के विरोध का तात्पर्य राज्य का विरोध करना था। कोई भी दल या सरकार का विरोध नहीं कर सकता था। 1926 में इटली में समस्त राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए। इटली की संसद के एक प्रसिद्ध सदस्य मटिओटी (Matteoti) की विरोधी होने के नाते रहस्यमयी ढंग से हत्या कर दी गई। उसका अपराध केवल यह था कि संसद में उन्होंने अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त किए। इसी प्रकार काउन्ट बाल्बो (Count Balbo) के जीवन का अन्त अफ्रीका में बड़ी ही संदिग्ध परिस्थितियों में हुआ। इन सब में फासिस्टों का हाथ बतलाया जाता है।[29] चूंकि फासिस्ट दल सीमित तथा विशिष्ट योग्यता वाले सदस्यों का ही समुदाय होता है जिसका कोई विरोध नहीं कर सकता, शासन की वास्तविक बागडोर इसी विशिष्ट वर्ग के हाथों में आ जाती है। यह जनता का न होकर एक कुलीनतन्त्रीय जैसा हो जाता है।

फासिस्ट नेतृत्व

फासीवादी दल की नीतियों के निर्धारण एवं कार्यान्वित करने में नेतृत्व का सबसे प्रमुख स्थान रहता है। फासीवादियों की यह धारणा थी कि साधारण जनता न तो राजनीति में रुचि रखती है और न ही सामान्य व्यक्तियों में, जिनका समाज में भारी बहुमत होता है, स्वशासन की कोई क्षमता होती है। व्यक्ति अच्छी जीविका प्राप्त करने में ही अपनी पूर्ण सन्तुष्टि समझता है। यह तभी सम्भव होता है यदि जनता को ऐसा योग्य नेता मिल जाए जो राष्ट्र की आत्मा और व्यक्ति की भावना को अच्छी तरह समझ सके। ऐसे नेतृत्व द्वारा ही जनता की इच्छा व्यक्त होती है। वह जनता की सामूहिक इच्छा का मूर्तरूप होता है। इन धारणाओं को मानकर तथा इटली की तत्कालीन स्थिति का पूर्ण अध्ययन कर मुसोलिनी ने इटली की जनता के समक्ष स्वयं को एक नेता के रूप में प्रस्तुत किया। लगभग यही स्थिति हिटलर की थी। इन्होंने अपने नेतृत्व को इतना व्यापक एवं सबल बनाया कि ये तानाशाह बन बैठे।

---

23 Laski, H J, Reflections on the Revolution of Our Time, p 86

29 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 663.

फासीवादी नेतृत्व की मूलतः निम्नलिखित विशेषताएँ होती है—

(i) फासीवादी नेतृत्व अधिनायकवादी होता है।

(ii) फासीवादी नेता दल एवं सरकार दोनों का ही प्रमुख होता है।

(iii) यह नेतृत्व व्यक्ति-स्तुति (Hero Worship) को प्रोत्साहित करता है, आदि।

फासीवाद तथा राष्ट्रीय समाजवाद पर आधारित इटली तथा जर्मनी की शासन व्यवस्थाएँ सर्वसत्ताधारी अधिनायकवादी थी। सर्वाधिकारवादी शासन व्यवस्था में राष्ट्रीय शक्ति म अभिवृद्धि करना हा ... व्यक्ति और उनके समूह के प्रत्येक कार्य एवं हित को नियन्त्रित किया जाता है। अन्तत: आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक पक्ष को राष्ट्रीय शक्ति का स्रोत माना जाता है जिसका उपयोग शासन द्वारा होना चाहिये। बिना आज्ञा के राजनीतिक दल श्रम सगठन तथा व्यावसायिक सगठनों का निर्माण नहीं हो सकता था। वस्तुओं का निर्माण, व्यापार तथा सम्बन्धित कार्य नियन्त्रणहीन नहीं छोड़ जा सकते। प्रकाशन तथा सभाएँ शासन के मार्गदर्शन के बिना आयोजित नहीं की जा सकती थीं। शिक्षा, धर्म आदि राज्य के हित म वृद्धि के साधन समझे जाते थे। विश्राम एवं मनोरंजन के साधनों का प्रयोग प्रसार या प्रोपेगेण्डा के लिए किया जाता था। व्यक्ति के गोपनीय पारिवारिक जीवन के लिए समुचित वातावरण का पूर्ण अभाव था। सब पर शासन की वक्र दृष्टि रहती थी।[30]

सर्वाधिकारवादी शासन सैद्धान्तिक रूप में अधिनायकवादी या तानाशाही व्यवस्था होती है। इटली तथा जर्मनी म मुसोलिनी और हिटलर जैसे तानाशाहों का शासन था। इन अधिनायकों ने शासन का केन्द्रीकरण कर सघीय एवं स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं की समाप्ति कर दी। उदार राजनीतिक संस्थाओं तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इटली में अधिनायकतन्त्र की स्थापना बड़ी ही शीघ्रतापूर्वक की गई। 1923 से 1928 तक कानूनों एवं आदेशों द्वारा पूर्ण केन्द्रीकरण और निरंकुशता की स्थापना हो गई। जनवरी 1925 में मुसोलिनी ने खुले रूप में वैधानिक प्रणाली का अन्त कर दिया और अगले कुछ ही वर्षों में उसने स्वयं कानून का निर्देशन करके, फासिस्ट नीतियों को कानूनी रूप दिया। 1926 में मन्त्रिमण्डल का ससद के प्रति उत्तरदायित्व भी समाप्त कर दिया। इसी वर्ष नवम्बर म समस्त विरोधी दलों को भग कर दिया गया। वैधानिक लोकतन्त्र की संस्थाओं पर अन्तिम प्रहार 1928 में कानूनों द्वारा किया गया। इन कानूनों के अनुसार प्रतिनिधि सभा का अन्त कर, उसके स्थान पर एक 'कारपोरेटिव ससद' (Corporative Parliament) की स्थापना की गई।[31] जर्मनी में भी हिटलर ने लोकतान्त्रिक संस्थाओं को समाप्त कर दिया।

30 Sabine, G H, A History of Political Theory, pp. 745-45.

31 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 495-97.

कॉरपोरेट अथवा निगमित राज्य
The Corporate State

फासीवादी अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में मध्य-मार्ग का अनुसरण करते हैं। वे न तो व्यक्तिवादी नियन्त्रणहीन अर्थ-व्यवस्था की ओर न समाजवादियों की भाँति राष्ट्रीयकरण नीति का समर्थन करते हैं। उनकी अर्थ-व्यवस्था राष्ट्रीय हित में पूँजीवाद और समाजवाद दोनों का सम्मिश्रण थी। इसका तात्पर्य था कि राष्ट्रीय महत्व के उद्योग सरकार द्वारा संचालित हों तथा शेष उद्योगों को व्यक्तिगत क्षेत्र में छोड़ देना चाहिए। लेकिन निजी क्षेत्र में भी उद्योगों के ऊपर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक था। इस प्रकार फासीवाद अर्थ व्यवस्था के नियन्त्रण और नियमन के पक्ष में थे।

कारपोरेट प्रणाली आर्थिक क्षेत्र में फासिस्ट सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप था। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यापार को राज्य द्वारा नियन्त्रित एकाधिकार संगठनों में विभाजित किया जाता था, जिन्हें कॉरपोरेशन (निगम) कहते थे। राज्य में इस प्रकार के कई कॉरपोरेशन थे, इसलिए फासिस्ट राज्य को कॉरपोरेट राज्य भी कहते थे। फासीवादी राज्य को निगमित राज्य (Corporate State) इसलिए भी कहा जाता था क्योंकि फासीवाद लोग राज्य को व्यक्तियों का समुदाय नहीं मानते। राज्य की इकाई व्यक्ति नहीं है, राज्य व्यावसायिक संघों का समूह होता है। फासिस्ट इटली में इस प्रकार के कई व्यावसायिक संगठन थे जो राज्य की प्रत्येक गतिविधियों की प्रमुख इकाई थे।

फासीवादियों का उद्देश्य राज्य को सबल बनाना तथा एकता स्थापित करना था। इसके लिए राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि तथा सार्वजनिक कल्याण की सिद्धि आवश्यक थे। यह तभी सम्भव था जब मालिक, श्रमिक और उपभोक्ताओं के हितों का समन्वय हो क्योंकि इन तीनों के हित एक दूसरे से बंधे हुए हैं। इनके सहयोग से राष्ट्र की शक्ति एवं समृद्धि निहित थी। राज्य के अधीन निगम ऐसे स्रोत थे जिनके माध्यम से राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति तथा विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

इन हितों का समन्वय पूँजीवादी व्यवस्था में सम्भव नहीं था क्योंकि इसके अन्तर्गत श्रमिक और मालिक दो विरोधी दलों में संगठित रहते हैं। दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहित करती है। फासीवादियों के अनुसार समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं हैं, कई वर्ग होते हैं और जहाँ तक राष्ट्र हित में सम्भव हो सके इन सब हितों को सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में मुनरो (W B Munro) ने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि कारपोरेट प्रणाली पूँजीवादी व्यवस्था और व्यक्तिगत सम्पत्ति संस्था को बनाये रखते हुए निगमों की स्थापना करने का कार्यक्रम था, जो मालिक और श्रमिक को निकट लाकर राष्ट्रीय

एकता और उत्पादन में वृद्धि करे।[32] निगम व्यवस्था के अन्तर्गत, जैसा कि मुसोलिनी ने कहा, राज्य की एकता को ध्यान में रखते हुए सब हितों का समन्वय किया गया। यह पूंजीवाद समाजवाद के कुछ तत्त्वों तथा श्रमिक, मालिक और उपभोक्ताओं के स्वार्थों को सामंजस्य करने का प्रयत्न था। फासिस्ट इस व्यवस्था को पूंजीवादी-उदारवाद तथा समाजवाद दोनों से ही श्रेष्ठतर मानते थे।[33]

कारपोरेशन व्यवस्था

इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यवसाय एवं उद्योग में कच्चे माल से लेकर निर्मित वस्तु तक का सारा काम एक निगम के अन्तर्गत होता है। फासिस्ट इटली में प्रत्येक जिले में स्थानीय श्रमिकों और मालिकों के पृथक-पृथक संघ हुआ करते थे। स्थानीय संघों का मिलाकर प्रान्तीय संघ का निर्माण होता था। प्रान्तीय संघों के ऊपर राष्ट्रीय निगम होते थे। राष्ट्रीय निगमों की संख्या 1925 में सम्भवतः 22 थी। प्रत्येक निगम की एक परिषद् हुआ करती थी जिसमें श्रमिक और मालिकों के प्रतिनिधि बैठते थे। ये प्रतिनिधि सामान्यतः फासिस्ट दल के सदस्य या समर्थक ही होते थे। इन 22 निगम परिषदों के ऊपर एक राष्ट्रीय निगम-परिषद् थी। राष्ट्रीय निगम परिषद् की केन्द्रीय समिति में विभिन्न निगमों के प्रतिनिधि, फासिस्ट दल का सचिव तथा राज्य के सभी मंत्री सम्मिलित हुआ करते थे। सरकार के निगम-मन्त्रालय (Ministry of Corporations) का अध्यक्ष स्वयं मुसोलिनी था। इस प्रकार इटली की आर्थिक व्यवस्था इन निगमों के अन्तर्गत थी जिनमें फासिस्ट दल का सर्वत्र प्रभाव था।

निगमों की शक्तियाँ व्यापक थीं। ये श्रमिक विवादों का निबटारा, सामूहिक श्रमिक अनुबन्ध, उत्पादन में वृद्धि, वेतन, कार्य के घन्टे, वस्तुओं के मूल्य आयात-निर्यात आदि प्रश्नों का निर्णय करते थे। लेकिन ये कार्य परामर्श देने तक ही सीमित थे। वास्तविक कार्य सरकार के ही नियन्त्रण में होता था। राज्य तथा फासिस्ट दल इन विवादों में निर्णायक का कार्य करता था। इसके साथ-साथ इटली की प्रतिनिधि प्रणाली पर भी इनका प्रभाव था। फासिस्ट काल में इटली की प्रतिनिधि सभा (Chamber of Deputies) का प्रतिनिधित्व इन्हीं निगमों द्वारा किया जाता था।

समीक्षा

कारपोरेट प्रणाली मुसोलिनी के वर्गसमन्वयीय विचारों का प्रतिफल थी। यह धारणा मध्यकालीन गिल्ड व्यवस्था तथा आधुनिक सिन्डीकलवाद का मिश्रण थी। सिन्डीकलवाद पहले से ही इटली में प्रभावशाली था तथा इसके प्रमुख समर्थक जॉर्ज सोरेल (George Sorel) का मुसोलिनी पर विशेष प्रभाव था। गिल्ड समाजवादी राज्य को समुदायों का समुदाय मानते हैं। ये सभी विचारधारायें बहुलवादी (Pluralist) हैं जो सामाजिक संगठन में समुदायों की महत्ता पर जोर देती

32. Munro, W B , The Government of Europe; p 685
33. Munro, Ion S , Through Fascism to World Power, pp. 306—07.

है। लेकिन कारपोरेट प्रणाली, गिल्डीकलवाद तथा गिल्ड व्यवस्था को एक समझना भ्रम होगा। इनमें मूलभूत भिन्नता थी। सिन्डीकलवादी एवं गिल्ड समाजवादी व्यावसायिक समुदायों की स्वायत्तता के प्रबल समर्थक हैं और इस आधार पर राज्य के सर्वशक्तिशाली और सर्वव्यापकता को स्वीकार नहीं करते। फासीवादी निगम प्रणाली के अन्तर्गत केवल सैद्धान्तिक स्वायत्तता ही थी। इस पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण था। ये राज्य की सर्वोच्चता के अन्तर्गत ही कार्य कर सकते थे। इसका सगठन राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया गया था। इस प्रकार कारपोरेट व्यवस्था एक साधन मात्र ही थी।

कारपोरेट प्रणाली स्वायत्तता सिद्धान्त पर आधारित रहती है। निगमों की स्थापना राष्ट्रीय हित में राज्य के द्वारा की जाती है, कानून के अन्तर्गत उन्हें अधिकार दिये जाते हैं। निगमों की स्थापना के बाद इन्हें अधिकारों की सीमा के अन्तर्गत पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होती है। इन्हें अपने कार्यों और सदस्यों के प्रति सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं। अन्य शब्दों में, राज्य के अन्तर्गत सार्वजनिक कल्याण को ध्यान में रखते हुए इन्हें स्वशासन का अधिकार प्राप्त होता है। किन्तु फासीवादी निगम व्यवस्था इससे भिन्न थी। ये निगम पूरी तरह राज्य पर आश्रित थे। इनका सारा सगठन फासिस्ट दल पर निर्भर करता था। इससे इनकी स्वायत्तता का प्रश्न नहीं उठता था। ये सरकारी विभाग की ही तरह कार्य करते थे। इन्हें किसी भी प्रकार की पहल तथा जोखिम उठाने का अधिकार नहीं था।

सैद्धान्तिक रूप में कारपोरेट प्रणाली उचित प्रतीत होती है। इसमें पूंजीवादी, समाजवादी तत्वों का सम्मिश्रण कर श्रमिक, मालिक और उपभोक्ताओं के हितों को सरक्षण किया गया। लेकिन व्यवहार में यह बात सम्भव नहीं हो सकी। फासीवादी अधिनायकत्व जिसकी स्वयं की कुछ मूल मान्यताएँ थी, के अन्तर्गत कारपोरेट व्यवस्था सफल नहीं हो सकती थी।

कारपोरेट प्रणाली में यह दावा किया गया कि वह श्रमिक वर्ग के हितों का समुचित एवं समान ध्यान रखेगा। इसलिये निगमों में श्रमिकों और मालिकों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया। लेकिन यह मानना भूल होगी कि समान प्रतिनिधित्व का अर्थ समान अधिकार या सरकार तक समान पहुंच थी। यहां पर मालिकों की तुलना में श्रमिक पीछे रह जाते थे और उनके हितों का सरक्षण पूरी तरह नहीं हो सकता था। अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये समस्त श्रमिक-साधन जैसे हड़ताल, तालाबन्दी पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया था तथा इसका उल्लंघन करने पर कड़ी दण्ड व्यवस्था थी। श्रमिक न्यायालय श्रमिकों के मामलों में हस्तक्षेप कर सकते थे। श्रम-मालिक विवादों में राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए, इन न्यायालयों के निर्णय श्रमिकों के विरुद्ध ही जाते थे।[34]

---

[34] आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 667-68.

कारपोरेट राज्य की एक त्रुटि यह थी कि इसका संगठन युद्ध की तैयारी के लिये किया गया था। इसका निर्माण शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था के लिये नहीं था। सम्पूर्ण योजना का उद्देश्य साम्राज्यवादी विस्तार और युद्ध था। निगमों का सम्पूर्ण संगठन सैनिक सिद्धान्त और अनुशासन पर आधारित था। इसलिये इसका जो समुचित एवं शनैः शनैः विकास होना चाहिये था वह नहीं हो पाया। इतना सब होने हुए भी द्वितीय विश्व युद्ध के समय इटली की कॉरपोरेशन प्रणाली युद्ध की चुनौती का सामना नहीं कर सकी। इटली उतना सैनिक मोर्चे पर असफल नहीं हुआ, जितना कि आर्थिक मोर्चे पर। निगमित व्यवस्था की निर्बलता इससे और स्पष्ट होती है कि मुसोलिनी के पतन के उपरान्त यह प्रणाली इटली से समाप्त हो गई। इस प्रणाली में स्थायित्व के तत्व नहीं थे।

इटली में कॉरपोरेट राज्य की उपलब्धियां

आर्थिक प्रगति—यद्यपि कॉरपोरेट राज्य का समर्थन नहीं किया जा सकता, इटली में कॉरपोरेट प्रणाली की कुछ ऐसी उपलब्धियाँ थी जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके अन्तर्गत सुनियोजित अर्थ-व्यवस्था पर बल दिया गया। निगमों की स्थापना के कारण उत्पादन में अवश्य ही वृद्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप इटली एक शक्तिशाली राज्य के रूप में माना जाने लगा।

निगम व्यवस्था के अन्तर्गत बहुत सी आर्थिक बुराइयों का उन्मूलन कर दिया गया। सट्टेबाजी और अधिक लाभ पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सरकारी आदेशों द्वारा (1930 तथा 1933 में) वस्तुओं के मूल्यों को कम कर दिया गया जिससे उपभोक्ता वर्ग को बहुत राहत मिली।

श्रमिक मैग्ना कार्टा—निगम प्रणाली द्वारा मालिकों को अधिक संरक्षण प्राप्त था, लेकिन इस व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिकों की दशा में भी सुधार हुआ। श्रमिकों के लिए अधिकार-पत्र की घोषणा कर उन्हें कुछ अधिकार दिये गये। इन अधिकारों में सवेतन अवकाश, चिकित्सा सहायता, बुढ़ापे और मृत्यु सम्बन्धी बीमा अधिकार तथा अन्य सहायताएँ प्रमुख थी। जोड ने इन अधिकारों को 'श्रमिकों का अधिकार पत्र' (Magna Carta of Labour) कहा है।[35]

औद्योगिक शांति—इटली के कॉरपोरेट राज्य में उन सभी तत्वों का उन्मूलन करने का प्रयत्न किया गया जो मालिक और श्रमिकों के बीच तनाव उत्पन्न करते तथा औद्योगिक प्रगति में बाधक थे। विभिन्न निगमों में मालिक और श्रमिकों के हितों का प्रतिनिधित्व, उनके विवादों को सुलझाने के लिए विशेष न्यायालयों की व्यवस्था तथा इन सभी पर राज्य का प्रतिबन्ध ऐसा था कि इटली में न तो अधिक मुनाफा के लिए गुंजाइश थी और न हड़तालों आदि को प्रोत्साहन। फासिस्ट

35 उद्धृत, आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 668.

इटली में सर्वत्र औद्योगिक शान्ति थी जिससे एकता तथा आर्थिक प्रगति में अत्यधिक सहायता मिली।

रेवरेण्ड पी वार्टी तथा डा आशीर्वादम् का मत है कि यद्यपि निगमित राज्य की धारणा द्वारा नहीं, पर निगमित समाज की धारणा में अवश्य ही आधुनिक राज्य के पुनर्गठन का आधार मिल सकता है। इस समय ऐसे निगमित समाज की आवश्यकता है जिसका सगठन शान्ति के लिये हो, जिसका निर्माण राज्यों द्वारा न होकर व्यक्तियों द्वारा हो तथा जहाँ समाज का सार्वजनिक कल्याण, राज्य और व्यक्तियों के अधिकार आदि का समुचित सम्मान और विकास हो।[36]

फासिस्टवादियों का दावा था कि कॉरपोरेशन व्यवस्था आर्थिक क्षेत्र में उनका सबसे अधिक मौलिक योगदान था। मुसोलिनी का कहना था कि निगमवाद (Corporatism) अथवा कॉरपोरेट राज्य का निर्माण सबसे अधिक साहसपूर्ण मौलिक और क्रान्तिकारी कार्य था। इटली की कॉरपोरेट राज्य व्यवस्था ने बहुत से तत्कालीन राज्यों की अर्थ व्यवस्था को प्रभावित किया। 1933 में पुर्तगाली सविधान के अन्तर्गत पुर्तगाल को कॉरपोरेट राज्य स्वीकार किया गया। पुर्तगाल के तानाशाह सालाजार ने मुसोलिनी के ही पदचिह्नों पर चलकर पूँजी और श्रम के मेल का प्रयत्न किया। 1938 में आस्ट्रिया में भी निगम व्यवस्था लागू की गई और श्रमिक संघों को तोड दिया गया। स्पेन में गृह-युद्ध (1936) के उपरान्त जनरल फ्रान्को ने कई निगमों की स्थापना की। 1937 का ब्राजील का सविधान तथा 1943 के बाद पीरू तथा अर्जेण्टाइना की व्यवस्था भी इस कॉरपोरेट प्रणाली पर आधारित थी। इटली की व्यवस्था उनके प्रेरणा स्रोत थे। लेकिन किसी भी प्रजातान्त्रिक राज्य ने फासिस्ट कॉरपोरेट प्रणाली को नहीं अपनाया। यह सिर्फ अधिनायकों और तानाशाहों को ही आकर्षित कर सकी।

फासीवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद

फासीवादी विचारधारा में अन्तर्राष्ट्रीयता को कोई स्थान नहीं था। फासीवादी उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करते थे, जिसके अनुसार वे अपने हितों को ही सर्वोपरि मानते थे। अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए दूसरे राष्ट्रों को हड़पने एव बलिदान करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। उनका राष्ट्र उत्थान दूसरे राष्ट्रों के लोप से ही सम्भव हो सकता था।

फासीवाद शान्ति विरोधी तथा युद्ध समर्थक था। उग्र राष्ट्रवाद में शान्ति का कोई ही कोई महत्त्व नहीं होता। सैद्धान्तिक रूप से वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को कायरता का प्रमाण मानते थे। फासीवाद मनुष्य, जाति, राष्ट्र, राज्य की उन्नति के लिये युद्ध को आवश्यक एव स्वाभाविक मानते थे। मुसोलिनी के शब्दों में

[36] उपर्युक्त, पृ. 666, 668-69.

'पुरुष जीवन मे युद्ध का वही स्थान है जो नारी के जीवन मे मातृत्व का है।' हिटलर भी युद्ध को खूब गौरवान्वित करता था। हिटलर के अनुसार अविराम युद्धों से ही मानव जाति की उन्नति हुई है, शान्ति की स्थापना से मानव जाति विनाश के गर्त मे चली जायगी।

फासिस्ट केवल अपने राष्ट्र तक ही सीमित एव उत्तरदायी है। वह दूसरे *व्यक्ति की अन्तरात्मा, कोई आर्थिक वर्ग, किसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था या ससद,* अथवा किसी विश्व-सर्वहारा वर्ग के प्रति भक्ति को स्वीकार नही करता। फासीवादी विश्व-सहयोग के विरुद्ध है। उसका विश्वास था कि भावी युद्ध अनिवार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के परामर्शों द्वारा शान्ति सम्भव नही। इटली को दूसरे महान राष्ट्रो के समान मानना ही होगा। वह अपमान सहन नही करेगा। वह शान्ति को उसी समय स्वीकार करेगा जबकि वह रोमन शान्ति होगी।[37]

फासीवादी राज्य शक्ति और विस्तार पर आधारित था। तदनुसार राज्य को निरन्तर अपनी शक्ति और विस्तार मे अभिवृद्धि करते रहना चाहिए। यदि राज्य का प्रसार रुक जाता है तो उसका नाश हो जाता है। इसलिए, जैसा कि गेटिल ने व्यक्त किया है, राज्य केवल वह सत्ता ही नहीं है जो व्यक्तियों की इच्छाओं को कानूनो का रूप और आध्यात्मिक जीवन का मूल्य प्रदान करती है, किन्तु ऐसी शक्ति भी है जो अपनी इच्छा को दूसरे देशों पर स्थापित करती और अपना सम्मान बढाती है। अन्य शब्दो मे वह अपने विकास की सभी आवश्यक दिशाओं मे अपनी इच्छा की सार्वभौमता के तथ्य का प्रदर्शन करती है। इस प्रकार इसकी तुलना मनुष्य की इच्छा से की जा सकती है जिसके विकास की सीमाएँ नही होती, जो अपनी असीमता की परीक्षा करके ही अपने को परिपूर्ण बनाती है।[38]

फासीवादी नस्ल की श्रेष्ठता मे विश्वास करते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध मे मुसोलिनी की अपेक्षा नात्सीवाद मे नस्ल की श्रेष्ठता सिद्धान्त का विशेष एव विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया गया है। हिटलर नस्ल के सिद्धान्तो को लेकर चला और उनकी सहायता से उसने राजनीति दर्शन को एक नया आधार देने का प्रयत्न किया। मेन केम्फ (Mein Kampf) मे नस्ल श्रेष्ठता का सिद्धान्त सर्वत्र फैला हुआ है। इसमे हिटलर ने बतलाया है कि इतिहास न तो व्यक्ति की मुक्ति का सघर्ष है, और न वर्ग-सघर्ष की कहानी। वह तो प्रकृष्ट नस्ल-आर्य नस्ल-की प्रतिभा के प्रस्फुटन का सिद्धान्त है। विश्व मे विभिन्न नस्लें जीवित रहने और अपने आप को शक्तिशाली बनाने के लिये सघर्ष करती है। इनमे जो नस्ल सर्वाधिक शुद्ध होती है वही सबसे शक्तिशाली होती है। हिटलर आर्य नस्ल को सर्वश्रेष्ठ मानता था जिसको

37 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 519-11.
38 गैटिल., राजनीति चिन्तन का इतिहास, पृ. 444-45.

सुरक्षा राज्य का परम कर्त्तव्य था। वह ऐसे राज्य को लोक राज्य (Folkish State) कहता था।[39] हिटलर का श्रेष्ठ एवं पवित्र नस्ल का सिद्धान्त विस्तारवादी है। उसने लिखा है कि आर्य नस्लें अल्प-संख्यक होते हुए भी विदेशी जातियों को अपने अधीन कर लेती हैं। नस्ल के इस शक्ति विस्तार में राज्य को सहायक होना चाहिए। जैसे-जैसे नस्ल की संख्या में वृद्धि होती है वैसे-वैसे ही उसकी पार्थिव आवश्यकताएँ भी बढ़ती हैं तथा अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता अनुभव होती है। इसी अनुपात में श्रेष्ठ नस्ल को अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने तथा उसकी आर्थिक समृद्धि के लिये सीमा विस्तार करने का अधिकार है।[40]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हिटलर और मुसोलिनी दोनों ने ही अपनी विस्तारवादिता का परिचय दिया। इटली की अतिरिक्त जनसंख्या को अन्यत्र बसाने, या आर्थिक स्रोतों की प्राप्ति के लिए मुसोलिनी ने ईथोपिया को हड़पने की योजना बनाई। ईथोपिया के साथ सीमा विवाद उत्पन्न कर 1936 में उस पर इटली का आधिपत्य हो गया। इसके अलावा मुसोलिनी भूमध्यसागरीय क्षेत्र को इटली के प्रभाव-क्षेत्र में लेना चाहता था। मुसोलिनी का उद्देश्य इटली को एक बड़ी शक्ति के रूप में प्रस्तुत करना था। विस्तारवाद के क्षेत्र में हिटलर मुसोलिनी से और भी आगे बढ़ा हुआ था। प्रथम, हिटलर वर्साय की सन्धि (Treaty of Versailles, 1919) के अन्तर्गत जर्मनी की सीमा निर्धारण को मान्यता नहीं देता था। वर्साय की सन्धि के द्वारा वे क्षेत्र जो जर्मनी से छीन लिए गये थे, हिटलर उन्हें वापस लेना चाहता था। द्वितीय, हिटलर अन्तिम बार जर्मनी के एकीकरण की प्रक्रिया को पूर्ण करना चाहता था। इसलिए यूरोप में वे क्षेत्र जिनमें जर्मन जनसंख्या रहती थी, हिटलर उनका जर्मनी में विलयीकरण चाहता था। आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया को जर्मनी में मिला कर एक सीमा तक इस उद्देश्य की पूर्ति की गई। तृतीय, हिटलर यहीं तक सन्तुष्ट नहीं था, अन्तिम उद्देश्य सम्पूर्ण यूरोप को अपने आधिपत्य में करना था। जब हिटलर ने यूरोप के अन्य छोटे-छोटे राज्यों पर अधिकार करने की चेष्टा की, परिणामस्वरूप द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

उपरोक्त तथ्य फासीवाद तथा नात्सीवाद की विस्तारवादी नीति का स्पष्ट प्रमाण है। यह विस्तारवाद कोई आकस्मिक नहीं था किन्तु फासीवाद के विस्तारवादी सिद्धान्तों पर आधारित योजनाबद्ध था। आन्तरिक असन्तोष से ध्यान में रखते हुए तथा व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाओं को उकसाने के लिये इस प्रकार की विदेश नीति स्वाभाविक ही थी।[41] इंग्लैण्ड और फ्रांस की सन्तुष्टिकरण की नीति फासीवादी विस्तार में और भी सहायक सिद्ध हुई।

---

39 Sabine, G H, A History of Political Theory, p 731
40 Mein Kampf, p 523
41 Laski, H J, Reflections on the Revolution of Our Time, p 87

फासीवादी साधन

शक्ति-राजनीति (Power-Politics) फासीवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष था। राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उन्होंने शक्ति को साधन के रूप में प्रयोग किया। फासीवादियों ने शक्ति द्वारा सत्ता प्राप्त की तथा सत्ता में बने रहने के लिये शक्ति का निरन्तर प्रयोग करते रहे। शक्ति उनका धर्म बन गया। विरोधियों का हिंसात्मक साधनों द्वारा उन्मूलन किया गया। बन्दीगृह फासीवादी विरोधियों से भरे पड़े थे। फासीवादी शासन के अन्तर्गत इटली और जर्मनी में शक्ति एवं हिंसा का जैसा नग्न प्रदर्शन हुआ, सम्भवतः ही किसी अन्य समाज में हुआ हो।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फासीवादी शान्तिपूर्ण साधन या वार्ता द्वारा समस्याओं का समाधान करने में विश्वास नहीं रखते। उनके अनुसार शान्ति कायरों का स्वप्न है। अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये वे युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख अंग मानते थे। यह दृष्टिकोण ईथोपियाई संकट से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। ईथोपिया की समस्या का समाधान करने के लिये जब इंग्लैण्ड ने ईथोपिया का कुछ क्षेत्र इटली को देने का प्रस्ताव किया तो मुसोलिनी ने बड़े ही अपमानजनक शब्दों में कहा—"यदि मुझे ईथोपिया को चांदी की प्लेट पर भी रख कर प्रस्तुत किया जाये तो मैं सधन्यवाद मना कर दूंगा, क्योंकि ईथोपिया को मैंने शक्ति से लेने का निश्चय कर लिया है।' इन साधनों के विषय में लास्की (H. J Laski) ने लिखा है कि—

> फासिस्ट प्रणाली शक्ति को छोड़ सभी मूल्यों का हनन करती है, यह युद्ध को राष्ट्रीय नीति के स्वाभाविक साधन के रूप में प्रयोग करने के लिये तैयार है, इसके द्वारा या तो मानव जाति को दास बनाना चाहिये या स्वयं नष्ट हो जाना चाहिये। इसमें इन विकल्पों के अतिरिक्त और कोई अन्य मार्ग नहीं।[42]

प्रसार (Propaganda)

फासीवादी विचारधारा में प्रसार का विशेष महत्त्व रहा है। फासीवादी अयुद्धवादी तो थे ही। अपने प्रत्येक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों की भावनाओं को उभारना तथा भड़काना आवश्यक समझा जाता था। यह कार्य केवल प्रभावशाली प्रसार द्वारा ही सम्भव था।

प्रसार नात्सीवाद का मूल स्तम्भ था। हिटलर ने अपनी आत्मकथा–Mein Kampf–में प्रसार और संगठन के विषय में एक अलग ही अध्याय लिखा है। इस अध्याय में वह दल, संगठन आदि से भी प्रसार को अधिक महत्त्व एवं प्राथमिकता

42 Laski, H. J, Reflections of the Revolution of Our Time, p 97

देता है। प्रारम्भ में जब हिटलर ने जर्मन लेबर पार्टी की सदस्यता ग्रहण की तो सर्वप्रथम उसने प्रसार शाखा को अपने अधीन किया। वह प्रसार के महत्त्व को समझता था। हिटलर की प्रसार प्रणाली एक कहावत बन गई थी। जो कार्य युद्ध से सम्भव नहीं था हिटलर उसे प्रसार के द्वारा ही प्राप्त कर सकता था। बिना युद्ध के ही, प्रसार द्वारा हिटलर ने ग्रास्ट्रिया और चेकस्लोवाकिया को अपने अधिकार में कर लिया था। इस प्रकार फासीवादी शासन व्यवस्था में प्रसार का एक साधन के रूप में विशेष स्थान था।

फासीवाद और साम्यवाद

फासीवाद और साम्यवाद में कई समान तत्व दृष्टिगोचर होते है। कोकर ने लिखा है—

> "फेसिज्म तथा रूसी साम्यवाद में, कुछ आवश्यक पक्षों में परस्पर विरोध होते हुए भी, घनिष्ट आध्यात्मिक सम्बन्ध है और कई बातों में उनके शासन की रीतियाँ समान है।[43]

कोकर ने साम्यवाद और फासीवाद में निम्नलिखित समानताओं का उल्लेख किया है[44]—

(i) फासिस्टो और बोल्शेविकों दोनों ने शासन-सत्ता अहिंसा अथवा हिंसा की धमकी से प्राप्त की और दोनों ही बल प्रयोग को राजनीतिक कार्य का सर्वोच्च साधन मानते है।

(ii) दोनों ही विचारधाराएँ लोकतन्त्र तथा उदारवाद की हँसी उड़ाते हैं तथा उन्हें *प्रजातियों के अन्धविश्वास या कल्पना-प्रिय लोगों के* अव्यावहारिक आदर्श मानते है।

(iii) दोनों प्रणालियाँ स्वतन्त्रता विरोधी हैं। वे ऐसी कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं मानते जिसका राज-सत्ता विनाश नहीं कर सकती। वे समाचार-पत्रों तथा स्कूलों को अपने प्रचार का साधन मानकर उन पर अपना एकाधिकार मानते हैं। वे स्वतन्त्र विचार-प्रकाशन से डरते हैं और बड़ी निर्दयता के साथ उसका दमन करते हैं।

(iv) दोनों व्यवस्था में शासन तथा राजनीतिक दल में अभिन्नता है। वे *एकदलीय शासन व्यवस्था में आस्था रखते हैं।*

इसके अलावा सेबाइन[45] *ने राष्ट्रीय समाजवाद (नात्सीवाद) के सन्दर्भ में फासीवाद और साम्यवाद में कुछ अन्य समानताओं का निम्नलिखित विवरण दिया है*—

43 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 513.

44 उपर्युक्त, पृ. 513.

45 Sabine, G H, A History of Political Theory, p 751

(i) इन विचारधाराओं का अभ्युदय प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उस समय दयनीय आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ।
(ii) ये अधिनायकवादी शासन का समर्थन करती हैं।
(iii) इनमें सत्ता कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथों में रहती है।
(iv) ये विचारधाराएँ मूलतः अन्ध सिद्धान्तवादी हैं। एक नस्ल की श्रेष्ठता तथा दूसरा सर्वहारा वर्ग की महत्ता में विश्वास रखते हैं।
(v) ये राजनीति को शक्ति ग्रहण करने का साधन मानते हैं। इस प्रकार दोनों शक्ति-राजनीति में विश्वास करते हैं।

फासीवाद और साम्यवाद उद्भव, सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तथा व्यवहार में कहीं समान तथा कहीं अत्यधिक निकट है। फिर भी आलोचक इनमें साम्यवाद की श्रेष्ठता को स्वीकार कर विभिन्नताओं का उल्लेख करते हैं। साम्यवाद तत्वतः मानवतावादी है। उसकी निर्धन वर्ग की सेवा की नीयत को चुनौती नहीं दी जा सकती। साम्यवादी विचारधारा लगभग दो पीढ़ियों के मार्क्सवादी अन्वेषण का परिणाम है। यह मार्क्सवादी वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध दर्शन पर आधारित है। इसके विपरीत फासीवाद अवसरवादी विचारों का बन्डल था जिन्हें आवश्यकतानुसार सगृहीत कर लिया गया। यह बौद्धिक झूठ एवं प्रोपेगेन्डा था। साम्यवाद पूँजीवाद का शत्रु है। यह पूँजीवाद को एक शोषण व्यवस्था मानता है। फासीवादी मूलतः उच्च वर्ग और पूँजीवर्ग के समर्थक थे।

वर्ग व्यवस्था के विषय में इन दोनों में मूल अन्तर है। साम्यवाद वर्ग-संघर्ष पर आधारित है। इसमें वर्ग-संघर्ष स्वाभाविक है। अन्तिम रूप में पूँजीवर्ग की समाप्ति और सर्वहारा वर्ग के शासन की स्थापना में साम्यवादी विश्वास करते हैं। किन्तु फासीवादी वर्ग-संघर्ष का खन्डन तथा सहयोग के आधार पर शासन रचना का समर्थन करते हैं। फासीवाद विभिन्न वर्गों की उग्रता को कुंठित कर उनका एक प्रणाली के अन्तर्गत समन्वयपरक है।

राज्य के प्रति इनके दृष्टिकोण में मूलभूत भेद है। फासीवादी सर्वसत्ताधारी राज्य में विश्वास करते हैं। वे राज्य को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। किन्तु साम्यवाद में केवल संक्रमण काल में ही राज्य के महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। एक अन्तिम उद्देश्य के रूप में साम्यवादी राज्य-रहित समाज की स्थापना चाहते हैं।

फासीवाद और साम्यवाद में एक मूल अन्तर और है। फासीवादी उग्र राष्ट्रवाद में आस्था रखते हैं। किन्तु साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास करते हैं। इसका यही तात्पर्य है कि साम्यवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है। यह समस्त विश्व को साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत लाना चाहता है।

वैसे आजकल फासीवाद और साम्यवाद की तुलना का केवल बौद्धिक सन्दर्भ ही रह गया है। फासीवादी व्यवस्था समाप्त हो चुकी है जबकि साम्यवाद ने अपने

प्रसार में बहुत प्रगति की है। आलोचकों ने जब फासीवाद तथा साम्यवाद को एक ही स्तर पर रखने का प्रयत्न किया, सम्भवतः उनका उद्देश्य साम्यवाद को अपमानित करना है। साम्यवाद में बहुत त्रुटियाँ हैं फिर भी इसे फासीवाद के साथ एक ही कोष्टक में नहीं रखा जा सकता।

सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फासीवाद और साम्यवाद एक दूसरे के विरोधी थे। फासीवाद के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में मार्क्सवादी व्याख्या का इस अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है।[46] साम्यवादियों ने *फासीवाद को पूँजीपतियों का षड्यन्त्र तथा पूँजीवाद के पतन की चरम सीमा* बतलाया था। साम्यवादियों का लगभग यही दृष्टिकोण नात्सीवाद एवं हिटलर के प्रति था। साम्यवाद के प्रति फासीवाद का भी बड़ा आक्रामक दृष्टिकोण रहा है। मुसोलिनी ने इटली के अन्दर साम्यवादियों, समाजवादियों आदि का पूर्ण सफाया कर दिया था। हिटलर साम्यवाद तथा रूस का कट्टु शत्रु था। उसने अपनी आत्मकथा में *साम्यवाद के प्रति कई स्थलों पर निन्दनीय शब्दों का प्रयोग किया है।* वह साम्यवादियों को खूनी, अपराधी, लुटेरा आदि कहता है। हिटलर का विचार था कि रूस का शीघ्र पतन होगा।[47] यूरोपीय राजनीति में भी इन राज्यों का कभी भी सहयोग नहीं रहा। यदि कभी सहयोग भी हुआ, जैसे रूस-जर्मनी की अगस्त 1939 में अनाक्रामक सन्धि, वह अवसरवादिता पर ही आधारित था। इन्होंने एक दूसरे को नीचा *दिखाने का प्रयत्न किया। अन्त में यह द्वितीय विश्व युद्ध के संघर्ष में परिवर्तित हो गया।*

फासीवाद का मूल्यांकन

फासीवाद का अध्ययन करने के पश्चात् इस विचारधारा में दोष ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। फासीवाद के प्रत्येक सिद्धान्त-सूत्र (यदि फासीवाद को सैद्धान्तिक माना जाय तब) की कई दृष्टिकोणों से आलोचना हुई है। फासीवाद के कुछ प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं —

सदिग्ध विचारधारा

सर्वप्रथम फासीवाद को एक विचारधारा के रूप में स्वीकार करना ही संदिग्ध है। इसका न तो कोई पूर्व दर्शन है और न विचार-सूत्रों में क्रमबद्धता। यह विचार धारा तदर्थ एवं अवसरवादी विचारों का संग्रह है। इस सम्बन्ध में लास्की ने लिखा है—

> "फासीवाद का किसी भी रूप में कोई दर्शन नहीं है। इसके समर्थकों ने इसके जो सिद्धान्त-सूत्र प्रस्तुत किये हैं उनका परीक्षण करने पर प्रोपेगेण्डा प्रतीत होते हैं जिनका अपनी सत्ता में वृद्धि करने के अलावा और कोई अर्थ नहीं।"[48]

46. इसके लिए इस अध्याय के प्रारम्भ में मार्क्सवादी व्याख्या देखिए।
47 Mein Kampf, Chapter XIV, Germany's Policy in Eastern Europe
48 Laski, H J, Reflections on the Revolution of Our Time, p 97
Also see, Markl, Peter., Political Continuity and Change, p 521

फासीवादियों ने निरन्तर निषेधात्मक एवं विरोधात्मक दृष्टिकोण अपनाया। इनके प्रवक्ताओं और कार्यकर्त्ताओं ने कभी भी न तो रचनात्मक विचार व्यक्त किए और न कार्य ही किए। फासीवाद ने सभी प्रचलित आदर्शों का विरोध किया। व्यक्तिवाद, उदारवाद, मानववाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं की समस्त आधारभूत मान्यताओं और मूल्यों को उखाड़ फेंका। ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के कारण फासीवाद में कोई भी ग्रहण करने योग्य आदर्श नहीं मिलता।

वर्णसंकरीय विचारधारा

फासीवाद का अध्ययन करने से कभी-कभी यह भ्रम होता है कि यह विचारधारा कई विचारधाराओं का समन्वय है। सम्भवतः मुसोलिनी तथा अन्य समर्थकों ने इसे सर्व-ग्राह्य बनाने के लिए सभी विचारधाराओं से सिद्धान्त ग्रहण किए। ऐसा समझना भूल होगी। फासीवाद अवसरवादिता पर आधारित तदर्थ (ah hoc) विचारों का संकलन था। उन्होंने अलग-अलग अवसरों पर अलग प्रकार की बातें एवं विचार कहे। इसमें सभी वर्गों को बेवकूफ बनाने का प्रयत्न किया गया। वे जिस वर्ग का समर्थन चाहते थे उसी के पक्ष में अपने विचार व्यक्त कर देते थे। उनके ऐसे विचार चाहे परस्पर-विरोधी भी हों, उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं थी। वास्तव में फासीवाद बहुत कुछ धोखा था। श्रमिकों को अपने पक्ष में करने के लिये मुसोलिनी ने कुछ पूँजीवादी विरोधी नारों का प्रयोग किया। किन्तु साथ ही साथ पूँजीवादियों को यह भी आश्वासन दे दिया कि इन नारों से उन्हें घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। यही हाल जर्मनी का था। 1930 में एक नात्सी नेता ने एक उद्योगपति को पत्र लिखकर यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि—

> "हमारे कथन तथा व्यवहार से आप अपने लिए दुविधा (असमञ्जस) में न डालें। कुछ आकर्षक नारे हैं जैसे 'पूँजीवाद का नाश हो', लेकिन ये आवश्यक हैं। हमें असन्तुष्ट एवं क्रुद्ध समाजवादी श्रमिक की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। कूटनीति को ध्यान में रखते हुए ही हम स्पष्ट कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं करते।"[49]

फासीवादियों ने पूँजीवाद, समाजवाद, हीगलवाद, सिन्डीकलवाद, राष्ट्रवाद, अविवेकवाद आदि से बहुत से तत्व ग्रहण किये, किन्तु इन सबका प्रयोग उन विचारधाराओं के सही सन्दर्भ में कभी भी नहीं किया। इसलिए फासीवाद इन विचारों का सही समन्वय न होकर वर्णसंकरीय विचारधारा बन गया।

फासीवाद धनिक-वर्ग के षड्यन्त्र के रूप में

इस तर्क में भी सत्यता है कि फासीवाद इटली के पूँजीवर्ग का षड्यन्त्र था। मुसोलिनी और हिटलर दोनों को ही पूँजीवादियों का समर्थक माना जाता है। इनमें

49. Quoted, Sabine, G H, A History of Political Theory, p 710

और पूँजीपतियों में बड़ी घनिष्ठता थी। इन लोगों को राशि बड़े-बड़े पूँजीपतियों से मिलती रहती थी। यही कारण है कि जैसे ही मुसोलिनी को सत्ता मिली उसने अपना समाजवादी कार्यक्रम त्याग दिया। उसने श्रमिकों की इच्छाओं का विरोध किया।[50] वास्तव में इस व्यवस्था में धनिक अधिक धनी और निर्धन और भी निर्धन होते चले गये। सामान्य जनता को आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किये गये। उन्हें केवल भावनाओं के भोजन से ही सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया गया।

सर्वसत्ताधारी राज्य की स्थापना

फासीवादी राज्य सर्वसत्ताधारी होता है। इसके दो प्रमुख पक्ष हैं। प्रथम, **राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन। द्वितीय, शासन व्यवस्था का आधार शक्ति है।** राज्य अथवा राष्ट्र को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानना भूल होगी। ऐसी शासन व्यवस्था में व्यक्तियों की स्थिति दासों के समान हो जाती है। प्रत्येक कार्य राष्ट्र की प्रतिष्ठा एवं शक्ति वृद्धि करने के लिए किया जाता है, जिसमें मानव मूल्य एवं मनुष्यों की गरिमा का कोई भी महत्त्व नहीं होता। यह अत्याचारी शासन का दूसरा नाम है। इसी तरह फासीवादी शक्ति को राज्य का स्थाई आधार मानकर चलते हैं। इतिहास में इस प्रकार के अनेकों दृष्टान्त है कि शक्ति और हिंसा के आधार पर कोई भी व्यवस्था स्थाई नहीं रह सकती। शक्ति का शक्ति द्वारा ही पतन होता है। राज्य का आधार, जैसा कि ग्रीन ने कहा है, शक्ति नहीं, वरन् इच्छा है।

जिस समय इटली में फासीवाद अपनी चरम सीमा पर था बहुत से पर्यवेक्षकों का मत था कि यह बल पर आधारित व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चल सकेगी। प्रसिद्ध विद्वान् दार्शनिक बेनेदेटो क्रोस (B Crose) तथा इतिहासकार फेरेरो (Guglelmo Ferrero) ने उस समय मत व्यक्त करते हुए लिखा था कि बल-प्रयोग पर आधारित शासन केवल पतनोन्मुख जातियों में ही अधिक काल तक बने रह सकते हैं। जो देश आगे बढ़ रहे हैं या जिनमें प्रगतिवादिता के अंकुर किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं, यह व्यवस्था सफल नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त शक्ति से जिस शासन का निर्माण हुआ है, उसका नाश भी शक्ति ने ही किया है। रोम साम्राज्य का सेना द्वारा निर्माण हुआ था, और उसका अन्त भी सेना ने ही किया। फासीवादी शासन-व्यवस्थाओं का भी यही भविष्य होगा। वास्तव में ऐसा हुआ भी। फासीवाद लगभग दो दशाब्दी तक ही चल सका। द्वितीय विश्व युद्ध ने इटली तथा जर्मनी दोनों में ही फासीवाद को समाप्त कर दिया।[51]

फासीवाद और लोकतन्त्र

फासीवाद लोकतान्त्रिक व्यवस्था को महत्त्व नहीं देते। उनके अनुसार यह जन-

50 Laski, H J, Reflections of the Revolution of Our Time, p 86,
कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ॰ 493.

51 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ॰ 520

शासन नहीं हो सकता, क्योंकि साधारण जनता स्वार्थ के वशीभूत रहती है। वह स्वार्थ से ऊपर उठकर सम्पूर्ण सामाजिक हित में नहीं सोच सकती। इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था मे थोड़े से चालाक नेता हमेशा सत्ताधारी बने रहते है। इसे बहुसख्यक सम्पत्ति का शासन समझना भ्रम होगा। फासीवादी लोकतन्त्र को 'सडा हुआ शव' और मसद को 'बातूनी दुकान' कहते हैं। फासीवादियो द्वारा लोकतन्त्र की आलोचना मे आशिक सत्यता तो है, किन्तु इस आलोचना से वे लोकतन्त्र मे सुधार नहीं करना चाहते, वे उसे जड से उखाड फेंकना चाहते हैं। लोकतन्त्र व्यवस्था मे कुछ दोष होते हुए भी फासीवादी व्यवस्था से तो अति उत्तम है।

फासिस्ट विचारधारा स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों के विरुद्ध है। उनका यह विचार कि स्वतन्त्रता एक विचार न होकर कर्तव्य है तथा शक्तिशाली राज्य के आज्ञापालन मे ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता निहित है, गलत है। वे अधिनायकवाद की वेदी पर स्वतन्त्रता का बलिदान कर देते है। फासीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य एक मशीनी पुरजे के समान रह जाता है, जिसमे उसके व्यक्तित्व का पूर्ण लोप हो जाता है।

समानता के विषय मे फासीवादी प्रकृति के आधार पर व्यक्तियो को असमान मानते हैं। उनके अनुसार समाज मे व्यक्ति समान नहीं हो सकते। इसमे मना नही किया जा सकता कि शारीरिक क्षमता, बौद्धिक प्रतिभा तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से मनुष्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं। किन्तु यही समझ कर राज्य उनको असमान माने यह भारी भूल होगी। राज्य के समक्ष सब व्यक्ति समान होने चाहिएँ, राज्य किसी भी आधार पर नागरिकों मे भेदभाव नहीं कर सकता। राज्य का कर्तव्य सभी नागरिकों को समान अवसर प्रदान करना होता है। इस सम्बन्ध मे फासीवादी आलोचना के विषय मे लास्की ने लिखा है कि फ्रान्स के उपरान्त जिन सवैधानिक आचार और प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र का विकास हुआ फासीवाद ने उन सभी को उखाड फेंका। यह मनुष्य को एक साध्य के रूप मे कभी भी स्वीकार नहीं करता।[52]

कला एवं विज्ञान की अवनति

फासीवादी राज्य मे कला एवं विज्ञान की प्रगति नहीं हो सकती। अधिनायक-वादी शासन मे समाज एवं व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष पर राज्य का नियन्त्रण रहता है। विज्ञान तथा कला को भी प्रोपेगेन्डा का एक साधन माना जाता है। इस स्थिति मे कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान का ह्रास होता चला जाता है इस प्रकार के अनुशासित और नियन्त्रित राज्य सामाजिक प्रगति के लिए कभी भी उपयुक्त नही हो सकते। अधिनायकतन्त्र का सचालन एक विशाल सगठित सशोधन-ग्रह की भांति होता है। इस व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति को नियत कार्य दिया जाता है और उसके सम्पादन पर सतर्क दृष्टि रखी जाती है। यह पद्धति समाज-दोषी तथा अयोग्य एवं अनपढ व्यक्तियों के लिये ठीक हो सकती है, किन्तु बुद्धिमान, साहसी श्रेष्ठ

52 Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time p 87

तथा चरित्रवानों के लिए बिल्कुल ही अनुपयुक्त है। ऐसे व्यक्तियों को अधिनायकतन्त्र, और वह भी अविवेकवाद पर आधारित, पशुबल और पशुबुद्धि का सामना करने के सिवाय कुछ भी नहीं। किसी राष्ट्र के सार्वजनिक एवं सांस्कृतिक जीवन का अत्यन्त केन्द्रीभूत एवं दमनकारी निर्देशन साहित्य, विज्ञान तथा कला के विकास की सम्भावनाओं को नष्ट कर देता है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर आइन्स्टाइन (Albert Einstein) ने अपने एक सूक्ष्मतम 19 शब्दों के निबन्ध में लिखा है—

> 'अधिनायकतन्त्र का अर्थ है सब ओर से प्रतिबन्ध और उसके परिणामस्वरूप निरर्थक प्रयत्न। विज्ञान केवल स्वतन्त्र भाषण के वातावरण में ही अभिवृद्धि प्राप्त कर सकता है।"[53]

अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की आलोचना

फासीवादियों के अन्तर्राष्ट्रीय विचार अति भर्त्सना योग्य हैं। वे, प्रथम, उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करते हैं। द्वितीय, स्वयं की नस्ल श्रेष्ठता के औचित्य को सिद्ध करते हैं। तृतीय, क्षेत्रीय विस्तारवाद को मान्यता देते हैं। चतुर्थ, युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख साधन मानते हैं। ये सभी विचार अन्तर्राष्ट्रीयता के शत्रु हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को कायरों का स्वप्न कहते हैं, किन्तु शान्ति का कोई अन्य विकल्प हो ही नहीं सकता। यदि निरंतर युद्ध चलते रहे, सभी राष्ट्र विस्तारवादी नीति अपना लें तो ऐसी स्थिति हो जायेगी जैसा कि हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था के विषय में लिखा है। इसका परिणाम यह होगा कि सार्वजनिक कल्याण की ओर न तो ध्यान ही जायेगा और न समय ही मिल पायेगा। युद्धों पर अत्यधिक धनराशि व्यय होने से विकास और उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। फासीवादियों के अन्तर्राष्ट्रीय विचार, अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति के विरुद्ध हैं। ये अव्यावहारिक और मानव जाति के लिए घातक हैं।

यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध ने फासीवादी-नाजीवादी उद्देश्यों को पूरा नहीं होने दिया, यह सोचना भूल होगी कि फासीवाद मर चुका है। गेटिल ने लिखा है कि उदारवाद इतना खर्चीला है कि बहुत कम लोग उसकी कीमत चुकाने को तैयार हैं अथवा इस योग्य हैं। जो विचार मनुष्य के मस्तिष्कों में घर कर जाते हैं उन्हें युद्ध द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। इस समय ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि विश्व के बहुत से देशों से अधिनायकतन्त्र को त्यागने की वास्तविक इच्छा उत्पन्न हो गई है। वास्तविकता तो यह है कि यदि साम्यवाद के विरुद्ध दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया का जोर बढ़ा तो फासीवाद पुनः भयंकर शक्ति के रूप में उठ खड़ा होगा।[54]

---

[53] उद्धृत, कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 519

[54] गेटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 453–54.

फासीवाद एव राष्ट्रीय समाजवाद समकालीन परिस्थितियो के विरुद्ध विद्रोही थे । भविष्य मे यदि इस प्रकार की परिस्थितियां पुन. उत्पन्न होती है तो असदिग्ध रूप मे इसी प्रकार की विचारधाराओ का फिर उद्भव होगा । इस प्रकार के विचारो का आगे विकास न हो, उसके लिये यह अति आवश्यक है कि हम अपनी समस्याओ का बुद्धिमानी के साथ सामना करें । फासीवाद तथा राष्ट्रीय समाजवाद की प्रेरणा शक्ति राष्ट्रीयता की उग्र भावना थी जिसका अभी भी अभाव नहीं है ।[55] इसके विकल्प रूप मे हमे शान्ति, सद्भाव, सहयोग के सिद्धान्तो को ही राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे अपनाना पडेगा । अन्य विकल्पो का तात्पर्य विश्व को उन्ही निर्दयी, अमानवीय शक्तियों को समर्पण करना होगा जिनसे हम एक पीढ़ी पहले ही जूझ चुके हैं । एक कामना के रूप मे इस प्रकार की परिस्थिति पुन. नही आनी चाहिये ।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Ashton., The Fascist,
   Chapter 2, What is Fascism
2. आशीर्वादम्, ए डी राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड,
   अध्याय 22, सर्वाधिकारवादी राज्य
3. Charques and Ewen., Profits and Politics in the Post-War World (1934),
   Chapter IV, Italy.
4. कोकर, फ्रान्सिस., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन,
   अध्याय 17, फेसिज्म.
5. Ebenstein, W., Today's Isms,
   Chapter II, Totalitarian Fascism.
6. गेटिल, रेमन्ड गारफील्ड., राजनीतिक चिन्तन का इतिहास,
   अध्याय 26, फासीवाद.
7. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought,
   Chapter 17, Fascism and National Socialism.
8. Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time,
   Chapter 3, The Meaning of Fascism.

55 Sabine, G. H A History of Political Theory, p 711

9. Merkl, Peter A., Political Continuity and Change, Chapter 14, Fascism and National Socialism.

10 Munro, Ion S., Through Fascism to World Power.

11 Sabine, G. H., A History of Political Theory, Chapter 35, Fascism and National Socialism

10

लोकतान्त्रिक समाजवाद

DEMOCRATIC SOCIALISM

लोकतान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। इसलिये सर्वप्रथम उनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। कभी-कभी समष्टिवाद (Collectivism) तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद को एक ही समझा जाता है, यह त्रुटिपूर्ण है। समष्टिवाद एक व्यापक विचार है, जिसके अन्तर्गत व सभी विचारधाराएँ आती हैं जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को किसी न किसी रूप में सीमित कर किसी संस्था जैसे राज्य आदि को व्यापक अधिकार प्रदान करती हैं। इस प्रकार समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद आदि सभी समष्टिवादी विचारधाराएँ हैं। समाजवाद के सन्दर्भ में समष्टिवाद का तात्पर्य राज्य तथा स्थानीय संस्थाओं के आर्थिक तथा अन्य कार्यों में विस्तार के रूप में ही लिया जाता है।

समष्टिवाद को राज्य समाजवाद कहा जा सकता है क्योंकि इसमें समाजवादी कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने में राज्य को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जाती है। लोकतान्त्रिक समाजवाद भी समष्टिवादी होता है, किन्तु लोकतान्त्रिक समाजवाद में लोकतान्त्रिक शक्तियों, सिद्धान्तों एवं मूल्यों को साध्य के रूप में स्वीकार किया जाता है तथा राज्य जो समष्टिवादी होता है, इन आदर्शों की प्राप्ति का साधन होता है। अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि समष्टिवाद एक तटस्थ राज्यवाद है जिसे विभिन्न आदर्शों के अनुसार किसी भी प्रकार के समाजवाद में परिवर्तित किया जा सकता है। यदि मार्क्सवादी आदर्शों की प्राप्ति करनी है तो यह साम्यवाद है, यदि हिटलर और मुसोलिनी के उद्देश्यों की उपलब्धि करनी है तो यह नात्सीवाद और फासीवाद हो सकता है, तथा यदि लोकतान्त्रिक मूल्यों में अभिवृद्धि करनी है तब यह लोकतान्त्रिक समाजवाद कहा जा सकता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद को परिभाषित करना कठिन कार्य होने के साथ-साथ असम्भव सा प्रतीत होता है। "इसका एक सुपरिभाषित विचारधारा का होना तो दूर रहा, यह विभिन्न चिन्तकों और राजनीतिक शक्तियों के योगदान का समूह जैसा लगता है। सम्भवत: कोई भी समाजवादी एक ही साथ इन विचारों और सिद्धान्तों

का तार्किक (या विवेकपूर्ण ढ ग से) निर्वाह नही कर सकता।'[1] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका मे समाजवाद की निम्नलिखित परिभाषा उल्लेखनीय है :—

> "समाजवाद उस नीति या सिद्धान्त को कहते हैं जिसका उद्देश्य एक केन्द्रीय लोकतान्त्रिक सत्ता द्वारा प्रचलित व्यवस्था की अपेक्षा धन का उत्तम वितरण एव उसके अधीन रहते हुए धन का उत्तम उत्पादन उपलब्ध करना है।"[2]

यह परिभाषा वास्तव मे लोकतान्त्रिक समाजवाद की ओर ही इगित करती है। इसमे समाजवाद के उद्देश्य, साधन एव प्रक्रिया का जो उल्लेख है वह लोकतान्त्रिक समाजवाद के सन्दर्भ मे ही सही लगता है। फिर जब समाजवाद के विभिन्न सम्प्रदाय अपना विशिष्ट नाम ग्रहण कर चुके हैं, तब प्रचलित भाषा मे समाजवाद का अर्थ लोकतान्त्रिक समाजवाद से ही लगाया जाता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का कोई निश्चित दर्शन नही है। इसका विकास विभिन्न समय एव देशो मे विभिन्न परिस्थितियो के सन्दर्भ मे हुआ है। लेकिन इसका मूल सैद्धान्तिक पक्ष जितना स्पष्ट है शायद ही किसी अन्य समाजवादी शाखा का हो। लोकतान्त्रिक समाजवाद मे 'लोकतन्त्र' और 'समाजवाद' दोनो ही स्वय स्पष्ट हैं। कोई भी समाजवादी विचारधारा जिसमे लोकतन्त्र को साध्य एव साधन दोनो ही रूप मे स्वीकार किया जाता है, लोकतान्त्रिक समाजवाद कहलाता है। लोकतान्त्रिक समाजवाद मे लोकतान्त्रिक आदर्शों की उपलब्धि लोकतान्त्रिक साधनो से ही होनी चाहिये। सूक्ष्म मे, लोकतान्त्रिक समाजवाद के तीन प्रमुख पक्ष हैं। प्रथम, समाज का उद्देश्य समस्त जनता का कल्याण होता है, किसी वर्ग विशेष का नही। द्वितीय, जन-कल्याण सम्बन्धी गतिविधियो का माध्यम राज्य या अन्य राजकीय संस्थाएं होती है। तृतीय, उद्देश्यो की प्राप्ति लोकतान्त्रिक साधनो स होनी चाहिये।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का विकास

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप मे न तो लोकतन्त्र था और न समाजवाद। शासन व्यवस्था के रूप मे निरकुशवाद और सामन्तवाद का ही सर्वत्र प्रभुत्व था। कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथों मे राजसत्ता और अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित थी। उच्च वर्ग द्वारा साधारण जनता का दमन और शोषण एक सामान्य बात थी। लोकतन्त्र और समाजवाद के उदय मे औद्योगिक क्रांति तथा उससे उत्पन्न परिस्थितियों का मूल योगदान रहा है। यहाँ पर यह समझना दुर्लभ है कि पहले लोकतन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ या समाजवाद का। औद्योगिक क्रान्ति के युग म लोकतन्त्र और समाजवाद का कहीं समानान्तर तथा कही मिला जुला सा विकास

1 Merkl, Peter H , Political Continuity and Change, p. 139.
2 देखिये पृ 4

हुआ। किन्तु जैसे ही लोकतन्त्र और समाजवादी विचारधाराएं अपना अलग-अलग अस्तित्व स्पष्ट करने लगी, इन दोनों की त्रुटियां एवं कमजोरियां दृष्टिगोचर होने लगी।

उन्नीसवी शताब्दी मे उदारवादी और लोकतान्त्रिक विचारधारा का धीरे-धीरे विकास हो रहा था। लेकिन यह उदारवाद व्यक्तिवाद पर आधारित था जो पूर्णतः पूंजीवादी व्यवस्था के रूप मे विकसित हुआ। यह वह युग था जब लोकतान्त्रिक तथा उदारवादी सिद्धान्तो के प्रति चिंतन मे तो वृद्धि हुई पर राज्य का कोई विशेष महत्त्व नही था। राज्य को कुछ निश्चित कार्यों तक ही सीमित रखकर इसके कार्यक्षेत्र के विस्तार का प्रतिरोध किया गया। इस समय राज्य के अहस्तक्षेप की नीति को सर्वव्यापी मान्यता प्राप्त थी। गैटिल के अनुसार उस काल मे इस विचार का आधिपत्य था कि सर्वोत्तम राज्य वह है जो कम से कम शासन करता है। 'सरकार मे स्वतन्त्रता न कि सरकार के द्वारा स्वतन्त्रता' उस काल का मुख्य आदर्श था। उस समय यह मान्यता थी कि सरकार का काम केवल व्यवस्था स्थापित करना है, दूसरे के कार्यों मे हस्तक्षेप का अधिकार नही। यह व्यक्तिवाद का अतिवादी रूप था।[3] समाज की शक्तियां शुद्ध व्यक्तिवाद की दिशा मे जा रही थी।

औद्योगिक क्रान्ति मे उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि हुई। अब व्यक्ति को यह आशा हो गई कि वह अपने परिश्रम से अधिकाधिक धन कमा सकता है। उसने अपने साधन और शक्ति मे यूरोप तथा अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था की कायापलट कर दी।

व्यक्तिवादी विचारधारा और औद्योगिक क्रान्ति के समन्वय ने पूंजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया। इसमे साधन-सम्पन्न व्यक्ति तो उद्योगपति पूंजीपति बन गये किन्तु श्रमिकों की दशा अत्यन्त ही दयनीय थी। "नगरों की गन्दी बस्तियो मे रहने वाले मजदूरों के रहन-सहन का स्तर अत्यन्त नीचा था, वे लगभग भुखमरी अवस्था मे रहते थे। उनके सम्बन्ध मे माल्थस ने जो भविष्यवाणी की थी वह मानो पूरी हो गई। आठ-आठ और नौ-नौ वर्ष के बच्चे प्रतिदिन जितने घण्टे कार्य करते थे, उतने घण्टे आज का पूरा आदमी भी नही करता। मालिक लोग समझते थे कि मजदूर तो अन्य विक्रय वस्तुओं की भांति ही हैं, मजदूरों की तत्त्वतः वही स्थिति थी जो कि विक्रय वस्तुओं की, अतः उनका उस मूल्य मे जिसका वे अपने परिश्रम से सर्जन करते थे, वेतन के अतिरिक्त कोई साझा नही था। सम्पूर्ण मूल्य उन मालिकों की जेब मे जाता जो कारखाना चलाते और जोखिम उठाते थे। इन परिस्थितियों मे सबकी स्वतन्त्रता को बात करना तो सम्भव था किन्तु वास्तव मे स्वतन्त्रता थोड़े लोगों को ही उपलब्ध थी। बहुसंख्यक लोग तो केवल इस अर्थ मे स्वतन्त्र थे कि 'स्वतन्त्रतापूर्वक पुल के नीचे सो सकते थे' जैसा कि कार्लाइल

3 गटिल, राजनीतिक चिन्तन इतिहास, पृ. 397.

Thomas Carlyle, 1795–1881) ने कहा था।"[4] जब उच्च वर्ग श्रमिकों की दयनीय दशा से ही द्रवित नहीं हुआ, तो श्रमिकों के राजनीतिक अधिकारों की कल्पना का प्रश्न ही नहीं था। समस्त राजनीतिक-आर्थिक अधिकार उच्च वर्ग तक ही सीमित थे।

इस स्थिति में प्रश्न यह था कि इस अन्याय और शोषण का किस प्रकार उन्मूलन किया जाय ? या, इस दुर्भाग्यपूर्ण व्यवस्था के विकल्प में और कौन सी व्यवस्था की स्थापना हो, जो इस प्रकार के दमन और शोषण से मुक्त कर सके। वास्तव में उस समय इस बात की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत हुई कि—

(i) समाज के उत्पादन साधनों पर किसी एक वर्ग विशेष का नियन्त्रण न हो,
(ii) समाज की सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण हो,
(iii) समाज के श्रमिक वर्ग को उसके श्रम के उपलक्ष में उचित वेतन मिले। यह वेतन उसे किसी वर्ग विशेष से आभार रूप में न मिले वरन् उसका यह अधिकार हो।
(iv) अर्थ व्यवस्था का उद्देश्य निजी लाभ के स्थान पर समाज सेवा को प्रतिष्ठित करना हो।

लेकिन इस कार्य का उत्तरदायित्व कौन ले ? उस समय समस्त आर्थिक व्यवस्था पर पूँजीपतियों का आधिपत्य था। इन शोषण-कर्त्ताओं से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि वे स्वयं ही न्यायोचित समाज की स्थापना में पहल करें। उदार भावना से प्रेरित हो धनिक लोग कुछ कार्य कर सकते थे किन्तु इससे समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। एक शोषण-रहित समाज की स्थापना के दायित्व के लिए राज्य ही एक उपयुक्त संस्था थी, जो समाज की ओर से उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण कर सामाजिक सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण कर सके। इस प्रकार उस समय यह मांग जोर पकड़ने लगी कि राज्य को सामाजिक व्यवस्था में सक्रिय भाग लेना चाहिए। अहस्तक्षेप की नीति से अन्याय का उन्मूलन नहीं हो सकता था। अब राज्य के सकारात्मक कार्यों की भूमिका को मान्यता मिलना प्रारम्भ हुआ।

उस समय जिस प्रकार से राज्य संगठित था, क्या वह इस प्रकार के उत्तरदायित्व के लिए समर्थ था ? क्या वह इस दायित्व का निष्पक्षतापूर्वक निर्वाह कर सकता था ? यह भी उस समय असम्भव सा जान पड़ा क्योंकि जिन लोगों का अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण था उन्हीं का शासन-व्यवस्था पर नियन्त्रण था। उन्हीं का शासन-व्यवस्था पर आधिपत्य था। उन्होंने ही तो हस्तक्षेप की नीति को प्रोत्साहन दिया था और यदि राज्य कोई सक्रिय कदम उठाये भी तो राज्य ऐसा करने में असमर्थ था, क्योंकि राज्य का स्वरूप राजतन्त्र, धनिकतन्त्र या सामन्तवादी जैसा ही था, जो अपने वर्ग-हित की साधना के लिए कटिबद्ध था।

[4] सेबाइन, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 398.

अब आवश्यकता इस बात की थी कि राज्य के वास्तविक स्वरूप में ही परिवर्तन किया जाय। राज्य की शासन व्यवस्था लोकतान्त्रिक ढंग से हो ताकि यह सही अर्थ में समाज का प्रतिनिधित्व कर सके। यहीं से राज्य को लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों पर सगठित करने की माग ने महत्त्व ग्रहण किया। इस प्रकार उस समय सामाजिक सम्पत्ति के स्रोतों का समाजीकरण करने तथा लोकतन्त्र की स्थापना के लिए चिन्तन और आन्दोलन का ही प्रादुर्भाव हुआ। यही लोकतान्त्रिक समाजवाद का आधार एव प्रारम्भ था।

मार्क्सवादी विचारो से यूरोप में वास्तविक समाजवादी विचार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। मार्क्सवादी समाजवाद वर्ग-सघर्ष और क्रान्ति पर आधारित था। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद भी कहते हैं, क्योंकि मार्क्स-एन्जिल्स के विचार ऐतिहासिक तथ्यों, सामाजिक प्रभावों, मानव स्वभाव के मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कारण-परिणाम के सम्बन्धों पर आधारित था। सभी लोकतान्त्रिक समाजवादी मार्क्सवादी विवेचन से प्रभावित तो हुए किन्तु मार्क्सवादी सिद्धान्त जैसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्यवस्था, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धात, वर्ग-सघर्ष, श्रमिक-क्रान्ति, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व तथा राज्यरहित, शोषणरहित अन्तिम साम्यवादी-व्यवस्था आदि को स्वीकार नहीं करते। यद्यपि मार्क्सवाद उस समय सम्पूर्ण यूरोप पर छाया रहा, किन्तु यह लोकतान्त्रिक समाजवादियों के लिए प्रेरणास्रोत न बन सका। वास्तव में लोकतान्त्रिक समाजवाद का विकास मार्क्सवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ।

यूटोपियायी समाजवादी (सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर, रॉबर्ट ओवन आदि) प्रारम्भिक समाजवादी थे जिनके विचारों में समाजवाद के सभी सिद्धान्तों की झाकी मिलती है। वे उस समय प्रचलित पूँजीवादी व्यवस्था, स्पर्धा लाभ आदि के कटु आलोचक थे तथा उनसे सम्बन्धित बुराइयों के उन्मूलन के पक्ष में थे। किन्हीं कारणों से उन्हें यूटोपियायी कहा जाता है, किन्तु वे वास्तव में लोकतान्त्रिक समाज-वादी थे। यूटोपियायी समाजवादियों ने लगभग उन सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो लोकतान्त्रिक समाजवाद के सिद्धान्त-सूत्र हैं, उदाहरणार्थ—

(i) यूटोपियायी समाजवादी वर्गभेद में विश्वास नहीं करते थे। उनका समाजवाद सम्पूर्ण समाज का था।

(ii) सामाजिक बुराइयों को दूर करने तथा समाजवादी सुधारों के लिए वे राज्य एव विधि निर्माण के महत्व को स्वीकार करते थे।

(iii) वे शान्तिपूर्ण एव विकासवादी साधनों को मान्यता देते थे।

बेन्थम (Jeremy Bentham, 1748-1832) प्रमुख उपयोगितावादी थे। किन्तु उनके विचारो ने आधुनिक उदारवाद एव समाजवाद को प्रभावित किया। बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त — अधिकतम व्यक्तियों की अधिकतम

भलाई (greatest happiness of the greatest number)—उस समय प्रगतिशील सुधारों का मुख्य आधार बन गया।[5] इस सिद्धान्त ने सुधारों में उच्च वर्ग की परिधि तोड़कर यह मान्यता प्रदान की कि कल्याणकारी गतिविधियों के अन्तर्गत समाज के अधिक से अधिक व्यक्ति आने चाहिए। वह मानव स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था किन्तु वे अधिकार प्रकृति से नहीं राज्य या विधि द्वारा प्राप्त होते हैं। बेन्थम ने कई सुधारों का सुझाव दिया। बेन्थम ने जिन व्यावहारिक विधायी सुधारों पर बल दिया उनकी बड़ी संख्या थी जिनमें संवैधानिक, लोक-शिक्षा, लोक स्वास्थ्य, दरिद्र वर्ग से सम्बन्धित कानूनों में सुधार, असैनिक सेवा सुधार आदि की योजनायें सम्मिलित थीं। यहां पर बेन्थम को यह विश्वास हुआ कि ये सभी सुधार व्यर्थ हैं जब तक कि संसद में प्रतिनिधि प्रणाली व्यवस्था में लोकतान्त्रिक परिवर्तन न किये जायें।[6] इस प्रकार बेन्थम लोकतान्त्रिक सुधार और राज्य द्वारा सुधारवादी कार्यक्रम का समर्थक था। बेन्थम राज्य को उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं देना चाहता था जिससे वह आदर्शवादी अधिराज्य का स्थान ग्रहण करले। व्यक्ति के सन्दर्भ में वह राज्य को सीमित मानता था। बेन्थम के अनुसार सामाजिक हित व्यक्तियों का ही सामूहिक हित है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।[7] इस प्रकार वह सर्वसत्ताधारी राज्य का पूर्णतः विरोधी था। सुधारों द्वारा बेन्थम जिन बुराइयों को दूर करना चाहता था, उनके सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण था कि जिस बुराई का उन्मूलन किया जाय वह वास्तव में बुराई हो तथा जिन साधनों का प्रयोग किया जाय वे उन बुराइयों से कम बुरे होने चाहिए।[8] इस प्रकार बेन्थम साधनों की नमनीयता के पक्ष में था। उसने बुरे साधनों को कभी मान्यता नहीं दी। बेन्थम के विचारों को समाजवादी तो नहीं कह सकते किन्तु जिन तत्त्वों को लोकतान्त्रिक समाजवाद मान्यता देता है उनका बहुत कुछ आधार बेन्थम के विचारों में मिलता है।

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill 1806–73), व्यक्तिवादी विचारधारा से जुड़े हुए हैं किन्तु उनकी व्यक्तिवादिता व्यक्ति के 'स्वय' तक ही सीमित थी। उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सामाजिक सन्दर्भ में व्याख्या की है। उनके विचारों में लोकतन्त्र और सामाजिकता दोनों का ही दिग्दर्शन होता है। मिल के ही शब्दों में —

> "मनुष्य-जीवन में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों अंगों के साथ न्याय होगा, यदि ये दोनों अपने को उन्हीं बातों तक सीमित रखते हैं जिन

5 Sabine, G H, A History of Political Theory, p 566

6. सेबिन, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास पृ. 369.
Sabine, G H, A History of Political Theory, p 567.

7 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 214
सेबिन, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ. 368.

8 Hallowell, J. H, Ibid, p 214

बातों में उनका विशेष और गहरा सम्बन्ध है। उन बातों में जिनमें कि केवल व्यक्ति के निज का सम्बन्ध है, वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति के जिस आचरण और व्यवहार से समाज पर प्रभाव पडता है, उस आचरण और व्यवहार पर समाज का अधिकार होना चाहिए।"[9]

मिल के विचारों से किसी समाजवादी सम्प्रदाय की सृष्टि नहीं हुई है किन्तु उन्होंने एक ओर तो अनियन्त्रित स्वतन्त्रता का विरोध किया, दूसरी ओर राज्य के अधिकार क्षेत्र में वृद्धि का समर्थन किया। व्यावहारिक राजनीति में वे परिवर्तनवादी थे तथा उस समय प्रचलित तमाम बुराइयों के उन्मूलन के लिए विधि निर्माण का समर्थन करते थे। उनके विचार किसी न किसी रूप में लोकतन्त्र और समाजवाद के समन्वय की ओर इंगित करते हैं। आगे चलकर इन्हीं विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति इंग्लैंड की समाजवादी प्रवृत्ति में मिलती है।

ग्रीन (T. H. Green 1836–1882) आदर्शवादी-उदारवादी थे। उनके विचारों ने लोकतान्त्रिक समाजवाद को किसी न किसी रूप में प्रोत्साहन दिया। ग्रीन के पहले उदारवादी (Liberal) कानूनों का तदर्थ रूप (ad hoc) में कभी-कभी निर्माण होता था। ग्रीन ने उदार कानूनों को स्थाई आधार पर सम्पूर्ण समाज के लिए निर्मित करने का सुझाव दिया। ग्रीन ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को समन्वित तथा सन्तुलित करने का प्रयत्न किया। एक ओर तो उन्होंने मानव अधिकारों का समर्थन किया जो लोकतन्त्र के प्राण होते हैं, दूसरी ओर इन अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य को आवश्यक बतलाया तथा राज्य के सकारात्मक कार्यों का सुझाव दिया जो समाजवाद का मुख्य तत्त्व है। ग्रीन के शब्दों में—

> "राज्य को अधिकारों की पूर्व कल्पना होती है, और ये अधिकार व्यक्तियों के अधिकार होते हैं। उन्हें बनाये रखने के लिए समाज यह रूप ग्रहण करता है।"[10]

ग्रीन की नैतिकता का आधारभूत सिद्धान्त व्यक्ति और सामाजिक समुदाय जिसका कि वह सदस्य है, की पारस्परिकता है।[11] ग्रीन का यह कथन कि 'स्वय' सामाजिक है (Self is a Social Self) अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।[12] ग्रीन द्वारा उदारवाद की नयी व्याख्या का परिणाम यह हुआ कि राजनीति और अर्थशास्त्र के

9 Mill J S , Liberty and Repreventative Government, Hindi Translation by P. C Jain, Hindi Samiti, Suchna Vibhag, Uttar Pradesh, 1963, p 99

10 Green, T H , Lectures on the Principles of Political Obligation, Hindi Translation, by Dr. B M Sharma, Hindi Samiti, Suchna Vibhag, Uttar Pradesh, 1956, p 137

11 Sabine, G H , A History of Political Theory p. 611.

12 Ibid , p 617.

राज्य की एक कठोर सीमा भी वह समाप्त हो गई। ग्रीन के पहले उदारवादी अर्थशास्त्र तथा बाजार की स्वतन्त्र प्रक्रिया में राज्य कोई भी हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। ग्रीन के अनुसार मुक्त एवं स्वतन्त्र बाजार प्रक्रिया भी एक सामाजिक संस्था है जिसे पूर्ण स्वतन्त्र रखने के लिए विधि निर्माण एवं राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। सेबाइन ने इस सम्बन्ध में लिखा है,—

> 'ग्रीन के उदारवाद में राज्य को स्पष्टतः एक सकारात्मक साध्य स्वीकार किया गया है, जिसका प्रयोग सकारात्मक स्वतन्त्रता (positive freedom) में योगदान हेतु विधि निर्माण के लिए किया जा सकता है। संक्षेप में, राज्य का उद्देश्य सामान्य कल्याण के लिए भी उद्देश्य से किया हो सकता है।'[13] राज्य बुराइयों में वृद्धि नहीं बल्कि उनका उन्मूलन करता है।



ग्रीन ने सामाजिक हित में राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि करने का सुझाव दिया। उसका विश्वास था कि राज्य द्वारा सार्वजनिक शिक्षा सिर्फ अनुदान ही नहीं बल्कि उसे इससे अधिक कुछ और भी करना चाहिए। राज्य को स्वास्थ्य एवं सफाई, अच्छे भवन निर्माण, श्रमिकों के साथ समझौता पर नियन्त्रण करने में अपने उत्तरदायित्वों का विस्तार करना चाहिए। राज्य अपने कार्यक्षेत्र में जो भी विस्तार करे, वह शक्ति द्वारा नहीं, जन-इच्छा द्वारा होना चाहिए। ग्रीन के ये विचार अवश्य ही लोकतान्त्रिक समाजवाद में योगदान के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं।

इंग्लैण्ड में फेबियन समाजवादियों ने वहाँ के चिन्तन को बड़ा प्रभावित किया। अतः इनको उनके मार्क्सवाद के विकल्प के रूप में दृष्टिगोचर हुए। जोड (C E M Joad) ने फेबियनवाद को इंग्लैण्ड में लोकतान्त्रिक समाजवाद (जिसे जोड ने समष्टिवाद कहा है) का अग्रदूत माना है। फेबियन बुद्धिजीवियों ने यह स्वीकार किया कि पूँजीवादी और प्रतिस्पर्धात्मक अर्थ व्यवस्था ने कुछ ही लोगों को सुख व आराम दिया है तथा बहुसंख्यकों के कष्टों में वृद्धि हुई है। साधारण लोगों को सुख एवं सुविधाएँ प्राप्त हों, इसलिए समाज की ऐसी व्यवस्था की जाए जिसमें भूमि और औद्योगिक पूँजी को व्यक्ति या वर्ग विशेष के स्वामित्व से मुक्त करा कर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना हो। फेबियन विचारकों ने क्रान्ति के स्थान पर लोक-तान्त्रिक संवैधानिक कानूनों का समर्थन किया। फेबियन समाजवादियों की लोकतान्त्रिक समाजवाद प्रगति में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यूटोपियायी समाजवादियों से ऊपर उठकर तथा मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों का सैद्धान्तिक सामना कर फेबियनवादियों ने लोकतान्त्रिक या विकासवादी समाजवाद के मार्ग को प्रशस्त एवं स्पष्ट किया।

एडुअर्ड बर्नस्टाइन, जिन्हें प्रमुख संशोधनवादी कहा जाता है, की लोकतान्त्रिक समाजवाद के साथ सम्पर्क करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। संशोधनवादी श्रमिकों

13 Ibid., p. 615

के हिमायती थे। वे मानते थे कि सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए आवश्यक है कि राज्य उत्पादन का अधिक अच्छे ढंग से वितरण करे। इनके नेतृत्व में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने एक व्यापक समाजवादी कार्यक्रम[14] स्वीकार किया जिसे यूरोप के विकासवादी समाजवादियों ने सामान्यत स्वीकार किया था। इस कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थी—

1. सार्वजनिक प्रत्यक्ष तथा समान मताधिकार,
2. जनसख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व,
3. लोकमत के आधार पर विधि निर्माण करना,
4. नि शुल्क चिकित्सा
5. क्रमिक आय-कर (progressive income tax),
6. प्रति दिन आठ घन्टे काम
7. रात्रि मे काम लेने पर निषेध,
8. बच्चों से काम लेने पर निषेध, तथा
9. प्रत्येक नागरिक का जीवन बीमा आदि।

उपर्युक्त कार्यक्रम उस समय प्रगतिशील एव समाजवादी था जिसने राज्य को एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। किन्तु लैस्ले, बर्नस्टाइन आदि सभी की यह नीति थी कि यह कार्यक्रम वर्ग-संघर्ष म निहित हिंसा के बिना ही सम्पादित किया जाय। उन्होंने परिवर्तनों के लिये लोकतान्त्रिक साधनों का समर्थन किया।

इग्लैण्ड के मजदूर दल (The British Labour Party) का समाजवाद

लोकतान्त्रिक समाजवाद का व्यावहारिक कार्यक्रम निर्धारित करने मे इग्लैंड के मजदूर सघ (Labour Party) का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जोड के अनुसार ब्रिटिश मजदूर दल बडी ही स्पष्टता के साथ समाजवादी गति-दिशा की ओर सकेत तथा शालीनतापूर्वक उसका अनुसरण करता है। 1918 मे इस दल ने 'मजदूर और नवीन सामाजिक व्यवस्था' शीर्षक कार्यक्रम स्वीकार किया जो निम्नलिखित चार मौलिक सूत्रो पर आधारित था.—

1. *सबके लिये न्यूनतम राष्ट्रीय आय,*
2. उद्योग का लोकतन्त्रीय नियन्त्रण,
3. राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे क्रान्ति,
4. अतिरिक्त सम्पत्ति का सार्वजनिक कल्याण के लिये उपयोग।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षा सम्बन्धी सुझाव भी स्वीकृत किये गये, जिनको

---

[14] यह कार्यक्रम गोथा कन्वेंशन (Gotha Convention, 1875) तथा एरफर्ट प्रोग्रेम (Erfurt Programme, 1891) पर आधारित था।
See Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, pp 447—450.

कार्यान्वित करते समय सामाजिक वर्गों के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त दल नौकरशाही और अति केन्द्रीकरण के भय से भी सजग है। इसलिए स्थानीय संस्थाओं की गतिविधियों को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया गया। महत्त्वपूर्ण सेवाओं के राष्ट्रीयकरण और नगरपालिकाकरण के फलस्वरूप बहुत से अतिरिक्त धन का निजी स्वामित्व स्वयमेव ही समाप्त हो जायेगा। आनुक्रमिक आय कर से पूंजीपतियों के लाभ का अधिकांश भाग राज्य के पास चला जायगा। इस तरह राज्य जो धन राशि प्राप्त करेगा उसका प्रयोग राष्ट्र भर में शिक्षा फैलाने, न्यूनतम आय वालों का मानदण्ड ऊँचा करने, बीमारों और निर्बलों की चिकित्सा और उनका पालन-पोषण करने, माता बनने वाली स्त्रियों की सहायता, वैधानिक कार्यों को प्रोत्साहित और समाज के सामान्य जीवन स्तर को ऊँचा करने के लिये किया जायगा। मजदूर दल के वे आदर्श, जो उस समय निश्चित किये गये, ऐसे लक्ष्य हैं जिन्हें समाजवादी राज्य में ही प्राप्त किया जा सकता है।[15]

1929 में 'मजदूर और राष्ट्र' के नाम से एक और घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें मजदूर दल ने कोयले की खानों, भूमि, यातायात, जीवन बीमा व सामाजीकरण तथा बैंक ऑफ इंग्लैंड के राष्ट्रीयकरण का वचन दिया। 1940 में लेबर पार्टी ने एक कार्यक्रम प्रकाशित किया जो 'मजदूर, युद्ध और शान्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।[16] 1942 में लेबर पार्टी के अधिवेशन में पारित प्रस्ताव का यह भाग महत्त्वपूर्ण है—

> "देश के मौलिक उद्योगों और सेवाओं का सामाजीकरण तथा सामाजिक उपयोग की दृष्टि से उत्पादन की योजना बनाना, क्योंकि यही एक ऐसी न्याय सगत समृद्ध आर्थिक व्यवस्था की स्थाई आधार-शिला है जिसमें *राजनीतिक लोकतन्त्र और व्यक्तिगत स्वाधीनता के साथ सभी नागरिकों के* लिए जीवन के एक न्याय सगत मानदण्ड की सगति बैठाई जा सकती है।"[17]

यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त होते ही इंग्लैण्ड में चुनाव हुए। लेबर पार्टी के इतिहास में 1945 के आम चुनावों का विशेष महत्त्व है। इसी वर्ष लेबर पार्टी पूर्णतः सत्ताधारी दल के रूप में सामने आई। यद्यपि इसके पहले भी लेबर पार्टी 1924 और 1929-31 में सत्ता में आई थी, किन्तु उसे अपने कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए समुचित अवसर नहीं मिल सका। यह अवसर अब 1945 में आया। 1945 के आम चुनावों के पहले लेबर पार्टी ने वचन दिया था कि वह सत्तारूढ़ होते ही आर्थिक व्यवस्था के प्रमुख साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की

---

[15] जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 56–58.

[16] जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 55.

[17] उद्धृत, आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 625–26.

स्थापना कर देगा।[18] क्लीमेण्ट ऐटली (C. R. Attlee) के नेतृत्व में गठित मन्त्रि-मण्डल ने कोयले और इस्पात के उद्योगों, बैंक ऑफ इंग्लैण्ड, नागरिक उड्डयन, विद्युत, दूर-सचार, रेल और मोटर-जन परिवहन, जलमार्गों और गैस आदि का राष्ट्रीयकरण कर दिया। राष्ट्रीयकरण स्वयं में एक साध्य नहीं है, किन्तु इसके द्वारा कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति होती है। अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण आवश्यक है क्योंकि इससे सरकार को उद्योगपतियों द्वारा सरकार पर नियन्त्रण बनाए रखने से मुक्ति मिल जाती है।[19] परिणामस्वरूप राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का लगभग 20 प्रतिशत सार्वजनिक नियन्त्रण में आ गया। इसके अतिरिक्त रोटी और दूध के व्यवसाय को आर्थिक सहायता दी गई। आवास योजनाओं, वृद्धावस्था में पेन्शन की व्यवस्था पर ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा मजदूर दल की महानतम सफलताओं में से एक है।[20]

इस शताब्दी के लगभग सम्पूर्ण छठे दशक तथा 1974 के प्रारम्भ से हेरॉल्ड विल्सन (Herold-Wilson) के नेतृत्व में लेबर दल की सरकार का फिर प्रभुत्व स्थापित हुआ। विल्सन सरकार ने इस समाजवादी कार्यक्रम को और आगे बढ़ाने का प्रयास किया है।

स्कैंडेनेविया राज्यों में लोकतान्त्रिक सहकारी समाजवाद

स्कैंडेनेवियन राज्यों (नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क) में लोकतान्त्रिक समाजवाद की विशेष भूमिका रही है ये छोटे-छोटे राज्य कई राजनीतिक-आर्थिक सुधारों की *प्रयोगशाला रहे हैं।*[21] विशेषतः इनके लोकतान्त्रिक वातावरण में कई समाजवादी सुधारों का विकास हुआ है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही स्कैंनेडेवियन राज्यों में मजदूर आन्दोलनों ने काफी गति और शक्ति का परिचय दिया है। इन सभी राज्यों में समाजवादी दलों ने सत्ता प्राप्त की और अपने कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का सफल प्रयत्न किया है। 1935 में स्वीडन तथा 1945 में नोर्वे में समाजवादी दल सत्तारूढ़ हुए। इन समाजवादी दलों ने जो सुधार किये या जो समाजवादी नीतियाँ अपनाईं, उनका लोकतान्त्रिक समाजवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्कैंनेडेवियन समाजवाद की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

प्रथम, समस्त अर्थ-व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण नहीं है। जिन-जिन क्षेत्रों में राज्य के नियन्त्रण का विस्तार किया है वह शनैः शनैः हुआ है।

द्वितीय, अर्थ-व्यवस्था का एक बड़ा भाग निजी क्षेत्र के लिए छोड़ गया है। वहाँ यह माना जाता है कि जन-कल्याण और कुशलता के लिए सार्वजनिक और

18 Attlee, C.R., As It Happened, pp 162–63.
19 Attlee, C.R., As It Happened, pp 163.
20 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 626.
21. Albjerg and Albjerg, Europe from 1914 to the Present, p 411

निजी क्षेत्र मे सद्भावपूर्ण स्पर्धा होनी चाहिए। इस प्रकार स्कैनेडेवियन राज्यो की अर्थ–व्यवस्था प्रत्येक दृष्टि से सन्तुलित है।

तृतीय, स्कैनडेवियन समाजवाद की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता वहाँ का सहकारी समाजवाद है इन राज्यो की अर्थ व्यवस्था मे सहकारी संस्थाओं, विशेषत. उपभोक्ता सहकारिता, का विशेष योगदान है।

चतुर्थ, इन राज्यो मे राशन-प्रणाली (Rationing System) बहुत ही कुशल है। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त स्वीडन म प्रत्यक व्यक्ति को एक कमीज और एक सूट प्रतिवर्ष मिलता था।[22] राज्य द्वारा वितरण व्यवस्था और मूल्य नियन्त्रण अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं।

इस प्रगति का श्रेय स्कैनेडेवियन राज्यो के श्रमिक वर्ग को है जो अत्यन्त बुद्धिमान एवं कुशल हैं। वे सुधार चाहते हैं, क्रान्ति नही।

इजराइल की समाजवादी व्यवस्था[23]

इजराइल की लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था सम्भवत· सर्वाधिक प्रगतिशील एव आकर्षित है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इजराइल की समाजवादी व्यवस्था साम्यवादी सिद्धान्तों से भी कई कदम आगे है। इजराइल में इस समय प्रचलित व्यवस्था कोई नवीन विकास नही है। यह सदियों के विकास का परिणाम है। यह व्यवस्था यहूदी जाति की परम्परा का अभिन्न अग है।

इजराइल मे लेबर पार्टी एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति है। सबसे शक्तिशाली आर्थिक संस्था 'इजराइल श्रमिक सघ' (General Federation of Israel Labour) तथा लेबर पार्टी दोनो मिलकर इजराइल को श्रमिक राष्ट्र बनाना चाहते हैं। कृषि क्षेत्र मे इस उद्देश्य की प्राप्ति सामान्यत: हो चुकी है, औद्योगिक क्षेत्र मे इस लक्ष्य की उपलब्धि अभी शेष है।

इजराइल का आधुनिक समाजवादी विकास उसी समय से प्रारम्भ हो गया था जब फिलिस्तीन पर अंग्रेजो का सरक्षण था। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे रूस और रूमानिया से आये हुए यहूदियों ने छोटे-छोटे कृषि फार्म का निर्माण किया। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे पूर्वी यूरोप से कुछ बुद्धिजीवी यहूदियो का भी आगमन हुआ। ये समाजवादी थे, जो बुद्धिजीवी होते हुए भी श्रम की महत्ता समझते थे तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व मे विश्वास करते थे, जो यहूदी परम्परा के पूर्ण अनुरूप था। प्रथम विश्व-युद्ध के पहले गैलिली क्षेत्र में एक दो सहकारी सामूहिक ग्रामों (Collective Settlements) की स्थापना हुई। बाद मे इनमे वृद्धि हो गई। इन सहकारी सामूहिक ग्रामो का स्वामित्व सभी व्यक्तियो

22 Ibid , p 735

23 In this connection see Israel by Norman Bentwich, Chapter 8, The Socialist Order.

या समाज का था। यहूदी भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व में सामान्यत: विश्वास नहीं करते। कृषि सहकारी सामूहिक ग्रामों को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम, छोटे-छोटे कृषकों के सहकारी ग्राम जहाँ प्रत्येक परिवार अपनी भूमि पर स्वयं श्रम करता तथा उससे पारिवारिक आय प्राप्त करता। भाड़े पर श्रमिकों को लगाने पर प्रतिबन्ध था। केवल कृषि-उपज विक्रय आदि सहकारिता पर आधारित थी।

दूसरी श्रेणी में वे समूह आते हैं जिन्हें किबुट्ज (Kibbutz) कहा जाता है। इस व्यवस्था में सम्पूर्ण ग्राम को एक ही इकाई माना जाता है, जहाँ किसी की निजी सम्पत्ति नहीं होती, प्रत्येक व्यक्ति समानरूप से भागीदार है। बच्चों की देख-रेख समाज करता है। व्यक्ति पूरे समाज के लिए कार्य करते हैं तथा इस व्यवस्था का संचालन ग्राम-सभा (Assembly of the Community) करती है। यह व्यवस्था इस सिद्धान्त पर आधारित है — कि-प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करे तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार मिले।

इजराइल की समाजवादी व्यवस्था में राज्य और विभिन्न समुदायों के अधिकारों और उत्तरदायित्वों का बड़ा अच्छा समन्वय किया गया है। इजराइली राज्य वास्तव में इन्हीं समुदायों का विस्तार है। इस व्यवस्था से इजराइल ने जो प्रगति एवं शक्ति संचय किया है वह आश्चर्यजनक है।

भारतीय समाजवाद

भारतवर्ष वैसे समाजवादी राज्य नहीं है किन्तु स्वाधीनता के उपरान्त जो संविधान का निर्माण किया गया उसमें ऐसे उद्देश्यों को स्वीकार किया गया है जो लोकतान्त्रिक समाजवाद ही हो सकता है। संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत वास्तव में कल्याणकारी समाजवादी कार्यक्रम को स्पष्टत: मान्यता प्रदान की गई है। इन निर्देशक तत्वों में सभी व्यक्तियों को समुचित जीविका का अधिकार, अर्थ-व्यवस्था पर सामाजिक स्वामित्व एवं नियन्त्रण, सम्पत्ति संचय का विरोध, श्रमिकों के उत्थान, पिछड़े हुए वर्ग की प्रगति आदि को सम्मिलित किया गया है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जो स्वाधीनता से ही केन्द्र में सत्ताधारी रहा है, समाजवादी कार्यक्रम स्वीकार किया है। इस समाजवादी व्यवस्था की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं —

प्रथम, समाज के प्रत्येक आर्थिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व है।

द्वितीय, राज्य के महत्त्व और व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार किया गया है।

तृतीय, आर्थिक क्षेत्र में मिश्रित-अर्थ व्यवस्था (Mixed Economy) अपनायी गई है। महत्त्वपूर्ण उद्योगों, आर्थिक गतिविधियों, एवं सेवाओं का राष्ट्रीयकरण किया गया है। निजी क्षेत्र के लिए भी व्यापक क्षेत्र छोड़ा गया है। किन्तु निजी क्षेत्र को नियन्त्रणहीन नहीं छोड़ा गया है।

चतुर्थ, देश के आर्थिक साधनों का न्यायोचित वितरण करने के लिये शहरी एवं ग्रामीण सम्पत्ति की सीमा निर्धारण भी इस समाजवादी व्यवस्था का प्रमुख अंग है।

पंचम श्रमिक आय-कर जिससे धनिक वर्ग सम्पत्ति संचित न कर सके, किन्तु सभी वर्गों का आर्थिक प्रगति में योगदान रहे।

भारत में जो भी समाजवादी व्यवस्था का अभ्युदय हो रहा है उसमें बहुत से तत्व निश्चितता ग्रहण नहीं कर पाये हैं। हमारे बहुत से सुधार तदर्थ योजना से लगते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारत लोकतान्त्रिक व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है तथा उसे अधिक सफल बनाने के लिये आर्थिक पक्ष को मजबूत बनाना अति आवश्यक है। *लोकतन्त्र और समाजवाद के समुचित एवं कुशलतापूर्वक क्रियान्वित करने से ही* देश में कल्याणकारी राज्य का स्वप्न साकार हो सकता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद के विशेष-लक्षण

लोकतान्त्रिक समाजवाद भी समाजवादी विचारधारा की एक प्रमुख शाखा है। इसलिये इसके तथा अन्य समाजवादी सम्प्रदायों के कुछ आधार सूत्रों में कोई भिन्नता नहीं है। व्यक्तिवाद, पूंजीवाद आदि के दोषों के प्रति इन सभी का दृष्टिकोण लगभग एक सा ही है। लोकतान्त्रिक समाजवाद अन्य समाजवादी शाखाओं से राज्य के प्रति दृष्टिकोण, साधन, उद्देश्य एवं कार्यक्रम में स्पष्टतः भिन्न है। इन्हीं क्षेत्रों में भिन्नता होने के कारण ही लोकतान्त्रिक समाजवाद का स्वयं का पृथक अस्तित्व है।

व्यक्तिवाद का खण्डन

लोकतान्त्रिक समाजवाद में समष्टिवादी तत्व व्यक्तिवाद की मूल धारणाओं और प्रस्थापनाओं का या तो पूर्ण खण्डन या बहुत सीमा तक विरोध करते हैं। व्यक्तिवादी सिद्धान्तों के अनुसार—

(i) *व्यक्ति अपने में एक पूर्ण इकाई है,*

(ii) समाज व्यक्तियों का समूह मात्र है,

(iii) *समाज कृत्रिम है,*

(iv) समाज या राज्य व्यक्ति विकास का साधन मात्र है,

(v) *स्वतन्त्रता ही सुख और विकास है,* तथा

(vi) किसी भी संस्था को व्यक्ति के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

समष्टिवादी इन सब सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि समष्टिवाद का प्रादुर्भाव व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ।

पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध

समाजवादी विचारधारा के विकास को औद्योगिक क्रान्ति और पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। समाजवाद पूंजीवादी दोषों के प्रति विद्रोह था। इसलिये लोकतान्त्रिक समाजवाद भी पूंजीवादी व्यवस्था का

आलोचक है, क्योंकि इस व्यवस्था में राजनीतिक और आर्थिक पक्षों पर थोड़े से व्यक्तियों का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था सीमित व्यक्तियों में धन-संचय, एकाधिकार, लाभ, स्पर्धा आदि को प्रोत्साहन देती है। लोकतान्त्रिक समाजवाद पूंजीवादी शोषण, उसमें सम्बन्धित अन्य बुराइयों को उन्मूलन करने का कार्यक्रम है। इसके अन्तर्गत आर्थिक साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण तथा उनके न्यायोचित वितरण को पूर्णतः स्वीकार किया जाता है।[24]

व्यक्ति और समाज का सावयव सम्बन्ध

समष्टिवादी मनुष्यों और समाज के सम्बन्धों के विषय में अवयवी सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनके अनुसार समाज मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। शारीरिक रचना और कार्य प्रणाली की ही भांति समाज के विभिन्न अंगों का कल्याण परस्पर सहयोग पर निर्भर करता है। व्यक्ति और समाज के हित में कोई अन्तर नहीं होता। व्यक्ति का सुख समाज की समृद्धि और सम्पन्नता में है तथा सुखी और प्रगतिशील व्यक्ति समाज के पूर्ण विकास में सहायक होता है।

लोकतान्त्रिक समष्टिवाद और स्वतन्त्रता

व्यक्तिवादी और पूंजीवादी व्यवस्था व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता पर आधारित है। लोकतान्त्रिक समष्टिवादी इस स्वतन्त्रता को वास्तविक नहीं मानते। यह तथाकथित स्वतन्त्रता है। प्रतियोगी समाज में केवल सबल की स्वतन्त्रता ही सुरक्षित रह सकती है। इस तथाकथित स्वतन्त्रता से बहुसंख्यक लोग शक्ति और साधन सम्पन्न मुट्ठीभर लोगों के परतन्त्र हो जाते हैं। इस व्यक्तिवादी, पूंजीवादी स्वतन्त्र समाज में भारी बहुमत अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ भी उपलब्ध नहीं कर सकता, वे दरिद्रता के भार से दबे रहते हैं। या, यह कहना उपर्युक्त होगा कि व्यक्ति व्यक्तिवादी और पूंजीवादी जुआ जीवन भर अपने कन्धों पर लादे रहता है जिससे मुक्ति इस तथाकथित स्वतन्त्र समाज में मिलना मुश्किल है। इस दशा या स्थिति को स्वतन्त्रता कहना अन्याय और उपहास दोनों ही होगा।

लोकतान्त्रिक समष्टिवादियों का स्वतन्त्रता सिद्धान्त व्यापक और सकारात्मक है। वास्तविक और व्यावहारिक स्वतन्त्रता समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य केवल बन्धनों का निराकरण ही नहीं है। राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल अधूरी और एकपक्षीय है। जब तक मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं से मुक्त नहीं होता, तब तक स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नहीं है। वास्तविक स्वतन्त्रता निषेधात्मक और सकारात्मक राजनीतिक और आर्थिक सभी है। इन उपलब्धियों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में ही मनुष्य का चतुर्मुखी विकास हो सकता है।

---

24 पूंजीवादी व्यवस्था के दोष और समाजवाद के लिये पूर्व अध्याय देखिये

लोकतान्त्रिक समाजवाद और राज्य

अन्य समाजवादी सम्प्रदायों की भाँति लोकतान्त्रिक समाजवाद में भी राज्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। कल्याणकारी कार्यक्रमों को लागू करने का मुख्य दायित्व राजकीय संस्थाओं—केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय संस्थाओं आदि- पर होता है। राज्य द्वारा समाजवादी नीतियों का निर्धारण एवं उन्हें कार्यान्वित किया जाता है। जैसा कि बार्कर ने लिखा है कि यदि किसी भी प्रकार की समाजवादी व्यवस्था की कल्पना की जाती है तो वह राज्य समाजवाद ही हो सकता है।[25]

प्राचीनकाल से ही माना जाता है कि जीवन का उद्देश्य जीवित रहना ही नहीं, अच्छा जीवन जीना है। यह मनुष्य के बहुमुखी विकास की अभिव्यक्ति है। लोकतान्त्रिक समाजवाद में यही उद्देश्य राज्य का है। "राज्य [illegible] अपनी शक्ति के लिए जीवित नहीं रहता, जिसका अर्थ उसके समस्त सदस्यों की या कुछ सदस्यों की जीवन रक्षा होता है, अपितु उसके जीवन का उद्देश्य है कि उसके सदस्य वह कार्य कर सकें जो करने योग्य हैं।"[26] लोकतान्त्रिक समाजवाद में राज्य को व्यापक कार्य करने पड़ते हैं उससे विभिन्न प्रकार के सकारात्मक कार्यों की अपेक्षा की जाती है। इस सम्बन्ध में राज्य के कार्यों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

प्रथम, सामाजिक हित में बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्यों को राज्य स्वयं करता है। बड़े-बड़े उद्योग धन्धों तथा महत्त्वपूर्ण सेवाओं का राष्ट्रीयकरण किया जाता है।

द्वितीय, व उद्योग एवं सेवाएँ जिन्हें निजी क्षेत्र में छोड़ दिया जाता है उन पर भी राज्य का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। निजी क्षेत्र से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण, नीति निर्धारण, व्यापक निर्देश आदि सभी शासन द्वारा ही दिये जाते हैं।

राज्य के इतने व्यापक कार्य एवं अधिकार का तात्पर्य यह नहीं कि राज्य सर्वसत्ताधारी बन जाय। यह सब जन-हित में तथा जनतान्त्रिक साधनों द्वारा ही किया जाता है। लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था में राज्य और व्यक्ति के महत्त्व का समुचित समन्वय होता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में राज्य की प्रतिष्ठा तथा व्यक्ति की गरिमा दोनों की ही बात कही गई है। ऐसा ही विचार राज्य के विषय में लोकतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में न तो राज्य कभी साध्य बन सकता है और न व्यक्ति साधन। जिस सीमा तक राज्य को अधिकारयुक्त बनाया जाता है उसका उद्देश्य व्यक्ति का हित है न कि केवल राज्य की शक्ति-सत्ता सम्पन्न करना है। इसी प्रकार जब व्यक्ति को किसी सीमा तक नियन्त्रित किया जाता है उसका तात्पर्य व्यक्ति को सामाजिक हित की दृष्टि से देखना है। उचित सामाजिकता में ही व्यक्तिगत हित निहित है।

25 Barker, Ernest, *Political Thought in England*, p. 293

26 उद्धृत, जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 49.

राज्य के अधिकारों से सम्बन्धित एक विचार और महत्वपूर्ण है। लोकतान्त्रिक समाजवाद का अर्थ केन्द्रीकरण नहीं है। राज्य अपने अधिकारों और कार्यों को प्रान्तों और स्थानीय संस्थाओं में भी विभाजित करता है। इन सभी स्तरों पर संस्थाएँ लोकतान्त्रिक हों तथा उन्हें राज्य कार्यों में समुचित रूप से भागीदार होना चाहिए। बार्नर्ड शॉ (Bernard Shaw) ने लिखा है—

> "कोई भी प्रजातन्त्रवादी राज्य उस समय तक प्रजातान्त्रिक समाजवादी राज्य नहीं बन सकता जब तक उसकी जनसंख्या के प्रत्येक केन्द्र में कोई ऐसा स्थानीय शासकीय निकाय न हो जिसका संगठन उतना ही प्रजातान्त्रिक हो जितना केन्द्रीय संसद का है।"[27]

लोकतान्त्रिक समाजवाद और जन समुदाय

लोकतान्त्रिक समाजवाद राज्य-समाजवाद है जिसमें राज्य की भूमिका को विशेषतः स्वीकार किया जाता है। किन्तु यह वह व्यवस्था नहीं है जिसमें राज्य आदेश देता रहे तथा जनता उनको मूक या भेड़-चाल के रूप में स्वीकार करती रहे। लोकतान्त्रिक समाजवाद में साधारण जनता की सन्नद्धता, सतर्कता, सहयोग तथा सक्रियता अति आवश्यक है। इसी पक्ष का सबसे अधिक महत्त्व है। तभी तो समाजवाद जनता का तथा जनता के लिए हो सकता है। एक लोकतन्त्र व्यवस्था के अन्तर्गत समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में जनता का प्रत्येक क्षेत्र में सम्मिलित रहना एक आवश्यक दशा है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य . कल्याणकारी राज्य की स्थापना

लोकतान्त्रिक समाजवाद स्वयं में कोई साध्य नहीं है। यह एक ऐसी व्यवस्था एवं कार्यक्रम है जिसमें मनुष्य के बहुमुखी विकास को सम्भव बनाने का प्रयास किया जाता है। इसका उद्देश्य जनहित है। जनहित का तात्पर्य केवल उसकी आर्थिक प्रगति से ही नहीं है, इसके अन्तर्गत उसका आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक पक्ष सभी कुछ आ जाता है। अन्य शब्दों में यह कल्याणकारी राज्य की व्यवस्था करता है।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध समाजवादी स्टेफर्ड क्रिप्स (Stafford Cripps) ने समाजवाद के तीन उद्देश्यों को प्राथमिकता दी है, ये है—स्वतन्त्रता, शान्ति, और आर्थिक साधनों का न्यायोचित वितरण।[28] इसका तात्पर्य लोकतान्त्रिक समाजवाद सामाजिक सेवाओं का लक्ष्य है जो व्यक्ति को स्वतन्त्रता और समता को सर्वाङ्गीण पूर्णता प्रदान करता है।

व्यक्तिवादी और पूंजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति भौतिक शक्तियों के भार से कुचल जाता है। समाजवाद व्यक्ति को भौतिक चिन्ताओं के भार से मुक्त कर देना चाहता है ताकि वह अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत कर सके तथा स्वतन्त्रतापूर्वक

---

27 उद्धृत, जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका,

28 Cripps, Stafford, Why This Socialism. p 15

व्यक्तित्व का विकास कर सके । "जीवन का उद्देश्य केवल जीवन का चिरस्थायीकरण ही नहीं है परन्तु इससे अधिक है, उत्कृष्ट जीवन केवल जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है । *यह सभ्यता का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति को अस्तित्व के संघर्ष की नितान्त* चिन्ताओं से विमोचित करे और उच्चतम गुण-सम्पन्न जीवन व्यतीत करने की क्षमता प्रदान कर सके ।"[29] जोड ने लिखा है—

> 'यद्यपि हम यह मान लेते है कि सत्-जीवन अंशतः आध्यात्मिक मान्यताओं के अनुसार आचरण करने की हमारी योग्यता पर निर्भर करता है और इस बात पर भी कि हम उन आध्यात्मिक आदर्शों की प्राप्ति के लिये सतत् रूप से प्रयत्नशील हैं । सत्य का शोध सत्य के लिये ही करना, सुन्दर वस्तुओं का उनके सौन्दर्य के लिये निर्माण करना, ठीक काम करना, इसलिये कि वह ठीक है, ये सब बातें शारीरिक और मानसिक संस्कृति के एक निश्चित स्तर, रुचि के विकास और परिष्कृत शिष्टाचार सहित सत्-जीवन तत्व है ।"[30]

किन्तु इस चतुर्मुखी विकास के लिये आवश्यक ज्ञान और वित्तीय क्षमता की भी आवश्यकता पड़ती है । यह तभी सम्भव है जब मनुष्य नितान्त अस्तित्व के लिये किये जाने वाले संघर्ष का अतिक्रमण कर सकता है । इस क्षमता में वृद्धि तथा आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति के लिये लोकतान्त्रिक समाजवाद एक महत्वपूर्ण विकल्प है ।

लोकतन्त्र और समाजवाद एक दूसरे के पूरक

लोकतन्त्र की उपलब्धि से राजनीतिक स्वतन्त्रता और समानता आदि तो प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन इसे वास्तविक लोकतन्त्र नहीं कह सकते । यद्यपि लोकतान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना तथा अधिकारों को मान्यता देना भी अधिक महत्वपूर्ण है, लोकतन्त्र को यहीं तक सीमित रखना तथा बिना आर्थिक पक्ष के यह सब अधूरा है । एक निर्धन, भूखे व्यक्ति के लिए लोकतान्त्रिक संस्थाओं तथा मान्यताओं का कोई मूल्य नहीं होता । वह अपने अधिकारों का आर्थिक चिन्ताओं के मध्य सदुपयोग कर ही नहीं सकता । इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति के आर्थिक पक्ष को मजबूत किया जाय । यह समाजवाद के द्वारा सम्भव है । समाजवाद लोकतन्त्र के पूर्ण एवं समुचित विकास के लिये आवश्यक है । दूसरी ओर समाजवाद का महत्व शान्तिपूर्ण एवं लोकतान्त्रिक साधनों में ही निहित है, ताकि लोकतान्त्रिक मूल्यों में अभिवृद्धि हो सके । इस प्रकार लोकतन्त्र और समाजवाद एक दूसरे के पूरक हैं ।

लोकतान्त्रिक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था

आर्थिक सिद्धान्तों के विषय में लोकतान्त्रिक समाजवादियों के अलग-अलग

---

29 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 48-9

30 पूर्व सन्दर्भ, पृ 49

विचार हैं। कुछ समष्टिवादी उग्र विचारकों पर मार्क्सवाद का अधिक प्रभाव है। वे पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना के लिए मार्क्सवादी शब्दावली का ही प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत अधिकतर राज्य-समाजवादी व्यक्तिवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध हैं, लेकिन इनके विषय में वे मार्क्स के विवेचन को स्वीकार नहीं करते।

अधिकतर समाजवादी मार्क्स के श्रम-सिद्धान्त और मूल्य सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उत्पादन किसी एक वर्ग विशेष द्वारा नहीं होता बल्कि उसमें किसी न किसी रूप में पूरे समाज का योगदान रहता है। किन्तु वे इस बात को भी स्वीकार नहीं करते कि पूँजीपति को पूँजी लगाने के कारण पूरे लाभ को हड़प लेने का अधिकार है।

लोकतान्त्रिक समाजवादी आर्थिक क्षेत्र में श्रमिक और पूँजीपतियों के बीच संघर्ष को भी स्वीकार नहीं करते। यह संघर्ष श्रमिक और मालिकों के बीच नहीं, बल्कि समाज और [illegible] लोगों के बीच है जो सामाजिक हित को ध्यान में न रखकर स्वयं धनी होने का निरन्तर प्रयास करते रहते हैं और ये ही लोग राज्य पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहते हैं।

समाजवादी, पूँजीवादी व्यवस्था का प्रमुख दोष यह मानते हैं कि इसमें थोड़े से लोग कार्य-विहीन और सेवा-विहीन सम्पत्ति के द्वारा धन के अधिकांश भाग पर अपना आधिपत्य करते हैं। बिना कार्य किये हुए तथा सामाजिक सेवा की अवहेलना कर जो सम्पत्ति का संचय होता है उससे समाज में द्वेष और वैमनस्य फैलता है। इस प्रकार व्यक्तिवाद और पूँजीवाद के दोषों को ध्यान में रखते हुए लोकतान्त्रिक समाजवादी निम्नलिखित आर्थिक व्यवस्था का समर्थन करते हैं—

(i) प्रत्येक व्यक्ति को वह चाहे हाथ या मस्तिष्क का कार्य करता हो परिश्रम का पूरा प्रतिफल मिलना चाहिये।

(ii) समाज में धन का न्यायपूर्ण वितरण हो जिससे साधारण व्यक्ति भी अपने व्यक्तित्व का विकास कर सुख एवं सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत कर सके।

(iii) उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो, ताकि भूमि और औद्योगिक पूँजी को किसी विशेष हित के स्वामित्व से मुक्त करा कर उसका पूर्ण समाज कल्याण के लिए प्रयोग किया जा सके।

आर्थिक साधनों के स्वामित्व के विषय में इन समाजवादियों में मतभेद है। कुछ राज्य के स्वामित्व या राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं, विशेषतः बैंक, खानें, इस्पात उद्योग, परिवहन के साधन आदि का अविलम्ब राष्ट्रीयकरण होना चाहिये। अन्य आर्थिक क्षेत्रों में राज्य-नियन्त्रण में वृद्धि कर व्यक्तिगत क्षेत्र के लिए छोड़ देना चाहिए।

कुछ लोकतान्त्रिक समष्टिवादी रूस तथा अन्य साम्यवादी राज्यों में राज्य-स्वामित्व को देखकर भयभीत हैं। जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है। वे राष्ट्रीयकरण के स्थान पर सामाजीकरण (Social Control) का समर्थन करते हैं। राज्य के स्थान पर यह कार्य सहकारी समितियों द्वारा चलाये जाने की व्यवस्था नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि देशों में बड़ी लोकप्रिय है।

लोकतांत्रिक समाजवाद और साधन

लोकतान्त्रिक समाजवाद उदार प्रजातन्त्र की पूर्व कल्पना करता है। लोकतन्त्र व्यवस्था में अतिवादी साधनों का कोई महत्त्व नहीं है। लोकतन्त्र और हिंसा एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं। इसलिए लोकतांत्रिक समाजवादी विकासवादी, लोकतान्त्रिक, संवैधानिक, शान्तिपूर्ण साधनों को ही मान्यता देते हैं।[31] एडुअर्ड बर्नस्टाइन ने 1909 में प्रकाशित अपनी पुस्तक–Evolutionary Socialism—में लिखा है—

> "मुझे समाजवादी आन्दोलन में विश्वास है और मजदूरों की भावी प्रगति में विश्वास है। मजदूरों को अपने उद्धार के लिए एक एक कदम आगे बढ़ना चाहिए, जिससे कि आज का समाज, जिसमें अल्पसंख्यक व्यापारियों तथा भू-स्वामियों का आधिपत्य है, वास्तविक लोकतन्त्र का रूप धारण कर सके और उसके प्रत्येक विभाग का संचालन इस ढंग से हो कि काम करने वालों और सृजन करने वालों के हितों की रक्षा हो सके।"[32]

रेमजे मेकडॉनेल्ड, जो ब्रिटेन के प्रथम समाजवादी प्रधानमन्त्री थे, ने 1921 में लोकतान्त्रिक समाजवाद के साधनों की व्याख्या करते हुए लिखा है—

> "जिस ज्ञान का हमें प्रयत्न करना है वह यह है कि हम बिना विवेकपूर्ण योजना और उद्देश्य तथा व्यावहारिक ज्ञान के निर्देशन के बिना आगे न बढ़ें। समाजवादी यह दावा कर सकता है कि उसने यह सतर्कता काम में ली है।"[33]

जोड (C E M Joad) ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं—

> "समाजवादियों का कहना है कि समाज में परिवर्तन क्रमशः ही हो सकता है, और हर परिवर्तन समाज की पूर्ववर्ती स्वभाव की दशाओं के अनुकूल होना चाहिये। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम वर्तमान अवस्था से ही अपना कार्य आरम्भ करें, और वर्तमान स्थिति के अनुसार ही भविष्य की दिशा, इसकी तथा उठाये जाने वाले चरण निर्धारित करें।"[34]

---

31 See Merkl, Peter H., Political Continuity and Change, p 141

32 उद्धृत, गेटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 407.

33 Ramsay MacDonald, J., Socialism Critical and Constructive; p 312

34 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 52–53

पीटर मर्कल(Peter H.Merkl) ने अपनी पुस्तक—Political Continuity and Change, 1967—में लोकतान्त्रिक समाजवाद के विकासवादी साधनों के दो पक्ष बतलाए है। प्रथम, श्रमिकों को श्रम सगठनों का निर्माण करना चाहिये जिनके माध्यम से वे पूंजीपतियों से अच्छे वेतन, काम करने के लिए कम अवधि तथा उत्तम कार्य-परिस्थितियों के विषय में सामूहिक सौदा कर सकें। द्वितीय, समाजवादी चुनावों द्वारा ससद में बहुमत प्राप्त कर स्वय ही सरकार का सगठन कर समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करे। सूक्ष्म में लोकतान्त्रिक समाजवादी साधनों की निम्नलिखित व्याख्या की जा सकती है —

(i) लोकतान्त्रिक समाजवादी उस मार्क्सवादी धारणा का खडन करते है कि समाज में वर्ग सघर्ष अवश्यम्भावी है और केवल मजदूर वर्ग की सहायता से समाजवाद की स्थापना की जायगी। लोकतान्त्रिक समाजवादी सभी वर्गों और बहुमत को साथ लेकर चलना चाहते है। उनके विचार में एक वर्ग का उत्थान और दूसरे वर्ग का उन्मूलन ठीक नहीं।

(ii) इसका तात्पर्य यह हुआ कि लोकतान्त्रिक समाजवादी हिंसा या शक्ति द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं करना चाहते। हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा परिवर्तन स्थायी नहीं होते। इसके अतिरिक्त यदि एक बार आतंकवादी मार्ग अपना लिया जाता है तो हिंसा के आधार पर प्राप्त व्यवस्था का उन्मूलन करना असम्भव होगा। यह समाजवादी न होकर कोई अधिनायकवादी व्यवस्था होगी।

(iii) लोकतान्त्रिक समाजवादी विकासवादी है। वे समाज को एक अवयव की तरह मानते हैं। तदनुसार अवयव की तरह ही समाज का धीरे धीरे विकास होता है। समाज में अपने को बदलने की क्षमता होती है।

(iv) इन समाजवादियों ने प्रजातान्त्रिक एव सवैधानिक साधनों का समर्थन किया है। इनका विश्वास था कि समाजवाद में विश्वास रखने वालों का एक राजनीतिक दल स्थापित किया जाय। यह दल चुनावों में भाग ले और बहुमत को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करे। बहुमत प्राप्त होने के बाद सरकारी मशीन का समाजवादी व्यवस्था लाने के लिए प्रयोग किया जाय।

(v) लोकतान्त्रिक समाजवाद रचनात्मक समाजवाद (Constructive Socialism) है। वैधानिक साधनों के माध्यम से समाज में ऐसा कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाय जिससे कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो।

लोकतान्त्रिक समाजवाद के विषय में सतर्कता

लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना एव प्रगति के विषय में कुछ सतर्कता आवश्यक है। लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य लोकतन्त्र के आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ बनाना है। लोकतन्त्र में राजनीतिक स्वतन्त्रता एव समानता की उपलब्धि तो हो

सकती है, किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता के बिना यह सब व्यर्थ है। यह समाजवादी कार्यक्रम से ही सम्भव है। इसलिए यहाँ समाजवाद का ध्येय लोकतान्त्रिक शक्तियों में वृद्धि करना है। यह राज्य के माध्यम से ही सम्भव है। इसलिए यह किसी सीमा तक समग्रता की ओर अग्रसर करेगा। यहीं पर सतर्कता की आवश्यकता है। समाजवादी कार्यक्रम से राज्य अधिनायकवादी न हो जाय अन्यथा न तो लोकतन्त्र ही रहेगा न समाजवाद। राज्य के कार्य-क्षेत्र में केवल इतनी ही वृद्धि होनी चाहिए जितनी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए आवश्यक हो तथा जिससे मनुष्यों के अधिकारों का हनन न होता हो। यह लोकतन्त्र तथा समाजवाद के समुचित समन्वय में ही सम्भव है।

जिन राज्यों में क्रान्ति द्वारा राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं, या जहाँ अधिनायक-वादी व्यवस्थाएँ पहले से ही विद्यमान हैं वहां लोकतान्त्रिक [illegible]वाद का पनपना असम्भव है। ऐसे राज्यों में समाजवादी कार्यक्रम को जनक[illegible] साधन के रूप में स्वीकार तो किया जाता है, लेकिन इसका उद्देश्य लोकता[illegible] शक्तियों में वृद्धि करना नहीं होता। साम्यवादी राज्य, विशेषतः रूस और चीन, जो अभी समाजवादी स्थिति (जिसे मार्क्स ने सक्रमण-युग कहा था) से गुजर रहे हैं, जन-कल्याण के लिए कार्य कर रहे हैं किन्तु जो वास्तव में लोकतान्त्रिक सिद्धान्त या मूल्य हैं वे वहां दृष्टि-गोचर नहीं होते। साम्यवादी राज्य अपने लिये लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी दोनों ही कहते हैं, पर वे समाजवादी तो हैं, लोकतान्त्रिक नहीं।

इस सन्दर्भ में अफ्रीकी राज्यों तथा एशिया के वे राज्य जहां सैनिक क्रान्तियां हो चुकी हैं, आदि के उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन सभी राज्यों में किसी न किसी प्रकार से समाजवादी कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का दावा किया जाता है, जिसका उद्देश्य सामान्य जनता की थोड़ी बहुत सुख सुविधा में वृद्धि करना तो रहा है, लोकतन्त्र को स्थापित करना नहीं। समाजवाद के नाम पर वहां राज्य की शक्तियों में जो वृद्धि हुई है, उसका उद्देश्य सैनिक तानाशाहों की शक्ति को सुदृढ कर विरोधियों को कुचलना है। मिश्र, लीबिया, सूडान, कांगो, घाना, नाइजीरिया, तन्जानिया, उगान्डा, सीरिया, ईराक आदि कभी भी लोकतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत नहीं आ सकते। वास्तव में ये न तो लोकतान्त्रिक हैं और न समाजवादी। इन राज्यों में शुद्ध तानाशाही तथा विकृत समाजवाद जैसी ही कोई व्यवस्था हो सकती है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का मूल्यांकन

सर्वव्यापी राज्य की स्थापना

लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य को अधिकाधिक कार्य करने होंगे। उत्पादन और वितरण के समस्त साधन राज्य के नियन्त्रण में रहेंगे। इसलिए राज्य का क्षेत्राधिकार अधिक व्यापक हो जायेगा। समाज में स्थानीय स्व-शासन से राष्ट्रीय स्तर तक समस्त कार्यों का या तो राष्ट्रीयकरण होगा या उनके

ऊपर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होगा। अन्तिम रूप मे, मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन राज्य के नियन्त्रण के अन्तर्गत होगा।

आर्थिक व्यवस्था पर राज्य नियन्त्रण का परिणाम नौकरशाही के अधिकारों मे वृद्धि होगी। राज्य कर्मचारियों मे वृद्धि के साथ लाल फीताशाही, अकर्मण्यता और भ्रष्टाचार मे भी वृद्धि होगी। समाजवादी व्यवस्था मे जो भी लाभ मिलने की आशा है, वे बहुत कुछ नौकरशाही व्यवस्था म समाप्त हो जायेंगे। इसमे एक सम्भावना और हो सकती है। राज्यों के कार्यो म वृद्धि होने से प्रशासन इस बोझ को उठाने मे असमर्थ रहे।

समाज मे व्यक्तिवाद और पूँजीवाद के जिन दुर्गुणों का उन्मूलन करने के लिए जिस समष्टिवादी राज्य की स्थापना करना है अन्तिम रूप मे समष्टिवादी राज्य इन्ही दुर्गुणों को जन्म देगा या प्रोत्साहित करेगा। समष्टिवाद व्यक्तिगत-पूँजीवाद के स्थान पर राज्य-पूँजीवाद की स्थापना करेगा। इससे श्रमिक वर्ग के स्तर मे कोई अन्तर नहीं आयेगा। उसे तो व्यक्ति या राज्य के मजदूर के रूप म कार्य करते रहना पड़ेगा। समष्टिवाद मे प्रगति धीरे धीरे होगी, उत्पादन मे कमी होगी तथा निर्धनता मे वृद्धि होगी।

मानव प्रवृत्ति के प्रतिकूल

उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य-स्वामित्व के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत प्रोत्साहन की सम्भावना समाप्त हो जायगी। यदि व्यक्ति को अपने कार्य का कुछ लाभ या पुरस्कार नही मिलता तो वह अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग नहीं कर सकता और न इच्छा एव लगन से ही कार्य कर सकता है।

सम्पत्ति धारण करने की इच्छा मनुष्य मे स्वाभाविक एव मूल प्रवृत्ति है। वे व्यक्ति जो धन उपार्जन कर सकते हैं उन्हे प्रतिफल मिलना ही चाहिए। किन्तु दूसरी ओर वे व्यक्ति जिन्हे यदि यह विश्वास है कि राज्य की ओर से उन्हे काम और निर्वाह योग्य वेतन मिल जायगा तो वे आलसी, अनुत्तरदायी हो जायेंगे। उनमे नये प्रयोगों के प्रति न तो उत्साह और न जोखिम लेने की क्षमता का विकास हो सकता है।

शान्तिपूर्ण साधनों की अनुपयुक्तता

आलोचकों, जिनमे साम्यवादी प्रमुख है का कहना है कि समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण संवैधानिक साधनों से नहीं की जा सकती। लोकतान्त्रिक साधनों से पूँजीवाद के दोषों को समाप्त करना असम्भव है। जनतान्त्रिक व्यवस्था मे पूँजीवादी व्यक्ति शासन-मशीन के प्रत्येक क्षेत्र मे अपने व्यक्तियों को रखते है। प्रतिनिधि सभाओंमे वे अपने समर्थकों को अधिकाधिक सख्या मे पहुचाने का प्रयत्न करते है। यह कार्य उनके लिए असम्भव नहीं है। धन द्वारा वे निर्णय लेने वाली सस्थाओं को अपने पक्ष मे प्रभावित करते रहते हैं।

पूँजीपति अपने विरोधी राजनीतिक दलों को भी नहीं पनपने देंगे। इस प्रकार पहली बात तो यह है कि समाजवादी दल सत्ता में आ ही नहीं सकता। दूसरे, यदि एक बार वह सत्ता में आ भी जाता है, तो यह गारन्टी नहीं है कि वह सदैव सत्ता में बना रहे और समाजवादी कार्यक्रमों को लागू कर सके। इंगलैंड में दो तीन बार समाजवादी दल ने यदि सरकार बना भी ली है तो वहाँ समाजवाद की पूर्ण स्थापना नहीं हो पाई है।

स्वतन्त्रता एवं समानता का भ्रम

समष्टिवादी व्यवस्था में राज्य द्वारा हस्तक्षेप में वृद्धि होगी। नियन्त्रण और हस्तक्षेप द्वारा मनुष्य की स्वतन्त्रता पर प्रहार होगा। व्यक्ति राज्य का दास बन जायगा और समष्टिवाद एक गुलाम राज्य की नींव डालेगा।

समष्टिवाद आर्थिक एवं सामाजिक समानता को व्यापक रूप देना चाहता है। वह समानता को साकार करना चाहता है। कुछ आलोचक समष्टिवाद के इस प्रमुख उद्देश्य को अनुचित और अव्यावहारिक मानते हैं। उनका कहना है कि प्राकृतिक दृष्टि से मनुष्य समान नहीं हो सकते। मनुष्य शक्ति, बुद्धि आदि दृष्टि से असमान होते हैं। व्यक्ति अपनी योग्यता और परिश्रम के अनुसार कम या अधिक धन उपार्जन करते हैं। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में समानता सम्भव नहीं है। जब योग्यता और परिश्रम से उपार्जित धन समानता लाने के लिए छीन कर दूसरे को दिया जाता है, यह अनैतिक होगा। ऐसी समानता भी स्थाई नहीं होगी।

सारांश

लोकतान्त्रिक समाजवाद (विशेषतः इससे सम्बन्धित समष्टिवाद) की साम्यवादी, व्यक्तिवादी आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचना हुई है। इस आलोचना में बहुत कुछ तथ्य है, किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी लोकतान्त्रिक समाजवाद में गुणों का बाहुल्य है। परिणामस्वरूप यह समाजवादी सम्प्रदायों में सबसे अधिक महत्त्व अर्जित किए हुए है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद अन्य समाजवादी विचारधाराओं से अधिक व्यावहारिक एवं स्थाई सिद्ध हुआ है। सिण्डीकलवाद, गिल्ड समाजवाद आदि कभी भी प्रभावशाली और सफल नहीं हो सके। ऐसी स्थिति में लोकतान्त्रिक समाजवाद ही सर्वाधिक उपयोगी प्रतीत लगता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद मध्य-मार्गीय विचारधारा है। यह पूँजीवादी और सर्व-सत्ताधारी विचारधाराओं का सर्वोत्तम विकल्प है। लोकतान्त्रिक समाजवाद इन दोनों की बुराइयों और अतिवादिता को त्याग कर एक नई प्रणाली का प्रतिपादन करता है।

लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था लोकतन्त्र को पूर्ण बनाने का महत्त्वपूर्ण साधन है। वैसे लोकतन्त्र में कई दोष हैं, लेकिन ये दोष समाजवादी सहयोग से बहुत

कुछ दूर हो जाते हैं। यह लोकतन्त्र को स्थाई और प्रभावशाली बनाने के लिए उत्तम कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। इसमें सन्देह नहीं कि लोकतन्त्र सर्वोत्तम प्रणाली है, समाजवादी कार्यक्रम इसके दोषों का उन्मूलन कर गुणों में अभिवृद्धि करता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद हिंसा, क्रान्ति, वर्ग-संघर्ष पर न होकर विकासवादी, संवैधानिक साधनों पर आधारित है। ये साधन स्वय में ही नैतिक हैं तथा मनुष्य के चतुर्मुखी विकास में ऐसे साधनों का सदैव ही महत्त्व रहा है। शान्तिपूर्ण साधनों से उपलब्ध लक्ष्य स्थाई होते हैं।

आजकल विश्व मे दो प्रकार की ही समाजवादी व्यवस्थाएं प्रचलित हैं। प्रथम, अधिनायकवादी तथा सर्वसत्ताधारी समाजवाद जिसके अन्तर्गत साम्यवाद तथा कुछ अफ्रीकी राज्यों में प्रचलित समाजवादी व्यवस्था को ले सकते हैं। किन्तु इनमें साम्यवाद ही सबसे प्रमुख एव प्रभावशाली है। द्वितीय, लोकतान्त्रिक समाजवाद, जिसका प्रचलन एव प्रभाव लोकतान्त्रिक राज्यों में विशेषकर है। ये दोनों व्यवस्थाएं विश्व मे एक दूसरे का विकल्प बनने का प्रयत्न कर रही हैं।

पाठ्य-ग्रन्थ

1 कोकर, फ्रान्सिस., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 4, प्रजातान्त्रिक एव विकासवादी समाजवादी

2 Ebenstein, W., Today's Isms, Chapter IV, Democratic Socialism

3 गेटिल, रेमण्ड गारफील्ड., राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, अध्याय 22, लोकतान्त्रिक समाजवाद का उदय

4 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, Chapter 13, Socialism after Marx.

5 जोड, सी. ई एम., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका अध्याय 3, समाजवाद: विशिष्टत समष्टिवाद से सम्बन्धित

6. Sabine, G. H, A History of Political Theory, Chapter XXXI, Liberalism Modernized.

7. Stankiewicz, W I. (Ed.), Political Thought Since World War II, Part IV, Section I, Democratic Socialism



11

धर्म-निरपेक्षवाद

SECULARISM

धर्म-निरपेक्षवाद का अध्ययन करने से पूर्व दो बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम, 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का अर्थ तथा इसका किस भावार्थ में प्रयोग किया जाता है। द्वितीय, क्या धर्म-निरपेक्षवाद एक पूर्ण विचारधारा है?

शब्दावली

सेक्यूलरिज्म (Secularism) का हिन्दी भाषा में निश्चित भाव व्यक्त करने वाले शब्द का अभी तक चयन नहीं हो पाया है। सेक्यूलरिज्म के लिए हम 'धर्म-निरपेक्षता' का या 'धर्म-निरपेक्षवाद' शब्द प्रयोग करें, यह स्पष्ट कहना असम्भव है। प्रचलन में 'धर्म-निरपेक्षता' शब्द का ही प्रयोग होता है, जब कि 'धर्म-निरपेक्षवाद सेक्यूलरिज्म का लगभग सही शाब्दिक रूपान्तर प्रतीत होता है। लेकिन यदि सही भावार्थ को लिया जाय तो सेक्यूलर शब्द के लिए 'सम्प्रदाय-निरपेक्षता' अधिक उपयुक्त है। सेक्यूलर शब्द के निकट सम्प्रदाय अधिक जान पड़ता है न कि धर्म, क्योंकि सेक्यूलरिज्म शब्द का प्रयोग धर्म में सम्प्रदायवाद के विकास के संदर्भ में ही हुआ था।

आचार्य विनोबा भावे ने भी सेक्यूलर शब्द के निश्चित भाव व्यक्त करने वाले शब्द को खोजने का प्रयत्न किया है। उन्होंने 'सेक्यूलर' के 'वेदान्ती' शब्द चुना है। उनके ही शब्दों में, "हमारी सरकार वैदिक नहीं है बल्कि वेदान्ती है। वेदान्त में किसी उपासना का निषेध नहीं है। जितनी उपासनाएँ हैं, सबको वह समान भाव से देखता है, फिर भी उसने निज की कोई उपासना नहीं रखी। इसलिए अगर हम वेदान्ती सरकार कहें, तो कुछ अच्छा अर्थ प्रकट होता है।"[1]

आचार्य विनोबा भावे का 'वेदान्ती' शब्द उपयुक्त हो सकता है किन्तु इसका प्रचलन नहीं है। हिन्दी भाषा में किसी पूर्ण मान्य शब्द के अभाव में प्रस्तुत अध्याय में प्रचलित एवं सर्व-विदित शब्द 'धर्म-निरपेक्षता' का ही प्रयोग किया गया है, यद्यपि अलग-अलग संदर्भों में 'सेक्यूलरवाद' 'सम्प्रदाय-निरपेक्षता' आदि शब्दों की भी अवहेलना नहीं की है।

---

1 विनोबा, व्यक्तित्व और विचार, पृ 408.

वाद सम्बन्धी विवाद

सेक्यूलर (Secular–धर्मनिरपेक्ष) शब्द के साथ इज्म (ism–वाद) और जुड़ा हुआ है। दोनों को मिलाकर सेक्यूलरिज्म (Secularism) बनता है। इससे निश्चय ही यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या धर्म निरपेक्षवाद एक पूर्ण वाद या विचारधारा की श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है? इस प्रश्न का अधिक मनन किया जाय तो यह एक विवाद बन जाता है। वास्तव में धर्म-निरपेक्षवाद की गणना एक व्यापक विचारधारा के अन्तर्गत नहीं की जा सकती। अन्य विचारधाराएँ जैसे आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद साम्यवाद आदि समाज के प्रत्येक पहलू का मनन एवं विवेचन करती हैं। यह बात धर्म-निरपेक्षवाद के विषय में नहीं कही जा सकती। धर्म-निरपेक्षवाद का उद्देश्य समाज की आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था की प्रत्यक्ष स्थापना करना नहीं है। इसका सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष रूप से धर्म एवं राजनीति से है। बाद में अवश्य ही अन्य पक्ष सम्बन्धित हो जाते हैं।

यहाँ इसकी तुलना अन्य विचारधाराओं से नहीं की जा सकती। लेकिन इतना अवश्य है कि धर्म-निरपेक्षवाद ऐसा विचार है जिसके अन्तर्गत धर्म व राजनीति के सम्बन्ध के विषय में निश्चित एवं स्पष्ट अध्ययन आता है जिसका सदियों से विकास हुआ है तथा प्रत्येक शासन व्यवस्था में इसके महत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। कोई भी राज्य धर्म-निरपेक्षवाद के बिना प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। धर्म निरपेक्षता के बिना जनतन्त्र व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती है।

'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का प्रचलन

जॉर्ज हॉलीओक (George Jacob Holyoake, 1817–1906)

धर्म-निरपेक्ष' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग इंग्लैण्ड के जॉर्ज हॉलीओक ने किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में धर्म-निरपेक्ष को एक सिद्धान्त तथा सुधार आन्दोलन का रूप देने का श्रेय प्रमुखतः हॉलीओक को ही था।

हॉलीओक एक प्रगतिशील सुधारवादी तथा ओवन (Robert Owen 1771–1858) के यूटोपियायी समाजवाद के समर्थक थे। बरमिंघम (Birmingham) जहाँ वे पैदा हुए तथा समूचे इंग्लैंड में इन्होंने चर्च संगठन में कई त्रुटियां देखीं। उस समय चर्च के संगठन में सामाजिक सेवा का नितान्त अभाव था और धीरे-धीरे चर्च आदि के प्रति इनकी श्रद्धा लगभग समाप्त सी हो गई। 1841 के लगभग हॉलीओक ने ईश्वर के प्रति भी श्रद्धा का त्याग कर दिया तथा ईश्वर-निन्दा (Blasphemy) के अपराध में इन्हें कारावास भोगना पड़ा। तदुपरान्त हॉलीओक और कुछ सहयोगियों ने धर्म-निरपेक्ष आन्दोलन प्रारम्भ किया। "The Reasoner" में 1851 में इन्होंने धर्म-निरपेक्षवाद (Secularism) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया। वास्तव में हॉली-ओक ईश्वर या चर्च विरोधी नहीं थे, वे इन से सम्बन्धित त्रुटिपूर्ण प्रभावों के कट्टर

आलोचक थे। उन्होंने हमेशा यह सम्भव बनाने का प्रयत्न किया कि धर्म-निरपेक्षता के सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक उद्देश्य ईश्वर विरोधी न हो बल्कि सभी सम्प्रदायो के उदार अनुयायी पक्षपात रहित धर्म-निरपेक्षता आन्दोलन मे योगदान दें।[2]

'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का आजकल जिस सरलता से प्रयोग किया जाता है, इसका अर्थ स्पष्ट करना उतना आसान नही। इस जटिलता के कई कारण हैं, प्रथम, इस विचार का अनुचित ढग से प्रयोग किया गया है। वे राज्य जो पूर्णत: धर्म-सापेक्ष थे, उनके लिए भी धर्म-निरपेक्ष कहा गया। प्राचीन इजराइल राज्य धर्म-निरपेक्ष कहलाता था किन्तु वास्तव में वह धर्म पर आधारित राज्य व्यवस्था थी। यहूदी लोग इजराइल को अपने देवता यहोवा का ही राज्य समझते थे। वहा के विधि-विधान को यहूदी धर्म से पृथक नही किया जा सकता था। इसी प्रकार ईसाई धर्म के अभ्युदय से पूर्व रोम साम्राज्य भी धर्म-निरपेक्ष कहलाता था यद्यपि वहा धर्म-निरपेक्षता जैसी कोई बात नही थी। इस प्रकार की भ्रातिया असमजस मे डाल देती हैं।

द्वितीय, साम्यवादी राज्य भी धर्म-निरपेक्ष कहे जाते हैं। साम्यवाद धर्मविरोधी विचारधारा है तथा साम्यवादी व्यवस्था धर्म विहीन प्रणाली है जहा धर्म के अस्तित्व, प्रभाव आदि को स्वीकार नही किया जाता। दूसरी ओर भारत जैसा धर्म प्रधान देश है जहा उचित धार्मिक मान्यताओ को शासन प्रणाली से दूर नही किया जा सकता किन्तु फिर भी धर्म-निरपेक्ष है।

तृतीय, वे राज्य जहा का समाज धर्म प्रिय होते हुए भी धर्म-निरपेक्ष है, उनमें भी अलग-अलग धर्म निरपेक्ष व्यवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। अमरीकी धर्म-निरपेक्षता, ब्रिटिश धर्म-निरपेक्षता, भारतीय धर्म-निरपेक्षता में बहुत कुछ विभिन्नताएँ हैं। इग्लैंड का सम्राट या साम्राज्ञी अभी भी 'धर्म रक्षक (Defender of Faith) समझे जाते हैं। एग्लीकन चर्च अभी भी वहां का राज्य-धर्म है। लॉर्ड सभा मे पादरियों का भी विशेष प्रतिनिधित्व रहता है। इस व्यवस्था के होते हुए भी इग्लैंड पूर्ण रूप से धर्म-निरपेक्ष है। अन्य शब्दो मे, आजकल परिस्थितियोंवश राज्य का नाम मात्र का कोई राज-धर्म होते हुए भी वह धर्म निरपेक्ष रह सकता है। इन कारणो से धर्म-निरपेक्षता की समान एव एकरूपेण व्याख्या करना, या, समान धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तो के अन्तर्गत सभी राज्यो को लाना असम्भव है। फिर भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनके बिना कोई भी राज्य धर्म-निरपेक्ष कहलाने का दावा नही कर सकता।

धर्म-निरपेक्ष राज्य के तत्वों को समझने के पहले यह आवश्यक है कि धर्म-निरपेक्ष या धर्म-निरपेक्षता का अर्थ समझ लिया जाय। कुछ प्रमुख शब्दकोषो, अन्य ग्रन्थों आदि मे इसकी निम्नलिखित परिभाषाएँ दी गई है—

2 James Hastings, (Ed) Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. XI, T T Clark, Edinburgh, 1934, p 348

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

"गैर आध्यात्मिक जो धार्मिक अथवा आध्यात्मिक विषयों से सम्बंधित न हो, कोई भी चीज जो धर्म अथवा धर्म सम्बन्धी चीजों से भिन्न, विरुद्ध या सम्बन्धित न हो, सामारिक जो आध्यात्मिक या धार्मिकता के विपरीत हो" धर्म-निरपेक्ष है।[3]

एक धर्म ज्ञान कोष में धर्म-निरपेक्षता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह वह सामाजिक नैतिकता है जो—

प्रथम बिना धर्म के मानव सुधार की प्राप्ति,

द्वितीय, धार्मिक विश्वास तथा संस्थाओं द्वारा मानव-जीवन को नियन्त्रित करने का विरोध,

तृतीय, समाज कल्याण गतिविधियों तथा संस्थाओं का धर्म-आधार के बिना मार्ग दर्शन के लिए एक सकारात्मक दृष्टिकोण है।

धार्मिक संस्थाएँ इस शब्द का प्रयोग गैर-धार्मिक संस्थाओं के लिए एक व्यंग्यात्मक ढंग से अपमानित करने के लिए भी करती रही हैं।[4]

न्यू इंग्लिश डिक्शनरी में 'धर्म-निरपेक्षता' का अर्थ धर्म में समन्वय का अभाव व्यक्त करता है।[5]

धर्म एवं नैतिक ज्ञान कोष—"धर्म-निरपेक्षवाद को एक आन्दोलन कहा जा सकता है जो आशय से नैतिक, निषेधात्मक रूप में धार्मिक तथा जिसकी राजनीतिक और दार्शनिक पूर्व-प्रवृत्ति हो।"[6]

ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी—"धर्म-निरपेक्ष वह सिद्धान्त है जिसमें नैतिकता इसी जीवन में मानव कल्याण के विचार पर आधारित होनी चाहिए। वे विचार जो ईश्वर या परलोक से सम्बन्धित है, पृथक रखा जाता है।"[7]

---

3. "Non—Spiritual, having no concern with religious or spiritual matters, anything which is distinct, opposed to, or not connected with religion or ecclesiastical things, temporal, as opposed to spiritual or ecclesiastical
Encyclopaedia Britanica, Vol XX, 1955, p 264

4 Ferm Vergilus (Ed), An Encyclopaedia of Religion, Peter Owen Ltd, London p 700

5 Secularity means 'absence of connexion with religion'
New English Dictionary, Vol VIII, Part II, p 365

6 "Secularism may be described as a movement intentionally ethical, negatively religious, with political and philosophical antecedents"
Encyclopaedia of Religion and Ethic, Vol XI, 1934 p 347

7 "The doctrine that morality should be based solely on regard to the well being of mankind in the present life, to the exclusion of all considerations drawn from belief in God or in a future state " Oxford English Dictionary

भारत के प्रमुख राष्ट्रवादी मुस्लिम बदरुद्दीन तैयबजी के विचार भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। धर्म-निरपेक्षवाद का अर्थ, तैयबजी ने लिखा है, व्यक्तित्व का विनाश तथा एकरूपता घोषणा नहीं है किन्तु धर्म (या विश्वास) के विषय में विधि शासन को समान ढंग से कार्यान्वित करना है। धर्म-निरपेक्षवाद एक बृहद् गुलदस्ता है जिसके अन्तर्गत कई रंग रूप और सुगन्ध के हजारों फूल खिलते है।[8]

उपरोक्त परिभाषाओं के विवेचन से यह तत्त्व बिल्कुल स्पष्ट है कि कोई भी विचार या संस्थाएँ जो धर्म से सम्बन्धित नहीं हैं, या, धर्म के प्रभाव से मुक्त है धर्म-निरपेक्ष कहलाते हैं।

धर्म-निरपेक्ष राज्य (The Secular State)

धर्म-निरपेक्ष' का अर्थ समझने के बाद 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य की व्याख्या आसान हो जाती है। धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म से पृथक है, धर्म से सम्बन्धित नहीं है, धर्म को समर्पित नहीं है। इस सम्बन्ध में एक लेखक ने लिखा है कि सामान्य शब्दों में धर्म-निरपेक्ष राज्य को धर्म तथा राज्य के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। इस अवस्था के अन्तर्गत राज्य तथा धर्म या धार्मिक संस्थाएँ एक दूसरे से पृथक रहते है।[9]

अमरीकी विद्वान् डॉनल्ड स्मिथ (Donald E Smith) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक-India as a Secular State—में धर्म-निरपेक्ष राज्य की निम्नलिखित परिभाषा दी है —

> "धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म की व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्वतन्त्रता का वचन देता है, धार्मिक भेदभाव के बिना व्यक्ति से नागरिक के रूप में व्यवहार किया जाता है, जो संवैधानिक दृष्टि से किसी धर्म विशेष से नहीं जुड़ा है, न वह धर्म में अभिवृद्धि (या प्रोत्साहन) और न हस्तक्षेप करता है।"[10]

धर्म-निरपेक्ष राज्य से सम्बन्धित उपरोक्त विचारों की व्याख्या करने से कुछ विशेषताएँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट होती हैं। जेकस मैरीटेन (Jacques Maritain) ने अपनी पुस्तक—Man and the State—में धर्म-निरपेक्ष राज्य के निम्नलिखित तत्त्व उल्लेख किये हैं:—

प्रथम, राजनीतिक सत्ता धार्मिक सत्ता का अंग नहीं है,

---

8 Tyabji, B, The Self in Secularism, pp 1-2

9 Luthera, V P, The Concept of Secular State and India, p 15

10 "The secular state is a state which guarantees individual and corporate freedom of religion, deals with the individual as a citizen irrespective of his religion, is not constitutionally connected to a particular religion nor does it seek either to promote or interfere with religion"
Smith, D E, India as a Secular State, p 4

द्वितीय, राज्य के अन्तर्गत सब नागरिक बिना किसी भेदभाव के समान हैं,
तृतीय, प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता होती है, और
चतुर्थ, धर्म को किसी व्यक्ति के ऊपर शक्ति द्वारा नहीं थोपा जा सकता। (पृ० 147)

सामान्यतः धर्म-निरपेक्ष राज्य के निम्नलिखित पक्ष पूर्ण स्पष्ट हैं—

राज्य तथा धर्म का पृथक्करण (Separation of State and religion)

चर्च तथा राज्य की पृथक्ता का अर्थ संवैधानिक प्रावधानों द्वारा विधि निर्माण तथा कार्यकारिणी द्वारा ऐसी कार्यवाही पर प्रतिबन्ध लगाना है जिनके फलस्वरूप राज्य के प्रशासनिक कार्य और चर्च के प्रशासनिक या धर्म सम्बन्धी कार्यों का समन्वय होता हो।[11] धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म न तो सरकारी शाखा की तरह कार्य करता है और न धर्म राज्य के मामलों में कोई भी प्रभाव रखता है। इसके अलावा धर्म तथा राज्य समानता के आधार पर भी किसी तरह सम्बन्धित नहीं रहते। धर्म तथा राज्य को अपने-अपने क्षेत्रों में भी बिना पारस्परिक हस्तक्षेप के पूर्ण विकास की स्वतन्त्रता होती है। धार्मिक संगठन अपनी व्यवस्था, अपने पदाधिकारियों का चयन, अपने नियमों का निर्माण, अपनी शैक्षणिक संस्थाओं का संचालन आदि स्वयं करते हैं। यह विचार 'स्वतन्त्र राज्य में स्वतन्त्र धर्म संगठन' (A free church in a state) तथा 'चर्च राज्य का नहीं किन्तु राज्य में है' आदि सिद्धान्तों पर आधारित है।[12] सूक्ष्म में, राज्य तथा धर्म की पृथक्ता निम्नलिखित सिद्धान्त पर आधारित है—

प्रथम, राज्य तथा धर्म के अलग अलग कार्यक्षेत्र (Two spheres of actions)।

द्वितीय, राज्य तथा धर्म संगठनों का एक दूसरे के मामलों में अहस्तक्षेप (Non-intervention)

तृतीय, राज-धर्म का अभाव (Absence of state-religion), राज्य का स्वयं का कोई धर्म नहीं होता। शासन किसी धर्म विशेष सिद्धान्तों के अनुसार नहीं चलाया जाता है।

चतुर्थ, धार्मिक तटस्थता (Religious neutrality), राज्य की दृष्टि में सब धर्म समान रहते हैं। वह किसी भी धर्म का पक्ष नहीं लेता तथा सब धर्मों को समान सुरक्षा प्रदान करता है।

धार्मिक स्वतन्त्रता (Freedom of Religion)

राज्य में किस प्रकार की तथा किस सीमा तक धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है इसपर धर्म-निरपेक्षता का स्वरूप निर्भर करता है। धार्मिक स्वतन्त्रता

11 Morrison, Charles C, Getting Down to Cases, an article published in The Christian Century, December 10, 1947
12 Stroke, A P; Church and State in the United States, Vol III, p 376

के व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही पक्ष होते हैं तथा धर्म-निरपेक्षता को समझने के लिये इनकी व्याख्या महत्वपूर्ण है।

व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता—व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता के दो प्रमुख पक्ष हैं। प्रथम, व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म में विश्वास रखने की स्वतन्त्रता जिसे अन्त करण की स्वतन्त्रता (Freedom of conscience) भी कहते हैं। यह मनुष्य का बिलकुल व्यक्तिगत मामला होता है तथा यह पूर्ण (absolute) स्वतन्त्रता है। लास्की के अनुसार मनुष्य को किसी भी धर्म मे श्रद्धा रखने का अधिकार है। जब तक उसका धार्मिक व्यवहार सार्वजनिक शान्ति के लिये भय न हो राज्य उसकी स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप नहीं कर सकता। यदि राज्य चाहे तो भी हस्तक्षेप करना अव्यावहारिक होगा। मेकाइवर (R M MacIver) ने लिखा है कि "राज्य एक साथ ही सर्वव्यापी तथा सीमित होता है यह सर्वव्यापी है क्योंकि इसके कानून इसके अन्तर्गत रहने वाले सभी पर लागू होते हैं। यह सीमित है क्योंकि यह समस्त मानव हितो को नियमित नहीं कर सकता।"[13]

द्वितीय, अन्त करण की स्वतन्त्रता की पूर्ति के लिए जब व्यक्ति बाह्य कार्य करता है इस प्रकार की स्वतन्त्रता को धार्मिक स्वतन्त्रता कहते हैं। इस स्वतन्त्रता को राज्य द्वारा विशेष परिस्थितियो, सामाजिक नैतिकता, शान्ति एवं व्यवस्था को ध्यान मे रखते हुए सीमित किया जा सकता है। लेकिन ये सीमायें उचित होनी चाहिए। अधिक अकुश लगाने से धार्मिक स्वतन्त्रता ही समाप्त हो जाती है। उचित सीमाओं को धार्मिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं कहा जाता। विश्व के कई संविधानों मे इन दोनों के मध्य अन्तर स्पष्ट किया गया है।

सगठित अथवा सामूहिक धार्मिक स्वतन्त्रता (Corporate religious freedom)—धर्म के सामूहिक रूप से तात्पर्य है कि व्यक्तियों को अपने धर्म का पालन करने के लिए सगठन आदि बनाने की स्वतन्त्रता होनी है। ये धार्मिक संस्थाएँ या सगठन अपने आन्तरिक मामलो की व्यवस्था करने मे पूर्ण स्वतन्त्र होने चाहिये। धर्म सिद्धान्त निश्चित करने, विभिन्न प्रकार के सगठन स्थापित करने, संस्थाओ के नियम बनाने तथा अनुशासन आदि के विषय मे राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। इस सम्बन्ध मे राज्य का हस्तक्षेप धर्म-निरपेक्षता के विरुद्ध समझा जाता है। यदि इन बातो मे राज्य हस्तक्षेप करता है तो धार्मिक संस्थाओ और सरकारी विभागो मे फिर कोई अन्तर नहीं रह जाता। सयुक्त राज्य अमेरिका मे न्यायालयो ने चर्च के आन्तरिक मामलो मे राज्य द्वारा हस्तक्षेप करने के प्रयासो को स्पष्टत: अस्वीकार किया है। यहाँ तक कि चर्च के धार्मिक विचारो पर भी न्यायालयो के क्षेत्राधिकार को स्वीकार नहीं किया गया है।

13 MacIver, R M, The Modern State, p 173.
Laski, H J, An Introduction to Politics, p 40

धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्मों को स्वयं संगठित करने, धार्मिक सिद्धान्तों में विश्वास एवं उस विश्वास को व्यावहारिक रूप देने की स्वतन्त्रता होती है। व्यक्ति धार्मिक मामलों में विवाद करता है, जो धार्मिक तथ्य स्वीकार नहीं करता उन्हें रद्द कर सकता है, वह एक धर्म के सिद्धान्तों को मान सकता है या धर्म का त्याग भी कर दे, आदि सभी बातों की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। इन बातों में राज्य कहीं भी हस्तक्षेप नहीं करता। इसके अतिरिक्त राज्य नागरिकों को किसी धर्म विशेष को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता, न वह व्यक्तियों पर कोई धार्मिक कर आदि लगा सकता है।

धार्मिक स्वच्छन्दता बनाम सीमाएँ—उपरोक्त अध्ययन से यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिये कि धार्मिक संगठन अपने मामलों में स्वच्छन्दतापूर्वक मनमानी करते रहें तथा राज्य उन्हें एक सामान्य दर्शक की तरह देखता रहे। धर्म-निरपेक्षता धर्म के नाम पर हर प्रकार के काम की अनुमति नहीं देता। सामाजिक नैतिकता, राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था की समय-समय पर आवश्यकताएँ धार्मिक स्वतन्त्रता की मर्यादाएँ निर्धारित कर देती हैं। धार्मिक संगठनों को राज्य के सामान्य कानूनों का पालन करना होता है। राज्य द्वारा समस्त समाज पर जो कर आदि लगाये जाते हैं धार्मिक संस्थाएँ स्वयं को उनसे मुक्त नहीं समझ सकती।

धार्मिक संस्थाओं की स्वतन्त्रता का अर्थ यह भी नहीं लगाना चाहिये कि इनके अन्तर्गत असामाजिक कार्य होते रहें तथा समाज विरोधी तत्व अपना अड्डा बना लें। ऐसे मामलों में राज्य हस्तक्षेप कर सकता है। यही नहीं, विशेष परिस्थितियों में राज्य धार्मिक पूजा, उपासना के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है। उदाहरण के लिये यदि धर्म मानव बलि आदि की स्वीकृति देता है तो राज्य इस प्रथा को पूर्णत: समाप्त कर सकता है। ऐसे कार्य को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कहा जा सकता।

नागरिकता (Citizenship)

धर्म-निरपेक्ष राज्य में समस्त व्यक्तियों को धर्म आधार के बिना नागरिक माना जाता है। नागरिकता प्राप्त करने में धर्म न तो महत्वपूर्ण है, न अयोग्यता है। व्यक्ति किस धर्म का पालन करता है इससे उसके अधिकार और कर्त्तव्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। राज्य के द्वारा नागरिकों को जो अधिकार दिये जाते हैं सभी धर्म के लोग उनका समान उपभोग करते हैं। धर्म के आधार पर व्यक्तियों को प्रथम या द्वितीय श्रेणी के नागरिक या गैर-नागरिकों में विभाजित नहीं किया जाता। बिना धार्मिक भेदभाव के समस्त नागरिकों को राज्य के सर्वोच्च पद एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने का समान अधिकार होता है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य का विकास

आजकल आधुनिक विचार या संस्थाओं के उद्‌भव की यदि खोज करनी होती है तो सामान्यतः हम प्राचीन ग्रीक के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, क्योंकि उस समय

के प्रमुख विचारकों की विचार जगत को ऐसी देन है जिन्हें हम आधुनिक मानते हैं। किन्तु धर्म-निरपेक्षता के सम्बन्ध में वे यह श्रेय प्राप्त नहीं कर सके। अरस्तु ने राजनीति शास्त्र को नैतिकशास्त्र से पृथक किया लेकिन राज्य और धर्म की पृथक्ता के विषय में उसने कुछ नहीं कहा। राज्य और धर्म को उस समय पृथक करना सम्भव भी नहीं था। ग्रीक के राज्य सर्वव्यापी समाज-राज्य (Society-States) थे, जिनके अन्तर्गत राज्य मनुष्य जीवन के धर्म सहित समस्त पहलुओं पर नियन्त्रण रखता था। वास्तव में ग्रीक के नगर राज्यों का विकास धर्म पर आधारित था। उनका विकास कुछ प्रसिद्ध मन्दिरों के ही इर्द-गिर्द हुआ था। प्रत्येक नगर राज्य किसी विशेष देवी या देवता का नगर कहलाता था। ऐथेना (Athena) ऐथेन्स नगर राज्य; डेमेटर (Demeter) एन्यूसिस (Eleusis) नगर राज्य; हेरा (Hera) सेमॉस (Samos) नगर राज्य, पोसायडॉन (Poseidon) पोसेयडॉनिया (Poseidonia) नगर राज्य तथा अपोलो (Apollo) अपोलोनिया (Apollonia) नगर राज्य के देवता थे। इन देवताओं की पूजा का उत्तरदायित्व राज्यों पर ही रहता था। अपने अपने नगर राज्य के देवता की पूजा करना नागरिक बनने की प्रमुख योग्यता थी। राज्य का प्रमुख न्यायाधीश वहां का मुख्य पुजारी या पादरी भी होता था। अन्य शब्दों में ग्रीक के नगर राज्यों को किसी भी दशा में धर्म-निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। उस समय इस विचारधारा का किसी भी रूप में विकास नहीं हुआ था।[14]

इसी भांति रोमन सम्राट भी स्वयं में ईश्वर तुल्य थे तथा उनकी पूजा का जाती थी। रोमन साम्राज्य की नागरिकता प्राप्त करने के पहले सम्राट की स्तुति करना आवश्यक था। व्यक्तियों के नैतिक तथा धार्मिक कर्तव्य राज्य में निहित थे। सम्राट अन्तिम रूप में राज्य का प्रतीक समझा जाता था, जिसमें धार्मिक तथा सिविल शक्तियाँ दोनों का ही समन्वय हुआ था।[15]

उस समय राज्य एवं धर्म के मध्य भेद करने की प्रवृत्ति का अभाव था। यूनानी विचारकों की तरह इस समय के रोमन विचारक ईश्वर एवं राज्य के प्रति कर्तव्य और निष्ठा में भेद नहीं मानते थे।

ईसाई धर्म के अभ्युदय से राज्य, धर्म तथा व्यक्तियों के सम्बन्धों में आमूलभूत परिवर्तनों का प्रारम्भ हुआ। ईसाई धर्म के प्रवर्तक यीशु ने अपने प्रवचनों में मनुष्य जीवन के धार्मिक तथा दूसरे पक्षों के भेद को व्यक्त किया। उन्होंने मनुष्य और ईश्वर तथा मनुष्य और राज्य के सम्बन्धों को अलग-अलग बतलाया। मनुष्य के आध्यात्मिक तथा गैर-आध्यात्मिक जीवन रूपी द्वैतवाद का समर्थन किया। ईसाई धर्मावलम्बियों के धार्मिक जीवन पर उन्होंने सम्राट के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। लेकिन दूसरी ओर रोमन सम्राट जूलियस सीजर (Julius Ceasar, 100-44 B. C.) अपने राज्य के नागरिकों के धार्मिक जीवन पर नियन्त्रण बनाये हुए था। जो लोग सीजर के प्रति अपनी धार्मिक श्रद्धा व्यक्त नहीं करते थे, उन्हें कठोर

14 Barker, E., Principles of Social and Political Theory, pp. 11-14
15. Sabine, G. H., A History of Political Theory, p. 166.

यातनाएं भोगनी पड़ती थी। इस स्थिति के संदर्भ में सन् 70 में सन्त मार्क (Saint Mark) ने अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा:—

Render therefore unto Caesar the things that are Caesar's,
And unto God the things that are God's.
(जो कार्य सम्राट के क्षेत्राधिकार में आते हैं उन्हें सम्राट को;
जो ईश्वर से सम्बन्धित हैं उन्हें ईश्वर को अर्पित करो।)

इसका तात्पर्य था कि मनुष्य के गैर-धार्मिक कार्य सरकार के अन्तर्गत आते हैं तथा धार्मिक कार्यों पर चर्च का आधिपत्य है। यहीं से धर्म-निरपेक्ष राज्य का दर्शन प्रारम्भ होता है। इसने मानव जीवन के दो कार्यों और उद्देश्यों को स्पष्ट किया। इसमें राज्य और चर्च में अधिकारों के विभाजन का समर्थन किया गया जो अभी तक रोमन सम्राट में ही निहित थे। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि अब अपने-अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत दो संस्थाएं (राज्य और चर्च) पृथक-पृथक कार्य करेंगी जो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होंगी।[16] इन्हीं विचारों को सन्त पीटर (Saint Peter), रोम के सर्वप्रथम पादरी, ने अन्य शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा—ईश्वर से भय करो, सम्राट का सम्मान करो। (Fear God, honour the king)

यद्यपि इस प्रकार के विचार समकालीन वातावरण में तो गूंजने लगे, ईसाई धर्मानुयायियों के साथ कठोर व्यवहार चलता रहा। किन्तु इसी समय धार्मिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण विकास हुआ। सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन महान (Emperor Constantine, the Great, 272 or 274–337 A. D.) ने सन् 313 में मिलान शहर (इटली का एक-प्रसिद्ध नगर) के निकट एक प्रसिद्ध घोषणा की कि "पूजा स्वतन्त्रता की किसी को मनाही नहीं की जायेगी, प्रत्येक व्यक्ति का मस्तिष्क एवं इच्छा दैवी कार्यों को अपनी इच्छानुसार व्यवस्थित करने के लिये स्वतन्त्र होगा।" इस घोषणा को 'मिलान पत्र' अथवा 'धार्मिक स्वतन्त्रता पत्र' (Edict of Milan or Edict of Toleration) के नाम से जाना जाता है। मिलान पत्र का महत्व केवल शब्दों तक ही सीमित रहा। सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन द्वारा ईसाई धर्म स्वीकार करने के बाद उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में स्थिति में विपरीत परिवर्तन हुआ। ईसाई धर्म की महत्ता में अत्यधिक वृद्धि हुई। अब ईसाई धर्म रोमन साम्राज्य का राज-धर्म बन गया। दूसरे धर्मावलम्बियों के मन्दिरों को बन्द करवा दिया गया। लेकिन चर्च के सम्बन्ध में सम्राटों की शक्तियों में कोई न्यूनता नहीं आई।

कालान्तर में यह स्थिति बदलने लगी। पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ट्यूटन (Teuton) जातियों ने रोम पर आक्रमण कर उसे अपने आधिपत्य में कर लिया। ट्यूटन विजय से रोम साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हुआ। रोम साम्राज्य अब पूर्व तथा पश्चिम क्षेत्रों में विभाजित हो गया। साम्राज्य की राजधानी रोम से हटा कर

16. Sabine, G. H., History of Political Theory, pp 7-8.
Barker, E., Principles of Social and Political Theory, pp. 7.-8

कुस्तुनतुनिया (टर्की) बना दी गई। रोम में सम्राट की अनुपस्थिति, ट्यूटनों द्वारा ईसाई धर्म स्वीकार करने आदि से चर्च के प्रभुत्व मे अभिवृद्धि हुई। इसी समय रोम मे पोप (एक सस्था के रूप मे) का अभ्युदय हुआ और शनै. शनैः लौकिक सत्ता (Temporal power) पर भी चर्च सगठन का पर्याप्त नियन्त्रण हो चला। इससे कई शताब्दियों तक धर्म-निरपेक्ष चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध हो गया, ज्ञान का विकास दब गया तथा राजनीति दर्शन की प्रगति रुक गई।[17]

सन्त अगस्टाइन तथा दो-राज्य सिद्धान्त

इन परिस्थितियो के मध्य भी ईसाई धर्म के तत्त्वावधान मे धर्म-निरपेक्ष भावना का कुछ सीमा तक विकास हुआ। सत अगस्टाइन (Saint Augustine, 354-430) के विचार यद्यपि इस सम्बन्ध मे स्पष्ट नहीं थे, उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डी सिविटेट डी' (De Civitate Dei) मे दो राज्यो की धारणा का प्रतिपादन करते हुए लिखा कि—

> "मानव दो राज्यो का सदस्य होता है। एक राज्य वह है जिसमें उसने इस संसार मे जन्म लिया है। यह पृथ्वी का राज्य है। दूसरा स्वर्ग का राज्य (The city of God) है। चूंकि मानव प्रवृत्ति के दो रूप उसकी आत्मा तथा शरीर हैं, अत: वह स्वर्गीय राज्य तथा पृथ्वी के राज्य दोनों का नागरिक होता है। इसी प्रकार मनुष्य के हित भी दो प्रकार के होते हैं—प्रथम, वह जिनका सम्बन्ध उसके शरीर से रहता है वे सासारिक हैं, दूसरे वह हैं जिसका सम्बन्ध उसकी आत्मा से होता है, स्वर्ग के राज्य से संबद्ध हैं।"[18]

सत अगस्टाइन के 'दो राज्यो' सम्बन्धी विचार काफी महत्वपूर्ण माने जाते हैं जिनके अन्तर्गत वे 'पृथ्वी का राज्य तथा स्वर्ग का राज्य' की विवेचना करते हैं। इसमें उन्होने दो जीवन प्रणालियो, आध्यात्मिक और भौतिक, के मध्य भेद स्थापित किया है। मध्ययुग में धर्मसत्ता तथा राज्यसत्ता के बीच जब सघर्ष प्रारम्भ हुआ तो दोनो पक्षों के समर्थको ने अगस्टाइन के विचारो से अपने पक्ष की पुष्टि करने के प्रयत्न किये। अगस्टाइन के विचारो मे न केवल चर्च की स्वतन्त्रता ही अन्तर्निहित थी अपितु लौकिक सरकार की भी, विशेषत. जब तक कि वह अपने समुचित अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करती रहती है।[19]

पोप गिलेसियस प्रथम और दो सत्ता सिद्धान्त

जैसे-जैसे धर्म तथा सत्ता मे सघर्ष बढता चला, चर्च सगठन मे कुछ ऐसे व्यक्ति थे जिनका विचार था कि दोनो सत्ताओ और व्यवस्थाओ मे पारस्परिक सहयोग की भावना बनी रहनी चाहिये। पारस्परिक साहचर्य के आधार

---

17. गैटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 115.
18. Quoted, Foster, Masters of Political Thought, Vol. I, p. 197.
19. Foster, E. M., Masters of Political Thought, Vol. I, p. 197.
Maxey, Chester C., Political Philosophies, p 103.
Sabine, G. H., A History of Political Theory, p 171.

पर दोनो एक दूसरे के कार्यों में तब तक हस्तक्षेप न करें जब तक कि उनके आचरण तथा प्रशासन त्रुटिपूर्ण न हो जायें। पाचवी शताब्दी मे इस विचारधारा का प्रतिपादन किसी सीमा तक पोप गिलेसियस प्रथम ने अपने 'दो तलवारों के सिद्धान्त' (Doctrine of Two Swords) द्वारा किया। पोप गेलेसियस प्रथम के अनुसार एक ही व्यक्ति के हाथो मे दोनो सत्ताओं (धार्मिक तथा लौकिक) का सम्मिश्रण होना मूलतः ईसाई धर्म के विरुद्ध था।

उन्होने राज्य सत्ता के चर्च पर क्षेत्राधिकार को पूर्णतः अस्वीकार किया। ईसाई धर्म के सर्वव्यापी प्रभाव के अन्तर्गत गेलेसियस प्रथम ने कहा कि शासको को आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिये पादरियो की आवश्यकता होती है तथा पादरियो को सासारिक मामलो को व्यवस्थित करने के लिए राज्य सत्ता द्वारा निर्मित नियमों की आवश्यकता होती है। इन विचारो को पोप गिलेसियस प्रथम ने कुस्तुन्तुनिया मे स्थित रोमन सम्राट को एक पत्र मे लिखकर व्यक्त किया। पोप ने लिखा—

'महान सम्राट,

> "इस संसार का शासन करने वाली दो प्रमुख शक्तियां हैं : धर्माधिकारियों की पवित्र सत्ता) तथा राजसी सत्ता, जिनके अन्तर्गत धर्माधिकारियो के ऊपर उच्चतर बोझ रखा गया है। आप जानते हैं कि अन्य मानवो की अपेक्षा आपका स्तर उच्चतर है, तथापि आपको उनके समक्ष जो धार्मिक मामलो का नियमन करने के लिये उत्तरदायी हैं, झुकना पड़ता है। सार्वजनिक शान्ति तथा व्यवस्था से सम्बद्ध मामलो मे धार्मिक नेता आपके आदेशो का पालन करते हैं। वह इसलिये कि ऐसे आदेश देने की शक्ति आपको ईश्वर द्वारा प्रदान की गई है। परन्तु आपको भी उन अधिकारियो के आदेश का पालन करना चाहिये जिन्हें आध्यात्मिक जीवन के रहस्यो का निर्वचन करने का अधिकार प्राप्त है।"[20]

'दो तलवारों अथवा दो सत्ताओं' का गेलेसियन सिद्धान्त धार्मिक और लौकिक सत्ता के पृथक अस्तित्व को केवल स्वीकार ही नही करता किन्तु उन दोनो के अलग-अलग कार्य-क्षेत्रो को भी मान्यता देता है जो एक दूसरे के अधिकारो मे हस्तक्षेप न करें।[21] इस प्रकार धर्म-निरपेक्षता को सैद्धान्तिक रूप में तो मान्यता प्राप्त सी होने लगी, धर्म सत्ता तथा लौकिक सत्ता के भेद को आदर्श तो माना गया लेकिन वह विचार केवल पोप और सम्राटों को सन्तुष्ट या उनके विरोधी विचारो को समन्वय करने का प्रयत्न था। व्यवहार मे धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना अभी तक नहीं हो पाई थी। चर्च तथा राज्य के कार्य एक दूसरे के पूरक थे तथा उन्हें

20. Quoted, Smith, D. E., India As a Secular State, p. 10.
21. Ehler Z., Sydney, and Morrall, J. B., Church and State Through the Centuries, p. 10.

अलग-अलग करना असम्भव था। "चर्च एक राज्य चर्च था तथा राज्य एक चर्च राज्य था।"[22]

आगे आने वाली कुछ शताब्दियों में चर्च और राज्य के संघर्ष ने पूर्णतः शक्ति संघर्ष का रूप धारण कर लिया। 800 ई. में पोप लियो तृतीय (Pope Leo III) ने शार्लमेन (Charlemagne) का पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के प्रथम सम्राट के रूप में राज्याभिषेक किया। इस कार्य ने पोप की प्रमुखता को व्यक्त किया। लेकिन शार्लमेन ने अपने पुत्र का राज्याभिषेक पोप द्वारा नहीं स्वयं ही ने किया। कालान्तर में सम्राट को राज्याभिषेक द्वारा अधिकार देने की परम्परा ने एक विवाद का रूप धारण कर लिया। यह कार्य पोप अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत मानता था तथा अयोग्य सम्राटों को धर्म बहिष्कृत कर उन्हें उनके पद से हटाने का अधिकार भी सुरक्षित रखता था। चर्च अधिकारियों की नियुक्ति में भी पोप अपना अधिकार मानता था। ग्यारहवीं शताब्दी में पोप ग्रेगरी सप्तम (Pope Gregory VII, 1073-1085) तथा सम्राट हेनरी चतुर्थ (Henry IV) में प्रथम सत्ता संघर्ष हुआ जिसमें सम्राट हेनरी को अपमानित होना पड़ा। लेकिन तीन वर्ष बाद ही हेनरी ने रोम पर आक्रमण किया तथा पोप ग्रेगरी सप्तम को पदच्युत कर दूसरे पोप की नियुक्ति की। इस घटना से धर्म सत्ता तथा चर्च संगठन का पतन प्रारम्भ हुआ।

तेरहवीं शताब्दी के अन्त में पोप बोनीफेस (Pope Boniface VIII,, 1294-1303) अष्टम तथा फ्रांस के सम्राट फिलिप में एक और संघर्ष प्रारम्भ हुआ। पोप बोनीफेस अष्टम ईसाई धर्म के अन्तर्गत लौकिक सत्ता का कोई भी आदेश बिना पोप की स्वीकृति के न्याय संगत नहीं मानता था। सम्राट फिलिप चतुर्थ ने बोनीफेस की इस धारणा का प्रतिरोध किया। फिलिप ने धार्मिक क्षेत्र में अपनी सत्ता में वृद्धि कर धार्मिक संस्थाओं पर पोप के विरोध के होते हुए भी कर लगाये। इस संघर्ष में लौकिक सत्ता की धर्म सत्ता पर पूर्ण तथा स्थायी विजय हुई। 1303 में बोनीफेस की मृत्यु के उपरान्त फ्रांस के राजतन्त्र ने उसके स्थान पर नये पोप का निर्वाचन कराने तथा पोप का प्रधान कार्यालय रोम से एवीनन (Avignon) में स्थानान्तरित कराने में सफलता प्राप्त की। इसने पोप के प्रभुत्व को बहुत कुछ सीमित कर दिया।

धर्म-निरपेक्ष विचारधारा के विकास में मारसीलियो ऑफ पेडुवा (Marsiglio of Padua, 1270-1342) का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मारसीलियो ने ने अपनी पुस्तक डिफेन्सर पेसिस (Defensor Pacis, 1324) में धर्म-निरपेक्ष सत्ता की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। यही नहीं उसने इस विचार का भी प्रतिपादन किया कि राज्य आत्मनिर्भर एवं सर्व-व्यापक संस्था है, जो धार्मिक संस्थाओं

22. Dawson, Christopher, Medieval Essays, p 78.

को भी उस तरह नियमित कर सकता है जिस प्रकार व्यापार या कृषि । मारसीलियो ने नागरिक अधिकारी को धर्म पर आधारित नहीं माना । उसके अनुसार "नागरिकों के अधिकार जिन धर्म का वे पालन करते हैं उससे स्वतन्त्र हैं; कोई भी मनुष्य अपने धर्म के कारण दण्डित नहीं किया जा सकता।"[23] मध्ययुग के समस्त विचारकों में मारसीलियो सर्वप्रथम चिन्तक है जो चर्च सत्ता को पूर्णतया लौकिक सत्ता के आधीन मानने के तर्क देता है । वह यह भी कहता है कि चर्च संगठन तथा चर्च सत्ता पूरी तरह लौकिक एवं मानवीय है ।

नवीन परिस्थितियां तथा धर्म-निरपेक्षता

चौदहवीं, पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में व्यक्ति तथा राज्य के चिन्तन क्षेत्र में अधिक सक्रियता आई । चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का शतक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मध्य युग का अन्त माना जाता है । इस चरण में चर्च सुधार तथा पोप विरोधी धारणाओं का प्राधान्य रहा । चर्च सुधार तथा पोप की सत्ता को मर्यादित करने का एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसे कनसीलियर आन्दोलन (Conciliar Movement) कहा जाता है ।

पुनर्जागृति और धर्मनिरपेक्षता

पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पुनर्जागृति काल (Renaissance) प्रारम्भ हुआ । मनुष्य नवीन ज्ञान से प्रभावित हुए । इस युग की प्रमुख विशेषताएं, मैकाइवर के अनुसार, यह थी कि मनुष्य ही अध्ययन एवं ज्ञान का केन्द्र एवं उद्देश्य बना । अध्ययन का आधार मानववाद था न कि धर्मशास्त्रों पर आधारित अन्धविश्वास । आलोचनात्मक तथा तार्किक पद्धति का विकास हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान को उसके गुण और तर्क (Reason) के आधार पर ग्रहण करना चाहिये । परिणामस्वरूप धर्म-प्रभाव को काफी धक्का लगा । वास्तव में पुनर्जागृति से ही राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप बदलने लगा और उसमें आधुनिक चिन्तन की प्रवृत्तियां आने लगी । इनमें धर्म-निरपेक्षता भी एक प्रमुख प्रवृत्ति थी । इस सम्बन्ध में मेकियावली के विचार अधिक उग्र थे । वह राजनीति के प्रभाव से मुक्त किसी भी व्यवस्था का समर्थक नहीं था ।[24]

यह युग साहसिक खोज का भी था । यूरोप के लोगों ने बाहर जाकर नई-नई बस्तियों तथा व्यापारिक मार्गों की खोज की । 1486 में अफ्रीका के ठीक दक्षिण छोर पर उत्तम आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) तथा 1492 में कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज, 1498 में वास्कोडिगामा का भारत आना और 1519 में एक पुर्तगाली नाविक मैगेलन (Magellan) के दल

---

23. Peffer Leo, Church, State and Freedom, P. 18.
24. Maciver, R. M., The Modern State, pp. 171-73,
Federico Chabod, Machiavelli and the Renaissance, p. 93.

द्वारा विश्व की परिक्रमा करना इस समय की विशेष घटनाएं थी। यूरोप के लोग अन्य महाद्वीपों में गये, वहाँ नई-नई सभ्यताओं और धर्मों के सम्पर्क में आये। यूरोप वापस आकर इन्होंने रोमन कैथोलिक भ्रान्तियां, जैसे ईसाई धर्म ही अकेला और एक सच्चा धर्म है, समस्त विश्व ईसाई धर्म का पालन करता है- ईसाई राज्य के अतिरिक्त विश्व में और अन्य कोई राज्य नहीं है, आदि धारणाओं का खण्डन किया। खोजों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रादुर्भाव तो हुआ ही, भिन्न-भिन्न देशों के लोगों में पारस्परिक सम्पर्क भी बढ़ा। ये लोग विभिन्न धर्मों के अनुयायी थे। भारत, चीन आदि देशों में व्यापार करना तथा अन्य धर्मावलम्बियों के साथ व्यापार सम्बन्ध स्थापित करना तभी सम्भव था जब कि धार्मिक सहिष्णुता को स्वीकार किया जाय। धार्मिक कट्टरता से व्यापारिक सहयोग असम्भव था।

धर्म सुधार आन्दोलन और धर्म-निरपेक्षता

सोलहवीं शताब्दी में धर्म सुधार आन्दोलन (Reformation) का अभ्युदय हुआ। यह आन्दोलन पोप तथा अन्य पादरियों के नीच आचरणों और धार्मिक उपेक्षा के विरुद्ध हुआ। इस आन्दोलन से ईसाई धर्मावलम्बी दो वर्गों में विभाजित हो गये। एक तो वे जो पोप का समर्थन कर रहे थे तथा दूसरे वे जो चर्च व्यवस्था में सुधार चाहते थे। ये सुधार समर्थक प्रोटेस्टेन्ट कहलाये जाने लगे। धर्म सुधार आन्दोलन (Reformation) का प्रमुख लक्ष्य रोमन कैथोलिक चर्च में सुधार करना था न कि धर्म-निरपेक्षता का समर्थन। किन्तु आगे चलकर रिफोरमेशन ने धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र में भी व्यापक योगदान दिया तथा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके अन्तर्गत धर्म-निरपेक्ष राज्यों की स्थापना सम्भव हो सकी।

ईसाई धर्म का विभाजन सिर्फ इन दो सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं रहा, वह धीरे-धीरे कई छोटे-छोटे सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इन सम्प्रदायों की भिन्न तथा कभी-कभी परस्पर विरोधी धर्म व्यवस्था थी। इस प्रकार यूरोप के अनेक राज्यों में कई छोटे-छोटे सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव से एक नई परिस्थिति उत्पन्न हुई। जब किसी राज्य में सिर्फ एक ही वर्ग के अनुयायी थे तब तक तो कोई समस्या नहीं थी। लेकिन जब राज्य की जनता कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट आदि में विभाजित थी तो राज्य न तो कैथोलिक और न ही प्रोटेस्टेन्ट का समर्थन कर सकता था। जहाँ किसी सरकार ने इस परिस्थिति में किसी एक सम्प्रदाय का समर्थन किया। वहीं कई प्रकार की आन्तरिक समस्याएं उत्पन्न हुई। इंग्लैंड में मेरी ट्यूडर (Mary Tudor. 1553-58) जो कट्टर कैथोलिक थी, देश की एकता तथा शान्ति व्यवस्था बना कर नहीं रख सकी।

रिफोरमेशन ने मध्ययुगीय सार्वभौम, विश्वव्यापी ईसाई साम्राज्य की भ्रान्ति को पूर्ण खण्डित कर दिया। अब कई अलग-अलग स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। इन राज्यों में कुछ रोमन कैथोलिक तथा कुछ प्रोटेस्टेन्ट धर्म के

समर्थक थे। ईसाई धर्म के इन दोनों सम्प्रदायों के समर्थन में यूरोप में धार्मिक युद्ध भी हुए। 1588 में इंग्लैंड तथा स्पेन का आरमेडा युद्ध (Armada) क्रमशः प्रोटेस्टेन्ट तथा कैथोलिक राज्यों के मध्य था।

इस समय लगभग सभी राज्यों में धार्मिक विभिन्नता दृष्टिगोचर होने लगी थी। राज्य की नागरिकता अब किसी एक समान धर्म पर आधारित नहीं रही, सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति नागरिक थे। जैसा कि सेबाइन (Sabine G. H.) ने उल्लेख किया है कि उन परिस्थितियों में धार्मिक सहिष्णुता के अलावा कोई विकल्प ही नहीं था। उस समय यह भी स्वीकार किया जाने लगा कि विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति भी एक सामान्य राजनीतिक व्यवस्था के प्रति निष्ठावान हो सकते थे।[25]

इन्हीं परिस्थितियों का समकालीन विचारों पर भी प्रभाव पड़ा तथा धर्म निरपेक्षता को व्यापक समर्थन मिलने लगा। बोदां (Bodin) ने लिखा कि "जिस राज्य में पहले ही दो या तीन धर्म विद्यमान हों, राज्य द्वारा धार्मिक एकरूपता थोपना व्यर्थ होगा। ऐसा करना गृह-युद्ध की ओर जाना होगा जिससे राज्य निबल होगा।"[26]

इन परिस्थितियोंवश धर्म-निरपेक्षता से सम्बन्धित कुछ बातों की आवश्यकता प्रतीत हुई। प्रथम, विभिन्न सम्प्रदायों में पारस्परिक सहिष्णुता की आवश्यकता। द्वितीय, राज्य द्वारा सब सम्प्रदायों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करना। तृतीय, राज्य द्वारा किसी सम्प्रदाय से अपना गठबन्धन न रखना। परिणामस्वरूप यूरोप में दो प्रकार की व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। प्रथम, किन्हीं-किन्हीं राज्यों में किसी चर्च विशेष को राज धर्म की मान्यता दी गई, पर साथ ही साथ अन्य धर्मावलम्बियों को भी धार्मिक स्वतन्त्रता थी। राजकीय चर्च को कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थी। इस प्रकार की राजकीय-चर्च व्यवस्था का प्रादुर्भाव इंग्लैंड में हुआ। एलिजाबेथ प्रथम ने एग्लीकन चर्च (Church of England) की स्थापना की। दूसरी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य में सब धर्म संगठनों को समान समझा जाता था। जिसे ज्यूरिसडिक्शनलिज्म (Jurisdictionalism) कहा जाता था। लेकिन इन दोनों व्यवस्थाओं को धर्म-निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता था। राज्य, चर्च या कई चर्च के मामलों को व्यवस्थित तथा नियन्त्रित करते थे।

बोसांके (Bernard Bosanquet) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक—The Philosophical Theory of the State—में लिखा है कि चर्च या ईसाई धर्म के पारस्परिक विभाजन से चर्च तथा राज्य की पृथक्करण प्रक्रिया हो प्रारम्भ नहीं हुई, वरन् राज्य को अपनी पूर्ण स्वतन्त्र इच्छा तथा स्वयं विशिष्टता प्रदर्शित करना सम्भव हो सका। (पृ० 265) धर्म-निरपेक्षता के साथ-साथ राज्य के प्रभाव में भी वृद्धि हुई।

25 Sabine, G. H. A History of Political Theory, p. 357.
26. Mc Govern, W.W., From Luther to Hitler, p. 65.

संयुक्त राज्य अमेरिका और धर्म-निरपेक्षता

संयुक्त राज्य अमेरिका पहला देश था जहां धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई। संयुक्त राज्य अमेरिका के अस्तित्व में आने के पहले यह देश तेरह उपनिवेशों (Colonies) में विभाजित था। इन उपनिवेशों की स्थापना यूरोप से आने वाले लोगों, जिन्हें--Pilgrim Fathers--कहते थे, ने की। चर्च तथा राज्य के विषय में इन लोगों के विचार यूरोप में प्रचलित विचारों से भिन्न नहीं थे। पूर्व स्वाधीन अमेरिका में दो व्यवस्थाएँ स्पष्ट थीं। प्रथम, कुछ अपवादों को छोड़कर प्रत्येक उपनिवेश में चर्च तथा राज्य घनिष्ठत सम्बन्धित थे तथा कोई न कोई सम्प्रदाय उपनिवेशों का राजधर्म था। अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का पालन करने वालों को सीमित धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

द्वितीय, इन सभी उपनिवेशों में किसी एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित समान चर्च व्यवस्था नहीं थी। सभी उपनिवेशों में अलग-अलग धार्मिक विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती थीं। उदाहरणार्थ न्यू इंग्लैंड के चार उपनिवेशों में कालविनिस्ट काँग्रेगेशनलिज्म (Calvinist Congregationalism), दक्षिण के तीन उपनिवेशों में एंग्लीकन चर्च (Church of England) तथा न्यूयॉर्क (New York), न्यू जरसी (New Jersey) मेरीलैंड (Maryland) तथा जॉर्जिया (Georgia) में राजकीय चर्चों में समय समय पर परिवर्तन होता रहा। रहोड द्वीप (Rhode Island) पेन्सिल्वानिया (PennsylVania) तथा डिलवेर (Delaware) में कोई भी चर्च सम्प्रदाय राजकीय धर्म नहीं था। लगभग इन सभी उपनिवेशों में एक प्रमुख विशेषता यह और थी कि यद्यपि इनके संस्थापक धार्मिक दमन के कारण यूरोप छोड़कर इस नई दुनिया में आये थे, लेकिन धर्म के मामले में ये स्वयं ही सहिष्णु नहीं थे। बहुत से उपनिवेशों में क्वेकर्स (Quakers) तथा कैथोलिक अनुयायियों का प्रवेश वर्जित था या उन पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाये गये थे। रहोड द्वीप (Rhode Island) का संस्थापक (Roger Williom) धार्मिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। राज्य के विषय में इसके विचार मूलतः धर्म निरपेक्ष थे।[27] यह उपाय चर्च तथा राज्य के पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित थे तथा सन् 1663 में रहोड द्वीप के चार्टर के अन्तर्गत समस्त धर्मावलम्बियों को धार्मिक स्वतन्त्रता दी गई। अमरीकी धर्मनिरपेक्षता में रहोड द्वीप का बहुत ही महत्व रहा है।

रॉजर विलियम के अलावा इस क्षेत्र में विलियम पेन (William Penn) का भी योगदान रहा है। विलियम पेन ने पेनसेल्वानिया की स्थापना के उपरान्त वहां अधिक से अधिक व्यक्तियों को बसाने के लिए एक विज्ञापन निकाला जिसके अनुसार सभी धर्मावलम्बियों को धार्मिक स्वतन्त्रता का वचन दिया गया। अन्य उपनिवेशों में जहां अन्य धर्मावलम्बियों का दमन किया जाता था बहुत से लोग पेनसलवानिया

27 Danson, Christipher, Religion and Culture, p 204

मे आकर बस गये । इस उपनिवेश मे यूरोप के लगभग सभी चर्चों की स्थापना हुई ।

अमेरिका मे धर्म-निरपेक्षता को व्यापक मान्यता अठ्ठारहवी शताब्दी के अन्त मे प्राप्त हुई । जब सयुक्त राज्य की स्थापना हुई तो 'राज्य वनाम धर्म' के विषय मे काफी विवाद हुआ । ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि जिन तेरह उपनिवेशो द्वारा सयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना हुई उनम ईसाई धर्म के कई सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर चुके थे । स्वाधीन अमेरिका किस सम्प्रदाय को राज्य सरक्षण प्रदान करे । इन परिस्थितियो म यह निर्णय करना एक समस्या थी । किसी एक धर्म को राज-धर्म का स्तर देने का तात्पर्य अमरीकी राष्ट्र की स्थापना विघटित नीव पर करना था । र्‌होड द्वीप तथा पेनसल्वेनिया म धर्म-निरपेक्ष के सफल प्रयोग भी सविधान निर्माताओ के समक्ष विकल्प के रूप म थे, जिससे वे प्रभावित होते प्रतीत हुए ।

अमरीकी क्रान्ति के नेताओ पर लॉक (John Locke, 1632-1604) के विचारो का बडा प्रभाव था । लॉक धार्मिक सहिष्णुता का प्रबल समर्थक था जिसके विषय मे उसने अपने सहिष्णुता पत्रो (Letters of Toleration) मे विचार व्यक्त किये । अमरीकी सविधान निर्माताओ ने लगभग लॉक के ही उदार विचारो का अनुसरण किया । अमरीकी स्वाधीन क्रान्ति के प्रमुख विचारक जेम्स मेडिसन (James Madison, 1751-1836), जो बाद मे राष्ट्रपति भी बने, ने लिखा था कि धर्म राजनीतिक व्यवस्था से पूर्ण मुक्त है तथा धर्म की स्थापना राज्य के लिए आवश्यक नहीं है ।[28]

अमेरिका के नवीन सविधान मे ईश्वर (God) का कही भी उल्लेख नही है । सविधान के छठे अनुच्छेद के अन्तर्गत उल्लिखित है कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे किसी पद या सार्वजनिक ट्रस्ट के लिये धार्मिक परीक्षा या योग्यता का प्रावधान नही होगा । 1791 मे अमेरिका मे चर्च तथा राज्य का अन्तिम रूप मे पूर्ण पृथक्करण हुआ । जेम्स मेडिसन द्वारा प्रस्तावित इस वर्ष अमरीकी सविधान के प्रथम सशोधन मे उल्लेख किया गया कि—

> "काग्रेस (अमरीकी ससद) किसी धर्म की स्थापना के लिये कोई विधि निर्माण नही करेगी, न धर्म के स्वतन्त्र प्रयोग पर प्रतिबन्ध ही लगाएगी ।"[29]

अमरीकी सविधान मे प्रथम सशोधन के सम्मिलित होने के फलस्वरूप विश्व मे प्रथम धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई । इस सशोधन द्वारा धर्म और सरकार का पृथक्करण तथा धर्म व्यक्तिगत मामले के रूप मे स्वीकार किया गया ।[30] 1802 मे

---

28 Pfeffer, Leo, Church, State and Freedom, pp 99-100.

29 "Congress Shall make no law respecting an establishment of religion or prohibiting the free exercise thereof."

30. Pfeffer, Leo, Church, State and Freedom, p 119

राष्ट्रपति जेफरसन (Thomas Jafferson, 1743-1826) ने डेनवरी बेपटिस्ट सघ (Danbury Bapist Association) को एक पत्र मे लिखते हुए उल्लेख किया कि सविधान का प्रथम सशोधन चर्च और राज्य के मध्य 'पृथक्करण की दीवार' (Wall of Separation) स्थापित करता है।[31] इसमे राज्य द्वारा धर्म के विषय में कानून बनाना या कार्यपालिका द्वारा किसी भी प्रकार की कार्यवाही आदि करने पर प्रतिबंध लग गया। अन्य शब्दो मे राज्य तथा चर्च के बीच किसी भी प्रकार के प्रशासनिक सम्बन्ध नही रह सकते। अमरीकी राज्यो मे भी धर्म-निरपेक्षता का प्रभाव बडी शीघ्र गति से बढा। मेसेचुसेट (Massachusetts) अन्तिम राज्य था जहाँ 1833 मे राज्य तथा चर्च की पृथक्ता को प्राप्त किया गया।

अमरीकी न्यायालयो ने भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णयो मे धर्म-निरपेक्षता के औचित्य को पूर्णत. स्वीकार किया है। एवरसन बनाम बोर्ड आफ ऐजूकेशन (Eversom V Board of Education) के मामले मे उच्चतम न्यायालय ने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय मे कहा कि—

> "न तो राज्य और न सघीय सरकार किसी चर्च की स्थापना कर सकती है। दोनो ही द्वारा किसी एक या सब धर्मो को अनुदान देने या एक धर्म के ऊपर प्राथमिकता देने सम्बन्धित कानून निर्मित नही किए जा सकते। कोई भी धार्मिक गतिविधियो या सस्थाओ, जिन्हे किसी भी नाम से पुकारा जाता हो, वे किसी भी रूप मे अपने धर्म की शिक्षा या व्यवहार रूप देते हो, की सहायता के लिए छोटी या बडी राशि मे किसी भी तरह का कर नही लगाया जा सकता है। न तो राज्य सरकार और न सघीय सरकार गुप्त या खुले रूप मे, धार्मिक सगठनो या समूहो के मामले मे भाग ले सकती है।"[32]

और भी अन्य निर्णयो[33] मे उच्चतम न्यायालय ने धर्म-निरपेक्षता के विभिन्न पक्षो को स्पष्ट किया तथा अमेरिका मे धर्म-निरपेक्षता के विषय मे किसी भी पहलू को सदिग्ध नही छोडा।

---

31 Ibid, p 224

32 Quoted, Luthera, V P, The concept of the Secular State and India, pp 25—26

66 कुछ प्रमुख निर्णय निम्नलिखित हैं—
(i) McCollum V, Board of Education
(ii) Zorach V Clauson
(iii) Watson V Jones
(iv) Kedroff V St Nickolas Cathedral
इन निर्णयो के संक्षिप्त विवरण के लिए देखिये—
Luthera, V P, The Concept of the Secular State and India, pp 25—32

टर्की और धर्म-निरपेक्षता

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त टर्की द्वारा धर्म-निरपेक्षता ग्रहण करना एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विकास समझा जाता है। यह महत्त्वपूर्ण इसलिये और भी है कि धर्म-निरपेक्षता स्वीकार करने के पहले टर्की की जो धार्मिक स्थिति थी उस दशा में धर्म-निरपेक्षता के पक्ष की ओर बढ़ना वास्तव में एक साहसिक कदम था। टर्की की धर्म-निरपेक्षता का प्रभाव एशिया के अन्य राज्यों पर भी पड़ा। प. जवाहरलाल नेहरू ने जब (1933 में) धर्म-निरपेक्षता शब्द का प्रयोग किया, वह टर्की के ही सन्दर्भ में था।

गणराज्य बनने के पहले टर्की ऑटोमान वंश के सुल्तान द्वारा शासित किया जाता था। इस्लाम राज्य-धर्म था तथा सर्वत्र सामाजिक राजनीतिक क्षेत्र में इस्लाम का ही अधिशासन था। धर्म के क्षेत्र में टर्की की श्रेष्ठता इस्लाम जगत में सर्वोच्च थी। टर्की का सुल्तान केवल शासक ही नहीं था, किन्तु इस्लाम का धर्मगुरु (खलीफा) भी था। यह विश्व के समस्त इस्लाम अनुयायियों को जिहाद अथवा धर्मयुद्ध (Jehad) के लिये आह्वान कर सकता था।

टर्की धर्म-निरपेक्ष राज्य के लिये अनुकूल भी नहीं था। वहां की अज्ञान, रूढ़िवादी, कट्टर धर्मपन्थी जनता इस प्रकार के सुधार के लिये तैयार भी नहीं थी। यहां के अत्यधिक व्यक्ति इस्लाम के अनुयायी हैं। इस्लाम द्वारा धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तों को स्वीकार करना असम्भव समझा जाता है। वहां की जनता ने इस प्रकार के सुधार के लिये कोई आन्दोलन भी नहीं किया था। टर्की कभी भी पश्चिमी उपनिवेशवाद के अन्तर्गत नहीं रहा यूरोप में प्रचलित धार्मिक तटस्थता सम्बन्धी विचारों का टर्की पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। लेकिन टर्की का राष्ट्रवादी आन्दोलन निश्चय ही यूरोपीय विचारों से प्रभावित रहे बिना न रह सका। मुस्तफा कमाल टर्की को एक प्रगतिशील धर्म-निरपेक्ष राज्यों की श्रेणी में लाने के लिए बहुत उत्सुक थे और इस सम्बन्ध में वे कई सुधार चाहते थे। सन् 1924 में टर्की में खलीफा पद की समाप्ति करदी गई। 1925 में इस्लाम धर्म पर आधारित सभी राजकीय आज्ञाओं को समाप्त कर दिया गया। 1926 में इस्लाम पर आधारित कानूनों के स्थान पर स्विटजरलैंड का सिविल कोड इटली तथा जर्मनी के फौजदारी तथा व्यापारिक कानून लागू किये गये। 1924 में टर्की का जो नया संविधान बनाया गया उसमें इस्लाम को राज-धर्म स्वीकार किया गया था। लेकिन 1928 में एक संशोधन के द्वारा वह प्रावधान समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार टर्की धर्म-निरपेक्षता के मार्ग पर अग्रसर हुआ।

भारत और धर्म-निरपेक्षता

भारत में धर्म-निरपेक्ष विचार एवं व्यवहार का प्रादुर्भाव कब हुआ। इस सम्बन्ध में मतभेद है। पणिक्कर ने धर्म-निरपेक्षता को भारत में अंग्रेज शासन की

देन माना है, जो यूरोपीय परम्परा पर आधारित है।[34] तो क्या धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र में प्राचीन भारत का कोई योगदान नहीं है। यह भी एक विवादपूर्ण विषय है तथा विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से इस प्रश्न का विवेचन किया है।

प्राचीन भारत में धर्म की उन्नति या वृद्धि राज्य का एक प्रमुख उद्देश्य माना जाता था। सम्राट धार्मिक संस्थाओं की सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझता था। धर्म अभिवृद्धि के लिये मन्दिरों का निर्माण तथा धार्मिक कार्यों को अनुदान दिया जाना राज्य के प्रमुख कार्यों में से एक था। लेकिन शासन व्यवस्था धार्मिक रूढ़ियों (dogmas) पर आधारित नहीं थी। राज्य ने सब धर्मावलम्बियों के साथ दयालुता का बर्ताव किया जाता था तथा उन्हें समय-समय पर आर्थिक सहायता भी दी जाती थी। धर्म निरपेक्षता का यह स्वरूप उस समय विद्यमान था।[35]

वैदिक युग में सम्राट् धार्मिक कार्यों को स्वयं नहीं करता था। धार्मिक कार्य ब्राह्मणों या पुरोहितों के द्वारा किये जाते थे। इस समय की वर्ण व्यवस्था इस प्रकार के कार्य विभाजन पर ही आधारित थी। क्षत्रिय वर्ग, जिस वर्ग के सम्राट हुआ करते थे, का कार्य राज्य प्रशासन चलाना तथा देश की रक्षा करना था। परन्तु धार्मिक एवं आध्यात्मिक कार्य ब्राह्मण-वर्ग के द्वारा ही संचालित होते थे। पुरोहित सम्राट का धर्म-गुरु भी होता था तथा सम्राट अपने राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित के समक्ष तीन बार झुक कर प्रणाम करता था। लेकिन पुरोहित की शासन व्यवस्था में कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं था।[36] यह व्यवस्था भी किसी न किसी रूप में एक धर्म-निरपेक्ष परम्परा थी। पुरोहित या ब्राह्मण वर्ग ने राज्य व्यवस्था पर अधिकार करने का कभी प्रयत्न नहीं किया।

राज्य तथा धर्म सम्बन्धों के विषय में कौटिल्य ने अर्थ शास्त्र में एक तरह से क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किये हैं। कौटिल्य ने राजनीति तथा धर्मशास्त्र को अलग किया है। वह राज्य का सम्बन्ध केवल राजशास्त्र से ही मानता है जिसका उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना तथा शक्ति बनाये रखना है।[37] कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पणिक्कर लिखते हैं, पूर्णत: धर्म-निरपेक्ष राज्य प्रस्तुत करता है जिसका मुख्य आधार शक्ति था।[38] कौटिल्य राज्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये धर्म को एक साधन रूप में प्रयोग करने की भी सिफारिश करता है।

34 Panikkar, K. M., The State and the Citizen, p 28
35 Anjaria J J The Nature and Grounds of Political Obligations in the Hindu State, p 280
Smith, D E, India as a Secular State, p 57.
36 Altekar A S, State and Government in Ancient India, Banaras, 1949, pp 31—35, 43
37 Ghosal, U N, A History of India Political Ideas, p 102
38 Panikkar, opp cit., p 116

प्राचीन भारत में जिस प्रकार से धार्मिक स्वतन्त्रता प्रचलित थी उससे वास्तव में धर्म-निरपेक्षता का एक प्रमुख तत्व प्रस्तुत होता है। राज्य ने व्यक्तियों पर कभी भी कोई धर्म नहीं थोपा और न ही किसी धार्मिक सम्प्रदाय का दमन ही किया। हिन्दू दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आध्यात्मिक मुक्ति कई साधनों से प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार हिन्दू समाज में कई परस्पर विरोधी धर्म सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है। जैनधर्म, बुद्धधर्म काफी लोकप्रिय बने। देश में धार्मिक सहिष्णुता थी तथा धर्म के नाम पर यूरोप की तरह कभी युद्ध नहीं हुए। मैक्स वेबर (Max Waber) के अनुसार भारत में दर्शन तथा धार्मिक विचारकों को जितनी स्वतन्त्रता थी वह पश्चिमी देशों में कुछ समय पहले तक प्राप्त नहीं थी।[39]

मुस्लिम युग में धर्म-निरपेक्षता का स्वरूप

सातवीं शताब्दी से भारत में मुसलमानों का आगमन प्रारम्भ हुआ। मुस्लिम समाज धर्म तथा राजनीति का समन्वय था। इसके अन्तर्गत सिद्धान्त या व्यवहार में लौकिक एवं धार्मिक पहलुओं में कोई अन्तर नहीं था। प्रारम्भ में मुस्लिम समुदाय 'खलीफा तथा इस्लाम से मार्ग निर्देशित होता था। आगे चलकर दिल्ली सल्तनत (1211–1504) तथा मुगल साम्राज्य (1526–1757) के अन्तर्गत विश्व इस्लाम एकता लगभग समाप्त हो गई तथा भारत में मुस्लिम स्वयं की व्यवस्था करने लगे। लेकिन जो भी व्यवस्था इन्होंने अपनाई उसका आधार इस्लाम धर्म ग्रन्थ ही थे।

भारत में मुसलमानों की धार्मिक नीति बादशाहों के व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर निर्भर करती थी। सल्तनत काल में रूढ़िवादी सुन्नियों का ही बोलबाला था तथा शिया, इस्माइली आदि को घोर कष्ट उठाने पड़े थे। यही दशा हिन्दुओं की थी। हिन्दुओं की सार्वजनिक पूजा पर बड़े प्रतिबन्ध लगाये गये। उन्हें मन्दिर आदि बनाने की अनुमति नहीं थी। फिरोज तुगलक (1351-1388) ने जहाँ भी नई भूमि पर आधिपत्य किया वहीं पर इस्लाम विजय के उपलक्ष में मन्दिरों को खण्डित किया। सिकन्दर लोदी (1488–1517) ने शान्तिकाल में भी मन्दिरों को पूरी तरह खण्डित किया।[40] 1669 में औरंगजेब ने एक आदेश के अन्तर्गत सभी मन्दिरों को तुड़वाने की आज्ञा दी।

सल्तनत युग तथा कई मुगल बादशाहों के शासन काल में हजारों हिन्दुओं का शक्ति द्वारा इस्लाम के लिये धर्म परिवर्तन किया गया। शाहजहाँ ने इस्लाम धर्म ग्रहण करवाने के लिये एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति की थी। औरंगजेब के समय धर्म परिवर्तन का कार्य बड़े पैमाने पर चला। हिन्दुओं पर एक विशेष धर्म कर जजिया (jizya) लगाया जाता था तथा सामान्यतः उन्हें किसी भी बड़े पद पर नियुक्त नहीं किया जाता था।

39 Quoted, Smith, D E India As a Secular State, pp 61-62

40 Sharma, S. R., The Religious Policy of the Moghul Emperors, pp 45

केवल अकबर ही एक उदार मुसलमान शासक था। सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता, शासन में उच्च पदों पर सब धर्मावलम्बियों की नियुक्ति, सभी धर्म संस्थाओं के निर्माण में योगदान देना अकबर की धार्मिक नीति के प्रमुख तत्व थे। जब समकालीन यूरोप में धार्मिक युद्ध, अशान्ति थी, भारत में सर्वत्र धार्मिक शान्ति विद्यमान थी। बहुत बड़ी सीमा तक धर्म-निरपेक्षता के तत्व अकबर के शासन में दृष्टिगोचर होते थे। समकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में अकबर आधुनिक युग का प्रथम तथा सम्भवतः महानतम प्रयोगकर्त्ता था।[41] प्रो हुमायूँ कबीर का मत है कि अकबर प्रथम शासक था जिसने धर्म-निरपेक्ष राज्य-सिद्धान्त के निर्माण का प्रयत्न किया।[42]

अंग्रेजी शासन काल और धर्म-निरपेक्षता

भारत में अंग्रेजी नीति साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी उद्देश्यों से प्रेरित थी। वे सही रूप में भारत के शासक के रूप में उभरना चाहते थे। वे स्वयं भी ईसाई धर्म के प्रबल अनुयायी थे। इन तत्वों ने भारत में अंग्रेजों की धार्मिक नीति को प्रभावित किया। प्रारम्भिक वर्षों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय धर्मों के मामलों में अहस्तक्षेप तथा धार्मिक तटस्थता की नीति अपनाई। 1662 में अंग्रेजी व्यवस्था ने बम्बई में यह आदेश निकाला कि वे जबरदस्ती धर्म परिवर्तन नहीं करेंगे, न स्थानीय परम्पराओं में हस्तक्षेप तथा न ही हिन्दू क्षेत्रों में गायों को काटेंगे।[43]

लेकिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तत्वावधान में अंग्रेजों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ईसाई धर्म का प्रसार प्रारम्भ किया। यद्यपि यह कार्य 1705 में ही प्रारम्भ हो गया था, पर 1813 में ईसाई मिशन को कार्य करने का कानूनी अधिकार दिया गया। वैसे अंग्रेजी सरकार धार्मिक मामलों में तटस्थ नीति का अनुसरण कर रही थी, पर ईसाई धर्म की अनुयायी अंग्रेज सरकार के लिये यह सर्वथा सम्भव नहीं था। सरकार शिक्षा संस्थाओं को जो अनुदान देती थी उसमें मिशनरी संस्थाओं को व्यापक सहायता दी जाती थी। लार्ड वेलेजली के कार्यकाल में ईसाई धर्म के प्रचार में सरकार ने काफी योगदान दिया।[44]

अंग्रेजी सरकार ने भारत में कुछ ऐसे कार्य भी किये जो अच्छे तो थे लेकिन रूढ़िवादियों ने उसे शंका की दृष्टि से देखा तथा उन्हें धर्म में हस्तक्षेप समझा। लार्ड विलियम बेन्टिक द्वारा 1829 में सती प्रथा बन्द करना भी इस प्रकार के सुधारों की श्रेणी में आता है।

---

41 Opp Cit, p 60
42 Abid Hussain, The National Culture of India, p 21
Humayun Kabir, The Indian Heritage, p 67
43 Smith, D E, India As a Secular State, p 66.
44 opp cit, p 69.

अंग्रेजी शासन की धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र में एक प्रमुख देन कानून के समक्ष समानता स्थापित करना था। अंग्रेजों द्वारा निर्माण कानून बहुत कुछ हिन्दू तथा मुसलमानों की परम्पराओं पर आधारित थे। समस्त नागरिकों को एक ही फौजदारी कानून की व्यवस्था कर अंग्रेजों ने भारत में धर्म-निरपेक्षता की नींव डाली।

1850 में अंग्रेजी सरकार द्वारा एक कानून पास किया गया जिसका नाम—Caste Disabilities Removal Act—था। इस कानून के अनुसार धर्म से अलग होने, धर्म परिवर्तन करने से व्यक्ति के सम्पत्ति उत्तराधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। हिन्दू तथा मुस्लिम धर्म के अन्तर्गत धर्म परिवर्तन करने वाला व्यक्ति अपनी सन्तान का संरक्षक नहीं रह सकता था। इस कानून के द्वारा यह अयोग्यता समाप्त कर दी। इस कानून को धार्मिक स्वतन्त्रता के कानून की संज्ञा दी गई किन्तु वास्तव में इसके पीछे अंग्रेजी सरकार का उद्देश्य उन व्यक्तियों को संरक्षण देना था जिन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था।

1857 की क्रान्ति के समय 'धर्म खतरे में है' का नारा बुलन्द हुआ। क्रान्ति-दमन के पश्चात् महारानी विक्टोरिया की घोषणा (1858) महत्त्वपूर्ण है। इस घोषणा के द्वारा ईसाई धर्म की महत्ता को सर्वाधिक रूप से स्वीकार किया गया। किन्तु साथ ही साथ धर्म आधार पर भेदभाव के बिना सब व्यक्तियों को कानून द्वारा समान सुरक्षा तथा धार्मिक मामलों में प्रशासन द्वारा हस्तक्षेप न करने का वचन दिया गया।

1857 की क्रान्ति के उपरान्त भारत में अंग्रेजी सरकार द्वारा संवैधानिक सुधारों का कार्य प्रारम्भ हुआ। इन सुधारों का उद्देश्य भारत को जनतान्त्रिक स्वाधीनता की ओर ले जाना नहीं था। लेकिन आंशिक रूप में चुनाव तथा प्रतिनिधि व्यवस्था को स्वीकार किया। धीरे-धीरे भारत में इन संवैधानिक प्रावधानों के प्रति असन्तोष बढ़ा तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। अंग्रेजी सरकार ने धर्म को 'विभाजन और प्रशासन' (Divide and Rule) नीति के साधन रूप में प्रयोग किया। मिन्टो मॉर्ले सुधारों (1909) द्वारा अंग्रेजी सरकार के सक्रिय सहयोग से मुस्लिम सम्प्रदायवाद को बड़ा प्रोत्साहन मिला। सब धर्मावलम्बियों को सरकार प्रत्येक क्षेत्र में समुचित प्रतिनिधित्व देने लगी। यहां तक कि चपरासियों की नियुक्तियां भी विभिन्न सम्प्रदायों के अनुपात को ध्यान में रख कर की जाती थीं।[45] इसका तात्पर्य धर्म-निरपेक्षता नहीं बल्कि राजनीतिक चाल थी। शनैः शनैः मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन क्षेत्र, विभिन्न व्यवस्थापिकाओं में सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था, पृथक् प्रान्त और अन्त में पृथक् राज्य मिलना सब कुछ अंग्रेजों की धार्मिक नीति का ही परिणाम था।

अंग्रेजी युग में भारत का लगभग एक तिहाई भाग देशी रियासतों के शासन के अन्तर्गत था। देशी रियासतों में अंग्रेजों का सामान्यतः प्रत्यक्ष शासन नहीं था। अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत इन रियासतों पर राजे-महाराजे शासन करते थे। रियासतों के धार्मिक मामलों में अंग्रेजी सरकार का सामान्यतः कोई हस्तक्षेप नहीं था। जहां भी

45. Tyabji, Badr-ud-din, Self in Secularism, p 3

शासक हिन्दू थे वहां हिन्दू धर्म सिद्धान्त मान्य थे। किन्तु सभी धर्मावलम्बियों के साथ सहिष्णुता का बर्ताव किया जाता था। प्रमुख धर्म संस्थाओं का नियन्त्रण रियासतों की सरकारों के द्वारा ही किया जाता था। धार्मिक संस्थाओं के निर्माण के लिये राजाओं द्वारा अनुदान दिया जाता था तथा इनके कार्य चलाने के लिये भूमि आदि भी दी जाती थी। इन अनुदानों में हिन्दू संस्थाओं को अधिक हिस्सा प्राप्त होता था। यह कहा जा सकता है कि देशी रियासतों में धार्मिक उदारता होते हुए भी धर्म-निरपेक्षता के आंशिक तत्त्व विद्यमान थे। लगभग ऐसी ही व्यवस्था मुस्लिम रियासतों, जैसे हैदराबाद, भोपाल आदि में थी।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम का आधार धर्म-निरपेक्षता था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) की छत्रछाया में धर्म-निरपेक्ष नेतृत्व का पूर्ण विकास हुआ। सभी वर्ग के व्यक्तियों ने स्वाधीनता की प्राप्ति में योगदान दिया। सभी समस्याओं को धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण से देखा गया। कांग्रेस द्वारा खिलाफत आन्दोलन का समर्थन इसका उदाहरण है। कांग्रेस ने सदैव ही अंग्रेजों *द्वारा भारत में किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक व्यवस्था का विरोध किया।* मुस्लिम लीग द्वारा प्रतिपादित द्वी-राष्ट्र सिद्धान्त (Two-nation Theory) के विरोध-स्वरूप धर्म-निरपेक्षता को और भी बल मिला।

भारतीय समाज बहुलवादी (Pluralist) समाज है, इसमें जगह-जगह पर विभिन्नताएँ विद्यमान हैं। इस अनेकता को एकता के सूत्र में बांधने के लिए भारत में समय-समय पर समन्वय प्रक्रियाएँ चलती रही हैं। स्वाधीनता संग्राम के समय तथा स्वाधीनता के बाद धर्म-निरपेक्षता के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। इसके द्वारा ही प्रगति, एकता, स्वतन्त्रता तथा समानता आदि की उपलब्धि सम्भव थी। इस प्रकार धर्म-निरपेक्षता हमारी राजनीतिक व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण आधार बन गया है।[45]

स्वाधीन भारत और धर्म-निरपेक्षता

भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है, किन्तु हमारे संविधान में 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। संविधान सभा में कुछ सदस्यों ने यह प्रयत्न किया कि 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द को संविधान में स्थान मिले लेकिन 'उद्देश्य प्रस्ताव' (Objectives Resolution) में भी इस शब्द को सम्मिलित नहीं किया गया। सम्भवतः 'धर्म निरपेक्ष शब्द का भावार्थ स्पष्ट नहीं है तथा भारत जैसा धर्म प्रधान है संकुचित अर्थ में धर्म-निरपेक्ष बन भी नहीं सकता। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने, जो भारत में धर्म-निरपेक्षता के प्रबल समर्थक थे, इस उलझन को स्वीकार किया था। उन्होंने कहा था कि भारत में जिस प्रकार की धर्म-निरपेक्षता है उसे व्यक्त करने के लिये 'सेक्यूलर' (Secular) शब्द अधिक उपयुक्त नहीं। इसलिये अन्य

[45] भारत में धर्म-निरपेक्षता पर दिल्ली में 1-2 नवम्बर 1965 को एक परिचर्चा आयोजित की गई। इसमें धर्म-निरपेक्षता से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार किया गया जिसका अध्ययन भारत में धर्म-निरपेक्षता को समझने में सहायक होगा।

उपयुक्त शब्द के अभाव मे यह शब्द ही प्रचलित सा हो गया है। भारत मे धर्म-निरपेक्षता का जो स्वरूप है वह हमारे संविधान के विभिन्न प्रावधानो की व्याख्या से स्पष्ट होता है।

धर्म-निरपेक्षता सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधानो का विवेचन करने से पहले यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पिछड़े हुए वर्ग या जातियो का न तो अलग धर्म है और न वे अल्प संख्यकों की श्रेणी मे ही आते हैं। वे सभी हिन्दू हैं और हिन्दू धर्म के अनुयायी है। कुछ लेखको जैसे डानल्ड स्मिथ, ने पिछड़े हुए वर्ग या जातियो को भी एक धार्मिक वर्ग समझकर धर्म-निरपेक्षता के अध्ययन मे सम्मिलित किया है, जो त्रुटिपूर्ण ही नही, शरारतपूर्ण भी है।

नागरिकता

भारतीय संविधान की प्रस्तावना (Preamble) मे समस्त नागरिको को सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म एवं उपासना की स्वतन्त्रता तथा समान अवसरो की प्राप्ति का दृढ संकल्प व्यक्त किया गया है। इस संकल्प की अभिव्यक्ति संविधान के भिन्न भिन्न प्रावधानो मे भी होती है। प्रस्तावना को सर्वप्रथम कार्यरूप नागरिकता सम्बन्धी प्रावधानो म दिया गया जिसके अन्तर्गत केवल इस प्रकार की अर्थात् भारतीय नागरिकता, को स्वीकार किया गया है। अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत संसद ने 1955 मे जो नागरिकता अधिनियम (Indian Citizenship Act, 1955) स्वीकार किया, उसमे भी एक ही सामान्य नागरिकता को पुन. दोहराया गया। धर्म के आधार पर नागरिकों को किसी उच्च या निम्न श्रेणी मे नही रखा गया है। कोई भी नागरिक उच्च से उच्च पद पर आसीन हो सकता है।

मूल अधिकार

मूल अधिकारो के भाग मे धर्म-निरपेक्ष व्यवस्था का जो भी स्वरूप है उससे उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। धर्म के आधार पर नागरिको मे किसी भी प्रकार का भेदभाव न करना धर्म-निरपेक्षता की एक प्रमुख विशेषता है। संविधान के निम्नलिखित अनुच्छेदो द्वारा उल्लेख किया गया है कि—

(i) राज्य धर्म के आधार पर नागरिको मे भेदभाव नही करेगा। (अनुच्छेद 15)

(ii) धर्म आधार पर किसी नागरिक के लिए सरकारी नौकरी या पद के लिए अयोग्यता नही होगी और न ही किसी प्रकार का भेदभाव किया जायगा। (अनुच्छेद 16)

(iii) सार्वजनिक हित मे राज्य द्वारा आवश्यक सेवा के लिए धर्म के आधार पर भेद-भाव नही किया जायगा। (अनुच्छेद 23)

(iv) शैक्षणिक संस्थाएँ, जो राज्य से पूर्ण या आंशिक अनुदान प्राप्त करती हैं, धर्म के आधार पर प्रवेश निषेध नही किया जा सकता। (अनुच्छेद 29)

(v) शैक्षणिक संस्थाओ को अनुदान देते समय राज्य धर्म या भाषा के आधार पर भेदभाव नही करेगा। (अनुच्छेद 30-2)

(vi) अनुच्छेद 25 से 28 तक धार्मिक स्वतन्त्रता से सम्बन्धित अधिकार दिए गए हैं। ये अधिकार बहुत व्यापक हैं जिनका धार्मिक अल्पसंख्यको की सन्तुष्टि

की दृष्टि से उल्लेख किया गया है। व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता तथा सामूहिक धार्मिक स्वतन्त्रता का भी संविधान में स्पष्ट उल्लेख किया गया है। सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा किसी भी धर्म को अंगीकार करने, उसका अनुसरण करने तथा प्रचार करने का अधिकार दिया गया है। (अनुच्छेद 25) इस अनुच्छेद में दी गई सीमाओं के अन्तर्गत प्रत्येक का अधिकार धार्मिक वर्ग और संस्थाओं को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किए गए हैं—

(अ) धार्मिक तथा धर्मार्थ हेतु संस्थाओं की स्थापना;
(ब) धार्मिक मामलों की स्वयं व्यवस्था करना;
(स) धार्मिक संस्थाओं से सम्बन्धित चल एवं अचल सम्पत्ति का अर्जन एवं स्वामित्व प्राप्त करना।

अनुच्छेद 27 में कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता जिसका प्रयोग किसी धर्म विशेष अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण के लिये किया जाय।

अनुच्छेद 28 के अनुसार राज्य द्वारा पूर्ण सहायता प्राप्त संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जायेगी। इसी अनुच्छेद के एक और भाग में उल्लेख किया गया है कि राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या अनुदान प्राप्त शैक्षणिक संस्था में कोई भी व्यक्ति उसकी या उसके अभिभावक की स्वीकृति के बिना धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने या धार्मिक पूजा करने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा।

सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक अधिकारों के अन्तर्गत भी ऐसे प्रावधान हैं जिनका धर्म-निरपेक्षता पर प्रभाव पड़ता है। नागरिकों के किसी भी वर्ग को जिनकी स्वयं की भाषा, लिपि और संस्कृति है, सुरक्षित बनाये रखने का अधिकार होगा। (अनुच्छेद 29-1)

समस्त अल्प संख्यकों को अपनी इच्छानुसार शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना और संचालित करने का अधिकार होगा। (अनुच्छेद 30-1)

चुनाव व्यवस्था

अनुच्छेद 325 के अन्तर्गत देश में सामान्य चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था है। धर्म, जाति के आधार पर सामान्य चुनाव सूची से न तो कोई व्यक्ति अयोग्य होगा और न ही किसी विशेष चुनाव सूची में सम्मिलित करने के लिये मांग या दावा कर सकेगा। तदुपरान्त संसद ने निर्वाचन सम्बन्धी जो भी कानून बनाये हैं उनके द्वारा साम्प्रदायिकता को भड़काना, धर्म, जाति आदि के आधार पर समर्थन प्राप्त करने की अपील करना आदि को चुनाव भ्रष्टाचार तथा निर्वाचन अपराध माना गया है। यही नहीं बल्कि राजनीतिक दल इस प्रकार का कोई भी चुनाव-चिह्न नहीं ले सकते, जिससे धार्मिक भावनाओं को उभारने के आधार पर मत प्राप्त किये जा सकें।

इन समस्त संवैधानिक प्रावधानों के होते हुए भी भारत वैसा धर्म-निरपेक्ष राज्य नहीं है जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका। हमारे संविधान में इस प्रकार के कई प्रयोजन हैं जिनके द्वारा राज्य और धर्म में किसी न किसी रूप में सम्बन्ध स्थापित होता है। राज्य तथा धर्म के मध्य कोई विशेष दीवार नहीं है। हमारा उद्देश्य एक सन्तुलित व्यवस्था की स्थापना करना था जिसके अन्तर्गत देश की धर्म-प्रधानता भी बनी रहे, किन्तु धार्मिक स्वतन्त्रता का उपभोग समाज के वृहद हित को ध्यान में रखते

हुए किया जाय। मूल अधिकारों के अध्याय में कई स्थलों पर उल्लेख है कि "सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य[47]" को ध्यान में रखते हुए ही धर्म सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है। मूल अधिकारों के अध्याय में निम्नलिखित विषयों पर राज्य को कानून बनाने का अधिकार दिया गया है —

(अ) धार्मिक व्यवहार से सम्बन्धित आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक तथा धर्म-निरपेक्ष गतिविधियों को नियन्त्रित एवं सीमित करना।

(ब) सामाजिक कल्याण, सामाजिक सुधार या हिन्दू धर्म संस्थाओं को सभी वर्गों को खोलने के लिये।[48]

संविधान के अन्तर्गत वे धार्मिक मान्यताएँ जो असमानता व्यक्त करती है, समाप्त कर दिया गया है। इसी उद्देश्य से अस्पृश्यता का पूर्ण रूप से उन्मूलन कर दिया गया है।[49]

संवैधानिक प्रावधानों के अन्तर्गत धार्मिक संस्थाओं के विवादों को सुलझाने, उनके प्रशासन, सम्पत्ति आदि को राज्य अपने अधिकार में ले सकता है, या अन्य रूप में नियन्त्रित कर सकता है। धार्मिक संस्थाओं में जब भी अव्यवस्था हुई है, या उनकी गतिविधियों से शान्ति एवं व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हुआ है, सरकार ने उन्हे व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। राजस्थान में नाथद्वारा का श्रीनाथजी के मन्दिर की व्यवस्था राज्य द्वारा ही की जाती है। तामिलनाडु में सरकार ने धार्मिक संस्थाओं में सुधार हेतु कई विधेयकों का निर्माण किया है। अभी एक वर्ष पहले दिल्ली गुरुद्वारा में विरोधी गुटों की गतिविधियों में इस धार्मिक संस्था की सामान्य एवं दैनिक पूजा-उपासना में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। इससे शान्ति एवं व्यवस्था भी खतरे में पड़ गई थी। परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार ने पुरानी व्यवस्था को समाप्त कर एक नई समिति की स्थापना की। इसका उद्देश्य गुरुद्वारा में सुधार करना था, न कि किसी प्रकार का हस्तक्षेप।

राज्य द्वारा इस प्रकार की गतिविधियों का औचित्य एक अन्य आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। भारत में अधिकांश जनता हिन्दू है। ईसाई धर्म की भांति हिन्दू धर्म तथा अन्य भारतीय धर्म संगठित नहीं हैं जिनकी स्वयं की सभी प्रकार की व्यवस्था हो इसलिये धार्मिक संस्थाओं में सुधार आदि का उत्तरदायित्व राज्य पर हो आता है। यदि इस प्रकार के राज्य हस्तक्षेप को समाप्त करना है तो पहले हिन्दू धर्म को संगठन रूप में ढालना, उसे व्यवस्थित करना तथा उसके अनेक सिद्धान्तों को निश्चित करना होगा।

कुछ ऐसे भी संवैधानिक प्रावधान हैं जो राज्य तथा धर्म के सकारात्मक सम्बन्ध व्यक्त करते हैं। अनुच्छेद 290 (अ) के अन्तर्गत केरल सरकार द्वारा धार्मिक संस्थाओं और मन्दिरों को कुछ अनुदान देने की व्यवस्था है। देशी रियासतों के विलयीकरण

---

47 अनुच्छेद 21 (1), अनुच्छेद 26.

48 अनुच्छेद 2[illegible] (2),

49 अनुच्छेद 17,

के समय भी संघीय सरकार ने बहुत सी रियासतों में प्रचलित धार्मिक फण्ड तथा ट्रस्ट आदि को भी राशि देते रहने की व्यवस्था को स्वीकार किया था।

राज्य द्वारा धार्मिक अल्पसंख्यकों की शैक्षणिक संस्थाओं को अनुदान दिया जाता है। राज्य यह भी देखेगा कि इस अनुदान का सही प्रयोग हो। इसमें किसी न किसी रूप में राज्य का नियन्त्रण स्थापित होता है।

राज्य संस्कृत शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये भारी राशि खर्च करता है। संस्कृत शिक्षा का हिन्दू धर्म से घनिष्ट सम्बन्ध है तथा उच्च स्तर पर हिन्दू धर्म के विशिष्ट ग्रन्थों का ही अध्ययन कराया जाता है।

संविधान के अन्तर्गत किसी धर्म विशेष की सहायता के लिये किसी भी व्यक्ति को कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में सीतलवाद (M C Setalvad) का मत है कि राज्य धर्म के लिये कर ले सकता है यदि वह सब धर्मों के लिये हो और सब धर्म समान समझे जायें। लेकिन अभी तक राज्य ने इस प्रकार का कभी कोई कर नहीं लगाया है।[50]

लेकिन इस प्रकार के कई अवसर आये हैं जबकि राज्य ने धार्मिक सम्मेलनों आदि को किसी न किसी रूप में पर्याप्त सहायता दी है। 1955 में दिल्ली में आयोजित बौद्धधर्म सम्मेलन 1964 में बम्बई में ईसाई सम्मेलन आदि अवसरों पर भारत तथा राज्य सरकारों ने पर्याप्त सहायता दी तथा देश के सर्वोच्च पदाधिकारियों ने सहयोग प्रदान किया। अजमेर में ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के उर्स के अवसर पर राज्य सरकार मेले से सम्बन्धित व्यवस्था करती है। यह व्यवस्था सरकार द्वारा नियुक्त एक विशेष अधिकारी के निर्देशन में की जाती है।

कुछ ऐसे भी आलोचक हैं जिनके द्वारा भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य स्वीकार करना तो दूर रहा उनका मत है कि भारतीय संविधान साम्प्रदायिक दृष्टिकोण पर आधारित है। उदाहरणार्थ, सरकार अलग-अलग धर्म अनुयायियों के लिये अलग-अलग विधि निर्माण कर सकती है। यद्यपि राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में उल्लेख है कि राज्य समस्त देश के लिए एक ही सिविल कोड तैयार करेगा।[51] इस दिशा में हम ने कोई विशेष कार्यवाही नहीं की है। सम्भवत इस सम्बन्ध में हम राजनीतिक स्वार्थों के कारण सतर्कता और सन्तुष्टिकरण की नीति अपना रहे हैं।[52]

संविधान सभा में सम्पूर्ण देश के लिए सामान्य सिविल कोड पर विचार होते समय सदस्यों ने मांग की थी कि एक ही प्रकार का सिविल कोड समस्त नागरिकों पर लागू होना चाहिये। किन्तु यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया।[53] आलोचक मानते हैं कि इससे साम्प्रदायिक भावना को प्रोत्साहन मिला। गो संरक्षण के विषय में भी लगभग यही कहा जाता है।

50 Setalvad, M C, Secularism in India, a talk broadcast over the A I R on January 31 and February 1, 1966

51 अनुच्छेद 44.

52 Desai, A R, Recent Trends in Indian Nationalism, pp 106-07

53 Markandan, K C, Directive Principles in the Indian Constitution, pp 190-170

इन आलोचकों के विचार पूर्णतः सत्य नहीं है। सम्पूर्ण देश के लिए एक ही सिविल कोड का सर्जन एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए हम सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। लेकिन कुछ धर्मावलम्बियों ने इस सम्बन्ध में शंकाएँ व्यक्त की है ये शंकाएं रूढ़िवादी होने के साथ-साथ कभी स्वार्थ हित पर अधिक आधारित हैं। फिर भी वे इसे अपने धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न समझें इसलिए सर्वप्रथम हिन्दुओं में सम्बन्धित सिविल कोड का निर्माण हुआ। यह बात अब बिलकुल स्पष्ट है कि हिन्दू समाज गतिशील है इसमें धर्म-निरपेक्षता के आधार पर परिवर्तन किये जा सकते हैं। डा. गजेन्द्र गडकर (भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश) ने हिन्दू कोड बिल को धर्म-निरपेक्षता की विजय कहा है।[54] किन्तु ये परिवर्तन हिन्दू समाज तक ही सीमित नहीं रहने चाहिए। सम्पूर्ण देश के लिए एक ही सिविल कोड इस समय की आवश्यकता है जो देश की एकता और भारतीयकरण की ओर एक महत्वपूर्ण कदम होगा।

धर्म के सम्बन्ध में राज्य के इन अधिकारों को एक तरह से क्षेत्राधिकारी राज्य (Juridictional State) की संज्ञा दी है।[55] क्षेत्राधिकारी राज्य तथा धर्म-निरपेक्ष राज्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु क्षेत्राधिकारी राज्य में राज्य तथा धर्म के अलग-अलग कार्यक्षेत्र (two spheres of actions) स्पष्ट नहीं होते। राज्य का धर्म संगठनों पर भी किसी सीमा तक क्षेत्राधिकार होता है।

इस सम्बन्ध में सीतलवाद के विचार उल्लेखनीय हैं। भारत में जो भी धर्म-निरपेक्षता है उन्होंने कहा है कि—

> "संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिसमें राज्य तथा धर्म की पृथकता का उल्लेख है या राज्य का कोई धर्म नहीं होगा। इसके विपरीत संविधान में धार्मिक विश्वासों को मान्यता की प्रवृत्ति है यदि वे सामान्य सामाजिक हित के विरुद्ध नहीं हैं तथा सब धर्मों को समान समझा जाता है।"[56]

हमने समाज को अन्धविश्वास तथा पिछड़े युग से निकाल कर प्रगति पथ पर लाने के लिए कभी कभी धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तों का अवहेलना की है। लेकिन यह कोई बुरी बात नहीं है। धर्म-निरपेक्षता के नाम पर अन्धविश्वास, असमानता, पिछड़ेपन रूढ़िवादिता को संरक्षण देने का तात्पर्य धर्म-निरपेक्षता पर ही आघात करना है। हमारे देश की सामाजिक दशा को देखते हुए हमने जो भी व्यवस्था अपनाई है वह उत्तम है। इसे हम भारतीय धर्म-निरपेक्षता (Indian Seularism) कह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देश की एकता में विश्वास तथा नागरिक एव सार्वजनिक जीवन में हम सब भारतीय हैं, न कि हिन्दू, मुसलमान या ईसाई[57]

54 Gajendragadkar, P. B, Secularism under Indian Democracy Convocation Address, University of Rajasthan, December 18, 1965

55 Luthera, V P, The Concept of the Secular State and India, p 150.

56 Setalvad, M C, Secularism in India, in Aspects of Democratic Government and Politics in India by Bombwall and Chaudhari, p 54

57 Presiding speech, Shri M C Chagla, Lala Lajpat Rai Birth Centenary, New Delhi, Nov 21, 1965
श्री छागला ने इसी प्रकार के विचार अपनी पुस्तक—An Ambassador Speaks में व्यक्त किये हैं। इस सम्बन्ध में श्री छागला की इस पुस्तक का पृ. 6 देखिये।

निष्कर्ष

जहाँ तक भारत और धर्म-निरपेक्षता का प्रश्न है, निम्नलिखित बातें पूर्ण-रूप से स्पष्ट होती हैं।

(i) हमने धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन नहीं किया है क्योंकि हमारा यह उद्देश्य भी नहीं था।

(ii) भारत को धर्म-निरपेक्ष बनाने का तात्पर्य धर्म-विहीन समाज की स्थापना करना नहीं था।

(iii) भारत में सभी धर्मों के सम्बन्ध में राज्य तटस्थ या निष्पक्ष है।

(iv) व्यक्तियों को समान नागरिकता तथा अधिकारों पर धार्मिक आधार पर भेदभाव, योग्यता या अयोग्यता को स्वीकार नहीं किया गया है।

(v) राज्य सब धर्मों की समुचित प्रगति के लिए सहायक हो सकता है।

(vi) राज्य धर्म के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है यदि इससे देश की एकता शान्ति, व्यवस्था, सामाजिक नैतिकता या प्रगति का विरोध होता है। लेकिन राज्य ने जहाँ भी हस्तक्षेप किया है उसमें व्यक्तिगत धर्म विश्वास पर कभी प्रभाव नहीं पड़ा है।

(vii) भारत में अधिकतम जनता हिन्दू धर्म की अनुयायी है अथवा उन धर्मों के अनुयायियों का प्रबल बहुमत है जिनका प्रादुर्भाव इसी देश में हुआ है। देश में अधिकतम नेतृत्व इनका होना व्यावहारिक है और इस प्रकार विभिन्न राजकीय अवसरों पर इन धर्मों की परम्पराओं को प्राथमिकता मिलना भी स्वाभाविक है तथा इनकी अभिव्यक्ति होती भी है। इससे धर्म निरपेक्षता पर कोई आँच नहीं आनी चाहिये। अल्प-संख्यक धर्मावलम्बियों का उद्देश्य इस राष्ट्रीय या प्राकृतिक तथ्य को चुनौती देना नहीं होना चाहिए, उन्हें मूलतः यह देखना चाहिये कि वे अपने धर्म का पालन पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ कर रहे हैं, अल्प-संख्यक होते हुए भी वे समान नागरिक हैं तथा बिना भेदभाव के समस्त अधिकारों का उपभोग कर रहे हैं।

पाठ्य ग्रन्थ

1.	Bombwall and Chaudhary, (Ed.)	Aspects of Democratic Government and Politics in India Chapter 4, Secularism in India by M. C. Setalvad.
2.	Burns, E.M ,	Ideas in Conflict *Chapter XI, Religious Foundations of Political Theory.*
3.	Luthera, V. P.,	*The Concept of the Secular State* and India.
4	Maritan, Jacques ,	Man and the State Chaptea VI, Church and State.
5.	Smith D. E ,	India as a Secular State.
6	Tyabji, Badr-ud-din	The self in Secularism.

12

गांधीवाद

सत्य एवं अहिंसा के नवीन आयाम

गांधीवाद का अध्ययन करने से पहले कुछ बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। सर्वप्रथम, क्या गांधीवाद कोई 'वाद' है ? इसका उत्तर 'हां' या 'ना' दोनों में ही हो सकता है। महात्मा गांधी हाब्स, लॉक, रूसो, मिल, हीगल, ग्रीन आदि की भांति शास्त्रीय अर्थ में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अध्ययन कक्ष या एकान्त में बैठकर या किसी विश्व-विद्यालय की कुर्सी को सुशोभित कर अपने विचारों का प्रतिपादन नहीं किया। महात्मा गांधी एक कर्मयोगी तथा व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनके सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न भारत की स्वाधीनता का था। अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष चलाने की किस प्रणाली को अपनाया जाय ? स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त देश की शासन प्रणाली का क्या स्वरूप हो ? देश के समक्ष जो तमाम सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं थीं उनका क्या समाधान हो ? अपने जीवन, भारतीय समाज तथा विश्व में जो भी समस्याएं देखीं, उन समस्याओं के सम्बन्ध में उनसे जो पूछा गया उस सम्बन्ध में गांधी जी ने अपने विचार व्यक्त किये। साथ ही साथ उन्होंने अपने विचारों को कार्यरूप देने का भी प्रयत्न किया जो विश्व के समक्ष आदर्श बन गये।

महात्मा गांधी ने कुछ पुस्तकें तथा काफी संख्या में लेख लिखे। नवजीवन प्रकाशन, हरिजन पत्रिका, यंग इण्डिया, हिन्द स्वराज, आर्यन मार्ग (Aryan Path) आदि लगभग उन्हीं के विचारों को प्रसारित करने के लिये सुरक्षित थे। इतना सब होते हुए भी उन्होंने अपने विचारों को किसी 'वाद' का रूप नहीं दिया। इस सम्बन्ध में मार्च 1636 में सावली सेवा संघ में प्रवचन करते हुए गांधी जी ने कहा था—

> "गांधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है। मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय नहीं छोड़ना चाहता। मैं किन्हीं नये सिद्धान्तों या किसी मत को चलाने का दावा नहीं करता। मैंने तो केवल अपने ढंग से आधार-भूत सच्चाइयों को अपने नित्य प्रति के जीवन एवं समस्याओं पर लागू करने का प्रयत्न किया है। मैंने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे सब अन्तिम नहीं हैं। मैं कल ही उन्हें परिवर्तित कर सकता हूं। विश्व को सिखाने के लिए मेरे पास कुछ नहीं

नहीं चाहता। हां, एक दावा जरूर करता हूँ कि मेरी नजरों में ये नहीं हैं और इस समय तो आखिरी से लगते हैं।"[4]

गांधीजी के अनुयायियों, टीकाकारों ने उनके विचारों को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया है। देश-विदेशों में उनके विचारों पर शोध ग्रन्थ लिखे गये। परिणामस्वरूप गांधीजी के विचारों ने एक वाद जैसा रूप ग्रहण कर लिया। आज गांधीवादी सिद्धान्तों का एक संग्रह सा बन गया है। उनके प्रत्येक अनुयायी अपने विचारों को गांधीवाद की कसौटी पर रखते हैं तथा समस्त सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं का समाधान उनके विचारों में पाते हैं। गांधीवाद एक नैतिक मापदण्ड सा बन गया है। जीवन के प्रत्येक पहलू में क्या करना या नहीं करना चाहिए इस सम्बन्ध में गांधी जी के विचार मार्ग-दर्शन और कार्य-पद्धति का काम करते हैं। डॉ. पट्टाभि सीतारमैय्या के शब्दों में गांधीवाद एक जीवन-शैली या जीवन दर्शन है जो एक नई दिशा की ओर संकेत करता है।[5]

प्रभाव एवं पूर्ववर्ती दर्शन

महात्मा गांधी ने स्वयं को नए मूल विचारक मानने का कभी भी दावा नहीं किया। सत्य अहिंसा के क्षेत्र में उन्होंने जो भी योगदान दिया वह एक प्रकार से प्राचीन परम्परा को ही आगे बढ़ाना था। उनके विचारों की व्यापकता और विविधता को देखते हुए उनके विचार-स्रोत किसी एक देश या काल तक ही सीमित नहीं थे। उन्हें जहां जो भी अच्छा लगा, ग्रहण किया। इतना सब होते हुए भी उन पर भारत की परम्परा एवं संस्कृति का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि गांधीवाद में भारतीयता के दर्शन होते हैं।

महात्मा गांधी ने सत्य एवं अहिंसा के जो प्रयोग किये उसकी परम्परा अति प्राचीन है। भारत में सत्य और अहिंसा की जड़ें जितनी गहरी और मजबूत हैं शायद ही किसी अन्य देश में हों। गांधीजी के विचारों के स्रोत ऋग्वेद, जो प्राचीनतम ग्रन्थों में से एक है तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हो सकते हैं। ऋग्वेद में वर्णाश्रम धर्म ने, जिसके अन्तर्गत शूद्र भी अपने कर्मों के द्वारा ब्राह्मण बन सकता था, गांधीजी को प्रभावित किया। उपनिषदों में अहिंसा की महत्ता पर सदैव जोर दिया गया है। पतञ्जलि के योगशास्त्र में अहिंसा को कभी भी नकारात्मक या हिंसा का त्याग ही नहीं माना, बल्कि सरल मानवता के लिए सद्भावना प्रेरित करने वाला तत्त्व स्वीकार किया। उनका कथन था—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग

अर्थात् जैसे ही अहिंसा पूर्णता को प्राप्त होती है अपने चारों ओर शत्रुता समाप्त हो जाती है।

---

4 गांधी, मो. क., सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 5.

5 Sitaramaya, B. P., Ibid., p. 35.

सत्य और अहिंसा की परम्परा रामायण और महाभारत में और भी विकसित हुई। रामायण से गांधीजी का साक्षात्कार बचपन में ही हो गया था। उन्हें राम रक्षा स्तोत्र कंठस्थ था जिसका वे नित्य प्रातः स्नान के बाद पाठ किया करते थे। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है कि "जिस चीज का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा वह था रामायण का पारायण। मैं आज तुलसीदास की रामायण को भक्ति मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।[6]

महाभारत को गांधीजी ने युद्ध ग्रन्थ नहीं माना है। उनके अनुसार महाभारत के रचयिता वेद व्यास ने इस ग्रन्थ में युद्ध और हिंसा की निन्दा कर उसकी व्यर्थता पर जोर दिया है। युद्ध के पश्चात् विजेता में भी ग्लानि एवं पश्चाताप की भावना प्रदर्शित होती है। साथ ही साथ महाभारत में प्रत्यक्ष रूप से भी अहिंसा का उपदेश मिलता है। घायल भीष्म पितामह को मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए कहते बतलाया गया है--

अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमं तप
अहिंसा परम सत्यम्, ततो धर्म प्रवर्तते

अर्थात् अहिंसा सर्वोच्च धर्म है, सर्वोत्तम तप है, सबसे बड़ा सत्य है जिससे समस्त कर्त्तव्यों का उद्भव होता है।

महाभारत में विशेषतः गीता से गांधीजी को सर्वाधिक प्रेरणा मिली। गीता के प्रति उनका इतना प्रेम और श्रद्धा थी कि गीताजी के लगभग तेरह अध्याय उन्होंने कंठस्थ कर लिये थे। गीता के प्रभाव के विषय में गांधीजी ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि "मेरे लिए तो वह पुस्तक आचार की एक प्रौढ़ पथ-प्रदर्शिका बन गई। वह मेरा धार्मिक कोष हो गई.. उसके अपरिग्रह, समभाव वगैरा शब्दों ने मुझे पकड़ लिया ट्रस्टी शब्द का अर्थ गीताजी के अभ्यास के फलस्वरूप विशेष रूप से समझ में आया। विधान शास्त्र के लिए आदर बढ़ा... अपरिग्रही होने में, समभावी होने में हेतु का, हृदय का परिवर्तन आवश्यक है, यह मुझे दीपक की भाँति स्पष्ट दिखाई दिया।"[7] गांधीजी ने स्वयं भागवद् गीता की टीका लिखी थी। उनकी गीता की व्याख्या नवीन प्रकार की है। वह गीता को अपने जीवन का 'आध्यात्मिक सन्दर्भ ग्रन्थ' (Spritual Reference Book) मानते थे।[8] वे जब *कभी भी अपने लिए मानसिक उलझन या समस्याओं में फँसा पाते तब गीता अध्ययन* से उन्हें सदैव सान्त्वना एवं समस्याओं का समाधान मिला। सत्य और अहिंसा के बारे में गीता से उन्होंने बहुत कुछ सीखा।[9]

6 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ० 38-39.
7 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ० 329-30
8 Gaudi and Mahadev Desai, The Geeta According to Gandhi pp 122-123.
9 Kriplani, J B, Gandhi, His Life and Thought, p 338

जैन दर्शन में अहिंसा का प्रमुख स्थान है। अहिंसा के बिना जैन धर्म कुछ भी नहीं है। गांधीजी का परिवार वैष्णव था फिर भी जैन मुनियों के सत्संग में आता रहा। इसके अतिरिक्त जैन धर्म का प्रभाव जितना गुजरात में है भारत के अन्य भाग में नहीं। यहीं गांधीजी पैदा हुए तथा जीवन के प्रारम्भिक वर्ष बिताये। इस प्रकार अहिंसा का गांधीजी के जीवन पर बचपन में ही प्रभाव पड़ा।

जैन धर्म की भांति बौद्ध धर्म में भी अहिंसा का महत्त्व है। इसके साथ-साथ इसका पवित्रता से प्रारम्भ होकर प्रेम में अन्त होता है। बौद्ध अनुयायी विश्व की सभी प्रकार की पीड़ा एवं यातना का भार सहने की शपथ लेता है। बौद्ध धर्म में अहिंसा का अर्थ प्रेम तथा दूसरों को हानि न पहुंचाना है।

बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को सम्राट अशोक ने साकार किया। कलिंग युद्ध (सम्भवतः 262 ईसा के पूर्व) के बाद सम्राट अशोक हिंसा का त्याग करते हैं इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार वेल्स (H. G Wells) लिखते हैं कि इतिहास में अशोक ही ऐसे एक सम्राट हुए है जिन्होंने विजय के बाद युद्ध न करने की शपथ ली।[10] अशोक की अहिंसा के प्रति लगन, जन-सेवा-भाव तथा शिला लेखों के सूत्रों ने गांधीजी को काफी विचार प्रेरणा दी।

गांधीजी की नैतिक और राजनीतिक विचारधारा पर लाओ त्से (Lao Tse) और उनके समकालीन कनफ्यूशियस (Confucious, about 551–478 B C) की शिक्षाओं का भी प्रभाव पड़ा। लाओ त्से का कहना था कि "जो मेरे प्रति अच्छे हैं मैं उनके प्रति अच्छा हूं जो मेरे प्रति अच्छे नहीं है उनके प्रति भी मैं अच्छा हूँ। इस प्रकार सभी अच्छे हो जायेंगे।' ' जो मेरे प्रति सच्चे हैं मैं उनके लिए सच्चा हूँ, जो मेरे प्रति सच्चे नहीं हैं मैं उनके लिए भी सच्चा हूँ और इस प्रकार सभी सच्चे होते जायेंगे।" लाओ त्से ने नम्रता की उपमा जल से देते हुए कहा कि सर्वोत्तम मनुष्य जल के समान है। जल सभी वस्तुओं को लाभ पहुंचाता है, वह उनके साथ प्रतियोगिता नहीं करता। जल ऐसे निम्नतम स्थानों पर रहता है जहाँ कोई भी रहना पसन्द न करेगा। गांधीजी ने कन्फ्यूशियस से वह सिद्धान्त सीखा जिसके अनुसार मनुष्यों को दूसरे के प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसा व्यवहार वे स्वयं दूसरों के द्वारा अपने प्रति न चाहते हों। *दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करो* जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें।

गांधीजी को गैर-हिन्दू स्रोतों में से बाइबिल में दी गई शिक्षाओं (Sermon on the Mount) ने काफी प्रभावित किया। गांधीजी का कहना था कि जब उन्होंने इसे पहली बार पढ़ा तो यह सीधा ही उनके मन में उतर गया। अहिंसक प्रतिरोध (non-violent resistance) की शिक्षा उन्हें ईसा मसीह के इन शब्दों में मिली—

10 Wells, H G, *The Outline of History*, 1932, p. 400

"भगवान उन्हें क्षमा कीजिए क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं।"
"यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो।"
"अपने शत्रुओं को प्यार करो।"
"बददुआ देने वालों को दुआ दो।"
"जो तुमसे घृणा करते हैं उनके साथ नेकी करो।"
"जो तुम्हारे साथ अत्याचार करते हों उनके लिए तुम भगवान से प्रार्थना करो।"

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के एक मित्र रेवरेण्ड डोक (Rev. J J Doak) का कहना है कि गांधीजी ने सत्याग्रह की प्रेरणा न्यू टेस्टामेण्ट (New Testament) और विशेषकर 'सर्मन ऑफ दी माउण्ट' से ली।[11]

सामान्यत: इस्लाम धर्म को हिंसा और शक्ति के साथ जोड़ा जाता है। किन्तु गांधीजी ने इस्लाम को एक शान्ति के धर्म के रूप में मान्यता दी है। यह सत्य है कि इस्लाम के अनुयायियों ने दूसरे धर्मावलम्बियों पर अत्याचार किये हैं, तलवार के जोर से दूसरों पर अधिकार जमाने तथा इस्लाम प्रसार का प्रयत्न किया। गांधीजी को इस्लाम में जो अच्छी बात लगी वह व्यक्तियों में भ्रातृत्व की भावना थी। मोहम्मद साहब के प्रति भी गांधी जी को श्रद्धा थी। उन्होंने कुरान का खूब मनन किया तथा उसमें कई स्थलों पर उन्हें शान्ति, प्रेम, उदारता, सहिष्णुता के सन्देश मिले।[12] यह नहीं कहा जा सकता कि इस्लाम ने गांधीजी पर कोई विशेष प्रभाव छोड़ा। चूंकि वे सब धर्मों का आदर तथा सभी धर्मों के मूल सिद्धान्तों में विश्वास करते थे, गांधीजी का इस्लाम के प्रति आदर भाव होना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त, भारत में हिन्दू और मुसलमानों की अधिक संख्या होने के कारण उनमें एकता और सहिष्णुता की भावना भरने के लिए भी उन्होंने इस्लाम का समर्थन किया। खिलाफत आन्दोलन (1919–20) में टर्की के खलीफा का समर्थन धार्मिक भावना से नहीं जितना कि राजनीति तथा भारत में हिन्दू मुस्लिम एकता में अभिवृद्धि करने के उद्देश्य से था।

धर्म-निरपेक्ष विद्वानों में से थोरो (David Thoreau, 1817-62), रस्किन (John Ruskin, 1819-1900), और टॉलस्टॉय (Count Leo Tolstoi, 1828-1910) ने गांधीजी को सबसे अधिक प्रभावित किया। उनके सविनय अवज्ञा आन्दोलन, कर-विरोध, तथा राज्य के विषय में अराजकतावादी विचारों पर अमरीकी अराजकतावादी थोरो की ही प्रतिछाया थी। थोरो की पुस्तक—Essay on Civil Disobedience—के विचार कि "जनहित करने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के साथ अधिकतम सहयोग, और यदि वे अहित करें तो असहयोग" को गांधीजी ने पूर्णत: आत्मसात किया था। थोरो की पुस्तक के भारतीय संस्करण की भूमिका में

[11] आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ 706.
[12] Young India, Vol. III pp 43-44

महात्मा गांधी ने लिखा है कि "मैं इस आदर्श को हृदय से स्वीकार करता हूँ कि वह सरकार सर्वोत्तम होती है जो कम से कम शासन करती है... ..इसका अर्थ अन्ततोगत्वा यह होता है और जिस पर मेरा पूरा विश्वास है कि वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो बिल्कुल ही शासन नहीं करती।"[13]

जॉन रस्किन (John Ruskin) की पुस्तक—Unto This Last-का गाधीजी के जीवन पर बडा प्रभाव पडा। इसने उनके विचारो मे बडा परिवर्द्धन किया। इस पुस्तक मे उन्होंने यह सबक सीखा कि—

(i) व्यक्ति का कल्याण सभी व्यक्तियों के कल्याण मे निहित है।

(ii) एक वकील के कार्य की महत्ता भी एक नाई के कार्य क ही बराबर है। इस प्रकार सभी को अपने काय से आजीविका कमाने का अधिकार है।

(iii) एक श्रमिक तथा खेतिहर का जीवन ही वास्तव म जीवित योग्य रहने वाला जीवन है।[14]

रस्किन के विचारो से गाधीजी ने शारीरिक श्रम की महत्ता को ग्रहण किया। आगे चल कर जब उन्होंने 'सर्वोदय' समाज की स्थापना के विषय मे जो विचार व्यक्त किये वह रस्किन की इस पुस्तक पर ही आधारित थे। 'Unto This Last' का तात्पर्य ही 'सर्वोदय' है।

महात्मा गाधी टॉल्सटॉय के विचारो के अति निकट थे। गांधीजी टॉल्सटॉय के बहुत प्रशसक थे, तथा अपने जीवन मे टॉल्सटॉय से बहुत कुछ ग्रहण किया। टॉल्सटॉय की पुस्तक—The Kingdom of God is Within you (अर्थात् ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है)—का गाधीजी ने उस समय ही मनन कर लिया था जिस समय वे दक्षिण अफ्रीका मे थे। इसने गाधीजी मे अहिंसा के प्रति भावना की दृढ स्थापना की। अहिंसा और प्रेम टॉल्सटॉय के विचारो के मूल आधार थे जिन्हे गाधीजी ने पूर्णत. स्वीकार किया। सितम्बर 7, 1910, को टॉल्सटॉय ने गाधीजी को जो पत्र लिखा उसमे टॉल्सटॉय ने प्रेम को जीवन का सर्वोच्च विधान बतलाया जो मानव मे आत्मा की एकता तथा एक दूसरे के प्रति सद्भाव व्यक्त करता है।[15]

गांधीजी न यदि ग्रन्थों म गीता से सर्वाधिक प्रेरणा ली तो व्यक्तियों मे उन पर सबसे अधिक प्रभाव बम्बई के एक जैन कवि एव सुधारक रायचन्द भाई का पडा। इगलैण्ड से आने के बाद गाधीजी इनके निकटतम सम्पर्क मे आये। जिस प्रकार गाधीजी मानसिक उलझन तथा समस्याओं का समाधान पाने के लिए गीता का अध्ययन करते थे उसी प्रकार वे श्री रायचन्दजी से निरन्तर परामर्श और निर्देशन

13 आशीर्वादम् , राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग,, पृ० 709-10

14 Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 31

15 Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi pp 32 33

लेते रहते थे। रायचन्द भाई का गांधीजी से जब सम्पर्क हुआ उस समय कवि की उम्र 25 साल की थी तथा हीरे जवाहरात के प्रसिद्ध व्यापारी थे। पहली ही भेंट में गांधीजी बिना प्रभावित हुए न रह सके। रायचन्द भाई की जिस बात पर गांधीजी मुग्ध हुए 'वह था उनका गम्भीर शास्त्र ज्ञान, उनका शुद्ध चारित्र्य और उनकी आत्म दर्शन की उत्कृष्ट लगन।"[16] गांधीजी को कई धर्म आचार्यों से सम्पर्क बढ़ाने का अवसर मिला किन्तु गांधीजी के शब्दों में "जो छाप मुझ पर रायचन्द भाई ने डाली वह दूसरा कोई न डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे मेरे अन्तर में उतर जाते थे।"[17]

सभी व्यक्तिगत प्रभावों के विषय में गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है —

> मेरे जीवन पर गहरी छाप डालने वाले आधुनिक मनुष्य तीन हैं—रायचन्द भाई ने अपने सजीव सम्पर्क से, टॉल्सटॉय ने अपना 'वैकुण्ठ तेरे हृदय में है' नामक पुस्तक से, और रस्किन ने 'अनटू दिस लास्ट' (सर्वोदय) नामक पुस्तक से मुझे मुग्ध कर दिया।"[18]

गांधीवाद का आध्यात्मिक आधार

यदि महात्मा गांधी के जीवन एवं कार्यों को समझना है तो इसके लिए उनके आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारों को समझना अति आवश्यक है। क्योंकि उन्होंने अत्याचार, अन्याय के विरुद्ध जो भी संघर्ष किया इसके लिए उन्हें आध्यात्मिक आदर्शों से ही शक्ति प्राप्त हुई।[19]

धर्म के विषय में गांधीजी के विचार बड़े उदार तथा सर्कीर्णता से पूर्ण परे है। हिन्दू धर्म के अनुयायी होते हुए भी उनके मन में सब धर्मों के प्रति आदर था। उनका कहना था कि सब धर्मों में कुछ समान सत्य हैं और इस प्रकार सब धर्म ठीक है। धर्म, गांधीजी के अनुसार, अलग अलग मार्गों की तरह हैं जो अन्त में एक ही आदर्श की ओर ले जाते हैं। यदि हम विभिन्न मार्गों से अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर लेते हैं तो अलग अलग मार्गों पर चलने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। सब धर्मों में सत्यता होते हुए भी महात्मा गांधी किसी भी धर्म को पूर्ण नहीं मानते थे। सभी धर्मों का प्रतिपादन मनुष्यों के द्वारा ही किया गया है। जब मनुष्य ही पूर्ण नहीं है तो उनके द्वारा चलाये गये धर्म भी कैसे पूर्ण हो सकते हैं। धर्मों के विषय में उनका निष्कर्ष था कि सब धर्म सही हैं, सब धर्मों में त्रुटियां भी हैं।[20]

16 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 109-110.
17 उपरोक्त, पृ 109–110.
18 उपरोक्त, पृ 112.
19 Kriplani, J B, Gandhi His Life and Thought, p 336
20 Ibid, p 339

गाधीजी सब धर्मों को समान समझते थे। धर्मों की समानता उनकी धार्मिक सहिष्णुता का आधार था। किसी भी धर्म को दूसरो के मुकाबले मे श्रेष्ठ अथवा घटिया मानना भूल है। इस प्रकार कोई धर्मावलम्बी अपने धर्म को श्रेष्ठ मानकर उसका प्रचार करे, सही धर्म यह कभी भी निर्देश नही देता। विशेषत: गाधीजी धर्म परिवर्तन के कट्टर विरोधी थे। सब धर्मों को समान आदर देते हुए भी गाधीजी हिन्दू धर्म के सच्चे अनुयायी थे। "हिन्दू धर्म" गाधी जी ने कहा था, "जैसा कि मैं समझता हूँ, मेरी आत्मा को पूर्ण सन्तुष्टि देता है, मेरे पूरे जीवन को भर देता है, और उससे मुझे सान्त्वना मिलती है।"[21]

हिन्दू धर्म, की मान्यताओं से ओत-प्रोत होते हुए भी गांधीजी ने रूढिवादिता को स्वीकार नही किया। हिन्दू धर्म के विभिन्न तत्त्वो की उन्होने वैज्ञानिक एव नवीन व्याख्या कर उसे जन-सेवा की ओर मोडने का प्रयत्न किया। हिन्दू धर्म मे पाखण्ड, ऊँच नीच, जातियों तथा कई उप–सम्प्रदायों ने अपना स्थान जमा लिया था। गाधी ने इन कुरीतियो को हिन्दू धर्म से दूर करने का भरसक प्रयत्न किया।

गाधीजी आत्मा के अमरत्व तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तो को मानते थे। हिन्दुओ का विश्वास है कि शरीर नश्वर है, तथा आत्मा अमर है। मनुष्य अपने जीवन मे जो अच्छे बुरे कार्य करता है उसके अनुसार उसे मृत्योपरान्त नया जीवन धारण करना पडता है। जन्म-मरण का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस चक्र से छुटकारा केवल मोक्ष द्वारा ही हो सकता है। मोक्ष ही मानव जीवन का अन्तिम साध्य है। किन्तु महात्मा गाधी ससार को छाड सन्यास द्वारा मोक्ष का समर्थन नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य मानव जाति की सेवा करके ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "मैं राष्ट्र की जो सेवा करता हूँ वह मेरी उस साधना का अश है जिसे मैं अपनी आत्मा को शरीर के बन्धन से मुक्त कराने के लिए किया करता हूँ।"[22]

महात्मा गाधी कभी–कभी उपवास आदि भी किया करते थे। कोई–कोई उपवास तो उनके ऐतिहासिक थे जो सप्ताहो तक चले। उपवास के पीछे गाधीजी का विचार था कि इससे मस्तिष्क केन्द्रित एवं सतुलित रहता है तथा इसका विचार शुद्धता पर भी व्यापक असर पडता है। कभी-कभी अपने कार्यों के प्रति उन्हे ग्लानि होती या उनके सहयोगी और समर्थक कोई गलत काम कर लेते, उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझ कर पश्चाताप के रूप मे वे उपवास को ही एक मुख्य साधन मानते थे[23] गाधीजी ने लिखा है कि "उपवासादि सयमी मार्ग मे एक साधन के रूप मे

21 Young India, Vol II, pp. 1078-79.,
सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 962.
22 Harijan, December 24, 1934, p 363, Delhi Diary Vol I, p 185
23 Kriplani J B, Gandhi His Life and Thought, p. 343.

आवश्यक है, पर वही सब कुछ नहीं है। अगर शरीर के उपवास के साथ मन का उपवास न हो तो वह दम्भ में परिणत हो जाता है और हानिकारक सिद्ध हो सकता है।"[24]

गो-प्रतिपालन हिन्दू-धर्म का प्रमुख तत्त्व है। गांधीजी के अनुसार "गौ रक्षा के मानी हैं गोवंश-वृद्धि, गोजाति सुधार, बैल से सीमित काम लेना, गोशाला को आदर्श दुग्ध-शाला बनाना इत्यादि।"[25] गांधीजी ने देश में कई स्थानों पर गोशालाएँ खोली तथा अपने आदर्शों के अनुसार चलने का प्रयत्न किया एवं करवाया भी। पर इस सम्बन्ध में उन्हें जिस सफलता की अपेक्षा थी वह न मिल सकी। भारतीय संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में (धारा 48 के अन्तर्गत) गौरक्षा का प्रयोजन है किन्तु हमने इस विषय में कोई कारगर कदम नहीं उठाया है। यही नहीं गोरक्षा के सिद्धान्त को अक्सर राजनीति में घसीटने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे गौरक्षा लाभ के स्थान पर हानि ही हुई है।

महात्मा गांधी का ईश्वर में अडिग विश्वास था तथा ईश्वर के अनन्य उपासक थे। लेकिन उनकी व्याख्या परम्परागत हिन्दू दार्शनिकों से भिन्न है। वे ईश्वर को कई रूपों में देखते थे तथा ईश्वर की प्राप्ति के कई साधन मानते थे। वे सत्य को ईश्वर मानते थे तथा सत्य पर आग्रह करना ईश्वर की उपासना के ही बराबर समझते थे। एक स्थान पर उन्होंने नैतिकता को ही ईश्वर माना है। कहीं-कहीं उन्होंने प्रेम को ईश्वर बतलाया है।[26] किन्तु गांधीजी को ईश्वर के साक्षात् दर्शन दरिद्रनारायण में होते थे। वे दरिद्रों की सेवा या व्यापक रूप में समस्त प्राणियों की सेवा को ईश्वर की सेवा ह' मानते थे। समाज में रामराज्य या सर्वोदय समाज की स्थापना करने का तात्पर्य ईश्वर से साक्षात्कार के लिये अग्रसर होना था।[27] ईश्वर के विषय में गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है.—

> परमेश्वर की व्याख्याएँ अनगिनत हैं, क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अनगिनत हैं। ये विभूतियां मुझे आश्चर्य में डाल देती हैं। मुझे तनिक देर के लिए मोह भी लेती हैं। पर मैं पुजारी तो सत्य रूपी परमेश्वर का हूँ। वही एक सत्य है और अन्य सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं, पर मैं इसका शोधक हूँ। इसकी शोध में अपनी प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी त्यागने को तैयार हूँ।"[28]

---

24 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ० 829.
25 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 534.
26 हरिजन, अगस्त 28, 1947, पृ. 285.
27 Delhi Diary, Prayer Speeches, from 10 9 47 to 30 1 48, p 93.
28 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, प्रस्तावना पृ. 6.

गांधीजी को धर्म का अधिक महत्त्व इसलिये और था क्योंकि यह मानव जीवन की गतिविधि को नैतिक आधार प्रदान करता है। जो धर्म मनुष्य के नैतिक स्तर मे वृद्धि नही कर सकता वह धर्म व्यर्थ है।[29]

महात्मा गांधी राजनीति का आध्यात्मीकरण (Spiritualisation of politics) करना चाहते थे। उनका दृढ विश्वास था कि यदि राजनीति को मानव जाति के लिये शाप न होकर आशीर्वाद होना है तो उसे उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तो पर आधारित होना चाहिए।[30] यही कारण था कि वे धर्म को इतना महत्त्व देते थे। वास्तव मे गांधी जी धार्मिक अधिक और राजनीतिक कम थे। उन्होंने एक प्रसग मे कहा था कि "बहुत से धार्मिक व्यक्तियो जिनसे मैं मिला हूँ, छुपे हुए तौर पर राजनीतिज्ञ हैं, किन्तु मैं जो राजनीतिज्ञ का वेष रखता हूँ, हृदय से एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।[31] धर्म के बिना राजनीति मृत्यु-जाल है जो आत्मा का हनन करदेती है।[32]

महात्मा गांधी यह तो मानते ही थे कि मनुष्य राजनीतिक समाज मे रहता है और इसलिये राजनीति अवगुण होने हुए भी उससे दूर नही रहा जा सकता। "यदि मैं राजनीति मे भाग लेता हूँ," गाधीजी ने एक स्थल पर कहा था, "इसका केवल यही कारण है कि राजनीति हम सब से साप के घेरे की भांति लिपटी हुई है जिससे कितनी भी चेष्टा की जाये बाहर नही निकला जा सकता। मैं उस राजनीति रूपी सर्प से लडना चाहता हूँ। मैं राजनीति मे धर्म को प्रविष्ट करने की चेष्टा कर रहा हूँ।"[33] इसका यही तात्पर्य था कि गाधीजी धर्म को राजनीति से अलग नही करना चाहते थे क्योकि धर्म राजनीति के विषैलेपन को दूर कर आध्यात्मिक रूप तथा नैतिक आधार प्रदान करता है।

सत्याग्रह सिद्धान्त (The Theory of Satyagraha)

दक्षिण अफ्रीका मे महात्मा गाधी को एक आन्दोलन मे कूदना पडा। वे भारतीय जो दक्षिण अफ्रीका चले गये थे उनके साथ वहा बडा अमानवीय व्यवहार किया जाता था। वे अनेक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अयोग्यताओ से ग्रसित थे। वहा रहने वाले भारतीयो को इन अयोग्यताओ से मुक्त कराने हेतु, महात्मा गाधी एक ऐसी पद्धति की खोज मे थे जो जीवन के मूल नैतिक सिद्धान्तो पर आधारित हो। वे चाहते थे कि जो सिद्धान्त व्यक्तिगत जीवन को निर्देशित करते हैं वे ही सामूहिक एव सामाजिक जीवन को नई दिशा प्रदान करे। हरिजन पत्रिका मे गाधीजी ने लिखा था—

---

29 Dhawan, Gopinath, the Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 5
30 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ 709.
31 Speeches and Writings of Mahatma Gandhi, p 40.
32 Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi p 38
33 Romain Rolland, Mahatma Gandhi, London, 1914, p 98.

"व्यक्ति की दो अन्तरात्माएँ नहीं हो सकती—एक व्यक्तिगत एव सामाजिक और दूसरी राजनीतिक। मानवीय कार्यों के सभी क्षेत्रों मे एक ही नैतिक संहिता का पालन किया जाना चाहिये।..... हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत व्यवहार के लिये ही नही, वरन् सघो, समुदायों और राष्ट्रों के व्यवहार का सिद्धान्त बनाना है।"[34]

इसलिये गांधीजी ने सत्य, अहिंसा और न्याय पर ही आधारित एक आन्दोलन का सूत्रपात किया। जो स्थिति दक्षिण अफ्रीका मे थी लगभग वही भारत में थी। भारत अंग्रेजो के उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, तथा शोषण-नीति से दबा जा रहा था। वास्तव मे सत्याग्रह आन्दोलन का प्रयोग एक व्यापक तथा निश्चित विज्ञान के रूप में गांधीजी ने भारतीय स्वाधीनता सग्राम मे ही किया।

सत्याग्रह शब्द की उत्पत्ति

दक्षिण अफ्रीका के लोग गोरी सरकार का विरोध पैसिव रेजिस्टेन्स (passive resistance) द्वारा करते थे। पैसिव-रेजिस्टेन्स का वहाँ पर संकुचित अर्थ लिया जाता था। उसे निर्बलों का ही हथियार माना जाता था। उसमे द्वेष की भी गुंजाइश थी और उसका अन्तिम स्वरूप हिंसा में प्रकट हो सकता था। गांधीजी को न तो पैसिव-रेजिस्टेन्स शब्द ही पसन्द आया और न ही उसमे सम्बन्धित उसका व्यावहारिक रूप। भारतवर्ष मे अग्रेजों के विरुद्ध सग्राम परिचय देने के लिये वे किसी नये शब्द की खोज मे थे लेकिन उन्हें कोई उचित शब्द सूझ नहीं रहा था। था। अतः उपयुक्त नामावली की खोज के लिये गांधीजी ने छोटा सा पुरस्कार रख कर "इण्डियन ओपिनियन" के पाठकों मे इसके लिये प्रतियोगिता आयोजित की इस प्रतियोगिता के माध्यम से 'सदाग्रह' शब्द सामने आया। सदाग्रह शब्द को अधिक स्पष्ट करने के विचार से गांधीजी ने 'य' शब्द और बढ़ा कर 'सत्याग्रह' शब्द बनाया।[35] सत्याग्रह शब्द भारतीय स्वाधीनता सग्राम के सदर्भ मे अधिक प्रचलित एव लोकप्रिय हुआ।

सत्याग्रह का अर्थ सत्य की खोज है। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ सत्य पर अटल रहना है। महात्मा गांधी सत्याग्रह का जो अर्थ समझते थे उसके अनुसार यह सत्य पर आरूढ़ रह कर प्रेमपूर्वक स्वय कष्ट उठाने के लिये तत्पर रहना है। सत्य का उपासक सत्य को हिंसात्मक साधनो मे सिद्ध करने का कभी प्रयास नहीं करेगा। सत्याग्रह सत्य की प्राप्ति का अहिंसात्मक साधन है। सत्याग्रही आत्म-कष्ट द्वारा विरोधी को गलत मार्ग से हटाने का प्रयत्न करेगा। वह घृणा का प्रेम से, असत्य को सत्य से, हिंसा को अहिंसा द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह

34 हरिजन मार्च 2, 1934.

35 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा पृ. 809.

अत्याचारी से घृणा नही करता किन्तु अन्याचारी को अपने अन्याय को बनाये रखने मे सहायता देने से मना करता है। गाधीजी ने इसे प्रेम बल तथा आत्म बल कहा है।

सत्याग्रह का एक अहिंसात्मक शस्त्र के रूप मे प्रतिपादन करना गाधीजी के आध्यात्मिक विचारो का ही विस्तार है। उनका कहना था कि समस्त प्राणी ईश्वर की सन्तान हैं, इसलिये उनमे ईश्वरीय तत्व विद्यमान रहता है। मनुष्य के साथ हिंसा करने का अर्थ उसमे निहित ईश्वरीय शक्तियो का अपमान करना होगा। गाधीजी की धारणा थी कि मनुष्य मे ईश्वरीय शक्तियाँ निहित हैं। व्यक्ति चाहे कितना ही भ्रष्ट और पतित क्यों न हो उसका नैतिक सुधार किया जा सकता है। उसकी नैतिक चेतना जागृत कर व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन को गाधी जी सत्याग्रह द्वारा असम्भव नही मानते थे।

गाधी का विश्वास था कि हिंसा के द्वारा कभी विजय नही हो सकती। यदि हिंसा के माध्यम से विजय उपलब्ध हो भी जाये तो वह कभी स्थाई नही रह सकती। हिंसा के द्वारा किसी भी समस्या का समाधान नहीं होता, सघर्ष निरन्तर बना रहता है क्योकि पराजित पक्ष सदैव बदला लेने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत अहिंसात्मक प्रतिरोध से किसी भी पक्ष की हार नही होती। विरोधी अपनी भूल को स्वय समझ लेता है और स्वेच्छापूर्वक नया व्यवहार प्रारम्भ करता है।

सत्याग्रह सिद्धान्त के अन्तर्गत जीवशास्त्र सम्बन्धी उस सिद्धात को कोई स्थान नही है जिसके अन्तर्गत सबल को ही जीने का अधिकार होता है। यह हाब्स के उन विचारो को भी अस्वीकार करता है जिसके द्वारा यह माना जाता है कि मनुष्य का जीवन सबो का सबो के प्रति सघर्ष है। सत्याग्रह सिद्धान्त इन सबके विपरीत प्रेम, पारस्परिक सहयोग, सामाजिकता तथा मानव प्रगति मे विश्वास रखता है। सत्याग्रह उस वेदान्त सिद्धान्त को स्वीकार करता है जिसके द्वारा 'समस्त मानव जीवन को एक' (all life is one) समझा जाता है। या, जैसा कि ईसाई धर्म मे उल्लेख किया गया है कि 'हम सब एक दूसरे के सदस्य हैं' (we are members one of another) सत्याग्रह के बिलकुल अनुकूल है।[36]

युगो से यह प्रमाणित लगता है कि सामाजिक नैतिकता, राजनीतिक तथा अतर सामुदायिक नैतिकता से काफी आगे बढ़ी हुई है। राजनीति मे विभिन्न समुदायो के मध्य सम्बन्ध स्वार्थ, अविश्वास, घृणा, धोखा, हिंसा तथा युद्ध द्वारा निर्देशित होते हैं। जो सबल है वही अधिकारयुक्त होता है। एक राष्ट्र जब अपने हित की अपेक्षा अपने पडोसी राज्य के हित का ध्यान रखता है तो उसे मूर्ख समझा जाता है। आजकल राज्य अपनी समस्याओ का समाधान उन साधनो द्वारा करना चाहते हैं जिनके द्वारा समस्याओ का समाधान कभी नही होना। बुराई को बुराई के द्वारा नही सुधारा जा सकता तथा घृणा को घृणा के द्वारा नही जीता जा सकता।

36 Kriplani, J B, Gandhi His Life and Thought, p. 345.

गाधीजी का सुझाव था कि मनुष्य जाति को ऐसे विकल्प की खोज करनी चाहिए जो चालाकी से परिपूर्ण, कूटनीति, हिंसा और युद्ध का स्थान ले ताकि विश्व मे अन्याय, निरकुशता और क्रूरता समाप्त हो जाय। वास्तव में गाधीजी ने इस सम्बन्ध मे स्वय ही सत्याग्रह द्वारा मार्ग प्रशस्त किया। गाधीजी के अनुसार हिंसा और युद्ध का सत्याग्रह ही एक ऐसा विकल्प है जो प्रेम और अहिंसा पर आधारित समस्त प्रकार की समस्याओ को सुलझाने मे पूर्ण समर्थ है।[37]

युद्ध के समर्थको का दावा है कि युद्ध से मनुष्य एवं राष्ट्र मे देशभक्ति, अनुशासन, साहस और वीरता जैसे सद्गुणों का अभ्युदय होता है। गाधीजी के अनुसार इन सद्गुणो का विकास करना युद्ध का ही एकाधिकार नही है। किसी प्रकार का विनाश किये बिना ही सत्याग्रह भी इन सभी गुणो को विकसित करने की क्षमता रखता है। सत्याग्रह द्वारा केवल वीरता और साहस ही नही, वरन् भयहीनता की भी शिक्षा मिलती है। युद्ध मे भाग लेने वाला दूसरो को मृत्यु के घाट उतारना चाहता है, किन्तु स्वय मृत्यु से डरता है। उसे यह भी भय रहता है कि उसके साथी उसे यहीं छोड कर न चले जायँ। सत्याग्रही सिपाही निडर होता है उसे मृत्यु का डर नही होता। उसका सघर्ष खुले मैदान मे होता है। वह चोरी छिपके वार नही करता। सत्याग्रही की अन्तिम विजय निश्चित रहती है क्योकि उसके पास अहिंसा का ऐसा सर्वश्रेष्ठ अस्त्र रहता है जिसका विश्व मे कोई समता नही है। गाधीजी के ही शब्दो मे,—

> "अहिंसा मानव जाति के पास महानतम अस्त्र है। यह उन समस्त अस्त्रो से शक्तिशाली है जिनका निर्माण मनुष्य ने विनाश के लिए किया है।" [38]

गाधीजी सत्य और अहिंसा के द्वारा अपने विरोधी मे सुधार करना चाहते थे। सत्याग्रह की एक विशिष्टता यह है कि इसके द्वारा बुरे आदमी का नही बुराई का प्रतिरोध किया जाता है और वह भी घृणा द्वारा नही वरन् प्रेम से। डा० राधाकृष्णन् ने इस विषय मे लिखा है—

> "सत्याग्रह प्रेम पर आधारित है न कि घृणा पर; अपने विरोधी का प्रेम तथा पीडा सहकर हृदय-परिवर्तन करना है। यह पाप का प्रतिरोध करता है पापी का नही।"[39]

सत्याग्रह के विभिन्न रूप

सत्याग्रह का तात्पर्य निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistence) नही है। निष्क्रिय प्रतिरोध के अन्तर्गत अहिंसा का प्रयोग एक नीति के रूप मे किया जाता है

37 Ibid , pp 346–47
38 Quoted by J B Kriplani in Gandhi, His life and thought p. 350
39 Radhakrishnan, S , (Ed), Mahatma Gandhi, 100 Years, p 4

किन्तु परिस्थितियोंवश हिंसा का प्रयोग वर्जित नहीं है। गांधीजी ने निष्क्रिय प्रतिरोध को सत्याग्रह के रूप में स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलों का अस्त्र है। इसके विपरीत सत्याग्रह सबलों का अस्त्र है जिसके अन्तर्गत अहिंसा को धर्म के रूप में ग्रहण किया जाता है, तथा हिंसा हर परिस्थिति और रूप में वर्जित है।

महात्मा गांधी सत्याग्रह को एक ऐसे वट वृक्ष की तरह मानते थे जिसकी अनेक शाखाएँ होती हैं। सत्याग्रह साधन के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख पद्धतियों को गांधीजी ने स्वीकार किया था—

असहयोग (Non-co-operation)—असहयोग का अर्थ है कि जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाता है उसके साथ असहयोग न करें, उससे अपने सम्बन्ध तोड़ लें तथा ऐसा कोई कार्य न करें जिससे अनैतिक कार्यों को सहयोग अथवा प्रोत्साहन मिले। अंग्रेजों के विरुद्ध 1920-21, 1930 31, तथा 1942 में गांधीजी के द्वारा चलाये गये आन्दोलन असहयोग की ही अभिव्यक्ति थे। इन आन्दोलनों में देशवासियों से अपील की गयी कि वे अंग्रेज सरकार से किसी भी प्रकार का सहयोग न करें। असहयोग अभिव्यक्ति कई तरीकों से हो सकती है जैसे—

हड़ताल—इसके अन्तर्गत विरोधस्वरूप सत्याग्रही कार्य को बन्द कर देते हैं। इसका उद्देश्य सरकार एवं सम्बन्धित संस्था को अपने पक्ष में प्रभावित करना है। हड़ताल का प्रयोग कभी-कभी किसी कार्य के प्रति नाराजगी प्रकट करने के लिए भी किया जाता है। साइमन आयोग के आगमन के समय समस्त देश में हड़ताल की गई।

प्रदर्शन—प्रदर्शन किसी नीति या कार्य के विरोध में जन-शक्ति की अभिव्यक्ति है। स्वाधीनता आन्दोलन के समय देश भर में अंग्रेजों के विरुद्ध प्रदर्शन हुआ करते थे।

बहिष्कार—किसी चीज को स्वीकार नहीं करना अथवा त्यागना बहिष्कार है। बहिष्कार सामूहिक एवं व्यक्तिगत दोनों ही हो सकता है। गांधीजी के नेतृत्व में बहुत से लोगों ने अंग्रेजी वस्त्रों का बहिष्कार किया। इसके अलावा अंग्रेजी दफ्तरों, न्यायालयों आदि का भी बहिष्कार किया गया। यह सब असहयोग प्रदर्शित करना है।

धरना—धरना का अर्थ जन निन्दा द्वारा किसी चीज की बुराइयों को बतलाना तथा उन पर प्रतिबन्ध लगाने की मांग करना है। विदेशी वस्त्रों तथा शराब की दुकानों के आगे धरना रखकर इन वस्तुओं के दोषों को बतलाकर उन्हें बन्द करने या बहिष्कार करने की सलाह देना धरना के अन्तर्गत आता है।

सविनय अवज्ञा (Civil disobedience)—सविनय अवज्ञा असहयोग की तुलना में अधिक उग्र तथा अधिक सक्रिय एवं आक्रामक अस्त्र है। इसका अर्थ अनैतिक

कानूनों का उल्लंघन करना है। वे सरकार-निर्मित कानून जिन्हें जनता अनैतिक तथा शोषण का साधन समझती है, उन्हें न मानना, उन्हें जानबूझ कर तोडना ही सरकार की अवज्ञा करना है। सविनय अवज्ञा का कार्य छिपकर नहीं होता तथा अवज्ञा करने वाला दण्ड से बचने का प्रयत्न नहीं करता। वह दण्ड का निर्भीकतापूर्वक स्वागत करता है।

हिजरत—गाधीजी के द्वारा समर्थित सत्याग्रह का एक अन्य रूप हिजरत था। हिजरत का तात्पर्य है कि व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने स्थाई निवास स्थान छोडकर चले जाएँ। गाधी जी ने हिजरत का प्रयोग उन लोगो के लिए बतलाया जो यह अनुभव करते थे कि उनको कुचला और दबाया जा रहा है तथा उस स्थान पर वे आत्मसम्मान की रक्षा नही कर सकते क्योंकि उनमे शक्ति का अभाव है। गाधीजी ने बारदोली के लोगो से 1928, जूनागढ, विट्ठलगढ के लोगो से 1939 मे हिजरत करने के लिए कहा। इसी प्रकार 1935 मे उन्होने कैथा के हरिजनों को परामर्श दिया कि वे अपना स्थान छोडकर चले जाएँ क्योंकि हिन्दुओ का उनके प्रति अत्याचारपूर्ण व्यवहार था।

सत्याग्रही अनुशासन

सत्य एव अहिंसा के पुजारी का उच्च नैतिक स्तर होना अति आवश्यक है। सत्याग्रह आत्मशक्ति पर आधारित होता है तथा सत्याग्रही को नैतिकता ही उसे आत्म-बल प्रदान करती है। गाधीजी चाहते थे कि सत्याग्रह के पुजारी को एक विशेष अनुशासन तथा आचार सहिता के अन्तर्गत रहना चाहिये जिससे उसमे शक्ति, सयम, आत्म-शुद्धि तथा अन्य गुणो का पूर्ण विकास हो सके।

ब्रह्मचर्य—एक सत्याग्रही के लिए ब्रह्मचर्य पालन करना अति आवश्यक है। परम्परागत अर्थ मे ब्रह्मचर्य का तात्पर्य अविवाहित रहना है पर गाधीजी ने ब्रह्मचर्य की बडे व्यापक रूप मे व्याख्या की है। उनके अनुसार "ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन-वचन-काया से सब इन्द्रियो का सयम।"[40] यह प्रत्येक क्षेत्र मे स्वय पर नियन्त्रण रखना है। यह वह मानसिक स्थिति एव साधना है जब सत्य और अहिंसा का सेवक एकाग्रचित्त होकर अपने उद्देश्यो की प्राप्ति करता है।

ब्रह्मचर्य का तात्पर्य अविवाहित रहना नही है। एक विवाहित व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। गाधीजी के अनुसार विवाह सम्बन्ध मनुष्य के लिए आवश्यक एव स्वाभाविक है। किन्तु विवाह एक अनुशासन एव शुद्धि का साधन होना चाहिए। "एक आदर्श विवाह का उद्देश्य शारीरिक सम्बन्धो द्वारा आध्यात्मिक एकता प्राप्त करना है। मानवीय प्रेम ईश्वरीय एव विश्व प्रेम के लिये आगे बढने का मार्ग है।[41] ब्रह्मचर्य का पालन स्त्री एव पुरुष दोनों ही समान रूप से कर सकते हैं।

40 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 263

41 Young India, May 21, 1931, p 115

गांधीजी का विचार था कि यदि ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रियों पर काबू प्राप्त करना चाहिये। "मेरा अनुभव है," गांधीजी ने लिखा है, "कि जीभ को जीत लेने पर ब्रह्मचर्य का पालन अतिशय सरल है।"[42] "इन्द्रियाँ ऐसी बलवान हैं कि उन्हें चारों ओर से, ऊपर से और नीचे से—(इस प्रकार) दशों दिशाओं से घेरा जाय तभी वे वश में रहती हैं।[43]

उपवास—सत्याग्रही के लिये महात्मा गांधी समय-समय पर उपवास का भी सुझाव देते हैं। स्वास्थ्य सिद्धान्त के आधार पर उपवास का महत्त्व तो होता ही है, किन्तु एक सत्याग्रही के लिये यह आत्म-शुद्धि, आत्म-बल, एकाग्रचित्तता और शान्ति का अमूल्य साधन है।

ब्रह्मचर्य स्थिति में इन्द्रिय दमन के लिये उपवास से बड़ी सहायता मिलती है। *उपवास की सच्ची उपयोगिता वहीं होती है जहाँ मनुष्य का मन भी देह दमन का* साथ देता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए महात्मा गांधी समय-समय पर उपवास किया करते थे।[44] सत्याग्रही का जीवन सादगीपूर्ण होना चाहिये। उसमें *अस्तेय तथा अपरिग्रह आदि के प्रति पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये। तभी वह सामूहिक* सत्याग्रह में जनसाधारण का नेतृत्व कर सकेगा।

अहिंसा का दर्शन (The Philosophy of Non-violence)

सत्याग्रह का मूल आधार अहिंसा का सिद्धान्त है। राजनीति और मानव जीवन को अहिंसा की शिक्षा और व्यवहार महात्मा गांधी की सबसे बड़ी देन हैं। उन्होंने 1920 में लिखा था "जिस प्रकार हिंसा पशुओं की विधि है, उसी प्रकार अहिंसा मानव जाति की विधि है.. यह वह लक्ष्य है जिसकी ओर मानव समाज स्वाभाविक और अनजाने तौर पर बढ़ता जाता है। मेरे लिये अहिंसा केवल एक दार्शनिक सिद्धांत ही नहीं है। यह जीवन का ताना-बाना है,....यह मस्तिष्क की वस्तु न होकर हृदय की चीज है।'

महात्मा गांधी साध्य और साधन की एकता में विश्वास करते थे। ईश्वर में उनका विश्वास था ही, सत्य को वे ईश्वर का स्वरूप मानते थे। इसका तात्पर्य 'राम नाम ही सत्य है'। सत्य की प्राप्ति सिर्फ अहिंसा के द्वारा ही हो सकती है। वैसे सत्य और अहिंसा को वे अभिन्न साध्य और साधन मानते हैं। किन्तु मूलतः सत्य साध्य है और अहिंसा साधन।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सत्य और अहिंसा के विषय में महात्मा गांधी मूल विचारक नहीं थे। भारत में प्राचीन काल से ही इनकी परम्परा रही है,

42 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 261.

43 उपर्युक्त, पृ. 262.

44. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 263.

लेकिन गाधीजी ने इस प्राचीन परम्परा को बनाये रखने के साथ-साथ अहिंसा को एक नया एव व्यापक आदर्श प्रदान किया। प्राचीन ऋषियो की तरह वे अहिंसा को मोक्ष का साधन मानते थे। डॉ० धवन ने इस सम्बन्ध मे गाधीजी के विचारो को व्यक्त करते हुए लिखा है—

> "अहिंसा का अर्थ है हिंसा को छोडने का प्रयत्न, जो जीवन मे अनिवार्य है। अहिंसा का लक्ष्य है मनुष्य को शारीरिक बन्धन से छुडाना ताकि वह ऐसी स्थिति प्राप्त कर सके जिसमे नाशवान शरीर के बिना जीवन सम्भव हो।"[45]

व्यक्तिगत मोक्ष को साधन के रूप में स्वीकार करने के साथ-साथ गाधीजी ने अहिंसा का प्रयोग बड़े पैमाने पर राजनीतिक और सामाजिक अन्याय से लड़ने के लिए किया। उन्होने अहिंसा को सामाजिक क्रान्ति का एक साधन बनाने का प्रयत्न किया।

अहिंसा के विषय मे परम्परागत धारणा प्राय: निषेधात्मक रही है। अहिंसा जिसका तात्पर्य हिंसा का अभाव है, निषेधात्मक ही प्रतीत होता है। नकारात्मक दृष्टि से अहिंसा का अर्थ है--

(i) किसी प्राणी की हत्या न करना,

(ii) किसी को शारीरिक कष्ट न पहुचाना,

(iii) किसी को मानसिक कष्ट न पहुचाना; और

(iv) किसी के प्रति अपने मन मे घृणा अथवा द्रोह का भाव भी न रखना।

ये सभी विचार निषेधात्मक अहिंसा व्यक्त करते है। अन्य शब्दो मे, अहिंसा का अर्थ है ससार की किसी भी वस्तु को मनसा, वाचा और कर्मणा क्षति न पहुचाना।[46] इसका मतलब है कठोर शब्द न बोलना, बडी बात न कहना; ईर्ष्या क्रोध, घृणा और क्रूरता से बचना। विशेषत: इसका अर्थ है कि किसी व्यक्ति को अपने शत्रु के प्रति भी बुरे विचार नही रखने चाहिए। किन्तु अहिंसा के सकारात्मक अर्थ को गाधीजी ने प्राथमिकता दी थी। सकारात्मक रूप मे अहिंसा का सर्वोच्च *रूप सब मनुष्यों, बल्कि सब प्राणियो के प्रति सक्रिय प्रेम एवं सद्भावना है।*[47]

महात्मा गाधी अहिंसा को मानव का प्राकृतिक गुण मानते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य स्वभावत अहिंसा प्रिय है तथा परिस्थितियोंवश ही वह हिंसावान बनता है। मनुष्य की अहिंसात्मक प्रवृत्ति इस बात से प्रमाणित हो जाती है कि आदिम काल का नरभक्षी व्यक्ति आज सभ्य और सुसस्कृत प्राणी बन गया है। इस प्रकार समस्त मानव इतिहास मे मनुष्य की अहिंसात्मक वृत्ति का विकास

45 Dhawan, G N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 64

47 Young India, Vol II, p 286

45 हरिजन, सितम्बर 7, 1935.

हुआ है और इसी कारण मानव जाति बढ़ती जा रही है। गांधीजी का विचार था कि अहिंसा के आधार पर ही एक सुव्यवस्थित समाज की स्थापना और मानव प्रगति निर्भर है। यह समस्त जीवों का शाश्वत नियम है।

अहिंसा को गांधीजी ने सब शक्तियों से अधिक शक्तिशाली माना है। यह आत्मिक एवं आध्यात्मिक बल का प्रतीक है। अहिंसा में कठोर हृदय को भी पिघलाने की शक्ति है। यह विद्युत से अधिक निश्चयात्मक और ईथर (ether) से से भी अधिक शक्तिशाली है।[48] बड़ी से बड़ी हिंसा का अहिंसा से मुकाबला किया जा सकता है।

कभी-कभी अहिंसा का अर्थ बुराई को न रोकना या बुराई के सामने झुक जाना या चुपचाप अन्याय को सहन करते रहना समझा जाता है। यह धारणा गलत है। अहिंसा किसी भी रूप या परिस्थिति में बुराई या अत्याचार को सहन करने या उसके समक्ष समर्पण करना नहीं वरन् आध्यात्मिक बल द्वारा प्रतिरोध का आदेश है।

गांधीजी का विश्वास था कि अहिंसा के सफल प्रयोग के लिये हमेशा जन समूह की आवश्यकता नहीं होती। उनके अनुसार एक व्यक्ति ही इसका प्रयोग उसी प्रकार कर सकता है जिस प्रकार लाखों व्यक्ति कर सकते हैं। आत्म-बल और नैतिक साहस वाला एक व्यक्ति हजार व्यक्तियों का काम कर सकता है। सत्याग्रह में सत्याग्रहियों की संख्या का महत्व नहीं, एक या थोड़े से ही सत्याग्रही सत्य की लड़ाई जीतने के लिए काफी हैं।

अहिंसा द्वारा सत्याग्रह चलाने का तात्पर्य दबाव डालना या आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, नैतिक या किसी भी दृष्टि से बल प्रयोग नहीं है। वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों के हृदय परिवर्तन की अपील करता है। इसका तात्पर्य विरोधी को धमकी देना या उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न भी नहीं है, यह विरोधी को अपनी सच्चाई से प्रभावित कर उसे अपनी बात स्वीकार कराने के लिये बाध्य करता है। महात्मा गांधी निम्नलिखित तीन प्रकार की अहिंसा का उल्लेख करते हैं—

प्रबुद्ध अहिंसा (Enlightened non-violence)

यह साधन-सम्पन्न तथा वीर व्यक्तियों की अहिंसा है। अहिंसा के इस रूप को दुखद आवश्यकता के कारण नहीं, वरन् नैतिक धारणाओं में अडिग विश्वास के कारण ही स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार की अहिंसा स्वीकार करने वाले व्यक्ति में प्रहार करने की पूर्ण क्षमता होती है किन्तु वह विरोधी के प्रति प्रहार करने का इच्छुक नहीं होता। ऐसे अहिंसक व्यक्ति अहिंसा को एक धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं तथा किसी भी परिस्थिति में वे मानव-एकता तथा भ्रातृत्व-भावना का

---

48 हरिजन, मार्च 14, 1939, पृ० 39.

त्याग नहीं करते। गांधीजी इसे सर्वोत्कृष्ट अहिंसा कहते थे। अहिंसा के इस स्वरूप को राजनीति में ही नहीं अपितु जीवन के समस्त पहलुओं में इच्छापूर्वक अपनाना चाहिए।[49]

समयोचित अहिंसा (non-violence based on expediency)

अहिंसा के इस रूप को जीवन के किसी भी क्षेत्र में विशेष आवश्यकतानुसार एक नीति के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह निर्बल एवं असहाय व्यक्ति का निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistence) है जो अहिंसा को नैतिक विश्वास एवं श्रद्धा के कारण ग्रहण नहीं करता। ऐसा व्यक्ति सिर्फ अपनी निर्बलता के कारण ही हिंसा का प्रयोग नहीं करता। अहिंसा का यह रूप प्रबुद्ध अहिंसा जैसा शक्तिशाली साधन नहीं हो सकता। फिर भी यदि ईमानदारी, साहस और सावधानीपूर्वक इसका प्रयोग किया जाय, तो कुछ सीमा तक वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है।[50]

कायरों की निष्क्रिय अहिंसा (passive non-violence of the coward)

यह अहिंसा भय पर आधारित रहती है। डरपोक व्यक्ति अहिंसा का दम इसलिए भरता है क्योंकि वह डरपोक है। वह स्थिति का सामना करने की अपेक्षा भाग खड़ा होता है। गांधीजी कायरता के बिलकुल ही पक्ष में नहीं थे। उनके ही शब्दों में "कायरता और अहिंसा आग और पानी की भांति एक साथ नहीं रह सकते।"[51]

साध्य एवं साधन (The End and the Means)

साधनों की पवित्रता, सत्य और अहिंसा का एक अभिन्न तत्त्व है। मानव जीवन का, गांधीजी के अनुसार, अन्तिम उद्देश्य स्वयं को जानना या स्वयं से साक्षात्कार करना या ईश्वर को आमने-सामने देखना, या पूर्ण सत्य की प्राप्ति या मोक्ष प्राप्त करना है। आध्यात्मिक एकता (spiritual unity) में उनका विश्वास था, *समस्त मानव प्राणी उसी एकता के विभिन्न अंश हैं, इसलिए मानव* सेवा आध्यात्मिक मोक्ष का तत्कालीन उद्देश्य है। ईश्वर से साक्षात्कार ईश्वर द्वारा निर्मित प्राणियों के माध्यम से ही सम्भव है। गांधीजी ने, इस प्रकार मनुष्य मात्र की सेवा को मोक्ष का सबसे महत्वपूर्ण और व्यावहारिक साधन माना है।

महात्मा गांधी 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण' वाले उपयोगितावादी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। इसका तात्पर्य इक्यावन व्यक्तियों के कल्याण हेतु उनपचास व्यक्तियों की अवहेलना करना ही होगा। यह सिद्धान्त मानव की आध्यात्मिक एकता के विरुद्ध, हृदयहीन तथा अमानवीय है। सत्य और मानवीय

49 D'hawan, G N., The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, pp 73-71.
50 Young India, Vol. I, p 265
51 हरिजन, नवम्बर 4, 1939 पृ० 331.

सिद्धान्त तो सिर्फ सर्व-कल्याण है। जिसे गांधीजी 'सर्वोदय' कहा करते थे।[52] इसमें समस्त व्यक्तियों के कल्याण की बात को स्वीकार किया जाता है। सर्वोदय, गांधीजी की समस्त विचारधारा का साध्य था।

महात्मा गांधी के अनुसार साध्य एवं साधन अभिन्न हैं। साधन सदैव साध्य के अनुरूप होना चाहिये। उन्होंने अधिनायकवादी साधन, जिसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार के साधन अपनाये जा सकते हैं। कभी भी स्वीकार नहीं किये। गांधी जी के विचारों में अच्छे साध्यों की प्राप्ति पवित्र साधनों द्वारा ही होनी चाहिए। साध्य और साधन दोनों का नैतिक होना आवश्यक है। साधनों की अनैतिकता निश्चित रूप से साध्य को भ्रष्ट कर देती है। गांधीजी का कहना था 'साधन एक बीज की तरह है और साध्य एक पेड़ है। साधन और साध्य में वह सम्बन्ध है जो बीज और पेड़ में।" अतः साधनों की पवित्रता पर ही साध्य की श्रेष्ठता निर्भर करती है।[53]

राजनीति के क्षेत्र में गांधीजी ने साधनों की नैतिकता पर अधिक जोर दिया। यहाँ तक कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद एवं शोषण के विरुद्ध, स्वराज्य प्राप्ति के लिये, वे हिंसा और असत्य का प्रयोग करने के लिये तैयार नहीं थे। गांधीजी ने कहा था—

> "मेरे जीवन दर्शन में साधन और साध्य एक दूसरे के पूरक हैं। कुछ कहते हैं कि साधन आखिर में साधन ही हैं। मैं कहूँगा कि साधन ही अन्त में सब कुछ हैं। जैसे साधन हैं वैसे ही साध्य होंगे। साध्य और साधनों के मध्य अलगाव की कोई दीवार नहीं है। वास्तव में ईश्वर ने हमें थोड़ा बहुत नियन्त्रण साधनों पर ही दिया है, साध्य पर बिलकुल नहीं।"[54]

राज्य के प्रति दृष्टिकोण अहिंसात्मक राज्य की कल्पना

महात्मा गांधी दार्शनिक थे, किन्तु राज्य के वर्तमान या भावी स्वरूप को स्पष्टतः उन्होंने कहीं लिपिबद्ध नहीं किया। भविष्य की कल्पना उन्हें असामयिक प्रतीत होती थी। उन्होंने अहिंसा पर आधारित राज्य की रूपरेखा के विषय में लिखना उचित नहीं समझा। उनका कहना था कि अहिंसा पर आधारित समाज का जब निर्माण होगा तो वह अवश्य ही आज के समय से पूर्णतः भिन्न होगा। यद्यपि गांधी जी ने इस सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यापक रूप से प्रस्तुत नहीं किया फिर भी उनके विचार-सागर में से राज्य सम्बन्धी विचारों का सकलन किया जा सकता है।

गांधीजी एक दार्शनिक अराजकतावादी थे। वे राज्य को कई कारणों से अस्वीकार करते हैं। राज्य के विरोध में गांधीजी के निम्नलिखित तर्क थे.—

प्रथम, दार्शनिक आधार पर राज्य का विरोध करते हुए गांधीजी का विचार

52 Delhi Diary, Vol I, p 201.
53 Young India, vol II, pp 364, 435, 956
54 Quoted by J B Kriplani in Gandhi : His Life and Thought, p. 349.

था कि राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायक नहीं होता। राज्य सत्ता की अति-कार्यता व्यक्तिगत कार्य के महत्त्व का अपहरण कर लेती है। व्यक्ति का नैतिक विकास राज्य पर नहीं किन्तु उसकी मानसिक इच्छाओं पर निर्भर करता है। अधिक से अधिक राज्य मनुष्य की बाह्य दशाओं को प्रभावित कर सकता है।

द्वितीय, राज्य एक हिंसामूलक संगठन है और इस प्रकार सत्य और अहिंसा के अनन्य पहलुओं का विरोधी है। एक अहिंसा के पुजारी होने के नाते महात्मा गांधी हिंसा पर आधारित किसी भी संस्था को स्वीकार नहीं कर सकते थे। इसके साथ-साथ वे राज्य को हिंसात्मक इसलिये और मानते थे, क्योंकि वह निर्धन वर्ग के शोषण में सहायक होता है। गांधीजी के शब्दों में—

> 'राज्य केन्द्रित और संगठित रूप से हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति एक चेतनशील आत्मवान प्राणी है किन्तु राज्य एक ऐसा आत्महीन यन्त्र है जिसे हिंसा से पृथक नहीं किया जा सकता क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही हिंसा से हुई है।"[55]

तृतीय, राज्य के कार्य क्षेत्र में आजकल निरन्तर वृद्धि हो रही है। राज्य का बढ़ता हुआ कार्य क्षेत्र व्यक्ति में स्वावलम्बन और आत्मविश्वास के गुणों को विकसित नहीं होने देता। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने एक स्थान पर लिखा है:—

> "मैं राज्य की शक्तियों में वृद्धि को बड़े भय तथा शंका की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि बाह्य रूप से राज्य देखने में शोषण का विरोधी तथा भलाई का कार्य करता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्तित्व का विनाश कर यह मनुष्य जाति को अधिक से अधिक हानि पहुँचाता है। हम ऐसे अनेक उदाहरण जानते हैं। जहाँ मनुष्य ने एक संरक्षक के रूप में कार्य किया है, किन्तु हमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ राज्य का अस्तित्व वास्तव में दरिद्रों के कल्याण के लिये रहा हो।"[56]

एक आदर्श रूप से महात्मा गांधी राज्य उन्मूलन के पक्ष में थे। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में व्यावहारिकता के आधार पर वे एकदम तथा हिंसा द्वारा राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। वे मनुष्य को विकसित इतना पूर्ण नहीं मानते थे कि वह बिना राज्य के अपनी व्यवस्था स्वयं संचालित कर सके। "मनुष्य जाति उस स्थल पर निवास करती है जहाँ सृष्टि के पाशविक राज्य और नैतिक राज्य की सीमा मिलती है।"[57] इसलिये समाज से राज्य तथा हिंसा का पूर्णरूपेण बहिष्कृत करना सम्भव नहीं।

---

55 Bose, N K., Studies in Gandhism, p 202.
Young India, July 2, 1931, p 192.

56. Bose N K., Studies in Gandhism, pp 202—04

57 Young India, Vol I, p 250

राज्य-विहीन समाज की स्थापना के विषय मे गाधीजी की कुछ बातें स्पष्ट थी। प्रथम, वे विकासवादी थे। ऐसे समाज की रचना के लिये यदि एक-एक कदम भी आगे बढा जाय तो गाधीजी इसे सन्तोषजनक मानते थे। द्वितीय, जब तक राज्य-विहीन समाज की स्थापना नही हो जाती गाधीजी राज्य के अधिकारो को पूर्णत सीमित करने के पक्ष में थे। राज्य को एक आवश्यक बुराई समझकर गाधीजी ने उसके प्रभाव और शक्ति को कम से कम करने का प्रयत्न किया। उनका सुझाव था कि राज्य को कम से कम कार्य अपने हाथ मे लेने चाहिये तथा व्यक्ति के जीवन मे न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिये। वे अमरीकी अराजकतावादी हेनरी थोरो के इस विचार से सहमत थे कि 'सर्वोत्तम सरकार वह है जो कम से कम शासन करती है।"

तृतीय, उन्होने सत्ता के विकेन्द्रीकरण के विषय पर बल दिया। सत्ता का केन्द्रीकरण सदैव ही हानिकारक रहा है। विकेन्द्रीकरण के विषय मे गाधीजी को भारत के प्राचीन स्वावलम्बी ग्राम-समाजो से प्रेरणा मिली। उनका नारा था— 'गाव को वापस चलो' (Back to the village) क्योंकि वे ग्राम-स्वराज मे ही भारत की आत्मा का प्रतिबिम्ब देखते थे। राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी ग्रामो का चित्र-चित्रण करते हुये गाधीजी ने लिखा है:—

> मेरे ग्राम स्वराज्य का आदर्श यह है कि प्रत्येक ग्राम एक पूर्ण गणराज्य हो। अपनी आवश्यक वस्तुओ के लिये वह अपने पडोसियो पर निर्भर नही रहे। इस प्रकार खाने के लिये अन्न और कपडों के लिये रूई की फसल पैदा करना, प्रत्येक ग्राम का पहला कार्य होगा। ग्राम की अपनी नाट्यशाला, सार्वजनिक भवन और पाठशाला भी होनी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा अन्तिम कक्षा तक अनिवार्य होगी। यथासम्भव प्रत्येक कार्य सहकारिता के आधार पर किया जायगा। गाव का शासन पाच व्यक्तियों की पचायत द्वारा सचालित होगा। पचायत ही गाव की व्यवस्थापिका सभा, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सब कुछ होगी।"[58]

चतुर्थ, गाधीजी ने सम्प्रभु सिद्धान्त का भी खण्डन किया। वे राज्य को सम्प्रभु सम्पन्न एव सर्व-शक्तिशाली सस्था मानने के लिए कभी तैयार नही थे। गिल्ड समाजवादियो तथा बहुलवादियो की भाति गाधीजी राज्य को समाज मे अन्य सस्थाओ जैसा ही समझते थे। राज्य के एक सस्था के रूप मे उतने ही अधिकार है जितने दूसरी सस्थाओ के। गाधीजी द्वारा सम्प्रभु सत्ता पर प्रहार उनके राज्य सम्बन्धी अन्य विचारो का ही विस्तार है।

प्रजातन्त्र एवं प्रतिनिधि प्रणाली

विदेशी शासन को समाप्त करने के साथ-साथ गाधीजी देश मे सभी प्रकार के शोषण से रहित लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे। इस उद्देश्य

58. Harijan, July 28, 1946, p 236

को ध्यान में रखते हुए गांधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन काल में ही रचनात्मक कार्यक्रमों को प्रारम्भ कर दिया था।"[59]

महात्मा गांधी लोकतन्त्र की परम्परागत प्रणालियों के आलोचक थे। पश्चिमी राज्यों में लोकतन्त्र केवल नाम का ही है। ये लोकतन्त्र व्यवस्थाएँ हिंसा, अस्त्र-शस्त्र की होड़, पूंजीवाद, शोषण, राजनीतिक अस्थिरता, राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा, नेतृत्व की निर्धनता (Poverty of leadership) पर आधारित हैं।[60]

संसदीय व्यवस्था एवं प्रतिनिधि प्रणाली को भी गांधीजी ने अपनी आलोचना से अछूता नहीं छोड़ा। इंग्लैंड की संसद को गांधीजी ने एक 'बांझ औरत' की संज्ञा दी जो किसी कार्य के योग्य नहीं है। संसद के सदस्य अपने स्वार्थ से प्रेरित होते हैं तथा संसद भिन्न-भिन्न मन्त्रिमण्डलों के प्रति अपनी श्रद्धा का परिवर्तन करती रहती है।[61] इसी प्रकार आधुनिक प्रतिनिधि प्रणाली को गांधीजी ने त्रुटिपूर्ण बतलाया है। आजकल के प्रतिनिधि वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में गांधी जी कुछ समय के लिये संसदीय व्यवस्था बनाये रखने के पक्ष में थे, किन्तु वे इस व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि संसद या संसदीय सरकार अपने हाथों में शक्ति संचय कर ले। संसद एवं सरकार को जनहित में बड़े ही व्यवस्थित एवं अनुशासित ढंग से कार्य करना चाहिये।

महात्मा गांधी अप्रत्यक्ष प्रतिनिधि प्रणाली के पक्ष में थे, किन्तु उनकी प्रतिनिधि प्रणाली का दूसरा ही स्वरूप था। उनके अनुसार भारत के सात लाख ग्राम अपने लिए जन-इच्छा के अनुसार संगठित करेंगे। ये ग्राम मिलकर अपने-अपने जिलों की शासन व्यवस्था का प्रबंध करेंगे। जिलों के द्वारा प्रान्तों के प्रशासन का चयन होगा। अन्त में प्रान्तों के द्वारा राष्ट्रीय सरकार का संगठन एवं चयन किया जायेगा। गांधीजी का विचार था कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक इकाई का महत्त्व होगा। सबसे पहले वे अपने शासन का प्रबन्ध करेंगे और साथ ही साथ अगली सीढ़ी वाले क्षेत्र के प्रशासन में भी योगदान देंगे।[62]

मतदाताओं की योग्यता के विषय में भी गांधीजी के विचार उल्लेखनीय हैं। वे प्रत्येक स्त्री-पुरुष जिसकी आयु इक्कीस वर्ष की हो चुकी है मतदान के योग्य मानते हैं। सम्पत्ति या पद या शैक्षणिक आधार को वे मतदाता की योग्यता का आधार स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में वह व्यक्ति जो शारीरिक श्रम करता है,

---

59 Kriplani, J B, Gandhi His Life and Thought, p 352
60 Fischer, Louis, A Week with Gandhi, pp 82-83.
61 Dhawan, G N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 295
62 Fischer, Louis, A Week with Gandhi, p 55,
Harijan, July 26, 1942, p 238

वही वास्तव में मतदान के योग्य होना चाहिए। इस प्रकार गांधीजी श्रम-मताधिकार के पक्ष में थे।[63]

महात्मा गांधी व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन मानते हैं। सैद्धान्तिक रूप में महात्मा गांधी राज्य का उन्मूलन चाहते हैं। व्यावहार में वे राज्य के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसकी सत्ता को सीमित एवं विकेन्द्रित करने के पक्ष में हैं। यह सब कुछ उनके विचारों के अनुकूल ही है, क्योंकि वे व्यक्ति के विकास के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा नहीं चाहते। इसलिए राज्य के जिस अस्तित्व को वे स्वीकार करते हैं उसका उद्देश्य व्यक्ति का ही विकास करना है। वे राज्य को न तो गौरवान्वित करने के पक्ष में हैं और न ही वे उसे किसी भी प्रकार साध्य मानने को तैयार हैं।

अधिकार तथा कर्त्तव्य

गांधीवादी विचारों में अधिकारों का आधार मनुष्य की दैवी प्रकृति है। मनुष्य में ईश्वर का अंश विद्यमान है। मनुष्य अपनी नैतिक प्रकृति का विकास करके मोक्ष प्राप्त करना अपने जीवन का उद्देश्य समझता है। अतः ईश्वरीय नियमों का पालन करने का मनुष्य को जन्मसिद्ध अधिकार होगा। गांधीजी के अनुसार मनुष्य के सभी अधिकार इस प्रमुख अधिकार से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य का नैतिक व्यक्तित्व प्रत्येक दृष्टि से अनुल्लंघनीय है।

महात्मा गांधी ने अधिकार और कर्त्तव्यों के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। एक दृष्टिकोण से उन्होंने कर्त्तव्यों को अधिक महत्त्व दिया। उनका कहना था कि अधिकार कर्त्तव्यों से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए, अधिकार उसे स्वतः मिल जायेंगे। गांधीजी के शब्दों में—

> 'यदि हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, तो हमें अपने अधिकारों की खोज में दूर नहीं जाना पड़ेगा। यदि हम कर्त्तव्यों को पूरा किये बिना अधिकारों के पीछे दौड़ने लगें तो वे मृग-मरीचिका की भांति हम से दूर भागते जायेंगे। कर्म कर्त्तव्य है, फल अधिकार है।"[64]

महात्मा गांधी स्वतन्त्रता अधिकार के प्रबल समर्थक थे। उनका कहना था कि व्यक्ति को आचरण तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, यदि उनकी स्वतन्त्रता दूसरों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करती। मनुष्य की स्वतन्त्रता पर केवल सामाजिक कर्त्तव्यों का ही अंकुश हो सकता है। गांधी जी अपने विचार विरोधियों का भी सम्मान करते थे तथा उन्हें विरोध करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। स्वराज्य के मामले लेकर गांधीजी और पंडित जवाहरलाल नेहरू में मतभेद

---

61 Harijan, January 2, 1937, p. 27z.

64 Gandhi, M K, To the Princes and their People, p 10

उत्पन्न हो गये थे। जनवरी 16, 1928, को साबरमती आश्रम से पंडित नेहरू को एक पत्र में इस मतभेदों के विषय में लिखा —

> "मैं यह चाहता हूँ कि आप को मेरे विचारों के विरुद्ध खुला संघर्ष करना चाहिये। क्योंकि अगर मैं गलत हूँ तो मैं देश की अपार क्षति कर रहा हूँ, और इस प्रकार जब इसका आपको पता चल जाय तो आप को मेरे विरुद्ध विद्रोह अवश्य करना चाहिए।"[65]

महात्मा गाधी के अनुसार बहुसख्यकों को अल्पसख्यकों के विचारों का दमन करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। वे अल्पसख्यकों के दृष्टिकोण का आदर करते थे। उनका कहना था कि यदि अल्पसख्यक अपने दृष्टिकोण को उचित समझते हैं तो उसे मनवाने का उन्हें पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे एक स्थल पर उन्होंने कहा था—

> "बहुसख्यक शासन को सीमित क्षेत्र में ही स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् व्यापक रूप मे व्यक्ति को बहुसख्यकों का आदेश मान लेना चाहिए। किन्तु हर विषय में बहुसख्यकों के सामने समर्पण करना दासता है।"[66]

जहाँ तक धर्म और नैतिकता का सवाल है, गांधीजी का कहना था कि इन मामलो मे बहुसख्यकों के आदेश का कभी भी पालन नहीं करना चाहिये चाहे उसके परिणाम कुछ भी क्यो न हो।

समानता का अधिकार गाधीवाद का एक तात्विक तत्व है। वे सभी प्राणियों में एक सी आत्मा तथा समान नैतिक तत्वों का विद्यमान होना मानते थे, इसलिये प्रत्येक दृष्टि से सब मनुष्य समान हैं। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में गांधीजी का विचार था कि सभी को नस्ल, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव के बिना समान अधिकार मिलने चाहिए। भारतीय सामाजिक जीवन मे अस्पृश्यता (untouchability), तथाकथित नीचा जातियों (हरिजनों) के प्रति जो व्यवहार था वह समानता के अधिकार पर एक कलंक था। पिछड़े हुए वर्ग के उत्थान के लिये, तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध महात्मा गाधी ने जो संघर्ष किया, मानव इतिहास मे शायद ही किसी ने किया हो। इस सम्बन्ध मे उनके विचारों की अभिव्यक्ति भारतीय संविधान के तृतीय खण्ड में पूर्णतः होती है।

अपराध एवं दण्ड

गांधीजी के अनुसार समाज की असफलताओं एव बुराइयों के कारण ही मनुष्य अपराध करता है। अहिंसात्मक राज्य मे अपराध हो सकते हैं, किन्तु अपराधियों के

65 Nehru, Jawahar Lal, A Bunch of Old Letters, Asia Publishing House Bombay, 1958 pp 56 58

66 Young India, Vol I p 854

साथ अपराधियों जैसा व्यवहार नहीं किया जायेगा। अहिंसात्मक राज्य की व्यवस्था नैतिक शक्ति पर आधारित होगी। इसलिये अपराध सम्बन्धी समस्याओं का अहिंसात्मक ढंग से ही समाधान किया जायगा।

सामान्यतः महात्मा गांधी अपराधी को, चाहे उसने हिंसात्मक अपराध ही क्यों न किया हो, बन्दीगृह में रखकर दण्ड देने के पक्ष में नहीं थे। वैसे वे दण्ड व्यवस्था को ही उचित नहीं मानते थे। किन्तु यह एक आदर्श था। पर जो भी दण्ड व्यवस्था अहिंसात्मक राज्य अपनायेगा वह प्रतिकार या आतंक पैदा करने के उद्देश्य से नहीं दी जायेगी। गांधीजी के अनुसार दण्ड सुधारवादी सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिये। इस दण्ड प्रणाली में अपराधी को यातना देना, डराना, धमकाना आदि का अन्त हो जायेगा। मृत्युदण्ड का प्रश्न ही नहीं उठता। मृत्युदण्ड अहिंसा सिद्धान्त के पूर्ण विपरीत है।

सुधारवादी दण्ड व्यवस्था में अपराधी को सुधारने का पूर्ण प्रयत्न किया जायेगा। बन्दीगृहों को सुधारगृहों, वर्कशॉप तथा शैक्षणिक संस्थाओं में परिवर्तित कर देना चाहिये। गांधीजी का विचार था कि अपराधियों के हृदय–परिवर्तन का प्रयत्न होना चाहिये। जिस समय उन्हें बन्दीगृह में रखा जाय तो उन्हें किसी कला आदि का प्रशिक्षण देना चाहिये, ताकि वहां से आने के बाद अपराधी स्वावलम्बी और एक अच्छे नागरिक की भांति अपना जीवन व्यतीत कर सके।[67]

गांधीवादी राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद

महात्मा गांधी सही अर्थों में राष्ट्रवादी थे। उनका सारा जीवन भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में बीता। उन्होंने देश का राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय पोशाक, राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध मार्ग दर्शन किया, लेकिन गांधीजी संकीर्ण या उग्र राष्ट्रवाद के उपासक नहीं थे। स्वदेशी सिद्धान्त के सन्दर्भ में गांधीजी ने कहा कि यह बड़ा व्यापक सिद्धान्त है, जो निकट पड़ोस से लेकर सम्पूर्ण विश्व को अपने में समेटे हुए है। इसलिए उनके अन्तर्राष्ट्रीयवाद तक पहुंचने के लिए कई सस्थाओं की सेवा आवश्यक थी। उनका कहना था कि मनुष्य परिवार, पड़ोस, गांव, प्रदेश, राष्ट्र इन सब को पार करके ही अन्तर्राष्ट्रवाद के आदर्श तक पहुंच सकता है। उनका विश्वास था कि मनुष्य राष्ट्रवादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रवादी नहीं हो सकता। अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव हो सकता है जब कि पहले राष्ट्रवाद एक तथ्य बन जाये तथा विभिन्न देशों के लोग सगठित होकर एक व्यक्ति के रूप में कार्य करने लगें। वे भारत की सेवा को भी अन्तर्राष्ट्रीयता का एक अंग मानते थे। उन्हीं के शब्दों में—

> "मैं भारतवर्ष का उत्थान इसलिये चाहता हूं ताकि सम्पूर्ण विश्व का हित हो सके। मैं भारतवर्ष का उत्थान दूसरे राष्ट्र के विनाश पर नहीं

67 Dhawan, G N, Political philosophy of Mahatma Gandhi, pp 304 306

चाहता। मैं उस राष्ट्र-भक्ति की निन्दा करता हूँ जो हमें दूसरे राष्ट्रों के शोषण तथा मुसीबतों से लाभ उठाने के लिये प्रोत्साहित करती है।'[68]

इस प्रकार गांधीजी की राष्ट्रीयता ही अन्तर्राष्ट्रीयता थी। किन्तु आक्रामक राष्ट्रवाद की उन्होंने भर्त्सना की। वे साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने इस सिद्धान्त का खंडन किया कि पिछड़े हुए राष्ट्रों की प्रगति एवं स्वतन्त्रता दूसरे राज्यों के संरक्षण में रह कर ही सम्भव है। उनका विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र स्वराज्य के लिये उपयुक्त होता है।

महात्मा गांधी राज्यसत्ता के विषय में सार्वभौमवादी नहीं थे। उनका आदर्श था कि संसार के विभिन्न राज्य अपने लिये एक विश्व संगठन में लीन होकर समग्र एवं एकीकृत मानव समाज की स्थापना करें। यह इसलिये और आवश्यक था कि कोई राष्ट्र शेष संसार से पृथक रह कर प्रगति नहीं कर सकता। मानव जाति का कल्याण इसी में है कि सब राज्य मिलकर सहयोग स्थापित करें। प्राचीन हिन्दू आदर्श की भांति *'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श में उनकी पूर्ण श्रद्धा थी।*

महात्मा गांधी के आर्थिक विचार

महात्मा गांधी के आर्थिक दर्शन के मूल मंत्र अस्तेय (non-stealing), अपरिग्रह (non-possession), रोटी के लिये श्रम (bread-labour) और स्वदेशी (swadeshi) आदि सिद्धान्त हैं। ये सब सिद्धान्त सत्य और अहिंसा में निहित हैं।

अस्तेय व्रत (vow of non-stealing)

सत्य का पालन एवं समस्त मानव जाति को प्रेम करने वाला कभी भी चोरी नहीं करेगा। अस्तेय अथवा चोरी न करने के सिद्धान्त की महात्मा गांधी ने व्यापक व्याख्या की है। इसका तात्पर्य किसी दूसरे की वस्तु उसकी आज्ञा के बिना लेना ही ही नहीं, किन्तु इसके अलावा इसका और भी व्यापक अर्थ है। एक व्यक्ति उन चीजों की प्राप्ति करे जिनकी उसे आवश्यकता नहीं, दूसरे की वस्तु की प्राप्ति करने की इच्छा करना, अपनी इच्छाओं में निरन्तर वृद्धि करना, भविष्य में किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये पहले से ही प्रयत्न करना आदि ऐसे उदाहरण हैं जो अस्तेय व्रत के विरुद्ध हैं। वे माता-पिता जो अपने बच्चों से छिप कर कोई चीज खाते हैं गांधीजी के अनुसार, यह भी एक प्रकार की चोरी है। महात्मा गांधी की अर्थ व्यवस्था वास्तव में अति आवश्यक और पारस्परिक कल्याण की वस्तुओं की उपलब्धि पर आधारित है 69

अपरिग्रह व्रत (vow of non-possession)

अपरिग्रह अस्तेय व्रत का ही विस्तार है। इसका तात्पर्य उन वस्तुओं का परित्याग है जिनकी तत्काल भविष्य में आवश्यकता न हो। पूर्ण अपरिग्रह का अर्थ

68 Young India, April 4, 1929
69 Dhawan, G N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 83

पूर्ण त्याग है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति को न तो घर न कपडे और न कल के लि अन्न का संग्रह रखना चाहिये वरन् दैनिक भोजन के लिये भगवान पर निर्भर क इस प्रकार अपरिग्रह का आशय भौतिक वस्तुओ पर निर्भर न रहकर व्यक्ति सम्पत्ति का अन्त करना है। गाधीजी का यह विचार वास्तव मे साम्यवादियो भी अधिक उग्र है।[70]

गाधीजी के अनुसार पूर्ण अपरिग्रह अव्यावहारिक है, लेकिन यदि हम श शनै अपरिग्रह के क्षेत्र मे प्रयत्न करें तो हम एक सीमा तक समाज मे वह सम प्राप्त कर सकते हैं जो अन्य साधनो से नही की जा सकती।[71] गाधीजी यह स्वीकार करते थे कि किसी सीमा तक सुविधा एव आराम की वस्तुएँ सत्या की नैतिक एव आध्यात्मिक प्रगति के लिये आवश्यक हैं। किन्तु इन आवश्यकता की सतुष्टि एक निश्चित सीमा तक ही होनी चाहिए, अन्यथा वह स याग्रही शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से पतित कर देगी। सत्याग्रही को अपनी आवश्यकता मे वृद्धि नही करनी चाहिए। उसकी आवश्यकताएँ केवल उसकी सामान्य सुवि के ही अनुपात मे होनी चाहिए। वे वस्तुएँ जो दूसरे व्यक्तियो को उपलब्ध न सत्याग्रही को ग्रहण नही करनी चाहिये। सत्याग्रही सिर्फ उन वस्तुओ को ले सक है जिनकी दूसरो को आवश्यकता नही हो। ऐसी वस्तुओ की प्राप्ति करना कि भी प्रकार की हिंसा एव शोषण से सम्बन्धित नही होनी चाहिये।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्त अथवा आदर्श(Ideal of Trusteeship)

अपरिग्रहव्रत के साथ ही गाधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त जुडा हुआ गाधीजी का विश्वास था कि बडे बडे उद्योगो की स्थापना से, या किसी अन्य प्रव से, सम्पत्ति का सचय समाज के अन्य सदस्यो के सहयोग के बिना नही हो सकत इस प्रकार धनवान एव साधन-सम्पन्न व्यक्तियो को दूसरो का शोषण कर अ हित मे धन व्यय करने का कोई अधिकार नही होना चाहिये।

वैसे महात्मा गाधी, यदि अहिंसा द्वारा सम्भव हो सके तो समस्त सम्पत्ति समाज हित मे लेने के पक्ष मे थे। लेकिन जब तक साधन-सम्पन्न व्यक्ति यह क को तैयार न हो, उन्हे अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन करना चाहिए। वे अपनी सम्प के ऊपर समाज की ओर से स्वय को एक सरक्षक अथवा ट्रस्टी समझें तथा सम्प का प्रयोग समाज हित मे करें।

ट्रस्टी को स्वय भी सामाजिक कार्यकर्ता समझना चाहिए तथा ट्रस्टी के म वे जो सेवा कर उसी अनुपात मे उन्हे पारिश्रमिक मिलना चाहिए। उन्हे कित पारिश्रमिक मिले इसका निर्धारण राज्य करेगा।

---

70 Ibid, p 84

71 Bose, N.K , Studies in Gandhism, Calcutta, 1947, p. 201.

मूल ट्रस्टी (original trustee) को अपना उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार हो तथा अन्तिम रूप मे राज्य की स्वीकृति आवश्यक होनी चाहिए। इस प्रकार गाधीजी व्यक्ति एव राज्य दोनो को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं। एक ट्रस्टी का उत्तराधिकारी सिर्फ समाज ही हो सकता है।

महात्मा गाधी उत्तराधिकार मे प्राप्त या बिना परिश्रम के धन के विरोधी थे। जब कोई व्यक्ति अपनी ट्रस्ट-सम्पत्ति का दुरुपयोग करता है तब गाधीजी का सुझाव था कि राज्य न्यूनतम शक्ति का प्रयोग कर उस ट्रस्ट को अपने अधिकार मे लेकर सुधारने का प्रयत्न करे।

महात्मा गाधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का विवेचन करने से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं —

प्रथम यह सिद्धान्त वर्तमान व्यवस्था को समता पर आधारित व्यवस्था मे परिवर्तन करने का प्रयत्न है। यह पूंजीवाद को कोई सरक्षण प्रदान नही करता बल्कि उसे स्वय को सुधारने का एक अवसर प्रदान करता है।

द्वितीय, यह सम्पत्ति के निजी स्वामित्व को स्वीकार नही करता।

तृतीय, यह सम्पत्ति के विषय मे समाज हित को ध्यान मे रखते हुए राज्य के हस्तक्षेप की स्वीकृति देता है।

चतुर्थ, इसके द्वारा मनुष्यों की न्यूनतम और अधिकतम आय को निश्चित करने का सुझाव मिलता है।

पंचम, आर्थिक उत्पादन का सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारण होना चाहिए न कि किसी की व्यक्तिगत इच्छाओं द्वारा।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचकों का कथन है कि पूंजीपति इस सिद्धान्त से प्रभावित नहीं हो सकते। वे अहिंसात्मक तरीकों से अपनी व्यवस्था मे परिवर्तन नही करेंगे। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पूंजीपतियों को अपनी स्थिति दूसरे ढग से सुदृढ करने मे सहायता देगा। इस प्रकार यह सिद्धान्त न तो प्रभावशाली है और न व्यावहारिक। गाधीजी ने इन आलोचनाओं का पूर्ण खण्डन किया है। उन्ही के शब्दो मे.-

> 'मेरा ट्रस्टीशिप सिद्धान्त कोई क्षणिक तथा निश्चय ही किसी प्रकार का छल नही है। मुझे विश्वास है कि अन्य सिद्धान्तो के बाद भी प्रचलित रहेगा। इसके पीछे दर्शन और धर्म की शक्ति है। यदि धनी व्यक्ति इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य नही करता तो इससे यह सिद्धान्त गलत नही हो जाता, यह उस धनी व्यक्ति की कमजोरी ही प्रदर्शित करता है। इस सिद्धान्त के अलावा और कोई सिद्धान्त अहिंसा के अनुरूप नही हो सकता।''[72]

72 Quoted by Dhawan, G N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 86

शारीरिक श्रम अथवा रोटी के लिए श्रम (bread labour)

रोटी के लिए श्रम सम्बन्धी अर्थशास्त्र का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने खाने और पहनने के लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। रोटी जीवन की परम आवश्यकता है, इसलिए इसे प्राप्त करने के लिए उत्पादक श्रम करना आवश्यक है। जो व्यक्ति बिना शारीरिक श्रम के भोजन करता है वह चोर है, क्योंकि वे व्यक्ति जो कोई शारीरिक श्रम किये बिना ही अपनी आवश्यकताओं मे निरन्तर वृद्धि करते है, वे दूसरो के श्रम का शोषण करते हैं।

चूंकि भोजन आवश्यकताओं मे भी सबसे आवश्यक है, कृषि से सम्बन्धित श्रम ही आदर्श शारीरिक श्रम होगा। यदि यह सम्भव न हो सके तो व्यक्ति को अन्य आवश्यकताओं से सम्बन्धित श्रम जैसे, चरखा कातना, बढ़ई का कार्य, लोहार का कार्य करना चाहिये। इन सबमे गाधीजी की प्राथमिकता चरखा कातने की थी।

गाधीजी के अनुसार मस्तिष्क का कार्य (intellectual labour) शारीरिक श्रम के अन्तर्गत नही आता। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति शारीरिक श्रम से ही होनी चाहिए। *बौद्धिक श्रम का महत्त्व अवश्य है किन्तु वह शारीरिक श्रम का विकल्प नही हो सकता।* किसी भी व्यक्ति को शारीरिक श्रम से छुटकारा नहीं मिलना चाहिये। वास्तव मे शारीरिक श्रम बौद्धिक कार्य को और निखार देता है। गाधी जी का विचार था कि शारीरिक श्रम तथा बौद्धिक श्रम दोनो के लिए समान वेतन *या पारिश्रमिक होना चाहिए।*

रोटी के लिए श्रम को गाधीजी सर्वश्रेष्ठ सामाजिक सेवा मानते थे, किन्तु यह स्वेच्छा पर आधारित होना चाहिये। यदि मनुष्य ने शारीरिक श्रम की महत्ता को समझ लिया तो किसी भी देश मे भोजन और कपड़े का अभाव नही हो सकता। इसके अलावा शारीरिक श्रम से शरीर स्वस्थ रहता है तथा बीमारी आदि भी पास नही आने पाती। रोटी के लिये श्रम बुद्धि और शरीर दोनो मे समन्वय स्थापित करता है।[73]

मशीनयुगीय सभ्यता का विरोध

महात्मा गाधी बड़ी-बड़ी मशीनो के व्यापक प्रयोग तथा मशीनयुगीय सभ्यता के विरोधी थे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि मशीन प्रयोग का वे पूर्णतः विरोध करते थे। उनका विश्वास था कि मशीन का प्रयोग तब तक ठीक है जब तक वह मनुष्य की सेवा करे, मनुष्य मे गुलामी और आलस्य की प्रवृत्ति मे वृद्धि न करे। वे छोटी-छोटी मशीनों के प्रयोग का स्वागत करते थे क्योंकि इससे श्रम की बचत होती है। भारत के सन्दर्भ मे उनका कहना था कि बड़े पैमाने पर मशीनो का उस समय तक

73. इस सम्बन्ध मे गाधीजी के विचारो के लिये देखिये—
Harijan, June 1. 1935, Harijan, June 1, 1939,, Harijan, September 7. 1947.

प्रयोग नहीं होना चाहिये जब तक भारत की महान एवं असीमित जन-शक्ति और पशु-शक्ति का उपयोग न कर लिया जाय।

मशीनयुगीय सभ्यता में, गांधीजी के अनुसार, नैतिकता का पतन हुआ है। मशीन औद्योगीकरण को जन्म देती है। औद्योगीकरण में शोषण को प्रोत्साहन मिलता है, बेकारी में वृद्धि होती है क्योंकि मनुष्य के श्रम का स्थान मशीनें ले लेती हैं, उत्पादन विशेष क्षेत्रों में केन्द्रित हो जाता है; तथा केन्द्रीकृत उत्पादन के परिणाम-स्वरूप राजनीतिक शक्ति का भी केन्द्रीयकरण हो जाता है, जो लोकतन्त्र व्यवस्था की प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करता है। इसके अलावा इसमें पारिवारिक एकता और बड़े परिवार के प्रति श्रद्धा को बड़ा धक्का लगता है। अन्य शब्दों में, गांधीजी का विचार था कि मशीन और मानव शक्ति का इस प्रकार समन्वय किया जाय कि मशीन को मनुष्य का स्थान न लेने दिया जाय तथ वहाँ मानव व्यक्तित्व को न कुचल दे।[74]

कुटीर उद्योगों का समर्थन

औद्योगीकरण और मशीनीकरण का विकल्प, गांधीजी के अनुसार, कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने में है। भारत की पूर्ण जनशक्ति को रोजगार देने, आर्थिक सत्ता को केन्द्रीकरण से बचाने, तथा आर्थिक स्वावलम्बन के लिए गांधीजी का सुझाव था कि कुटीर उद्योगों का जाल सम्पूर्ण देश में फैला देना चाहिए। प्रत्येक घर एक छोटा-मोटा कुटीर उद्योग का रूप ग्रहण करे। कुटीर उद्योगों में गांधीजी ने चरखा तथा खादी के उपयोग का सबसे अधिक समर्थन किया। एक बार उन्होंने वचन दिया था कि यदि देश चर्खा और खादी को अपनाले तो भारत को एक वर्ष में स्वराज्य मिल सकता है। उनके लिए चरखा एक गृह उद्योग ही नहीं, वरन् अहिंसा का एक मूल स्तम्भ तथा स्वराज्य का साधन था।[75]

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

गांधीजी के आर्थिक विचारों का आधार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था थी। राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में वे चाहते थे कि प्रत्येक गाव या ग्राम-समूह में अपने उद्योग व धन्धे और उनका स्वशासित अस्तित्व हो। भारत के गाव अपनी आधार-भूत आवश्यकताओं को पूरा करने में स्वय समर्थ हों।

स्वदेशी सिद्धान्त (Doctrine Swadeshi)

गांधी दर्शन में 'स्वदेशी' एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। वैसे स्वदेशी का तात्पर्य अपने देश की या देश में निर्मित वस्तु से है। अन्य सिद्धान्तों की भांति गांधीजी ने 'स्वदेशी' की भी व्याख्या की है। गांधीजी इसे एक धार्मिक अनुशासन मानते थे। स्वदेशी का उद्देश्य राजनीतिक न होकर आध्यात्मिक है, जो मनुष्य को दूसरे प्राणियों

---

74 आशीर्वादम्., राजनीतिशास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 273.

75 Tandulkar, D G, Mahatma, Life of Mohandas Karamchand Gandhi, Vol, V p 381.

के साथ आध्यात्मिक एकता स्थापित करने में सहायता प्रदान करना है। जीवन का अंतिम उद्देश्य सांसारिक बंधनों से आत्मा को मुक्ति दिलाना है। जब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक मनुष्य को चाहिए कि ईश्वर द्वारा बनाये गए अन्य प्राणियों की सेवा कर ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करे। स्वदेशी सिद्धान्त इस ओर मार्ग प्रदर्शन करता है। यह दूसरे प्राणियों की सेवा करने की एक विधि बतलाता है। इसी आधार पर गांधीजी ने स्वदेशी की यह परिभाषा दी है—

> "स्वदेशी हममें वह चित्तवृत्ति (spirit) है जो हमें दूर के लोगों को छोड़कर अपने निकट रहने वालों की सेवा के लिए प्रेरित करती है। स्वदेशी चित्तवृत्ति हमें दूसरों को छोड़कर अपने पास-पड़ोसियों की सेवा की आज्ञा देती है। केवल शर्त यह है कि जिस पड़ोसी की इस प्रकार सेवा की गई है वह भी अपने पड़ोसियों की इसी प्रकार सेवा करें।"76

स्वदेशी एक उच्च स्तर की आध्यात्मिक देश-भक्ति है। इसका तात्पर्य है कि हम दूसरे देश की अपेक्षा अपने देश की सेवा को प्राथमिकता दें तथा देश के अन्तर्गत हम दूरस्थ रहने वालों की अपेक्षा निकट रहने वालों की सेवा करें। स्वदेशी की व्याख्या करते हुए सी० एफ० एन्ड्रयूज (C F Andrews) ने लिखा है —

> "महात्मा गांधी के लिये स्वदेशी वह सिद्धान्त है कि प्रत्येक चीज की अपेक्षा अपने निकट क्षेत्र को प्राथमिकता दी जाय, तथा मनुष्य की जन्म-भूमि दूसरों की अपेक्षा पहले श्रद्धा की पात्र है। इसके अलावा गांधीजी के लिए इसका यह तात्पर्य था कि अपने धर्म को छोड़ दूसरे धर्म को अंगीकार करने की तो कल्पना भी नहीं होनी चाहिये।"77

स्वदेशी सिद्धान्त के अनुसार हमें स्वयं की आदर्श संस्थाओं का अनुसरण करना चाहिए। लेकिन इसका तात्पर्य उनका अधानुकरण नहीं होना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो उनमें दूसरों के अनुभव से सुधार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

स्वदेशी का सिद्धान्त अपने पड़ोसियों से लेकर सम्पूर्ण विश्व को अपने में समा लेता है। सेवा की चक्र-वृद्धि धीरे-धीरे क्षमता के अनुसार होती रहती है। जब हम अपने निकटस्थ लोगों की सेवा कर चुकें तो फिर अपने ग्राम, क्षेत्र, देश तथा अंत में समस्त विश्व की सेवा के लिए आगे बढ़ना चाहिए। स्वदेशी के अनुसार सेवा क्षेत्र केवल अपने समुदाय तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति इसके अन्तर्गत आ जाती है।

स्वदेशी सिद्धान्त में गांधीजी ने दूर के लोगों की अपेक्षा अपने निकटस्थ व्यक्तियों की सेवा करने का जो सुझाव दिया है उसके उन्होंने कई कारण दिये हैं। मनुष्यों में सेवा-सामर्थ्य सीमित होती है इसलिए यदि वह निकटस्थ व्यक्तियों की सेवा कर ले तो वह भी पर्याप्त होगा। विश्व के विषय में हमारा ज्ञान भी पर्याप्त नहीं

76 Harijan, March 23, 1947, p. 79

77 Andrews, C F, Mahatma Gandhi's Ideas, George Allen and Unwin Ltd., London, 1949 p 118

होता, इस प्रकार विश्व की सेवा करना आसान भी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति केवल दूर रहने वालों की ही सेवा करता है तब वह अपने निकट रहने वालों की सेवा नहीं कर सकता। गांधीजी गीता की पंक्तियों को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया करते थे जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य या स्वधर्म पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना उत्तम है। यह बात स्वदेशी के साथ भी सत्य है।

स्वदेशी के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, भौतिक, राजनीतिक और सामाजिक आदि कई पक्ष हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वदेशी सिद्धान्त का तात्पर्य भारत में ग्रामीण सभ्यता में पूर्ण आस्था रखना है। आध्यात्मिक एवं नैतिक क्षेत्र में स्वदेशी का तात्पर्य भारत की दार्शनिक परम्पराओं का पालन करना है। धर्म के विषय में स्वदेशी का आशय अपने प्राचीन धर्म का पालन करना है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में स्वदेशी का तात्पर्य अपने देश की संस्थाओं में सुधार कर उन्हें आधुनिक बनाना, शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन आदर्शों का पालन करना है।

आर्थिक स्वदेशी का तात्पर्य स्वावलम्बन से है। प्रत्येक ग्राम तथा देश अपनी *आवश्यकताओं की वस्तुओं में स्वावलम्बी हो। विदेशों से केवल उन्हीं वस्तुओं का* आयात करना चाहिए जो जीवन विकास के लिये आवश्यक हों। एक व्यापक रूप में स्वदेशी का तात्पर्य अपने घर या देश में निर्मित वस्तुओं के प्रयोग से है-लेकिन आवश्यकतानुसार बाहर से भी वस्तुएँ मगायी जा सकती हैं।

स्वदेशी सिद्धान्त की यह मांग है कि विदेशी वस्त्रों का प्रयोग न करना, क्योंकि हम अपने देश में अपनी आवश्यकता के अनुसार कपड़े का निर्माण कर सकते हैं। खादी उद्योग का विकास स्वदेशी की आत्मा है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका *कमाने का साधन प्राप्त हो सकता है।*

महात्मा गांधी के सामाजिक विचार

स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ महात्मा गांधी ने सामाजिक सुधारों के प्रति भी अधिक ध्यान दिया। उनका कहना था कि समाज सुधार या काम राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के साथ-साथ चलना चाहिए। इसलिये गांधीवादी विचारधारा में रचनात्मक कार्यों को बहुत महत्त्व दिया गया है।

सामाजिक सुधार के क्षेत्र में महात्मा गांधी के विचार वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, *स्त्री-उत्थान, शिक्षा तथा साम्प्रदायिक एकता के विषय में अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।*

वर्ण-व्यवस्था के विषय में महात्मा गांधी का दृष्टिकोण अन्य समाज सुधारकों से भिन्न था। सामान्यतः वर्ण-व्यवस्था को जाति-पांति के भेदभाव से जोड़ा जाता है। किन्तु गांधीजी वर्ण-व्यवस्था को एक वैज्ञानिक व्यवस्था तथा सामाजिक विकास के लिए आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था सामाजिक असमानता को प्रोत्साहित करने में सहायक नहीं होनी चाहिए। वे वर्ण-व्यवस्था को जन्म और कर्म दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण मानते थे जन्म के दृष्टिकोण से व्यक्ति को अपना पैतृक पेशा नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि

सामाजिक उपयोगिता का प्रत्येक कार्य आवश्यक होता है। भंगी के काम का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि प्रशासक, तकनीशियन, अध्यापक आदि के काम का। कर्म के आधार पर गाधीजी के अनुसार, कोई भी व्यक्ति किसी भी वर्ण से सम्बन्धित हो सकता है।

अस्पृश्यता हिन्दू समाज मे सदियो से चली आ रही थी, जो एक प्रकार से सामाजिक अभिशाप सिद्ध हुई इसने देश की एकता को विघटित किया, सामाजिक असमानता को प्रोत्साहित किया तथा निर्बल वर्ग के शोषण मे सहायक हुई। गाधीजी ने इस सामाजिक कलक को मिटाने का भागीरथी प्रयत्न किया। उन्होन अस्पृश्यता को एक पाप बतलाया जिसका अन्त होना ही चाहिये। उन्होने शूद्रो को प्रतिष्ठित एव सम्मानित करने का पूर्ण प्रयत्न किया। वे उन्हे 'हरिजन' नाम से सम्बोधित करते थे। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि हरिजनो को मन्दिरो मे प्रवेश करने तथा समाज के अन्य वर्गो के साथ पूजा एव उपासना का अधिकार होना चाहिए।

महात्मा गाधी साम्प्रदायिक एकता के प्रबल समर्थक थे। धर्म के सम्बन्ध मे उनके विचार उदार थे ही। वे सब धर्मों को आदर समान दृष्टि से देखते थे तथा सभी को एक मोक्ष का साधन मानते थे। इसलिए उनका कहना था कि धर्म के आधार पर आपस मे लडना बुद्धिहीनता है। उनका विश्वास था कि साम्प्रदायिक एकता, विशेषकर हिन्दू मुस्लिम एकता के बिना न तो सामाजिक प्रगति हो सकती है और न स्वराज हो मिल सकता है। राजनीति मे वे धर्म-निरपेक्षता के समर्थक थे। महात्मा गाधी की सभाओ मे जो प्रार्थनाएँ होती थी वे साम्प्रदायिक एकता की ही अभिव्यक्ति हैं।

स्त्री–सुधार के क्षेत्र मे गाधीजी ने पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, देवदासी प्रथा आदि बुराइयो का डटकर विरोध किया। वे स्त्रियो को जीवन के हर क्षेत्र मे पुरुषो के समान अधिकार देने के पक्ष मे थे। वे कहा करते थे स्त्रियो को अबला कहना उनका अपमान करना है। कुछ गुणो मे स्त्रिया पुरुषो से भी अधिक आगे होती हैं। नैतिक बल, त्याग, सहन शक्ति और अहिंसा स्त्रियो मे पुरुषो से अधिक देखने को मिलती है। उनका कहना था कि यदि अहिंसा हमारे जीवन का अंग बन गयी तो भविष्य स्त्रियो के हाथो मे होगा।

महात्मा गाधी मदिरापान के विरुद्ध थे। मद्य-निषेध गाधीवाद के सामाजिक कार्यक्रम का अंग है। मद्य–निषेध के विषय मे राजकीय सरकारो ने कुछ प्रयत्न अवश्य किये हैं किन्तु आजकल इस विषय मे ढिलाई आती जा रही है।

महात्मा गाधी ने देश को एक नई शिक्षा प्रणाली दी जिसे बुनियादी शिक्षा (Basic Education) कहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा भारतीय परिस्थितियो के सन्दर्भ मे बुनियादी शिक्षा एक महत्वपूर्ण योगदान था। बुनियादी शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

(i) बुनियादी शिक्षा दस्तकारी के आधार पर होनी चाहिये।

(ii) शिक्षा स्वावलम्बी हो ताकि विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के साथ–साथ स्वय का खर्च भी चला सके।

(iii) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिये।

इन शिक्षा सिद्धान्तों को हम आज भी मान्यता देते हैं।

गांधीवाद तथा मार्क्सवाद

महात्मा गांधी के कुछ समर्थक जिनका झुकाव साम्यवाद की ओर भी है, गांधीवाद और मार्क्सवाद (तथा साम्यवाद भी) में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते। विशेषत: वे गांधीवाद और मार्क्सवाद की कुछ प्रमुख समानताओं का उदाहरण देते हैं। उनका कहना है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद राज्य-रहित समाज में विश्वास करते हैं। दोनों विचारधाराएँ सभी प्रकार के शोषण के विरुद्ध हैं। दोनों ही व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा लाभ को कोई मान्यता नहीं देते। वे सम्पत्ति के सामाजीकरण के पक्ष में है।

गांधीवाद और साम्यवाद में कुछ बाह्य समानता अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में इनमें कोई समान आधार नहीं है। किशोरीलाल मशरूवाला ने अपनी पुस्तक 'गांधी और मार्क्स' में इन दोनों विचारधाराओं की भिन्नता के विषय में लिखा है –

> "गांधीवाद और साम्यवाद एक दूसरे से इतने भिन्न हैं जैसे लाल से हरा रंग भिन्न होता है, यद्यपि हम जानते हैं कि आँख के उस रोगी को जिसे रंग भेद की पहचान नहीं होती, दोनों समान प्रतीत हो सकते हैं। दोनों विचारधाराएँ बेमेल हैं, उनका अन्तर मूलभूत है और वे एक दूसरे की कट्टर विरोधी हैं।"[78]

मानव स्वभाव के विषय में दोनों दर्शनों के दृष्टिकोणों में भिन्नता है। महात्मा गांधी पूंजीपतियों के हृदय परिवर्तन में आस्था रखते थे तथा उनका विश्वास था कि पूंजीपति अपनी सम्पत्ति का प्रयोग स्वार्थ में नहीं सामाजिक हित में करेंगे। मार्क्सवाद पूंजीपतियों को शोषक, अत्याचारी, स्वार्थी मानता है, जो स्वेच्छा से नहीं, हिंसात्मक तरीकों से ही अपनी सम्पत्ति का परित्याग करेंगे।

धर्म एवं राजनीति के सम्बन्ध में मार्क्सवाद और गांधीवाद दो अलग अलग ध्रुव जैसे हैं। इस ध्रुवीकरण का कारण था कि मार्क्स मूलतः भौतिकवादी तथा धर्म विरोधी था। गांधी जी ने कहा था कि जहां तक मार्क्सवाद 'हिंसा तथा ईश्वर के निषेध पर आधारित है यह मुझे अस्वीकार है।' मार्क्सवाद के विपरीत गांधीवाद आत्मा, ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा धर्म सिद्धान्तों पर आधारित है। गांधीवादी भवन धर्म-नींव पर स्थापित है। धर्म से पृथक राजनीति गांधीजी के लिये मौत का फंदा जैसी थी। वे मार्क्स की तरह धर्म का राजनीति से किसी भी तरह बहिष्कार करने को तैयार नहीं थे। अन्य शब्दों में मार्क्सवाद भौतिकवादी है, जबकि गांधीवाद को अध्यात्मवाद से अभिन्न नहीं किया जा सकता।

---

78 गांधीवाद और मार्क्सवाद की तुलना के लिए किशोरीलाल मशरूवाला की यह पुस्तक उत्तम विवेचन प्रस्तुत करती है, जो विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

मार्क्सवाद के अन्तर्गत साम्यवादी व्यवस्था राज्य-विहीन होगी, किन्तु वास्तव मे मार्क्सवाद पर आधारित व्यवस्था समग्रवादी होती है जिसमे व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण जीवन को नियन्त्रण मे रखा जाता है। गाधीवादी आदर्श-समाज मे राज्य को कोई स्थान नही है लेकिन व्यावहारिक व्यवस्था के रूप मे राज्य को एक आवश्यक बुराई माना जाता है। गाधीवादी राज्य कम से कम हस्तक्षेप करने वाली सस्था होगा।

गाधीवाद विकेन्द्रित प्रजातत्र का समर्थक है जहा सत्ता ग्रामो और पचायतो मे विभाजित होगी। गाधीजी राज्य, किसी वर्ग विशेष या किसी राजनीतिक दल के अधिनायकत्व मे विश्वास नही करत। मार्क्सवादी, क्रान्ति के उपरान्त सर्वहारा ताना-शाही की स्थापना चाहते हैं। मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था मे वास्तविक सत्ता मुट्ठी भर साम्यवादी नेताओ के हाथो मे रहती है, जन-साधारण मे नही

मार्क्सवाद बडे-बडे उद्योगो का विरोध नही करता। मार्क्सवादी भौतिकवादी समाज के लिए बडे-बडे उद्योगों का विकास आवश्यक है। मार्क्सवादी विचार-धारा श्रमिक समर्थक है तथा औद्योगिक मजदूर वर्ग इसे आसानी या अग्यानुभाव से ग्रहण करने वाला माना जाता है। इसलिय बडे-बडे उद्योगो का मार्क्सवाद-साम्यवाद आदि मे और भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके विपरीत गाधीवाद बडे-बडे उद्योग तथा मशीनी सभ्यता के विरुद्ध हैं। गाधीवाद घरेलू उद्योग तथा छोटी-मोटी मशीनो द्वारा चालित उद्योग का समर्थक है।

गाधीवाद मार्क्सवाद की तुलना मे अधिक व्यापक विचारधारा है। मार्क्सवाद एक तरह से श्रमिको का दर्शन है। इसमे भौतिकवाद को ही प्राथमिकता दी गयी है जब कि गाधीवाद दरिद्र वर्ग का, जिसमे श्रमिक भी सम्मिलित है, कल्याण चाहता है। साथ ही साथ इसमे समस्त वर्गो के कल्याण की बात कही जाती है। गाधीवाद का उद्देश्य सर्वोदय है।

गाधीवाद प्रेम और सहयोग के सिद्धान्त मे आस्था रखता है तथा सभी वर्गो मे समानता एव सामञ्जस्य स्थापित करने पर बल देता है। मार्क्सवाद वर्ग-सघर्ष हिंसा तथा पूँजीपतियो के प्रति घृणा पर आधारित है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि गाधीवाद हिंसा रहित साम्यवाद है। इसमे यह आभास होना है कि यदि मार्क्सवाद से हिंसा (क्रान्ति) के तत्त्व को निकाल दिया जाय तो मार्क्सवाद एव गाधीवाद मे कोई अन्तर नही रहेगा। इसमे सन्देह नही कि गाधीजी ने साधन पर सबसे अधिक बल दिया तथा मार्क्सवाद से हिंसा के अभाव वाला तत्त्व अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। मार्क्सवाद से हिंसा को अलग करने से मार्क्सवाद एक विष-रहित सर्प जैसा हो जायगा, किन्तु हिंसा-रहित मार्क्सवाद और गाधीवाद मे फिर भी व्यापक अन्तर विद्यमान रहता है, दोनो मे मौलिक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। मार्क्सवाद साधनो के विषय मे पूर्णतः स्पष्ट हैं। मार्क्सवाद क्रांति पर आधारित है। पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिए इसमे वर्ग-सघर्ष, हिंसा तथा सभी प्रकार के

साधन मान्य है। इसके विपरीत गांधीवाद पवित्र एवं नैतिक साधनों पर आधारित है। अच्छे साध्यों की प्राप्ति अच्छे साधनों द्वारा ही होनी चाहिए। ये साधन सत्य एवं अहिंसा से पृथक नहीं हो सकते। वास्तव में सत्याग्रह मार्क्सवादी क्रांति से भी अधिक प्रभावी सिद्ध हुआ।[79]

एक उल्लेखनीय पुस्तक—Indian Way to Socialism—में गांधीवाद और मार्क्सवाद के विषय में निम्नलिखित विवरण दिया है—

> "मार्क्सवाद भौतिकवाद पर आधारित है। मार्क्सवाद के समस्त सामाजिक परिवर्तनों की कुंजी मानव जीवन के भौतिकवादी आधार में निहित है, दूसरी ओर गांधीजी के अनुसार सामाजिक प्रगति का आधार पदार्थ (matter) नहीं बल्कि विचार (mind) है। मार्क्स आर्थिक तत्वों पर समाजवाद के अवश्यम्भावीपन को सिद्ध करता है, जब कि गांधीजी नैतिक आधारों पर। मार्क्स के अनुसार इच्छाओं में वृद्धि एक अच्छा उद्देश्य है, गांधीजी का आदर्श इच्छाओं पर नियन्त्रण रखना है। वर्ग-संघर्ष तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त मार्क्स के अनुसार, समाजवाद की प्राप्ति की ओर आवश्यक कदम है, किन्तु गांधीजी सत्याग्रह एवं ट्रस्टीशिप में विश्वास रखते हैं। इन तथा अन्य मतभेदों के होते हुए भी मार्क्स तथा गांधीजी लाभ प्रवृत्ति वाले पूँजीवादी समाज के विरोधी थे तथा दोनों ने ही शोषित तथा निर्धनों के कल्याण हेतु अपने को समर्पित कर दिया था।"[80]

मार्क्सवादी तथा गांधीवादी आदर्श में कुछ समताएँ हो सकती हैं, किन्तु मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवादी राज्यों में जिस प्रकार की शासन व्यवस्था अभी प्रचलित है, इसमें तथा गांधीवाद में कोई भी सामान्य आधार नहीं हो सकता।

क्या गांधीजी समाजवादी थे?

गांधीवाद और साम्यवाद में व्यापक अन्तर पहले ही स्पष्ट है। महात्मा गांधी के विचारों के विषय में यह कुछ निश्चयतापूर्वक नहीं कहा जाता है कि वे समाजवादी थे। गांधीवादी चिन्तकों में यह भी एक विवादास्पद प्रश्न बन गया है। कुछ गांधीवादी समर्थकों, जैसे श्री मोरारजी देसाई, ने महात्मा गांधी को समाजवादी माना है, किन्तु श्री राजगोपालाचारी, आचार्य कृपलानी आदि इस विचार से सहमत नहीं हैं।

डॉ मजुमदार का कथन है कि महात्मा गांधी ने अपने जीवन के अन्तिम दो वर्ष में भारत में एक समाजवादी राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। वे गांधीजी के समाजवादी विचारों की खोज 1910 से करते हैं, जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में जोहेन्सबर्ग के निकट टॉलस्टॉय फार्म (Tolstoy From) की स्थापना की। इस फार्म पर लगभग बयालीस पुरुष, महिलाएँ तथा बच्चे रहते थे। प्रत्येक को प्रतिदिन

---

79 Kriplani, J B, Gandhi His Life and Thought, pp 416-17

80 Kamla Gadre, Indian Way to Socialism, Vir Publishing House, New Delhi, 1966, p 27.

कुछ शारीरिक श्रम करना पड़ता था। फार्म पर सभी सम्प्रदाय के लोग थे, वे एक साथ भोजन करते थे तथा परिवार की तरह रहते थे।[81]

इसके विपरीत कमला गद्रे द्वारा लिखित पुस्तक—Indian Way to Socialism[82]—में गांधीवाद के समाजवादी दावे का पूर्ण खण्डन किया गया है। इस पुस्तक ने ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पर बड़ा ही कड़ा प्रहार किया है। इस सिद्धान्त को एक सनक तथा समाजवाद से कोसों दूर बतलाया गया है।

महात्मा गांधी से कई बार पूछा गया कि क्या वे समाजवादी हैं? इस सम्बन्ध में उनके उत्तरों की व्याख्या 'हाँ' तथा 'ना' दोनों में ही की जा सकती है। वास्तव में गांधीजी ने इसका स्पष्ट उत्तर कभी नहीं दिया। सम्भवतः वे अपने को दोनों पक्षों में रखना चाहते थे। इस प्रकार इस विवाद की अनिश्चितता में वृद्धि करने में गांधीजी स्वयं ही उत्तरदायी थे।

1927 और 1929 के मध्य प. जवाहर लाल नेहरू बड़े प्रभावशाली ढंग से गणतान्त्रिक समाजवाद के पक्ष में अपने विचार व्यक्त कर रहे थे। उस समय गांधीजी ने प. जवाहरलाल नेहरू से आग्रह किया कि वे इस सम्बन्ध में कोई शीघ्रता न करें तथा पश्चिमी समाजवाद का अन्धानुसरण न करें।[83] एक स्थल पर उन्होंने कहा—

> "मेरे समाजवाद का तात्पर्य सर्वोदय है। मैं समाजवाद की स्थापना अन्ध बहरे और गूंगों को राख के ऊपर नहीं करना चाहता। पश्चिमी समाजवाद में इन लोगों को कोई स्थान नहीं। उनका मुख्य उद्देश्य केवल भौतिक प्रगति है।"[84]

महात्मा गांधी के समाजवादी होने के विषय में दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथम, जैसा कि पाश्चात्य लेखक समाजवाद का अर्थ समझते हैं, महात्मा गांधीजी उस अर्थ में समाजवादी नहीं थे। कभी-कभी वे अपने लिये समाजवादी कहते थे जिसका स्रोत वे ईशोपनिषद (Isopanishad) तथा भगवत्पुराण को मानते थे। भागवत में उल्लेख है.-

यावद् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

अर्थात एक व्यक्ति सिर्फ उतना ही प्राप्त करने का अधिकारी है जिसका उसके पेट के लिये आवश्यक है। जो इससे अधिक लेता है वह चोर है, तथा जो एक चोर को दण्ड मिलता है वह उसे भी मिलना चाहिये[85]

द्वितीय गांधीजी जब अपने को समाजवादी कहते थे उसका तात्पर्य यह था किन्हीं क्षेत्रों में उनके तथा समाजवादी विचार मेल खाते थे। जैसे, दोनों ही समानता स्वतन्त्रता, निर्धन वर्ग का समर्थन करते हैं।

81 Majumdar B B, Gandhian Concept of State, p 182

82 Published by Vir Publishing House, New Delhi, 1966, The preface of this book is by Dr V K R V Rao

83 Nehru, Jawahar Lal, A Bunch of Old Letters, pp 55-56.

84 Tandulkar, D G, Mahatma, · Life of Mohandas Karamchand Gandhi, 1953, vol VII, pp 191-91

85. Mujumdar, B B Gandhian Concept of State p 183

समाजवाद की तरह महात्मा गाधी भूमि पर निजी स्वामित्व के विरोधी थे। या यह कहना उपयुक्त होगा कि वे सभी प्रकार की निजी सम्पत्ति के विरुद्ध थे। उनके विचार से "सम्पत्ति समाज की, भूमि गोपाल की" है। अन्य शब्दों में वे सम्पत्ति के सामाजीकरण के पक्ष में थे।

इसके अलावा दोनों ही विचारधाराएँ—

(i) प्रजातन्त्र में विश्वास करती हैं,

(ii) मानवतावादी हैं,

(iii) शोषण के विरुद्ध हैं, तथा

(iv) समाज के सभी वर्गों का ध्यान रखती हैं।

लेकिन ये समानताएँ दोनों विचारधाराओं को एक ही नहीं बना देती। दोनों में मूलभूत अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रथम, समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये राज्य एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। किन्तु महात्मा गाधी सैद्धान्तिक रूप से राज्य संस्था में ही विश्वास नहीं करते। सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि से वे राज्य की सीमित उपयोगिता स्वीकार करते हैं, पर वह भी एक आवश्यक बुराई के रूप में।

द्वितीय, समाजवाद सामान्यतः केन्द्रीकरण को प्रोत्साहित करता है, जब कि गाधीवाद विकेन्द्रित व्यवस्था का समर्थक है।

तृतीय, समाजवाद मूलतः भौतिकवादी है जबकि गाधीवाद आध्यात्मवादी है।

इस भिन्नता का तात्पर्य यह नहीं है कि गाधीवाद और समाजवाद दो विरोधी विचारधाराएँ है। वास्तव में गाधीवाद एक व्यापक विचारधारा है तथा उसकी अलग-अलग दृष्टिकोण से व्याख्या की जाय तो वह सभी विचारधाराओं के निकट है। किन्तु गाधीवाद न तो मार्क्सवाद है और न समाजवाद। गाधीवाद सिर्फ गाधीवाद ही है।

मूल्यांकन

गाधीवाद जितना व्यापक विचार-समूह है उतनी ही व्यापक इसकी समीक्षा हुई है। गाधीवाद की आलोचना विभिन्न दृष्टिकोणों से हुई है। यद्यपि आलोचकों के तर्कों में सत्यता का अंश तो है, उन्हें पूर्णतः सही नहीं माना जा सकता।

वैसे गाधीजी ने एक उच्च कोटि के मनोवैज्ञानिक होने का परिचय दिया है, पर आलोचकों का कहना है कि मानव स्वभाव में उनके विचार मनोवैज्ञानिक आधार पर सही नहीं कहे जा सकते। गाधीजी व्यक्ति में केवल अच्छाइयों का ही दर्शन करते हैं और इसी आधार पर उन्होंने सिद्धान्त रूपी मीनारें खड़ी की हैं। किन्तु मानव स्वभाव के विषय में सत्यता यह है कि उसमें अच्छे और बुरे दोनों पक्ष होते हैं। सभी लोगों में सत्य, अहिंसा, त्याग, सहयोग, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि की अपेक्षा करना एक भूल होगी।

गांधीवादी दर्शन के विरुद्ध एक मुख्य आक्षेप यह है कि यह वास्तविकता से परे तथा कल्पना प्रधान है। इसमें आदर्शवाद की प्रमुखता और व्यावहारिकता का अभाव है। गांधीजी द्वारा सत्य, अहिंसा के सिद्धान्त; उनके राज्य सम्बन्धी विचार; स्वदेशी एवं ट्रस्टीशिप सिद्धान्त आदि में आदर्श तत्वों की मात्रा अधिक है। गांधीजी अहिंसा पर अधिक बल देते हैं तथा विदेशी आक्रमण का सामना करने और विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति पाने के लिये वे अहिंसात्मक साधनों का सुझाव देते हैं। सीमित रूप में यह प्रभावकारी हो सकता है। परन्तु हिटलर या साम्यवादी शासन या सैनिक शासन, अथवा वियतनाम से विदेशी सैनिकों के नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त करना आदि अहिंसात्मक साधनों द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। बांगला देश में पाकिस्तानी सैनिकों के समक्ष सत्याग्रही साधनों का प्रभावशाली होना बहुत कुछ संदिग्ध था। इसी प्रकार अहिंसात्मक राज्य में पुलिस और सेना से अहिंसा की अपेक्षा नहीं की जा सकती। महात्मा गांधी का अहिंसा-सिद्धान्त विवेक पर नहीं, आस्था पर आधारित है। इस सिद्धान्त को धर्म के रूप में वे ही स्वीकार कर सकते हैं जिन्हें ईश्वर, आत्मा पुनर्जन्म आदि में श्रद्धा हो। अहिंसा का प्रयोग महात्मा गांधी जैसे ही व्यक्ति कर सकते हैं, यह सामान्य एवं औसत आदमी के बस की बात नहीं।

महात्मा गांधी ने वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे वर्तमान समय के अनुकूल नहीं। वर्ण व्यवस्था मध्ययुगीन समाज के लिये उपयुक्त हो सकती थी, किन्तु आज उद्योग-धन्धों के स्वरूप, मनुष्य के स्वभाव एवं रुचि आदि में परिवर्तन हुआ है कि वर्ण-व्यवस्था का पालन आसान नहीं रहा। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने पैतृक पेशे तक ही सीमित रहे तो रूस की और समाज दोनों की ही प्रगति अवरुद्ध हो जायगी। आज का समाज मूलतः औद्योगिक समाज है। जिसका प्रबन्ध वर्ण-व्यवस्था के आधार पर नहीं हो सकता। नित नये उद्योग धंधों की स्थापना होती है और यदि हर एक व्यक्ति अपना पेशेवर काम ही करता रहे तो नवीन उद्योगों में काम कौन करेगा? इसके साथ साथ यह भी सम्भव नहीं है कि हर व्यक्ति में अपने पूर्वजों के पेशे को चलाने की पूर्ण क्षमता हो।

महात्मा गांधी ने सामान्यतः बड़े-बड़े उद्योगों का विरोध तथा कुटीर उद्योगों का समर्थन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि कुटीर उद्योगों का भी महत्व होता है, लेकिन इनसे देश का पूर्ण आर्थिक विकास नहीं हो सकता। आज के युग में किसी भी देश के पूर्ण आर्थिक विकास के लिये बड़े-बड़े उद्योग आवश्यक हैं। आज कल जनसंख्या में वृद्धि हो रही है, मनुष्यों और भिन्न-भिन्न देशों की आवश्यकताओं में जिस अनुपात से वृद्धि हो रही है उस अनुपात से आर्थिक प्रगति बड़े-बड़े उद्योगों के बिना नहीं हो सकती।

गांधीवाद में अन्तर्विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। गांधीजी पूंजीवाद तथा इससे उत्पन्न आर्थिक विषमता एवं शोषण का विरोध करते हैं। किन्तु पूंजीवादी

व्यवस्था के विकल्प के रूप मे वे ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का सुझाव देते हैं। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त अप्रत्यक्ष रूप से पूंजीवाद का सरक्षक होगा। सैद्धान्तिक रूप से वे राज्य का विरोध करते हैं किन्तु व्यावहारिक रूप में वे सीमित राज्य का समर्थन करते हैं। फिर राज्य को चाहे किसी भी रूप में स्वीकार क्यों न किया जाय यह पूर्ण रूप से अहिंसक नहीं हो सकता।

गाधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धात को पूर्ण समाजवादी सिद्धान्त होने का दावा किया जाता है। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पूंजीपतियों से उनकी पूंजी को सामाजिक हित में प्रयोग करने की अपेक्षा करता है। यह आदर्श तो ठीक है किन्तु व्यावहारिक नहीं। पूंजीपति एक शेर की तरह है जिसे घास खाने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता। ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त मे गाधीजी यूटोपियन समाजवादियों अधिक निकट हैं।

गाधीजी के अन्तर्राष्ट्रीय विचार एक अच्छा आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व-बन्धुत्व, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मे पूर्ण आस्था रखते हैं। ये सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का आधार हैं तथा आज भी मान्य हैं। किन्तु गाधीजी वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का सही मूल्याकन नहीं कर सके। वे राष्ट्रीय हित को कोई विशेष महत्व नहीं देते। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कोई भी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित की अवहेलना नहीं कर सकता। सम्भवतः गाधीजी इस स्थिति से परिचित होते हुए भी हमारे समक्ष केवल एक आदर्श ही रखते हैं।

गाधीवाद की सब से अधिक महत्ता उसके मानववाद (Humanism) मे निहित है। मानववादी दृष्टिकोण गाधीवाद म सर्वत्र बिखरा हुआ है। यद्यपि गाधीजी मूलत धर्म-निष्ठावान तथा ईश्वर मे अटूट श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति थे, उनके विचारो का केन्द्र मनुष्य ही था। वे मनुष्य की सर्वतोमुखी प्रगति आध्यात्मिक एव सीमित भौतिकवाद सहित, चाहते थे। यह प्रगति कुछ सीमित व्यक्तियों तक ही नहीं किन्तु समाज के सभी वर्गों को समेटे हुए होनी चाहिये। सर्वोदय उनका उद्देश्य था।

महात्मा गाधी ने उन सभी सिद्धान्तों को ठुकरा दिया जिसमे सम्पूर्ण समाज की भलाई की बात नहीं कही जाती। उपयोगितावाद एव उदारवादी विचारधारा थी किन्तु इसका यह विचार-सूत्र 'अधिकतम लोगो का अधिकतम सुख'— गाधीजी को मान्य नहीं था। वे 'अन्तिम व्यक्ति तक' (Unto This Last) या सर्वोदय मे विश्वास करते थे। उनका सर्वोदय समाज शिखर-वर्ग (summit class) से नहीं, निर्धन वर्ग से प्रारम्भ होता है, जिसमे साधारण से साधारण तथा अवाछनीय व्यक्ति तक की भी अवहेलना नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार गाधीजी ने पूर्व सिद्धान्तों को पूर्ण करने मे योगदान दिया। उनके विचारों से यह प्रेरणा मिलती है कि विधि एव नीतियों का निर्माण किसी वर्ग विशेष या बहुमत के लिये ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण समाज के हित के लिये होना चाहिये। इसमे भी निर्धन वर्ग, जिसे वे 'दरिद्र-नारायण' कहते थे, को प्राथमिकता होनी चाहिये।

महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को नवीन आयाम प्रदान किये। सामान्यतः सत्य और अहिंसा को न तो व्यक्तिगत और न सार्वजनिक जीवन में कोई विशेष महत्व दिया जाता है। महात्मा गांधी ने अपने व्यवहार और कार्य से यह सिद्ध कर दिया कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत व्यवहार का आधार तो है ही, सार्वजनिक क्षेत्र में भी इनकी अवेहलना नहीं की जा सकती।

सत्य और अहिंसा के आधार पर गांधीजी ने सार्वजनिक जीवन को एक धार्मिक आधार प्रदान किया। धर्म एवं राजनीति का समन्वय करने का तात्पर्य धर्मांध विचारों का प्रतिपादन करना नहीं था। गांधीजी के अनुसार धर्म नैतिकता का प्रमुख एवं प्रधान स्रोत है। यदि राजनीति या सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन को नैतिक तथा पवित्र बनाना है तो धर्म के वैज्ञानिकतत्वों को ग्रहण करना ही होगा। महात्मा गांधी ने राजनीति का आध्यात्मिकीकरण (Spiritualisation of Politics) करने का जो प्रयत्न किया वह आज की स्वार्थपरायण राजनीति के कचड़े को साफ करने में अत्यन्त सहायक हो सकता है। डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है कि गांधीजी एक क्रान्तिकारी चिन्तक थे, उन्होंने राजनीति को शुद्ध बनाने के लिये मानव स्वभाव के परिवर्तन में महत्वपूर्ण योगदान दिया।[86]

महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा जैसे मूक सिद्धान्त एवं अस्त्रों का एक महान शक्ति के रूप में प्रयोग किया। अहिंसा को गांधी जी एक ऐसी शक्ति मानते थे जिसका पारिवारिक जीवन से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तक प्रत्येक परिस्थिति में प्रयोग किया जा सकता है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद को भारत से उखाड़ फैंकने में सत्याग्रही साधनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। आज भी अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह का प्रयोग किया जाता है। अमेरिका में अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये बहुत से नीग्रो नेताओं द्वारा तथा अफ्रीका में श्वेत शासन के विरुद्ध समय समय पर विभिन्न सत्याग्रही साधनों का प्रयोग अब एक सामान्य सा प्रचलन बनता जा रहा है।

महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन जिस कुशलता से किया उसने स्वतन्त्रता प्राप्ति को किसी सीमा तक सरल बना दिया। उन्होंने यह बिलकुल समझ लिया कि अंग्रेजी साम्राज्य का सामना सिर्फ सत्य और अहिंसा से ही किया जा सकता है। इसके अलावा राष्ट्रीय कांग्रेस को भी उन्होंने एक समन्वयात्मक संस्था बनाये रखा। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय कांग्रेस पार्टी में कई बार सैद्धान्तिक एवं व्यक्तिगत मतभेद हुए किन्तु गांधीजी ने विभिन्न तथा विरोधी विचारों को एकरूप एवं समन्वय करने की अपूर्व क्षमता थी। डा. राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है कि इन क्षमता के ही कारण कांग्रेस पार्टी कई बार विघटित होने होते बची। कांग्रेस पार्टी के मंच पर सभी विचारधाराओं को एकत्रित कर एकरूप बनाना गांधीजी के ही वश की बात थी।[87]

---

86. Radha Krishnan, S, Mahatma Gandhi, 100 Years, p. 1.
87. Pyarelal, Mahatma Gandhi: The Last Phase, Vol I, p. X (from Introduction by Dr. Rajendra Prasad)

स्वराज प्राप्ति तथा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन करने में महात्मा गांधी ने एक अत्यन्त ही निपुण आन्दोलन-कौशल (tactician), दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, और अनुभवी मनोवैज्ञानिक व्यक्ति का परिचय दिया। भारतीय जनता का नेतृत्व करने के लिये यह आवश्यक था कि व्यक्ति सही अर्थ में भारतीय परम्परा का प्रतीक हो। नेतृत्व करने वाला व्यक्ति नैतिक शक्ति में दूसरों से श्रेष्ठ होने के साथ साथ सामान्य एवं साधारण जनता से अलग न हो। सत्य एवं अहिंसा का राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रयोग कर महात्मा गांधी ने एक महान एवं श्रेष्ठतर आत्म शक्ति का उपयोग किया जिसने साम्राज्यवादियों को घुटने टेकने के लिये विवश ही नहीं किया बल्कि प्रतिद्वन्द्वियों ने भी गांधी जी प्रशंसा की। दक्षिण अफ्रीका में उनके प्रमुख विरोधी जनरल स्मट्स (F. M. Smuts) ने भी गांधीजी को 'विश्व का एक महान व्यक्ति' बतलाया।[88] गांधीजी के नेतृत्व के विषय में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं परमाणु शक्ति के जनक अलबर्ट आइन्स्टीन (Albert Einstein) ने एक बार कहा था.—

> "गांधी ने यह प्रदर्शित कर दिया कि एक शक्तिशाली मानव समूह को, चालाकी या चालबाजी द्वारा ही नहीं, जैसा कि सामान्य राजनीति में किया जाता है, किन्तु जीवन आचरण के श्रेष्ठ नैतिक उदाहरण द्वारा संगठित किया जा सकता है। इस पूर्ण नैतिक पतन के युग में गांधी ही एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जो राजनीतिक क्षेत्र में उच्च मानवीय सम्बन्धों पर दृढ़ रहे।"[89]

महात्मा गांधी यह भी अच्छी तरह समझते थे कि भारतीय जनता से किस प्रकार अपील की जाय तथा किस प्रकार उनके मस्तिष्क को प्रभावित किया जाय। इसलिये उन्होंने सबसे पहिले स्वयं और जनता के मध्य की दूरी को समाप्त किया। उन्होंने अपने को भारत के निर्धन एवं दलित वर्ग से पूरी तरह मिला लिया। गांधीजी ने निर्धन वर्ग जैसी ही वेष भूषा को ग्रहण किया तथा एक दिन में अपने भोजन में कभी भी पांच खाद्य चीजों से अधिक न खाने का प्रण लिया था।[90]

उनकी भाषण पद्धति पूर्णत: भारतीय शैली पर आधारित थी। प्रार्थना सभाओं में अपने विचार व्यक्त करना, धार्मिक उदाहरण देकर सामान्य जनता को समझाकर उन्हें विश्वस्त करना आदि से भारतीय जनता बिना प्रभावित हुए न रह सकी। महात्मा गांधी ने भारतीयकरण का सही स्वरूप प्रस्तुत किया। परिणामस्वरूप वे बड़े लोकप्रिय हुए तथा लगभग सम्पूर्ण देश का प्रभावशाली नेतृत्व कर सके।

---

88. *Pyarelal Mahatma Gandhi, The Last Phase, Vol. 1, p 11,*
आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 709.
89. Quoted by Louis Fischer in The Life of Mahatma Gandhi, Jonathan Cape, London, 1951, p 22-23.
90. Kulkarni, J. B, The Indian Triumvirate, p. 227.
Kriplani, J. B. Gandhi. His Life and Thought, p. 344.

गांधीजी के आदर्श समाज मे राज्य अनावश्यक है। किन्तु आदर्श समाज की प्राप्ति जब हो सकती है यदि व्यक्ति पूर्ण हो तथा दूसरो के प्रति अपने कर्तव्यों को समझे। गाधीजी का विचार था कि इस अवस्था की प्राप्ति मे काफी समय लगेगा। इसलिए तब तक के लिए राज्य अनावश्यक होते हुए भी आवश्यक हैं। गाधीजी ने राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप मे ही स्वीकार किया है। चूंकि राज्य एक बुराई है इसलिए इसमे सुधार आवश्यक है। व्यावहारिक रूप मे गाधीजी जिस राज्य को स्वीकार कर सक्ते है वह 'अहिंसात्मक राज्य (non violent state) ही हो सकता है।[91]

राज्य के विषय मे गाधीजी के विचार अराजकतावादी हैं। इस सम्बन्ध मे दो मत नही हो सकते कि तत्कालीन परिस्थितियो मे राज्य के बिना सिर्फ कार्य ही नही चल सकता, वरन् राज्य को व्यापक अधिकार भी देने पडते हैं। आजकल प्रत्येक राज्य विभिन्न सकारात्मक कार्य करता है ताकि जन-कल्याण में अभिवृद्धि हो सके। *यहाँ तक तो गाधीवाद परिस्थितियो के अनुकूल नही लगता। किन्तु गाधीवाद मे जो* सत्यता है उसकी अवहेलना नही की जा सकती। इसमे सन्देह नही कि राज्य के व्यापक अधिकार होने चाहिए परन्तु इतने व्यापक नहीं कि राज्य अधिनायकवादी बन जाय तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अतिक्रमण होता रहे। गाधीवाद का महत्व इसी क्षेत्र मे है। वे तत्वतः राज्य की अधिनायकवादी प्रवृत्ति के जितने विरुद्ध थे उतने राज्य सस्था के नही।

महात्मा गाधी ने आर्थिक एव राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रो मे स्वतन्त्रता एवं समानता को सन्तुलित करने का प्रयत्न किया। सम्भवतः आलोचक इस तथ्य को समझने मे त्रुटि करते हैं। गाधीवाद का यह तत्व तो पूर्ण विदित है कि वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। किन्तु वे यह भी स्वीकार करते थे कि *आर्थिक स्वतन्त्रता एव समानता के बिना अन्य सभी अधिकार खोखले एव व्यर्थ हैं।* यही कारण है कि उन्होने व्यक्ति, ग्राम, तथा देश को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के लिए कई योजनाओ को कार्य रूप दिया। उनका स्वदेशी सिद्धान्त, गृह उद्योगो का समर्थन, चरखा एव कताई का महत्व, वर्ण व्यवस्था का पेशेवर आधार, शिक्षा एव श्रम का सम्बन्ध स्थापित करना आदि, इसी धारणा की अभिव्यक्ति हैं। किन्तु वे आर्थिक प्रगति का उस सीमा तक ही समर्थन करते थे जहाँ तक कि वह मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यक हो। वे व्यक्ति या राज्य को भौतिकवादी नही बनने देना चाहते थे।

विश्व के सभ्य समाज तथा लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओ को महात्मा गाधी का एक और मुख्य योगदान साधनों के क्षेत्र मे है। उन्होंने इस विचार को कभी भी

---

91. Ghosal, H. R., in Gandhian Concept of State, edited by B. B. Majumdar, Bihar University, Patna, 1957, p. 156.

मान्यता नही दी कि अच्छे साध्यों की प्राप्ति किसी भी प्रकार के साधनो द्वारा हो सकती है। उनकी दृष्टि मे साध्य तो श्रेष्ठ होना ही चाहिये किन्तु उनकी प्राप्ति भी पवित्र साधनों से होनी चाहिये। यदि साधन ठीक नहीं है तो उपलब्ध साध्यों का कोई महत्व नहीं।

भारत में कई समाज सुधारक हुए हैं। महात्मा गाधी इन समाज सुधारकों मे सम्भवत. सबसे महान थे। उन्होंने समाज से ऊँच-नीच, छुआ-छूत, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, तथा देवदासी प्रथा का डट कर विरोध किया। महिला उत्थान के अलावा उनकी विशेष दिलचस्पी हरिजन उद्धार, नशाबन्दी तथा गौ-वध पर प्रतिबन्ध लगाने मे थी। भारत मे दलित वर्ग, पिछड़ी जातियों तथा हरिजनो के लिए जितना कार्य गाधीजी ने किया अन्य किसी समाज सुधारक ने नही किया। इनके लिये तो वे एक पैगम्बर जैसे ही थे।

गाधीजी ने श्रम को जो महत्ता दी तथा उनका **'रोटी के लिये श्रम'** सिद्धान्त अपने आप मे क्रान्तिकारी विचार है। भारत मे सामान्यतः शिक्षित वर्ग में शारीरिक श्रम के प्रति घृणा पाई जाती है। उनमे 'बाबूगिरी' या 'साहबपन' की बू निरन्तर घर करती जा रही है। गाधीजी ने इस मनोविज्ञान की घोर निन्दा की। वे नहीं चाहते थे कि भारतीयों मे शारीरिक श्रम के प्रति उदासीनता हो, तथा देश मे श्रम करने वालों की उपेक्षा हो। आज के संदर्भ मे श्रम की प्रतिष्ठा और भी महत्वपूर्ण है।

गाधीवाद के योगदान के विषय मे आचार्य कृपलानी के समग्र विचारों को देना उचित प्रतीत होता है। निष्कर्ष रूप मे आचार्य कृपलानी ने लिखा है—

> "राजनीति का सत्य, अहिंसा और साधनो की पवित्रता द्वारा आध्यात्मिकीकरण करके, अन्याय एव निरकुंशता का सत्याग्रह द्वारा सामना कर, तथा अपने रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा गाधीजी ने सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन का सयोग एव समन्वय करने का प्रयत्न किया, तथा प्रभावकारी लोकतन्त्र की स्थापना कर उन्होंने न्याय और समानता पर आधारित समाज की नीव डालकर विश्व शान्ति के लिये मार्ग प्रशस्त किया।"[92]

92. Kripiani, J B., Gandhi : His Life and Thought, p.356.

पाठ्य-ग्रन्थ

1.	Andrews, C F.,	Mahatma Gandhi's Ideas.
2.	Bose, N. K.,	Studies in Gandhism
3.	*Dhawan, Gopinath.,*	*The Political Philosophy of* Mahatma Gandhi
4.	Fischer, Louis,	The Life of Mahatma Gandhi.
5.	गांधी, मोहनदास करमचन्द.,	सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा
6.	Kriplani, J. B ,	Gandhi His Life and Thought
7.	Kulkarni, V B.	The Indian Triumvirate, Chapter 7, Gandhi: An Appraisal.
8.	*Mashruwala, K. G.,*	*Gandhi* and Marx.
9,	Pyarelal.,	Mahatma Gandhi, Phase, Vols. I. II.
10.	Radhakrishnan, S (Ed.),	Mahatma Gandhi· 100 Years.
11.	Tandulkar, D. G ,	Mahatma, Vols. V. and VII.

सर्वोदय

क्रान्ति का समग्र-दर्शन[1]

स्वाधीनता के उपरान्त सर्वोदय दर्शन ने भारतीय जन-मानस को काफी प्रभावित किया है। स्वाधीनता संग्राम के युग में देशवासियों की आकांक्षा थी कि स्वतन्त्र भारत में एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जाय जो स्वतन्त्रता, समता और न्याय पर आधारित हो। महात्मा गांधी इन आकांक्षाओं के मूर्तरूप थे जिन्हें उन्होंने 'सर्वोदय' शब्द से व्यक्त किया। वे चाहते थे कि सत्य एवं अहिंसा पर आधारित वर्ग-विहीन जाति-विहीन तथा शोषण-मुक्त समाज की स्थापना की जाय जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह को अपने सर्वाङ्गीण विकास के अवसर एवं साधन प्राप्त हों। यही सर्वोदय का लक्ष्य था, यही गांधीवाद का रचनात्मक पक्ष था।[1]

विकास

सर्वोदय का आदर्श हमारे लिये कोई नया नहीं है। विचार के साथ-साथ यह शब्द भी प्राचीन है। दो हजार वर्ष पूर्व जैनाचार्य समंतभद्र ने सर्वोदय-तीर्थ की भावना व्यक्त करते हुए कहा था:—

'सर्वापदामंतकरं निरंतं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव'

(सर्वोदय अन्तरहित [और] सब आपत्तियों का विनाशक [है] यह तेरा तीर्थ-निस्तारक ही [है]।)

गीता में 'सर्वभूतहिते रता' का भी तात्पर्य सर्वोदय है। ऋषियों की यह प्रार्थना सैकड़ों वर्ष पुरानी है, जिसमें कहा गया है कि—

'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामया'।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

(सब ही सुखी हों। सब नीरोग हों। सब मंगलों का दर्शन करें। कोई भी दुःख न पाये)

रस्किन (John Ruskin) की पुस्तक—Unto This Last—का गांधीजी के विचारों तथा सर्वोदय दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। रस्किन की इस पुस्तक का सार है कि—

1. ईमानदारी के प्रति श्रद्धा रखना तथा धन का ईमानदारी के साथ ही उपार्जन करना चाहिये।

---

1 सर्वोदय के विषय में डा. इन्दु टिकेकर की पुस्तक का नाम 'क्रान्ति का समग्र दर्शन' है। यह शीर्षक उस पुस्तक पर ही आधारित है।

2. डाक्टर, लेखक या सिपाही आदि सभी की देश के लिये समान सेवा होती है।

3. सम्मान का मूल सद्भावना और सहानुभूति है।

4. समाज में विद्रोह सम्पत्ति के दुरुपयोग पर निर्भर करता है।

5. निर्धन का शोषण चोरी है।

रस्किन के विचारों का गांधीजी ने त्रि-सूत्री सार इस प्रकार दिया है:

प्रथम, व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में ही निहित होता है।

द्वितीय, वकील के कार्य की कीमत भी नाई के काम की कीमत के समान ही है, क्योंकि हर एक को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

तृतीय, श्रमिक का अर्थात् किसान अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।[2]

लेकिन जिस विचार का गांधीजी पर विशेष प्रभाव पड़ा वह था कि "सम्पत्ति निर्धनों की ओर बहनी चाहिये।" रस्किन ने लिखा था—

> "सम्पत्ति तो नदी की तरह प्रवाहशील होती है। नदी समुद्र की ओर अर्थात् उतार की तरफ बहती है। उसी तरह सम्पत्ति का प्रभाव भी उतार की दिशाओं में अर्थात् गरीबों की ओर बह निकले, तो वह निःसन्देह जीवनदायी एवं सुखदायी सिद्ध होगा।"[3]

यह विचार रस्किन की पुस्तक का मूलमन्त्र था तथा यही गांधीजी का सर्वोदय था।

जिस अर्थ में आज सर्वोदय एक प्रेरक शक्ति बन गया है, उस अर्थ में उसका सर्वप्रथम उपयोग गांधीजी ने ही किया था। रस्किन की पुस्तक का उन्होंने गुजराती में संक्षिप्त अनुवाद किया था तथा इसकी भूमिका में गांधीजी ने लिखा है:—

> "रस्किन की इस पुस्तक का मैंने शब्दशः अनुवाद नहीं किया है, केवल सार दिया है। प्रत्येक शब्द का अनुवाद किया जाता, तो यह सम्भव था कि बाइबल आदि ग्रन्थों के कितने ही दृष्टान्त पाठकों की समझ में न आते। मूल अंग्रेजी पुस्तक के नाम का भी शब्दशः अनुवाद नहीं किया है: क्योंकि उसका भी अर्थ केवल वही पा सकते हैं, जिन्होंने अंग्रेजी में बाइबल पढ़ी है और इस पुस्तक का उद्देश्य तो सबका उदय यानी उत्कर्ष करने का है, अतः मैंने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।"[4]

इस प्रकार सर्वोदय 'शब्द' और 'विचार' दोनों का ही अभ्युदय हुआ। आगे चलकर भारतीय स्वाधीनता संग्राम के सन्दर्भ में जैसे-जैसे 'स्वराज' के आंतरिक

2. शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 43.

3. उद्धृत, शंकर राव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 25.

4. उद्धृत, शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र पृ. 8.

तत्वों मे विस्तार हुआ वैसे-वैसे रचनात्मक कार्यों के सन्दर्भ मे सर्वोदय के विभिन्न सूत्रों का विकास होता चला गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद ही गांधीजी अपने आन्दोलन के दूसरे और वृहत्तर पहलू को कार्यान्वित करने के लिये किसी राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम की अपने मन मे योजना बना रहे थे। महात्मा गाधी को यह अवसर नही मिल पाया कि वे समाज बदलने और उसके पुनर्निर्माण की अपनी अहिंसक पद्धति का दर्शन करा सकते। 'स्वराज' को व्यावहारिक रूप देने का जैसे ही अवसर आया, मौत ने उन्हे हमारे बीच से छीन लिया। इसमे सन्देह नहीं कि भावी रचनात्मक कार्य के लिये गाधीजी ने बहुत कुछ कहा और लिखा। साथ ही साथ उन्होंने अपने भावी कार्यक्रमों की बुनियाद डालना लगभग उसी समय से प्रारम्भ कर दिया था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व 'स्वराज' शब्द से लोगो को प्रेरणा मिलती रही। 'स्वराज' शब्द इतना व्यापक था कि इसमे देश का स्वाधीनता सग्राम, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम सभी सन्निहित थे। फिर भी गाधीजी अपने रचनात्मक कार्यक्रम तथा स्वराज्य के उपरान्त 'मेरे सपनो का भारत' को एक नये ही शब्द मे ढालना चाहते थे। अन्त मे उन्हें वह शब्द मिल गया जिसे सर्वोदय कहते हैं। सर्वोदय वास्तव मे स्वराज्य के आगे की कड़ी है।

सर्वोदय गाधीवाद का रचनात्मक विस्तार है। गाधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम ऐसे समाज की स्थापना का कार्यक्रम है जो प्रेम और अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप हो। देश जैसे-जैसे स्वतन्त्रता के निकट आता गया गाधीजी अपने रचनात्मक कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न करने लगे। यहा दो बातो का उल्लेख आवश्यक है। प्रथम, स्वतन्त्रता सग्राम मे गाधीजी ने अपना सर्वस्व जीवन न्यौछावर कर दिया था। वे राष्ट्र के कर्णधार थे, उनके मार्गदर्शन से देश स्वतन्त्र हुआ। किन्तु अपने आदर्श के अनुरूप देश का पुनर्निर्माण करने के लिये सत्ता अपने हाथ मे नहीं ली। द्वितीय, उनका प्रस्ताव था कि स्वाधीनता के उपरान्त काग्रेस को राजनीतिक क्षेत्र से हटकर स्वय को 'लोक सेवा संघ' मे समेट लेना चाहिये। सच्चे गाधीवादी अनुयायियो को इनसे बडी प्रेरणा मिली। किन्तु इसी समय गाधीजी हमारे बीच नही रहे उनकी मृत्यु के बाद उनके विचार ही उनकी अन्तिम इच्छा और वसीयत बन गये।

महात्मा गाधी के विचार दूरगामी तथा श्रेष्ठ आदर्श की अभिव्यक्ति थे। जैसा कि डा राधाकृष्णन ने लिखा है, उनके विचार ऐसे नही थे कि उनकी मृत्यु के बाद उनका रग उतर जाय या मुरझा जाये।[5] डा राजेन्द्र प्रसाद की कामना थी कि कोई राष्ट्र या व्यक्ति अवश्य ही जाग्रत होगा जो गाधीजी द्वारा चलाये गये सत्य के प्रयोगो को आगे बढ़ा कर उन्हे पूरा करेगा ताकि उनके उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके।[6] काग्रेस

5 Radhakrishnan S. (Ed) Mahatma Gandhi, 100 Years, p.I
6 Pyarelal, Mahatma Gandhi, the Last phase, vol 1, Introduction by Dr. Rajendra Parsad, D XVI.

पार्टी के प्रमुख नेताओं ने सत्ता से अलग होना व्यावहारिक नहीं समझा। आखिर फिर देश का शासन कौन चलाता ?

राजनीति में जो गांधीवादी थे, या जिन्हें गांधीवाद में श्रद्धा थी वे अवश्य ही गांधीवादी रचनात्मक कार्यों को आगे बढ़ते हुए देखना चाहते थे। इसलिए कुछ गांधीवादियों ने स्वयं को राजनीति से अलग रख कर रचनात्मक कार्यों को अपने हाथों में ले लिया, ताकि किसी सीमा तक 'मेरे सपनों का भारत' को व्यावहारिक रूप दिया जा सके।

अंग्रेजों ने भारत में काफी गहरे पैर जमाने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के समक्ष झुकना ही पड़ा। वे शान्तिपूर्वक देश छोड़कर चले गये। भारत से अंग्रेजों के जाने से गांधीजी का एक महान उद्देश्य पूरा हुआ। अब भारत का भविष्य भारतवासियों के हाथों में आ गया। किन्तु इस देश के ही आर्थिक, सामाजिक अन्याय का यदि उन्मूलन करना था तो उसके लिये क्या करना चाहिये था। अपने देश में भी राजे-महाराजे, उच्चवर्गीय अमीर, पुलिस, गुण्डे आदि सभी थे। शोषण तथा संघर्ष भी कई रूप में विद्यमान था। यद्यपि सरकार इनका सामना करने के लिये कृत-संकल्प थी, गांधीवादी यह मानते थे कि इन समस्याओं का सही ढंग से समाधान करना सरकार के बस की बात नहीं थी। इसके लिये नये सत्याग्रह की आवश्यकता थी। इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए कुछ रचनात्मक कार्यकर्ता मार्च 1948 में सेवाग्राम में एकत्रित हुए। आचार्य विनोबा भावे इन कार्यकर्त्ताओं में अग्रणीय थे तथा उनके सुझाव पर 'सर्वोदय समाज' की स्थापना हुई। एक वर्ष के उपरान्त ही 'सर्व सेवा संघ' की भी स्थापना हुई जिसका उद्देश्य 'सर्वोदय समाज' के उद्देश्यों को कार्यरूप देना था। लगभग इसी समय वर्धा से एक हिन्दी पत्रिका 'सर्वोदय' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो बाद में कई भाषाओं में प्रकाशित होने लगी। इस प्रकार गांधीजी के बाद सर्वोदय विचारधारा ने सक्रियता ग्रहण की।

सर्वोदय का अर्थ

सर्वोदय के अर्थ के विषय में इस विचारधारा के जनक महात्मा गांधी के विचारों को सर्वप्रथम जानना आवश्यक है। गांधीजी के निम्नलिखित शब्दों से सर्वोदय का मूल एवं आधार स्पष्ट हो जाता है। गांधीजी ने अपनी पुस्तक 'सर्वोदय' की भूमिका में लिखा है—

> "पश्चिम के देशों में साधारणतः यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगों का सुख—उनका अभ्युदय बढ़ाना मनुष्य का कर्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसे का सुख लिया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होते हों तो इसकी अधिक परवाह नहीं की जाती। इसी तरह बहुसंख्यक लोगों को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग थोड़ों को दुःख पहुँचाकर भी बहुतों को सुख दिलाने

मे कोई बुराई नही मानते। इसका फल हम पश्चिम के सभी देशों मे देख रहे हैं। किन्तु पश्चिम के कितने ही विचारवानों का कहना है कि बहुसख्यक मनुष्यो के शारीरिक और आर्थिक सुख के लिए यत्न करना ही ईश्वर का नियम नही है। केवल बहुसख्यकों के लिए ही यत्न करें तथा उसके लिए नैतिक नियमो को भंग किया जाय, यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण है।"[7]

गाधीजी के विचारो से स्पष्ट है कि वे 'बहुमत का सुख' या 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' वाले सिद्धान्तों को पूर्णत. अस्वीकार करते हैं। उनका ध्येय तो समाज के सभी व्यक्तियों का सुख है, जिसे वे सर्वोदय कहते थे।

इस समय सर्वोदय के अग्रणीय विचारक आचार्य विनोबा भावे ने सर्वोदय की एक दूसरे ही दृष्टिकोण से व्याख्या कर उसे व्यापक बनाने का प्रयत्न किया हैं। सर्वोदय की व्याख्या करते हुए विनोबा भावे ने कहा है—

> "सर्वोदय का एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है। हम जैसे-जैसे इसका प्रयोग करते जायेंगे, वैसे-ही-वैसे उसके और भी अर्थ निकलेंगे। लेकिन यह उसका कम से कम अर्थ है। इसी से यह प्रेरणा मिलती है कि हमें अपनी कमाई का खाना चाहिए, दूसरों की कमाई का नही खाना चाहिये। हमें अपना भार दूसरे पर नही डालना चाहिए।"[8]

यहाँ विनोबा भावे ने स्वय श्रम की महत्ता को सर्वोदय का प्रमुख तत्व माना है। मनुष्य को अपने जीवनयापन के लिये दूसरे के श्रम का शोषण नही करना चाहिये। एक अन्य सदर्भ मे उन्होने कहा है कि मनुष्य को भौतिकवादी नहीं होना चाहिये। उसे स्वर्ण-माया का दास बन कर नही रहना चाहिये। सम्पत्ति एव सग्रह मनुष्यो के पारस्परिक प्रेम मे बाधा है। लेकिन हम एक सादी सी बात समझ लें तो वह सध जायगा। हर एक व्यक्ति दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखे, जिससे दूसरे को तकलीफ हो। परिवार मे भी यही चलता है। परिवार का यह न्याय समाज पर लागू करना कठिन नही, आसान होना चाहिये। इसी को 'सर्वोदय' कहते हैं।[9] सर्वोदय के प्रमुख व्याख्याता शकरराव देव ने सर्वोदय को निम्नलिखित ढग से स्पष्ट किया है:—

> "*सर्वोदय का सीधा और सरल अर्थ है 'सबका उदय'-'सबका विकास'* अर्थात् 'सबका हित'। 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख' वाला तत्त्वज्ञान सर्वोदय स्वीकार नहीं करता। हमारी संस्कृति में मनुष्य को

7. शकर राव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 7.
8. विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, पृ. 347.
9. उपर्युक्त, पृ. 347.

सब भूतो के हित मे रत रहना चाहिये—'सर्वभूतहिते रताः'। एक मनुष्य का हित दूसरे मनुष्य के हित के विपरीत नही हो सकता, सबका हित एक दूसरे के हित के अनुकूल ही हो सकता है, यह सर्वोदय का विचार है।"[10]

सुप्रसिद्ध गाधीवादी एव सर्वोदय चिन्तक दादा धर्माधिकारी सर्वोदय की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि—

> "सर्वोदय का नाम भले ही नया हो, पर उसका अर्थ सबका जीवन सम्पन्न हो, इतना ही है। जीवन का अर्थ है कि विकास हो, अभ्युदय हो, उन्नति हो। विकास हो, इसलिये 'सर्वोदय'। लेकिन पुरान जमाने में 'अभ्युदय' शब्द का प्रयोग 'ऐच्छिक वैभव' इतने अर्थ तक ही सीमित था। इसलिये गाधीजी ने केवल 'उदय' शब्द का प्रयोग किया। एक साथ समान रूप से सबका उदय हो यही सर्वोदय का उद्देश्य है।"[11]

सर्वोदय दर्शन

जिस प्रकार गाधीजी ने अपने विचारो को किसी 'वाद' का रूप नही दिया, उसी प्रकार सर्वोदय चिन्तको ने भी सर्वोदय को किसी 'वाद' या दर्शन के रूप मे प्रस्तुत नही किया। वैसे सर्वोदय के विभिन्न स्वरूपो का समग्रता से स्पर्श करने वाला एक नया दर्शन खडा करने का प्रयत्न किया जाय तो यह आसानी से हो सकता है। लेकिन सर्वोदय विचारक स्वय ही यह नही चाहते। यह चीज भी अपने मे एक महत्वपूर्ण सकेत रखती है। "जो मानव के दु ख निवारण का कायल होता है, वह कभी तर्कप्रधान दर्शन का ढाचा, वाद या 'आइडियालॉजी' तैयार करने मे नहीं लगता। आगे चल कर ये ही स्वतन्त्रचेता मनुष्य के लिये पजर (पिंजडे) बन जाते हैं तथा प्रवाही जीवन के सहज विकास मे रुकावट डालते हैं।"[12]

यह पहले ही स्पष्ट है कि सर्वोदय दर्शन का आधार गाधीवाद ही है। आधुनिक परिस्थितियो मे यह गाधीवाद का ही विकसित रूप है। इस प्रकार सर्वोदय दर्शन के सूत्र गाधीवादी सिद्धान्तो से अभिन्न है। गाधीवाद की भाति सर्वोदय का मूल सत्य एव अहिसा है। इसमे ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, स्वदेशी, ट्रस्टीशिप आदि सभी सिद्धान्तो को पूर्णत स्वीकार किया गया है। राज्य, विकेन्द्री-व्यवस्था, व्यक्ति-महत्त्व आदि के विषय मे सर्वोदय गाधीवाद का ही विस्तार है। किन्तु कुछ पक्षो मे सर्वोदयी चिन्तको ने अभिवृद्धि की है, जिससे सर्वोदय का अपना स्वय का एक विकसित रूप हमारे सामने आता है। अगले कुछ पृष्ठो मे इन्ही पक्षो को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

---

10. शकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 5.
11. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, पृ. 23.
12. इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ. 2.

राज्य विलयन

राज्य के विषय में महात्मा गाधी के विचार आदर्शवादी और व्यावहारिक दोनो ही थे। एक आदर्श के रूप मे वे राज्य के पूर्ण उन्मूलन के पक्ष में थे। एक व्यावहारिक होने के नाते वे फिलहाल राज्य के अधिकारो को अत्यन्त ही सीमित कर देना चाहते थे। किन्तु सर्वोदयी विचारकों ने इस सम्बन्ध मे पूर्णतः अराजकतावादी आदर्श ग्रहण कर लिया है। सर्वोदयी चिन्तकों का विश्वास है कि राज्य संस्था के होते हुए सर्वोदयी समाज की स्थापना नही हो सकती। वे राज्य के कार्य-क्षेत्र और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को गहरी शका और भय की दृष्टि से देखते हैं। इसके अलावा, वे सत्ता के विकेन्द्रीकरण को भी सर्वोदय समाज रचना के लिये उत्साह जनक नही मानते। सर्वोदय का उद्देश्य शासन से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करना है जिसके लिये राज्य का उन्मूलन आवश्यक है।

मार्क्सवाद के अनुसार साम्यवादी व्यवस्था राज्य-रहित होगी। सर्वोदय उद्देश्य मार्क्सवाद से भिन्न नही है। किंतु जिस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धान्तो पर आधारित कई देशो मे साम्यवादी क्रान्तियाँ हुई हैं वे शासन राज्य उन्मूलन की ओर नही, अधिनायकवाद की ओर अग्रसर हुए हैं। सर्वग्रासी सत्ता के मार्ग में राज्य विलयन का मुकाम कभी नही आ सकता। सर्वोदय विचारक मानते हैं कि सर्वोदय के अन्तर्गत राज्य विलयन सम्भव है। सर्वोदय मे सत्ता, दल नियन्त्रण आदि मे कोई विश्वास नहीं किया जाता। 'सर्वोदय समाज' स्वय ही अपनी सस्थाओ एव सेवकों पर कोई नियत्रण नही करता। उनका कहना है कि जहा प्रेम एव सहयोग है, वहा शासन की कल्पना नहीं की जा सकती।[13] मनुष्य जब बिना किसी प्रकार के बाह्य दबाव या अकुश के अपने साथियो मे बन्धुत्व, न्याय और सहयोग के साथ रहने के योग्य हो जायगा इसका तात्पर्य होगा कि उसका विकास हो गया है। मनुष्य मे बिना किसी प्रकार बाह्य दबाव या अकुश के अपने साथियों के मध्य सहयोग एवं न्यायपूर्वक रहने की क्षमता को विकास की कसौटी मानते हैं। सर्वोदयी विचारकों का कहना है कि वे इस ओर अग्रसर हो रहे हैं तथा राज्य विलयन के सिद्धान्त को सम्भव बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।[14]

दल-विहीन व्यवस्था

अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये सर्वोदयी विचारक परम्परागत राजनीतिक साधनो मे विश्वास नही करते। इसी कारण वे दल-पद्धति को कोई महत्व नही देते सर्वोदय विचारधारा दलगत राजनीति से पूर्ण पृथक है। उनके निश्चित मान्य

13. विनोबा, व्यक्तित्व और विचार, पृ. 409-10.
  शकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 10
14. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 49-51.

एवं निश्चित साधन सिद्धान्त हैं, इसलिये समाज को विभिन्न उद्देश्यों के अनुसार दल-विभाजन की कोई आवश्यकता नही। यह सम्पूर्ण समाज को अपने साथ लेकर चलने वाली विचारधारा है।

महात्मा गाधी ने अपना सारा जीवन राजनीति मे बिताया, किन्तु वे परम्परागत अर्थ मे राजनीतिज्ञ नही थे। गाधीजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया तथा वे केवल इस दृष्टि से राजनीतिज्ञ थे क्योकि इस आन्दोलन का लक्ष्य राष्ट्रीय स्वाधीनता था। वह किसी दल के लिये सत्ता का आन्दोलन नही था। "यदि उसका लक्ष्य सत्ता था तो वह सत्ता पूरे भारतवर्ष की जनता के लिये थी। इसमे वे लोग भी सम्मिलित थे जो पाकिस्तान बनाने के लिये अलग हुए, और दोनो हिन्दुस्तानो मे जितने दल मौजूद थे, वे और जो भविष्य मे बनेंगे, वे भी सम्मिलित थे। गाधीजी किसी दल के नेता नही थे जो अपने दल की सत्ता के लिये लडते और दाव-पेच खेलते। यदि ऐसा होता, तो उनके मन में काग्रेस को सत्तावादी राजनीति छोडने की बात कहने का कभी विचार ही न आता।"[15]

गाधीजी के निर्दलीय विचार सर्वोदय के लिये प्रेरणा है। सर्वोदय विचारधारा के प्रचार के लिये 'सर्वोदय समाज' तथा अन्य सस्थाएँ जैसे 'सर्व-सेवा सघ' आदि की स्थापना की गई। ये सभी गैर राजनीतिक सस्थाएँ हैं। इसका तात्पर्य है कि 'सर्वोदय समाज' स्वय मे कोई राजनीतिक दल नहीं है। यह एक अत्यन्त ही मुक्त संस्था है। कोई भी व्यक्ति यह चाहे किसी राजनीतिक दल का हो सर्वोदय समाज का सदस्य बन सकता है, और न ही प्रशासनिक कर्मचारियों पर ही कोई प्रतिबन्ध है। वे भी इसके सदस्य बनने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

श्री जयप्रकाश नारायण जो समाजवादी दलों के शीर्षस्थ एवं सक्रिय सदस्य रहे हैं, अब दलीय पद्धति के कटु आलोचक हैं। "दलीय राजनीति का," श्री जयप्रकाश नारायण ने लिखा है, "परम्परागत स्वभाव है। सत्ता के लिये उसमें सब तरह से निर्बल और दूषित कर देने वाले सघर्ष होते ही हैं, यही बात मुझे अधिक चिन्तित करने लगी। मैंने देखा धन सगठन और प्रचार के साधनों के बल पर विभिन्न दल कैसे अपने को जनता के ऊपर लाद देते हैं, कैसे जनतन्त्र यथार्थ मे दलीय-तन्त्र अपने क्रम से स्थानिक चुनाव समितियां और निहित स्वार्थों से सम्बद्ध गुटों का राज्य बन जाता है; किस प्रकार जनतन्त्र केवल मतदान मे सिमिट और सिकुड कर रह जाता है"[16] आज की दल पद्धति जनतन्त्र को अवास्तविक बना देती है।

सर्वोदय मे दल पद्धति को लोकनीति और जनशक्ति के विकास मे बाधक माना जाता है, सर्वोदय समाज की स्थापना मे जो स्वतन्त्रता और अभिक्रम

15. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 45-46
16. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 46.

(initiative) की अत्यन्त आवश्यकता है, उसे दलीय पद्धति कुंठित कर देती है। "दलीय पद्धति लोगों को भेड़ों की स्थिति में ला देना चाहती है, जिनका एकाधिकार केवल नियत समय पर गडेरियों को चुन लेना है, जो उनके कल्याण की चिन्ता करेंगे।"[17] इस प्रकार इस प्रणाली में स्वतन्त्रता का कहीं दर्शन नहीं होता। यह स्वराज्य स्थापित करने और अपनी व्यवस्था अपने आप संभालने में कभी भी सहायक नहीं हो सकती।

सर्वोदय की दल-विहीन विचारधारा लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अव्यावहारिक है, किन्तु भारत में कम से कम स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं के चुनावों में इसका प्रभाव अवश्य ही दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतः भारत के सभी राजनीतिक दल यह स्वीकार करते हैं कि स्थानीय चुनावों में वे अपने प्रत्याशी खड़े न करें। कम से कम एक सीमित क्षेत्र में ही इस विचार को सैद्धान्तिक मान्यता तो मिली ही है।

लोकनीति

सर्वोदय आजकल की प्रचलित राजनीति में विश्वास नहीं रखता। सर्वोदयी चिन्तक आज की राजनीति को राज्य सत्ता, पुलिस और सेना-सत्ता पर आधारित मानते हैं। "यह शस्त्र-सत्ता पर जीती है, कानून की छत्रछाया में बढ़ती है, धन-सत्ता के भरोसे पलती पनपती है और विज्ञान के जरिये विकसित होती है। परन्तु इतने साधनों से सज्जित रहने पर भी *यह शक्ति-प्रतिष्ठान* जनता को सुखी करने में अपने को असमर्थ पाती है।"[18] आज नागरिक सम्प्रदाय और जाति से भिन्न नहीं है। वह सत्ता के लिये सारी शक्ति खर्च कर देता है। सर्वोदयी ऐसी राजनीति का समर्थक है जो दल और सत्ता से मुक्त हो, जिसे विनोबा भावे 'लोकनीति' कहते हैं। राजनीति और लोकनीति में व्यापक अन्तर है। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए प्रमुख सर्वोदयी विचारक श्रीकृष्णदत्त भट्ट ने लिखा है —

'राजनीति में जहां शासन मुख्य है, वहां लोकनीति में अनुशासन, राजनीति में जहां सत्ता मुख्य है, वहां लोकनीति में स्वतन्त्रता। राजनीति में जहां नियन्त्रण मुख्य है वहां *लोकनीति में संयम, राजनीति में जहाँ सत्ता व अधिकारों की स्पर्धा* मुख्य है, वहां लोकनीति में कर्त्तव्यों का आचरण। सर्वोदय का क्रम यही है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर, नियन्त्रण से संयम की ओर और अधिकारों की स्पर्धा की ओर से कर्त्तव्यों के आचरण की ओर बढ़ो।"[19]

क्या संसद द्वारा लोकनीति सम्भव है? गांधीवादी परम्परा का पालन करते हुए सर्वोदयी चिन्तक संसद और आधुनिक प्रतिनिधि प्रणाली के विरुद्ध हैं। वे सम-

---

17. उपरोक्त, पृ. 47.
18. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, श्री कृष्णदत्त भट्ट द्वारा लिखित आमुख, पृ. 90.
19. उपरोक्त, पृ. 90.

छते हैं कि सर्वोदय क्रान्ति संसद के द्वारा सम्भव नही है क्योकि इसमे जिस प्रकार के प्रतिनिधि होते हैं *तथा इनकी जो कार्य-पद्धति है वह संसदीय संस्थाओं को क्रान्ति के* विलकुल ही अनुपयुक्त बना देती है।

लोकनीति मे सरकार को नहीं जनता को प्राथमिकता और प्रमुखता दी जाती है। लोकनीति की स्थापना मे सरकार किसी भी तरह सहायक नही हो सकती। यह तो केवल अ-माध्यम से ही सम्भव है। एक प्रवचन मे विनोबा भावे ने कहा है—

"सरकार इस कार्य मे कुछ नही कर सकती। आखिरकार सरकार एक बाल्टी (*bucket*) *जैसी है, जबकि जनता एक कुए के समान है।* यदि कुए मे ही पानी नही होगा, तो बाल्टी मे कहाँ से आयेगा। हम सीधे पानी की स्रोत-अर्थात् जनता—तक जायेंगे। जो कार्य सरकार नही कर सकती, वह जनता कर सकती है।"[20]

विकेन्द्री व्यवस्था

सर्वोदय के अन्तर्गत तत्कालीन व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए विकेन्द्री व्याख्या का समर्थन किया जाता है। श्री जयप्रकाश नारायण ने अपने ग्रन्थ—"भारतीय राज्य-व्यवस्था की पुनर्रचना के कुछ सुझाव'—में विकेन्द्री व्यवस्था की व्याख्या की है। वे गाधीजी के शब्द उद्धृत करते हुए कहते है.—

"मानवीय जगत असख्य देहातो के व्यापक होते चले जाने वाले वर्तुलो से सम्पन्न सागर के समान रहेगा। यह रचना पिरामिड जैसी चौडे आधार पर चोटी तक चढती जाने वाली नही रहेगी। इसका केन्द्र रहेगा व्यक्ति, जो देहात के लिए मर मिटने को तैयार होगा। हर देहात देहातो के समूह के हित के लिए अपना स्वार्थ पीछे रखेगा और इसी तरह आखिर तक सम्पूर्ण मानव-समाज व्यापक इकाइयो का बनता चला जायगा।"[21]

इन इकाइयो को जोडने वाली कड़ियाँ भी रहेगी। लेकिन इनकी हर क्षेत्र मे एकता आवश्यक नही। इस समाज-व्यवस्था का आदर्श होगा—"आवश्यक बातो मे एकता, शकापूर्ण अवस्था मे आजादी और सभी व्यवहारो मे तितिक्षा।"[22]

सर्वोदयी समाज किसी प्रकार *की आर्थिक* केन्द्रीयता पर आधारित नही होगा। *तथाकथित लोकतान्त्रिक राष्ट्रों में जो केन्द्रस्थ* महाकाय यन्त्रो के कन्धो पर चढी हुई अर्थ व्यवस्था है, उसने शुरू से आज तक गरीबो या गरीब देशो का शोषण ही किया है।"[23] सर्वोदय मे विकेन्द्रितता निहित है। राक्षसी केन्द्रित उत्पादन के बदले घर-

20. Suresh Rambhai, Vinoba And His Mission, p. 178.
21. उद्धृत, इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ. 41.
22. उपर्युक्त, पृ. 41.
23. इन्दु टिकेकर; *क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ. 42.*

घर व्यापक क्षेत्र में लाखों लोग उत्पादन कार्य करें, यह उनकी दृष्टि है। सर्वोदय व्यवस्था राज्य समाजवाद नहीं जन समाजवाद होगा।

आजकल प्रचलित विकेन्द्रित राजनीति को सर्वोदयी विचारक मान्यता नहीं देते। आधुनिक राज्य में सत्ता का प्रान्तों, जिलों, नगरपालिकाओं, ग्राम-पंचायतों में वितरण तो किया जाता है, लेकिन सत्ता का केन्द्र पहले जैसा ही सबल बना रहता है। इसके अलावा जिन-जिन क्षेत्रों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया है, वे सभी क्षेत्र अपने लिये एक छोटा-छोटा राज्य बना लेते हैं। आज की विकेन्द्रित राजनीति में हर एक व्यक्ति का अपना-अपना क्षेत्र और अपनी-अपनी सत्ता का छोटा मोटा केन्द्र है। यह न तो विकेन्द्रीकरण है और न लोक सत्ता।

एक अन्तिम उद्देश्य के रूप में सर्वोदयी सभी प्रकार के सत्ता-केन्द्र, दलगत राजनीति आदि को समाप्त कर वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन और राज्य-रहित समाज की स्थापना करना चाहते हैं। इस व्यवस्था में प्रशासन कम होता चला जाये, अनुशासन बढ़ता चला जाये और अन्त में केवल स्व-शासन रह जाये। इस व्यवस्था में व्यक्तियों का नहीं, वस्तुओं का नियन्त्रण होगा। इस आदर्श की अभिव्यक्ति श्री जयप्रकाश नारायण ने निम्नलिखित शब्दों में की है.—

सर्वोदय की भी एक राजनीति है, किन्तु यह राजनीति भिन्न प्रकार की है। मैंने इसको 'जनता की राजनीति' कहा है, जो सत्ता और दल की राजनीति से सर्वदा पृथक है। लोकनीति राजनीति से पृथक है। सर्वोदय की राजनीति में कोई दल नहीं होता और न सत्ता से ही उसका कोई सम्बन्ध होता है। वस्तुत इसका लक्ष्य सत्ता के समस्त केन्द्रों को समाप्त कर देना है। जितनी अधिक यह नयी राजनीति बढ़ेगी, उतनी ही अधिक पुरानी राजनीति सिकुड़ेगी। सही अर्थ में यही होगा, राज्य का क्षय।"[24]

जन-शक्ति

भूदान तथा अन्य रचनात्मक कार्यों के पीछे एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण उद्देश्य है। सर्वोदय में राज्य तथा शक्ति को वैसे ही मान्यता प्रदान नहीं की गई है। जब राज्य का क्षय प्रारम्भ होगा तथा किसी भी प्रकार की शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी, उस समय सब कुछ व्यक्तियों की नैतिक शक्ति पर निर्भर करेगा। व्यक्तियों को इस स्थिति के लिए जागृत करना होगा। रचनात्मक कार्यों के पीछे सर्वोदयी कार्यकर्ताओं का यह उद्देश्य है कि देश में 'स्वतन्त्र जनशक्ति' (self-reliant power of the people) का निर्माण किया जाय ताकि व्यक्तियों में 'विचार शासन' और 'कर्तव्य विभाजन' का पूर्ण विकास हो जाय। विचार शासन का तात्पर्य शान्तिपूर्ण उपायों से दूसरों को अपने विचारों से प्रभावित कर कार्य करने की प्रेरणा

---

24. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ 69.

देना है। कर्तव्य विभाजन का अर्थ है कि व्यक्ति बिना प्रशासन की सहायता के अपने-अपने कार्यों का विभाजन स्वय ही कर ले। जब ऐसी जनशक्ति का निर्माण हो जायगा तब वर्ग-विहीन और शोषण-मुक्त समाज की रचना अधिक सम्भव हो जायगी।[25]

'जय हिन्द' से 'जय जगत' की ओर

सर्वोदय विचारधारा का क्षेत्र केवल भारत तक ही सीमित नही, यह विश्व की विचारधारा है। सम्पूर्ण विश्व की उन्नति इसका लक्ष्य है। "मानवमात्र एक भ्रातृसमुदाय का अग है। धर्म, जाति, वंश, लिंग, राष्ट्र, विचार आदि की विभिन्नताएँ मानव को मानव से अलग नही कर सकती। मानवता सब मे समान है। इसलिये व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अधिकार हर एक को है। व्यक्ति-व्यक्ति के विकास मे कोई विरोध नही है। बल्कि सम्पूर्ण मानव-जाति का समग्र विकास और उत्थान अविभाजित एव एकात्मकस्वरूप है।"[26] इस प्रकार सर्वोदय आन्दोलन का विश्वव्यापी होना स्वाभाविक ही है। एक देश मे सर्वोदय तथा दूसरे मे दमन एवं शोषण असह्य है।

सर्वोदय के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष पर विचार व्यक्त करते हुए विनोबा भावे ने कहा कि दुनिया में वेग से विचार आगे बढ रहे हैं। धीरे-धीरे सभी देशो की सरहदें टूटने वाली हैं। अब विश्व को सम्मिलित परिवार बनाने की भावनाएँ बढ रही हैं।[27] इसी तत्व को श्री जयप्रकाश नारायण ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

> "सर्वोदयी विश्व समाज मे वर्तमान राष्ट्रो के क्रम से बने हुये राज्यो का कोई स्थान नहीं होगा। सर्वोदय-दृष्टि विश्व दृष्टि है और गाधीजी के समुद्रीय वर्तुल के केन्द्र मे खडा हुआ व्यक्ति विश्व-नागरिक है।"[28]

सर्वोदय का रचनात्मक पक्ष

क्रान्ति पद्धति

वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन तथा राज्य-रहित सर्वोदयी समाज की स्थापना के लिये नवीन कार्य पद्धतियों का विशेष महत्व है। सर्वोदयी कार्य-पद्धति हिंसात्मक साधनो के विरुद्ध होने के साथ कानून की उपादेयता मे भी आस्था नहीं रखती। वे कानून को भी एक प्रकार से बल प्रयोग ही समझते हैं। सर्वोदयी विचारधारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये ऐसे साधनो का समर्थन करती है जिससे मनुष्य के जीवन में क्रान्ति आये, उसका हृदय परिवर्तन हो तथा अन्त मे सर्वोदयी क्रान्ति के लिये मार्ग प्रशस्त हो सके। सर्वोदयी विचारको का कहना है कि जब

---

25 Suresh Rambhai, Vinoba and His Mission, p. 106, 171-79.

26. इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ. 4.

27. विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, पृ. 351.

28. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 59.

तक मनुष्य का हृदय नहीं बदलता, जीवन के मूल्यों में परिवर्तन नहीं होगा, तब तक कोई स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। डा. राधाकृष्णन् के शब्दों में "आचार्य विनोबा भावे ने जगत के कानून को ठुकरा दिया। उन्होंने असेम्बली के कानून तक का सहारा नहीं लिया बल्कि प्रेम के कानून के ऊपर उन्होंने अपनी श्रद्धा आधारित की है और यह प्रेम का ही कानून सबसे ऊँचा है।"[29]

शान्ति सेना

सत्याग्रह चलाने के लिये महात्मा गांधी ऐसे स्वयं-सेवकों के दल का निर्माण करना चाहते थे जो सत्य और अहिंसा पर स्वयं को न्यौछावर करने के लिये सदैव तत्पर रहें। यही शान्ति सेना के गठन का आधार था। यह कहना सम्भव नहीं कि शान्ति सेना का निर्माण कब हुआ तथा इसका संगठन किस प्रकार का है। किन्तु सर्वोदय समाज के सभी सदस्य एक प्रकार से शान्ति सेना के सदस्य हैं। गांधीजी के सत्याग्रही सहयोगी, विनोबा भावे के भूदान कार्यकर्ता सभी शान्ति सैनिक हैं।

शान्ति सेना का उद्देश्य सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का समाधान शान्ति, प्रेम, अहिंसा द्वारा करना है। दुर्गुणों पर प्रेम द्वारा विजय प्राप्त कर सर्वोदयी उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में प्रमुख योगदान देते हैं। दुर्दान्त निर्दयी डाकुओं पर सरकार की शक्ति विजय प्राप्त नहीं कर सकी। यह शान्ति सेना द्वारा ही सम्भव हो सका। जहाँ-जहाँ सरकार ने मद्य निषेध को समाप्त करने का प्रयत्न किया है वहाँ-वहाँ शान्ति सैनिक अड़ गये हैं। इस प्रकार देश की समस्याओं और सामाजिक कुरीतियों से लड़ने की शान्ति सेना की अपनी ही पद्धति है।

भूदान (भूमिदान) आन्दोलन

सर्वोदय क्रान्ति के लिये भूदान सबसे महत्वपूर्ण आधार-आन्दोलन है। भूदान का प्रारम्भ अप्रैल 1951 में आन्ध्र प्रदेश के पन्चमपल्ली (तेलगाना) स्थान से हुआ। यहां कुछ हरिजन आचार्य विनोबा भावे से मिलने आये और उन्हें अपनी भूमिहीनता की करुण कहानी सुनाई। उन्होंने विनोबा भावे को बतलाया कि यदि उन्हें 80 एकड़ भूमि मिल जाती है, तो वे भूमि पर श्रम कर अपनी जीविका-अर्जन कर सकते हैं। विनोबा भावे ने उसी समय उपस्थित जन-समूह से पूछा कि क्या कोई 80 एकड़ भूमि दे सकता है? उसी समय पन्चमपल्ली के श्री रामचन्द्र रेड्डी ने 100 एकड़ भूमि के दान की तत्काल घोषणा की। यह सबसे पहला भूमिदान था। यहीं से भूदान आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इसके बाद तो भूदान ने एक गति पकड़ ली। दो वर्ष में लगभग 27,63,000 एकड़ भूमि दान के रूप में प्राप्त हुई।

देश में भूमिहीनों की समस्या सुलझाने के लिए विनोबा भावे ने पांच करोड़

29. उद्धृत, विनोबा: व्यक्तित्व और विचार, पृ. 20,

एकड़ भूमि के दान प्राप्त करने की योजना बनाई। वे देश के विभिन्न भागो मे पद-यात्रा करते हुए अपने साथियों के साथ जाते है, वहाँ सर्वोदयी विचारधारा से व्यक्तियों को अवगत कराते हैं तथा भूमिदान के लिए आग्रह करते है। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे को काफी सफलता मिली है।

भूदान सफलता की समीक्षा निम्नलिखित आकड़ो से हो सकती है।

1.	भूदान में प्राप्त भूमि	41, 76, 814. 93 एकड
2.	भूदान देने वाले व्यक्तियो की सख्या	5 75, 88
3.	वितरित भूमि	11, 75, 848. 13 एकड़
4.	व्यक्तियो की सख्या जिन्हे भूमि वितरित की गई	4; 61, 681
5.	वितरण के लिए अनुपयुक्त भूमि	18, 54, 882, 17 एकड
6.	भूमि जिसका वितरण शेष है	11,46,094, 63
7.	दान मे प्राप्त ग्रामो की सख्या	1, 68, 108
8.	दान मे प्राप्त जिलो की सख्या	47

(उपर्युक्त आकड़े—Sunday World—October 1, 1972. मे सुरेश राम के एक लेख—Sarvodaya . Promise and Performance—पर आधारित हैं।)

भूदान को सर्वोदयी समाज की स्थापना मे जो प्राथमिकता दी गई है उसके निम्नलिखित कारण हैं—

प्रथम, कृषि प्रधान देश मे समाज परिवर्तन का आरम्भ भूमि की व्यवस्था से होता है।

द्वितीय, सर्वोदयी चिन्तको का कहना है कि आज विश्व का जैसा रुख है उससे स्पष्ट है कि आगे की अर्थ-रचना अन्न-प्रधान और कृषि-प्रधान होने वाली है।

तृतीय, भूमि केवल अन्न उत्पादन का ही साधन नही है, यह वसुन्धरा भी है, समस्त खानें भूमि के नीचे है इस प्रकार बहुत सी वस्तुएँ मनुष्य को भूमि से ही उपलब्ध होती हैं। इसलिए क्रान्ति का प्रारम्भ भूमि से ही होना चाहिए। भूदान का तात्पर्य केवल स्वामित्व मे ही परिवर्तन करना नही है, इसके माध्यम से स्वामित्व के मूल आधार और उत्पादक की भूमिका मे परिवर्तन करना है। भूदान दर्शन के अन्तर्गत भूमि निजी सम्पति नही हो सकती। भूमि समस्त समाज की है। एक व्यक्ति को केवल उतनी ही भूमि रखनी चाहिए जितनी की उसे आवश्यकता है तथा जिस पर वह स्वय श्रम कर सकता है। आवश्यकता से अधिक भूमि समाज को लौटानी चाहिए। जो भी भूमि व्यक्ति अपने पास रखता है, उस पर भी उसका व्यक्तिगत अधिकार नही है। उसे वह भूमि एक ट्रस्टी के रूप मे अपने पास रखनी चाहिए।

सर्वोदय एक गतिशील (dynamic) विचारधारा है। भूदान आन्दोलन के प्रारम्भ होने के बाद देश के समक्ष जैसे-जैसे आर्थिक, सामाजिक समस्याएँ आती गयी, सर्वोदय के स्वरूप की भी एक-एक पखुडी खुलती गयी। शनैः शनैः सर्वोदय के तत्वावधान मे और भी कई कार्यक्रम अपनाये गये जैसे सम्पत्ति-दान श्रम-दान, बुद्धि-दान, जीवन-दान आदि। इनके अलावा सर्वोदयी कार्यकर्ताओ ने मद्य-निषेध प्रचार तथा चम्बल घाटी मे वर्षों से पले हुए दस्यु डाकुओ के हृदय परिवर्तन मे बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह की है।

सम्पत्तिदान

भूदान से भूमिहीनो के लिये कुछ भूमि का प्रबन्ध तो हो सकता था, किन्तु इन भूमिहीन निर्धनों को खेती से सम्बन्धित सामग्री खरीदने के लिये कुछ आर्थिक सहायता की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिये विनोबा भावे ने सम्पत्तिदान प्रारम्भ किया। इसका उद्देश्य है कि सम्पत्तिवान व्यक्ति कुछ धन दें, जिसे भूमिहीनो को भूमि देते समय दिया जाय, ताकि वे उस भूमि का उपयोग कर सकें।

भूदान की भाति सम्पत्ति-दान मे भी विनोबा भावे छठा भाग मागते हैं। यह भी वह दान देने वाले की स्वेच्छा पर छोड़ते है कि वह किस प्रकार अपनी सम्पत्ति के छठे भाग का दान करता है। विनोबा जी सम्पत्ति दान लेकर फिर निर्धनो मे वितरित ही नही करना चाहते, उनका कहना है कि लोग अपनी सम्पत्ति या आय का छठा भाग समाज को दान करने का सकल्प लें, हर वर्ष उस राशि को समाज हित मे व्यय करें तथा उसकी सूचना विनोबा जी को देते रहे। विनोबा भावे ने सम्पत्ति दान का समर्थन इस आधार पर भी किया है कि इससे लोगो मे अस्तेय तथा अपरिग्रह की भावना का विकास हो जो व्यक्ति के कल्याण के लिये अति आवश्यक है।

ग्रामदान एवं ग्रामराज

भूदान का अगला कदम ग्रामदान है। ग्रामदान का अर्थ है ग्राम की सम्पूर्ण भूमि को अपने ही गाव या पूरे समुदाय को सौंपना। लोग अपनी भूमि का सर्वस्व ही दान करें, तदुपरात उसका प्रयोग, व्यवस्था एव लाभ का वितरण पूरे गाव मे किया जाये।

ग्रामदान का प्रारम्भ 1952 मे उत्तर प्रदेश के मानग्रोथ ग्राम के समस्त निवासियो द्वारा ग्रामदान करने के साथ प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे ग्रामदान की भावना ने लोगो को प्रभावित किया और चार वर्षों मे ही 1500 ग्राम दान मे प्राप्त हुए। अभी तक लगभग 1,68,106 ग्राम दान मे प्राप्त हो चुके हैं।

ग्रामदान सर्वोदयी उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये एक महत्वपूर्ण साधन है। सर्वोदय विचारधारा के अन्तर्गत ग्रामराज की स्थापना मूल लक्ष्य है। यह ग्राम दान

से ही सम्भव हो सकता है । इसका तात्पर्य होगा कि ऐसे ग्रामो की व्यवस्था व्यक्ति स्वयं करें, ग्राम की उन्नति के सम्बन्ध मे निर्णय गाव द्वारा ही लिया जाय न कि सरकारी आदेश के माध्यम से । ग्राम स्वराज्य की स्थापना से लोगो मे सहयोग, प्रेम की भावना का विकास होगा । इसके पीछे यह भावना है कि व्यक्तिगत भावना का अंत हो तथा पूरा ग्राम एक परिवार के रूप मे रहे । जब इस प्रकार के स्वशासन की भावना का विकास क्रम चलेगा तो अंत मे वर्ग विहीन, शोषण विहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना अधिक सुलभ हो जायेगी ।

दान मे प्राप्त ग्रामो की व्यवस्था के विषय मे आचार्य विनोबा भावे के निम्नलिखित सुझाव महत्वपूर्ण हैं —

प्रथम, प्रत्येक ग्राम, ग्राम सभा सगठित करे जिसका प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष सदस्य हो ।

द्वितीय, ग्राम के सभी भूमिपति अपनी भूमि का स्वामित्व ग्राम सभा को हस्तातरित करें ।

तृतीय, प्रत्येक भूमिपति अपनी भूमि का बारहवा भाग ग्राम सभा को दान मे दें ताकि उसका वितरण उस ग्राम के भूमिहीनो में किया जा सके ।

चतुर्थ, प्रत्येक ग्राम मे एक ग्राम-कोष की स्थापना हो जिसमे प्रत्येक भूमिपति अपनी उत्पत्ति का एक चौथाई भाग तथा वेतन या मजदूरी प्राप्त करने वाला एक दिन का वेतन या आमदनी का तीसवा हिस्सा उसमे जमा करें । यह राशि ग्राम व्यवस्था के लिये काम मे आयेगी ।

यह ग्रामदान मे प्राप्त ग्रामो की आदर्श व्यवस्था की रूपरेखा है, जो व्यक्तियो को ग्रामदान के लिये और भी आकर्षित करने मे समर्थ होगी ।

जीवनदान

वे व्यक्ति जिनके पास ऐसी कोई भी वस्तु नही है जिसे वे समाज के लिये अर्पण कर सकें, ऐसे व्यक्ति सर्वोदय-साधना के लिये अपना जीवनदान कर सकते हैं । इसका तात्पर्य है कि जीवनदान करने वाले व्यक्ति अपनी बुद्धि, श्रम और शक्ति का प्रयोग भूदान एव सर्वोदय की सेना मे लगा सकते हैं । इसके अलावा वे व्यक्ति जो सर्वोदय के लिये अधिक करना चाहते है अपना जीवनदान कर सकते हैं । सर्वप्रथम श्री जयप्रकाश ने अप्रेल 954 मे अपना जीवनदान किया । तत्पश्चात विनोबा जी ने भी 'भूदान यज्ञमूलक ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्रांति के लिये' अपना जीवन समर्पण कर दिया । इस प्रेरणा से अनेक सर्वोदयी कार्यकर्ताओ ने अपने जीवनदान की घोषणा की ।

सर्वोदय समीक्षा

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि सर्वोदय गांधीवाद का विकसित, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष है। इसलिए गांधीवाद के विषय में सामान्यतः जो आलोचना की जाती है वह सर्वोदय के विषय में भी सही है। सर्वोदय दर्शन का दोष यह है कि यूटोपियायी विचारकों की भांति यह मानव-स्वभाव के केवल स्वच्छ पक्ष को ही देखता है, जब कि मनुष्य सभी प्रकार कि प्रवृत्तियों का मिश्रण है।

सर्वोदय दर्शन आदर्शवादी और काल्पनिक सा प्रतीत होता है। इसमें बहुत सीमा तक व्यावहारिकता का अभाव है। राज्य में ग्रामराज, विकेन्द्रीकरण आदि विचारों को पूर्णतः व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता।

सर्वोदय विचारधारा का दलगत राजनीति में विश्वास नहीं है। आदर्श रूप में यह कहना ठीक है, किन्तु आधुनिक लोकतान्त्रिक प्रणालियों में राजनीतिक दलों के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। राजनीतिक दल लोकतान्त्रिक व्यवस्था को गतिशील बनाते हैं। वास्तव में राजनीतिक दल के अभाव में लोकतान्त्रिक व्यवस्था चल ही नहीं सकती।

सर्वोदय चिन्तक विचारधारा को पूर्णतः काल्पनिक नहीं मानते। उनका दावा है कि इसको व्यवहार में लाया जा सकता है। सर्वोदयी विचारक श्री कृष्णदत्त भट्ट ने लिखा है "कि सबका उदय कोरा स्वप्न, कोरा आदर्श नहीं है, वह आदर्श व्यवहार्य है, वह अमल में लाया जा सकता है। सर्वोदय का आदर्श ऊँचा है, यह ठीक है, परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य है। वह प्रयत्न-साध्य है।"[30]

यद्यपि यह भी मान लिया जाय कि सर्वोदय में आदर्श की मात्रा अधिक है, किन्तु सर्वोदयी दार्शनिक, सर्वोदयी आदर्श को स्वयं ही उच्चता एवं पूर्णता प्रदान करना चाहते हैं। उनका कहना है कि एक सही आदर्श प्रस्तुत करना भी महत्वपूर्ण है। विनोबा भावे जीवन के सभी अंगों में गणित की अचूकता पसंद करते हैं। वैसे त्रुटि करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है लेकिन जब आदर्श त्रुटिपूर्ण होता है, तो कर्म का मूल्यांकन करने की गुन्जाइश ही समाप्त हो जाती है। मकान खड़ा करने में चूक हो सकती है लेकिन 'ब्लू प्रिन्ट' तो सदैव अचूक ही होना चाहिए।[31]

भूदान आन्दोलन के विषय ने भी लोगों को शकाएं हैं। भूदान के आधार पर लोगों की आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। भूदान आन्दोलन को लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं, किन्तु भूमि समस्या में कुछ भी सुधार नहीं हुआ है। यही कारण है कि सरकार भूमि तथा शहरी सम्पत्ति की सीमा का भी निर्धारण कर रही है। यह भी सत्य है कि भूदान के अन्तर्गत कई स्थानों पर इस प्रकार की भूमि प्राप्त हुई है जो खेती के योग्य नहीं है। ऐसी भूमि को खेती के योग्य बनाना तथा

30 दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, पृ. 6.

31. इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ. 16.

सिंचाई व्यवस्था का प्रबन्ध करना ही एक समस्या है यद्यपि भूदान द्वारा भूमि सम्बन्धी सुधार उतने व्यापक न भी हो सके, पर इसमें सन्देह नहीं कि भूमि के व्यापक एव दूरगामी सुधारो के लिए यह आन्दोलन सहायक सिद्ध होगा।

भूदान आन्दोलन भारतीय जीवन पद्धति मे निहित है। इसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था परिवार का ही एक वृहद रूप है इस आन्दोलन के द्वारा यह अभिव्यक्ति होती है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता केवल उन्ही द्वारा प्राप्त की जा सकती है। जो भौतिक जीवन से जुड़े हुए नही हैं।[32]

भूमिदान एव ग्रामदान आन्दोलन के पीछे निहित विचार से सरकार को भी सहायता मिलती है। इस योगदान के विषय में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि *सबसे महत्वपूर्ण परिणाम जो इस आन्दोलन का निकला है वह उसके द्वारा* निर्मित वातावरण का है, जो भूमि व्यवस्था सुधार के लिए कानून बनाने मे सहायक *होता है, क्योंकि उस विषय मे लोगो के मानस को ही बदलता है। कानून* भूमि-सुधार के लिए आवश्यक हैं, लेकिन जनता के मानस को बदलना मूलत उससे भी *अधिक महत्वपूर्ण है।*[33]

सर्वोदयी शांति सेना का सबसे महत्वपूर्ण योगदान कुख्यात डाकुओं के हृदय परिवर्तन करने का है। 1960 मे आचार्य विनोबा भावे के प्रयत्नों से अनेक लूँखार डाकुओ ने समर्पण किया। इसी प्रकार अप्रैल 1972 मे श्री जयप्रकाश नारायण तथा अन्य सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओ की प्रेरणा और प्रयासो से चम्बल घाटी के दो सौ से भी अधिक डाकुओ ने आत्म समर्पण कर शान्ति एव प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया है। यह हृदय परिवर्तन का सफल प्रयोग है। सम्भवत. इस प्रकार के उदाहरण मिलना असम्भव है।

सर्वोदय का अर्थ केवल विचार-क्षेत्र तक ही सीमित नही है। साहित्य क्षेत्र भी उनका आभारी है। सर्वोदय साहित्य मे हिन्दी भाषा के उत्तम से उत्तम शब्द देखने को मिलते हैं। मूल विचारो को प्रामाणिक एवं आकर्षित शब्दो मे संवारने की प्रतिभा सर्वोदय साहित्यकारो मे अद्वितीय है। सम्भवतः हिन्दी साहित्यकारो ने हिन्दी भाषा की उतनी सेवा नही की जितनी आज सर्वोदय साहित्य कर रहा है। सर्वोदय साहित्य मे भारतीयकरण की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।

सर्वोदय का अभ्युदय किसी वाद की प्रतिक्रिया के रूप मे नही हुआ। यह किसी वाद की प्रतिक्रिया नहीं। जिन वादो का जन्म प्रतिक्रिया स्वरूप होता है वे न तो स्थाई होते हैं और न गतिशील। उनका कोई चिरंतन मूल्य नहीं होता। सर्वोदय "भारत का अपना शब्द है और भारत की अपनी वस्तु है; पर ऐसा शब्द और ऐसी

32 Radhakrishnan, S., Forward to Vinoba Bhave and His Mission, by Suresh Ramabhai, p VI.

33 उद्धृत, विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, पृ. 29.

वस्तु नहीं, जो दूसरे किसी देश या काल में लागू न हो सके। देश-काल-परिस्थिति के भेदानुसार उसकी बाह्य पद्धति में फर्क होता रहेगा। लेकिन उसका आंतरिक रूप शाश्वत रहेगा।"[34]

सर्वोदय एक अराजनीतिक संस्था है, अराजनीतिक विचारधारा नहीं। वास्तव में सर्वोदय को दलगत राजनीति से, नीचे नहीं, ऊपर रहना चाहिये। सर्वोदय साहित्य का अध्ययन करने तथा सर्वोदय सेवकों से मिलने पर आभास होता है कि ये राजनीति से दूर भागते हैं उतना इन्हें भागना नहीं चाहिये। गांधीजी ने राजनीति को एक सर्प-कुंडल की संज्ञा दी थी और कहा था कि परिस्थितिवश वे उससे संघर्ष करेंगे। उन्होंने जिन राजनीतिक बातों को उचित नहीं समझा, उनका प्रतिरोध कर मार्ग दर्शन भी किया। सर्वोदय चिन्तन में भी हमें इस प्रतिरोध वाली भावना को नहीं छोड़ना चाहिये। आज हमारे देश की राजनीति में कई विकट कुरीतियाँ एक मौत की तरह बेशर्मी और मजबूती से अड्डा बनाये बैठी हैं। आज के राजनीतिज्ञ इन कुरीतियों को आश्रय दिये हुए हैं। सर्वोदय के अन्तर्गत इन कुरीतियों को दूर करने के लिए आदर्श प्रस्तुत करना, हृदय-परिवर्तन करना आदि ही सब कुछ नहीं है। इन कुरीतियों का प्रतिरोध भी करना चाहिये। यह प्रतिरोध दलगत राजनीति में भी सम्बन्धित नहीं होगा। उदाहरणार्थ हमारे राजनीति तथा जीवन प्रशासन में भ्रष्टाचार ने कई रूप धारण कर लिये हैं। इसे दूर करना राजनीतिज्ञों के वश की बात नहीं। सर्वोदय को इस भ्रष्टाचार रूपी सर्प से जूझना चाहिये अन्यथा यह सर्प सर्वोदय को भी निगल जायेगा। यह सब कुछ दलगत राजनीति से अलग रह कर भी हो सकता है। यदि सर्वोदय समाज यह कार्य नहीं कर सकता तो फिर राजनीति का शुद्धिकरण एवं आध्यात्मिकरण भी नहीं हो सकता।

बिहार और सर्वोदय आन्दोलन

उपर्युक्त शब्द 1972 के मध्य में लिखे गये थे। उस समय सर्वोदय क्रान्ति में लगभग शिथिलता आ चुकी थी। सर्वोदय क्रान्ति को एक नवीन चेतना एवं कार्य-क्रम देने के 1973 में मध्य में सर्वोदय कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। यह सम्मेलन भविष्य के कार्य-क्रम की कोई नवीन योजना निश्चित नहीं कर सका। इसी समय देश की आर्थिक-राजनीतिक स्थिति ने सर्वोदय कार्यकर्ताओं, विशेषतः श्री जयप्रकाश नारायण को सर्वोदय आन्दोलन को एक नई दिशा देने का अवसर प्रदान किया।

गुजरात विधान सभा को भंग कराने की सफलता के उपरान्त 1974 के प्रारम्भ में श्री जयप्रकाश नारायण तथा सर्वोदय कार्यकर्ताओं ने बिहार को अपने नवीन आन्दोलन का मुख्य स्थल बनाया। श्री जयप्रकाश नारायण का आन्दोलन

34 जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, विनोबा भावे द्वारा लिखित प्रस्तावना में, पृ 4.

राजनीतिक प्रशासनिक भ्रष्टाचार, जमाखोरी, काला–बाजारी, आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि को रोकने चुनाव प्रणाली के दोषों को दूर करने, राजनीतिक जीवन के शुद्धीकरण तथा बिहार विधान सभा को भंग करना आदि को लेकर प्रारम्भ किया गया। इस आन्दोलन का लगभग वही स्वरूप है जो स्वतन्त्रता के पूर्व स्वाधीनता आन्दोलन का था। श्री जयप्रकाश नारायण के अनुसार यह आन्दोलन बिहार तक ही सीमित नहीं रहेगा, देश के समस्त भागों में इसका विस्तार किया जायेगा। इस आन्दोलन के पीछे निहित विचार श्री जयप्रकाश नारायण ने कई बार समय-समय पर प्रस्तुत किये हैं।

श्री जयप्रकाश नारायण देश के शीर्षस्थ नेता हैं। स्वाधीनता आन्दोलन में उनका योगदान, उनका त्याग, सत्ता से दूर रहकर उनकी जनसेवा सर्वविदित है। इसके अतिरिक्त यह सभी जानते हैं कि श्री जयप्रकाश नारायण ने जिस आन्दोलन का प्रारम्भ किया है उसका उद्देश्य सुधारवादी है, स्वयं को सत्ता में लाना नहीं। उनकी नीयत पर किसी को अविश्वास नहीं करना चाहिए। इसलिए श्री जयप्रकाश नारायण जो कुछ कहते हैं, चाहे हम उनके विचारों से सहमत हों या न हों, उन पर ध्यान देना आवश्यक है। सभी विवेकशील भारतवासी देश से इन सभी दुर्गुणों का उन्मूलन करना चाहेंगे। इसलिए एक दृष्टि से यह आन्दोलन रचनात्मक है। किन्तु बिहार आन्दोलन के विषय में कुछ पक्षों का उल्लेख करना सामयिक होगा।

श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा बिहार विधान सभा को भंग करने की माग पर विवाद बन गया है। यदि इस आन्दोलन की यह माग पूरी होती भी है, तो इसके उपरान्त फिर अगला कदम क्या होगा? श्री जयप्रकाश नारायण ने लोकतन्त्र का कोई दूसरा स्वरूप व्यावहारिक विकल्प के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। उनका दल विहीन लोकतन्त्र अव्यावहारिक सा प्रतीत होता है तथा इस विचार को उन्होंने न तो स्पष्ट किया और न विस्तृत रूप दिया है। फिर लोकतन्त्र को किसी अन्य व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए राष्ट्रीय सहमति आवश्यक है। सर्वोदय दृष्टिकोण भले ही सही हो किन्तु इसे राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता। इसलिए जब तक किसी उचित विकल्प की खोज नहीं हो जाती प्रचलित व्यवस्था का विघटन करना उचित नहीं। श्री जयप्रकाश नारायण को अपना ध्यान एक सही विकल्प की खोज पर केन्द्रित करना चाहिए।

सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं को अपने आन्दोलन के समर्थन में अन्य व्यक्तियों एवं राजनीतिक दलों से समर्थन प्राप्त करने में काफी सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। यदि असंतुष्ट राजनीतिज्ञ सत्ता-लोलुप और निहित हित वाले व्यक्तियों का समर्थन स्वीकार किया जाता है तो इससे सर्वोदय आन्दोलन की प्रतिष्ठा पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। सर्वोदय आन्दोलन सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं द्वारा ही संचालित होना चाहिये। इसे सत्ता संघर्ष का रूप ग्रहण करने से बचाना चाहिये।

अपने इस आन्दोलन मे श्री जयप्रकाश नारायण ने विद्यार्थियो को विशेष भूमिका निर्वाह के लिये आह्वान किया है। विद्यार्थियो द्वारा शिक्षा तथा शिक्षा सस्थाओ का बहिष्कार कराने से सर्वोदय आन्दोलन के उद्देश्यों की पूर्ति नही हो सकती। 1942 मे स्वाधीनता आन्दोलन के समय विद्यार्थियो द्वारा शिक्षा सस्थाओ का बहिष्कार करने जैसा कार्यक्रम आज की परिस्थितियो मे सामयिक नही है। विद्यार्थियो को अपने मूल शिक्षा उद्देश्यो विचलित नही करना चाहिये, विशेषतः निर्धन विद्यार्थियो पर इसका बडा विपरीत प्रभाव पडेगा।

जुलाई 11, 1974, को वर्धा आश्रम के निकट सर्व सेवा सघ कार्यकारिणी ने बिहार आन्दोलन की समीक्षा की। बिहार आन्दोलन के प्रति सर्वोदय दृष्टिकोण विभाजित हो गया। परिणामस्वरूप कार्यकारिणी के कुछ सदस्यो ने अपने पद त्याग का आग्रह किया। जुलाई 12, 1974 को सर्वोदय आन्दोलन को विघटित होने से बचाने के लिए सर्वसेवा सघ ने बिहार आन्दोलन का अनुमोदन कर दिया किन्तु साथ ही साथ यह कहा गया कि यह आन्दोलन सत्य, अहिंसा पर ही आधारित होना चाहिये।

बिहार आन्दोलन सर्वोदय के नवीन कार्य-क्रम की परीक्षा है। लगभग सम्पूर्ण देश की इस आन्दोलन पर दृष्टि लगी हुई है। यहाँ इसके औचित्य के विवाद मे न पडते हुए इतना कहना आवश्यक है कि इस आन्दोलन ने बढती हुई महगाई को रोकने, जीवन की मूल आवश्यकताओ को समाज के अन्तिम व्यक्ति तक उपलब्ध कराने, सार्वजनिक जीवन से भ्रष्टाचार की समाप्ति करने, लोकतान्त्रिक सस्थाओ का दुरुपयोग रोकने आदि के प्रति देश का ध्यान पूर्णतः आकर्षित किया है। स्वय भारतीय कांग्रेस पार्टी की कार्यकारिणी ने अगस्त 1974 मे एक प्रस्ताव पास कर अपने सक्रिय सदस्यो की जमाखोरी, चोर बाजारी को रोकने तथा भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए आह्वान किया है।

पाठ्य ग्रन्थ

1. दादा धर्माधिकारी, — सर्वोदय-दर्शन
2. धवन, गोपीनाथ — सर्वोदय तत्त्व-दर्शन
3. जयप्रकाश नारायण — समाजवाद से सर्वोदय की ओर
4. शकरराव देव — सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र
5. Suresh Ramabhai, — Vinoba and His Mission.
6. टिकेकर, इन्दु, — शान्ति का समग्र दर्शन
7. वियोगी हरि, बनारसीदास चतुर्वेदी, यशपाल जैन आदि (सम्पादित) — विनोबा · व्यक्तित्व और विचार

उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त गाधीवाद (अध्याय 12) से सम्बन्धित लगभग सभी ग्रन्थ सर्वोदय विचारधारा को समझने के लिए आवश्यक एव उपयोगी हैं।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

इस पुस्तक को लिखने के अनेक मूल एव प्रमुख ग्रन्थो की सहायता ली गई है। प्रस्तुत सन्दर्भ ग्रन्थ सूची मे उन ग्रन्थों का सम्पूर्ण विवरण है जिनको इस पुस्तक के विभिन्न स्थलों पर उद्धृत किया गया है। जिन ग्रन्थो का केवल आकस्मिक रूप मे प्रयोग हुआ है उन्हे इस सूची मे सम्मिलित नही किया है।

Altekar, A. S, State and Government in Ancient India, Banaras, 1949.

Andrews, C F, Mahatma Gandhi's Ideas, George Allen & Unwin Ltd., London, 1949.

Albjerg and Albjerg, Europe from 1914 to the Present, McGraw-Hill Book Co., New York, 1951.

Anjaria J. J, The Nature and Grounds of Political Obligations in the Hindu State, Longmans, Calcutta, 1935.

आशीर्वादम्, एडी, (अनुवाद) राजनीति-शास्त्र, द्वितीय भाग, दी अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस लि., लखनऊ, 1959.

Attlee, C. R, As It Happened, William Heineman Ltd London 1954.

Barker, Ernest, Political Thought in England, 1848 to 1914, Oxford University Press, London, 1963.

Barker, Ernest, Principles of Social and Political Theory, Oxford University Press, London, 1953.

Beer, M, A History of British Socialism, Vol II, George Allen & Unwin, London, 1953.

Bentwich, Norman, Israel, Ernest Benn Ltd. London, 1952.

Bombwall, K. R., and Choudhry L. P, Aspects of Democratic Government and Politics in India, Atma Ram and Sons, New Delhi, 1963

Bosanquet, Bernard, The Philosophical Theory of the State, Macmillan & Co., London 1958

Bose, N K, Studies in Gandhism, Calcutta, 1947.

Burns, E M., Ideas in Conflict, Methuen & Co. London, 1963.

Chagla, M. C, An Ambassador Speaks Asia Publishing House, Bombay, 1962.

Charques, R. D., and Ewen, A. H., Profits and Politics in the Post War World an Economic Survey of Contemporary History, Victor Gollanc, London, 1934.

कोकर, फ्रांसिस डब्ल्यू, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, हिन्दी अनुवाद, रामनारायण यादवेन्दु एवं बृ० न० मेहता, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

Cole, G D. H , The Simple Case for Socialism, Victor Gollancz Ltd , London, 1935

Cole G D H , A History of Socialist Thought, The Forerunners, 1789-1850, Macmillan & Co , London, 1955

Cole, G D H , Vol. II, Socialist Thought, Marxism and Anarchism, Macmillan & Co , London, 1957.

Cole, G D H , Fabian Socialism, Allen & Unwin Ltd., London 1943

Cole, G D H , Guild Socialism, Allen & Unwin, London, 1920.

Cole, Margaret, The Story of Fabian Socialism, Murcury Books, London, 1963

Cripps, Stafford, Why This Socialism, Victor Gollancz Ltd., London, 1934

Crosland C A R , The Future of Socialism, Macmillan & Co , New York, 1957.

Dawson, Christopher, Religion and Culture, Sheen and Ward, London, 1948

दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन सेवा संघ, काशी, 1957.

Delhi Diary , Prayer Speeches, from 10.9.47 to 30 1.48, Navjivan Publishing House, Ahmedabad, 1948.

Desai, A R , Recent Trends in Indian Nationalism Popular Book Depot, Bombay, 1960

Deutscher, Isaac, China and the West, Oxford University Press London, 1970

Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, Navjivan Publishing House, Ahmedabad 1957.

Dickinson, Lowes, Justice and Liberty, J.M. Dent & Sons, London, 1919.

Djilas, Milovan, The New Class, An Analysis of the Communist System, Thames and Hudson London, 1957.

Donnelly, Desmond, Struggle for the World, Collins, London, 1965.

Dunning W. A , A History of political Theories From Rousseau to Spencer, Macmillan & Company, New York, 1948

Epenstein, William; Today's isms, Prentice-Hall, Inc , New York, 1954.

Ebenstein, William, Political Thought in Perspective, McGraw-Hill, New York, 1957

Ehler L., Sydney, and Morrall, J B., Church and State Through the Centuries, Burns and Oates, London, 1954

Engels, Frederick, Socialism. Utopian and Scientific, George Allen and Unwin Ltd , London, Reprint 1950

Fainsod, Merle, How Russia is Ruled, Harward University Press, Massachusetts, 1962

Federico, Chalsod, Machiavelli and the Renaissance, Translated by David Moore, Bowes & Bowes, London, 1958

Fischer, Louis; The Life of Mahatma Gandhi, Jonathan Cape, London, 1951

गान्धी, मोहनदास करमचन्द, सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा, अनुवादक महावीर प्रसाद पोद्दार, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1951

गैटिल, गारफील्ड रेमड, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, अनुवादक सत्यनारायण दुबे, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1970

Ghosal, U N, A History of Indian political Ideas, Oxford University Press, 1959

Gray, Alexander, The socialist Tradition, Moses to Lenin Longmans, Green and Co , London 1948.

Hallowell, John H , Main Currents in Modern Political Thought, Holt, Rainehart and Winston, New York, 1960.

Hitler, Adolf; Mein Kampf, (Two Volumes in one), A, B C., Publishing House, New Delhi, 1968

Hunt, R. N , Carew, The Theory and Practice of Communism—An Introduction, Geoffrey Bles, London, 1951

Jay, Douglas; Socialism in the New Society, Longmans, London, 1962.

जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, सर्व सेवा संघ, काशी, 1958

जोड, सी. ई एम, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, हिन्दी अनुवाद अम्बादत्त पंत, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस बम्बई, 1957.

Kabir, Humayun., The Indian Heritage, Asia Publishing House, Bombay, 1955.

Khrushchev Remembers, Translated by Strolse Talbott, With an Introduction, Commentary and Notes by Edward Cranckshaw, Andre Deutsch, London, 1971.

Kilzer, E , Ross, E. J., Western Social Thought, The Bruce Publishings Company, Milwaukee, U. S A., 1954.

Kripiani, J B. Gandhi, His Life and Thought, Government of India, 1970

Kulkarni, V B., The Indian Triumvirate, Bhartiya Vidhya Bhawan Bombay, 1969

Labedz, Leopold (Ed.), Revisionism, Essays on the History of Marxist Ideas, George Allen and Unwin, London, 1963.

Labedz Leopold, and Urban G R (Ed.), The Sino Soviet Conflict, The Bodley Head, London, 1965.

Laidler, Harry W , History of Socialist Thought, New York, 1927.

Lanka Sundaram, A *Secular State for India, Thoughts on India's* Political Future, Raj Kamal Publications, Delhi 1944.

Laski, H. J , Reflections on the Revolution of Our Time, George *Allen & Unwin, London, 1946.*

Laski, H J., An Introduction to Politics, George Allen & Unwin, London, 1936

Learner, Max, *Ideas are Weapons, Viking, New York,* 1939.

Lenin, Y. I , What is To Be Done (1902), Translated and edited by S U Ulechin and Patricia Wechin, Clevendon Press, Oxford 1963.

Lowenthal, Richard, World Communism, The Disintegration of a Secular Faith, Oxford University Press, New York, 1964.

Luthera V. P , The Concept of the Secular State and India, Oxford University Press, Calcutta, 1964

MacIver, R M , The Modern State, Oxford University Press, London 1946

McGovern, W.M , *From Luther to Hitler,* George, G. Harrap, London 1941.

Marcuse, Herbert, Soviet Marxism—a Critical Analysis, Routledge & Kegan Paul, London, 1958.

Majumdar, B B , (Ed) Gandhian Concept of State, Bihar University, Patna, 1957.

Markandan, K C., *Directive Principles in the Indian Constitution,* Allied Publishers, Bombay, 1966.

Marki, Peter H , Political Continuity and Change Harper & New York, 1967.

Maritain, Jacques; Man and the State, Hollis and Carter, London, 1954.

Mashruwala, K G, Gandhi and Marx, Navjivan, Ahmedabad, 1954.

Mayo, Henry B, Introduction to Marxist Theory, Oxford University Press, New York, 1960.

Mohan Ram., Indian Communism, Split Within Split, Vikas Publication, Delhi, 1969.

Mujib, M, The Indian Muslims, George Allen and Unwin London, 1967

Munro, Ion, Through Fascism to World Power, A History of the Revolution in Italy, Alexander Maclehose & Co, London, 1933.

Munro, William; and Aycarst, Morley, The Governments of Europe Macmillan & Co, New York, 1957.

Paloczi—Horvath, George; Khruschev The Road to Power, Secker and Watburg, London. 1960.

Panikkar, K M, The State and the Citizen, Asia Publishing House, Bombay, 1956

Pelling, Henry (Ed.), The Challenge of Socialism, Adam and Charles Black, London, 1954.

Pfeffer, Leo; Church, State Freedom, Beacon Press, Boston, 1953.

Pyarelal, Mahatma Gandhi, The Last Phase, Vol. I & II, Navjivan Publishing House, Ahmedabad, 1956.

Radhakrishnan, S, (Ed), Mahatma Gandhi: 100 Years. Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1968.

Ramsay MacDonald J, Socialism: Critical and Constructive, Cassell and Co. Ltd., London, 1929.

Sabine, G. H, A History of Political Theory, George G. Harrap & Co., London, 1957

Sartori, Giovanni., Democratic Theory, Oxford & I B I Publishing Co, New Delhi, 1965

Schapiro, Leonard., The Communist Party of the Soviet Union, Eyre and Spottiswoode, London, 1960.

Sharma, S R., The Religious Policy of the Moghul Emperors, Oxford University Press, Culcutta, 1940.

शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, सर्व सेवा संघ, काशी 1956.

Smith, Donald E., India as a Secular State, Princeton, New Jersey, 1963.

Stankiewicz, W. J. (Ed.), Political Thought since World War II, Macmillan Company, London, 1964.

Stroke, A P, Church and the State in the United State, Vol. III, Harpar, New York. 1950.

Suresh Ramabhai, Vinoba and His Mission, Sarv Seva Sangh, Sevagram Wardha 1954

Tandulkar, D G, Mahatma, Life of Mohandas Karam Chand Gandhi, Jhaveri – Tandulkar, Bombay–6, 1952.

Taylor, A. J P, Introduction to the Manifesto of the Communist Party, Penguin Book Co Middlesex 1970.

टिकेकर, इन्दु, शांति का समग्र दर्शन, सर्व सेवा संघ, वाराणसी, 1972.

Tyabji, Badr-ud-din, The Self in Secularism, Orient Longman, 1971.

विनोबा: व्यक्तित्व और विचार, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1971.

Walker Richard L, China Under Communism, George Allen and Unwin, London, 1956

Wanlass, Lawrence C., Gettell's History of Political Thought, George Allen and Unwin, London, 1953.

Watkins, Frederick M., The Age of Ideology, Political Thought, 1750 to the Present, Prentice-Hall of India, New Delhi, 1965.